ॐ

सर्वज्ञ वीतरागाय नमः

गुरु कहान : दृष्टि महान

(भाग-2)

आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
द्रव्यदृष्टि प्रधान आध्यात्मिक प्रवचन

: गुजराती संकलन :
जीतुभाई नागरदास मोदी
प्रशम जीतुभाई मोदी
सोनगढ़

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान मोक्षार्थी परिवार
सोनगढ़, जिला-भावनगर (गुजरात)
मोबा. 09722833143

प्रथम आवृत्ति : प्रति 1000
(विक्रम संवत् 2072, वीर संवत् 2542, ईस्वी सन् 2015)

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
2. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.) फोन : 09997996346, 2410010/11
3. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
4. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
5. **चिन्तन जीतुभाई मोदी,** क्रमबद्ध निवास, 45 कहान नगर सोसाइटी, सोनगढ़ - 364250 (सौराष्ट्र)
   मोबा : 09662524460
6. **पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन**
   द्वारा मुकेश आयरन स्टोर, गुरु कहान मार्केट, बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)
   मोबा : 09461768086
7. **श्री प्रदीप मानोरिया,** मिल रोड, अशोकनगर, (म.प्र.), मोबा : 09425132060
8. **श्री दिगम्बर जैन कुन्दकुन्द परमागम ट्रस्ट,**
   पंच बालयति जिनालय, एरोड्रम रोड, साधनानगर, इन्दौर (म.प्र.)
9. **श्री अश्विनभाई ए. शाह,**
   बी-21, रुस्तमजी आदर्श हेरीटेज ऑफ मार्वे रोड,
   आदर्श काम्पलेक्स विहार, मलाड (वेस्ट) मुम्बई-64 , मोबा : 09820124378

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

अर्पण

जो वर्तमान युग में क्रमबद्धपर्याय का शंखनाद करनेवाले के रूप में जैन जगत् में प्रसिद्ध हैं; जो जैन जगत् में समयसार के प्रखर प्रचारक के रूप में मशहूर हैं; जो द्रव्यदृष्टि प्रधान अध्यात्मयुग के सर्जनहार हैं; जिन्होंने शास्त्रों के शब्दों में छिपे हुए आचार्यों के गूढ़ भावों को खोलने की अद्भुत शक्ति द्वारा भव्य जीवों पर वचनातीत परम उपकार किया है; जिनकी शीतल छत्रछाया में जीवन व्यतीत करने का परम सौभाग्य हमारे पिताश्री को प्राप्त हुआ था, उन असीम करुणासागर, पुरुषार्थप्रेरणामूर्ति धर्मपिता पूज्य गुरुदेवश्री को, उनके ही द्रव्यदृष्टि प्रधान आध्यात्मिक प्रवचनों के अमूल्य खजाने में से चुने हुए 38 प्रवचनों के संकलनरूप यह '**गुरु कहान : दृष्टि महान**' भाग-2 अर्पण करते हुए हम जीवन की धन्यता अनुभव कर रहे हैं।

– संकलनकार

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृतने पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

प्रकाशकीय

तीर्थंकरदेव का जन्म जगत के कल्याण के लिये होता है, इसी प्रकार अनन्त-अनन्त उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का जन्म, इस निकृष्ट काल में यहाँ जन्मे हुए और भविष्य में भी यहाँ जन्म लेनेवाले अल्प संसारी जीवों को भाग्यशाली बनाने के लिये तथा उन्हें संसार-समुद्र से पार उतारने के लिये हुआ था। अन्तिम सैंकड़ों वर्षों का जैन इतिहास कहता है कि भव्य जीवों के तारणहार ऐसे महान सन्त यदि कोई हुए हों तो उनमें कृपासिन्धु पूज्य गुरुदेवश्री ही प्रधान पुरुष हैं। उन्होंने इस भौतिक युग को अध्यात्मयुग में परिवर्तित करके पंचम काल के अन्त तक टिका रहे – ऐसा अध्यात्मयुग सृजित किया है।

ऐसे अध्यात्मयुगसृष्टा, अध्यात्म क्रान्तिवीर पूज्य गुरुदेवश्री की 45-45 वर्ष प्रवाहित अध्यात्म गंगा का अमृतपान करनेवाले महान भाग्यशाली भव्य मुमुक्षुओं को तो उनके द्वारा प्ररूपित तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा आज भी पूज्य गुरुदेवश्री साक्षात्रूप से अनुभव में आ रहे हैं, परन्तु उनके दर्शन-श्रवण और सत्संग का जिन्हें साक्षात् लाभ प्राप्त नहीं हुआ, ऐसे भव्य जीवों को, इन महापुरुष ने जो द्रव्यदृष्टि प्रधान दिव्यदेशना का प्रपात बहाया, उसका साक्षात्वत् लाभ मिले, वह इस **गुरु कहान : दृष्टि महान** के प्रकाशन का हेतु है।

यह जीव अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक तक जा आया, अनन्त बार नग्न दिगम्बर द्रव्यलिंग धारण किया, अनन्त बार समवसरण में जा आया, तथापि कोरा रह गया, उसका मुख्य कारण यदि कोई हो तो वह एक ही है कि द्रव्यदृष्टि प्रधान देशना को इस जीव ने कभी ग्रहण नहीं किया—ऐसा पूज्य गुरुदेवश्री करुणा से बारम्बार कहते थे और इसीलिए उस द्रव्यदृष्टि प्रधान देशना का उन्होंने जीवनपर्यन्त प्रपात बहाया है। पूज्य बहिनश्री भी कहती थीं कि 'मानो कोई बड़े आचार्य उपदेश देते हों, वैसे दृष्टि के विषय का अपूर्व स्पष्टीकरण होता था' ....'दृष्टि का विषय आवे, तब उछल जाते थे।' यद्यपि उनकी सर्वांगी उपदेश गंगा में न्यूनाधिक योग्यतावाले सर्व जीवों को आत्म-लाभ हो, ऐसा निश्चय-व्यवहार का सम्पूर्ण उपदेश बोध बहा है। मुमुक्षु की पात्रता कैसी हो, अशुभ से बचने को शुभ में जुड़ान कैसा हो, इत्यादि उपदेश देने पर भी कहीं किसी को मुख्यता न हो जाये तथा उसमें जोर दिये बिना उस व्यवहारमार्ग प्रकाशन के साथ मुख्यरूप से तो द्रव्यदृष्टि मार्ग प्रकाशक निश्चय की ही मूसलाधार वर्षा की है। जिससे भद्र जीव अनादि के संस्कारवश मन्दकषाय आदि व्यवहारमार्ग में न अटककर, निश्चयमोक्षमार्ग को यथार्थ समझकर उसका ही ग्रहण करके यह भव सफल करने के लिये स्वानुभूति का सत्पुरुषार्थ अपनायें।

पूज्य गुरुदेवश्री ने अध्यात्मयुग का सृजन किया ही है परन्तु बहुत स्पष्ट कहें तो वस्तुतः वे

द्रव्यदृष्टि प्रधान अध्यात्मयुग के सर्जक हैं क्योंकि जिस द्रव्यदृष्टि प्रधान निश्चय के बोध से जीव निश्चयाभास के डर से भयभीत होते थे, उसके बदले आपश्री के प्रताप से भव्यजीव दिन-रात उस निश्चय का घोलन, चिन्तन श्रवण करने में ही जीवन की धन्यता अनुभव करते हैं।

द्रव्यदृष्टि प्रधान अध्यात्मयुग के सर्जक पूज्य गुरुदेवश्री की उपदेश अमृत वाणी को श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट के तत्कालीन प्रमुख श्री नवनीतभाई झवेरी की दीर्घदृष्टि से टेप में संगृहित करके चिरकालपर्यन्त सुरक्षित बनायी तथा लगभग 9000 घण्टे की इस गुरुवाणी को स्वर्गीय श्री शान्तिलाल रतिलाल शाह परिवार ने अद्यतन टेक्नोलॉजी द्वारा मात्र 16 डीवीडी में तथा तीन वीडी (Blueray Disk) में (जनवरी 2010 तक में) प्रसिद्ध करके मुमुक्षु जगत पर परम उपकार किया है, जिस कारण भावी के भव्य जीव भी आत्महित के मार्ग में सरलरूप से प्रयाण कर सकेंगे। ऐसे होने पर भी, पंचम काल के प्रभाववश कितने ही तत्त्व के अभ्यासियों द्वारा द्रव्यदृष्टि प्रधान तत्त्वज्ञान के पुरुषार्थ में भय प्रकाशन करते देखकर पूज्य गुरुदेवश्री के 9000 टेप प्रवचनों में से द्रव्यदृष्टि प्रधान विशेष पुरुषार्थ प्रेरणादायक प्रवचन चुन-चुनकर **गुरु कहान : दृष्टि महान** रूप से सीडी प्रवचन मुमुक्षु समाज को उपलब्ध कराने की हमें भावना जागृत होने से हमने भाग 1 से 9 तक प्रसिद्ध किया, जिसका श्रवणपान करते हुए गुरु-भक्तों का ध्यान गया कि सीडी प्रवचन का श्रवण करते समय हाथ में अक्षरशः गुरुवाणी की पुस्तक हो तो प्रवचन का भाव विशेषरूप से समझना सरल बने। इसलिए गुरु भक्तों की भावना को साकार करने का निर्णय किया और हिन्दी भाषी समाज भी इन प्रवचनों का लाभ ले इस भावना से एक मुमुक्षु परिवार द्वारा इस प्रकल्प की दूसरी पुस्तक प्रकाशित हो रही है। मुमुक्षु परिवार की अनिच्छा के कारण उनका नाम प्रसिद्ध नहीं किया जा रहा है। विदित हो कि हिन्दी में प्रकाशित इस प्रकल्प के भाग 1 और 2 में गुजराती 'गुरु कहान : दृष्टि महान' भाग 1 से 3 तक समाहित कर लिये गये हैं।

इस पुस्तक प्रकाशन के दो मुख्य प्रयोजन हैं - (1) जिन्हें करुणासागर गुरुदेवश्री के प्रत्यक्ष दर्शन-श्रवण का लाभ नहीं मिला, ऐसे भव्य जीवों को गुरुदेवश्री के द्रव्यदृष्टि प्रधान अन्तःकरण समझने का सौभाग्य प्राप्त हो तथा (2) पंचम काल के प्रभाव में आकर प्रमाण के लोभ में अटककर द्रव्यदृष्टि के मार्ग में निःशंकरूप से प्रयाण करने में हिचकिचाहट न हो, इस प्रकार पूज्य गुरुदेवश्री की भव्य जीवों को संसार-समुद्र से उभर लेने की करुणा सफलता को प्राप्त हो।

अन्त में, पूज्य गुरुदेवश्री 91 वर्ष की उम्र में भी जिस द्रव्यदृष्टि की प्ररूपणा करते हुए अन्दर से उछल पड़ते थे उस द्रव्यदृष्टि प्रधान उपदेश को **गुरु कहान : दृष्टि महान** के माध्यम से शीघ्र ग्रहण करके भावी अनन्त काल गुरु के सान्निध्य को प्राप्त करे - ऐसी भावना के साथ....

संकलनकार / अनुवादक

श्री सद्‌गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्‌घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अनुक्रमणिका

क्रम	शास्त्र	गाथा/श्लोक	तारीख	प्रवचन नं.	पृष्ठ
१.	श्री नियमसार	४२	०८-०४-१९६६	४५	१
२.	श्री पंचास्तिकाय	८	२८-११-१९६९	१३	१८
३	श्री नियमसार	२५ से २७	३१-०३-१९७१	२९	३३
४	श्री परमात्मप्रकाश	५८	२१-११-१९७६	१३९	४७
५	श्री समयसार	५८ से ६०	११-११-१९७८	१३३	६१
६	श्री समयसार	२३ से २५	१३-०९-१९७८	८५	७४
७	श्री समयसार कलश टीका	२१५	२६-०२-१९७८	२३९	८६
८	श्री समयसार	६८	१७-११-१९७८	१३८	१०१
९	श्री समयसार कलश टीका	६०	२४-०८-१९७७	७६	११४
१०	श्री इष्टोपदेश	२१-२२	०६-०४-१९६६	२०	१२७
११	श्री समयसार	१	१२-०६-१९७८	६	१४२
१२	श्री नियमसार	१४४	०४-०८-१९६६	१४४	१५४
१३	श्री समयसार	३०४ से ३०७	२१-१२-१९७९	३७४	१७०
१४	श्री अष्टपाहुड़, बोधपाहुड़	२३-२४	०९-०८-१९७०	५८	१८३
१५	श्री पंचास्तिकाय	१७२	२५-५-१९७०	८१	१९०
१६	श्री प्रवचनसार	९९	११-०६-१९७९	१०१	२०४
१७	श्री समयसार	३२८-३३१	२९-५-१९८०	३९६	२१८
१८	श्री समयसार	२१५	२२-०६-१९८०	४०७	२३३
१९	श्री नियमसार	११९	०४-०७-१९६६	११३	२४६

क्रम	शास्त्र	गाथा/श्लोक	तारीख	प्रवचन नं.	पृष्ठ
२०	श्री समयसार	७६	०९-१०-१९७९	१६४	२६१
२१	श्री समयसार नाटक	१ से ८	३१-०८-१९७१	१५०	२७४
२२	श्री नियमसार	१५९	१५-०९-१९६६	१७८	२८६
२३	श्री समयसार	३५६ से ३६५	१३-०६-१९८०	४०९	३०६
२४	श्री समयसार	३५६ से ३६५	१४-०६-१९८०	४१०	३१५
२५	श्री समयसार	६३ से ६७, ३७	१६-११-१९७८	१३७	३२६
२६	श्री समयसार	६८	१८-११-१९७९	१३९	३३९
२७	श्री नियमसार	५८, ४१	१२-०९-१९६६	१७६	३५३
२८	श्री नियमसार	३८	०२-०९-१९६६	१६७	३७०
२९	श्री नियमसार	५४, ३९	०७-०९-१९६६	१६८	३८५
३०	श्री वचनामृत	११२-११३	१७-०७-१९७८	४०	४०१
३१	श्री वचनामृत	२०१	२९-०८-१९७८	७९	४१४
३२	श्री समयसार	१	०३-१२-१९७५	५	४२८
३३	श्री परमात्मप्रकाश,	१२३-१२४	२६-०६-१९६५	१५६	४४२
३४	श्री छहढाला	२-१३	२७-०१-१९६६	१०	४५९
३५	श्री समयसार कलश टीका	२५७	२०-१२-१९६५	२७५	४७५
३६	श्री परमात्मप्रकाश	६४-६५	२७-०७-१९७६	४२	४९०
३७	श्री परमात्मप्रकाश	९२	२२-०८-१९७६	६९	५०२
३८	श्री नियमसार	२७७, १६२	१८-०९-१९६६	१८१	५१७

प्रवचन शुरु करने से पहले पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा किया जानेवाला

मांगलिक

॥ णमो लोए सव्व अरिहंताणम् ॥

॥ णमो लोए सव्व सिद्धाणम् ॥

॥ णमो लोए सव्व आयरियाणम् ॥

॥ णमो लोए सव्व उवज्झायाणम् ॥

॥ णमो लोए सव्व त्रिकाळवर्ती साहूणम् ॥

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावायभावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी ।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥

त्रिकाळ दिव्यध्वनि दातार.....

ॐ

श्री परमात्मने नमः

गुरु कहान : दृष्टि महान

अध्यात्म युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के द्रव्यदृष्टिप्रधान आध्यात्मिक प्रवचन

(भाग २)

१

श्री नियमसार, गाथा ४२, प्रवचन - ४५
दिनांक - ०८-०४-१९६६

यह नियमसार, मोक्षशास्त्र है, मोक्षमार्ग का शास्त्र है। मोक्षमार्ग कहाँ से प्रगट होता है? ऐसा शुद्धभाव क्या है, उसका यह वर्णन है। आत्मा के शुद्धभाव में से प्रगट होता है। शुद्धभाव त्रिकाल कारणपरमात्मा महाचैतन्य रत्न ध्रुव अपना महान निधान पूर्ण शुद्ध आनन्दकन्द अकेला अविनाशी आनन्दरस, ऐसा जो आत्मतत्त्व है, उसमें से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उसके आश्रय से, उसमें से, उसके आधार से प्रगट होते हैं। कहो, समझ में आया? यह कहा ऊपर। देखो न!

नित्य-शुद्ध चिदानन्दरूप कारणपरमात्मस्वरूप जीव... बात यह है कि इसने अपना चैतन्य महानिधान रत्न दृष्टि में, विश्वास में अनन्त काल में नहीं लिया। समझ में आया? अपना महानिधान अनन्त अविनाशी चैतन्यरस... उसे विश्वास में, अन्तर प्रतीति में अनन्त काल में नहीं लिया। उसे खोकर, क्षण-क्षण में रागी हूँ, द्वेषी हूँ, पुण्यवाला, पापवाला, शरीरवाला, इस सत्तावाला इस सत्तावाला-ऐसा मानकर अपने स्वरूप के निधान को लुटाकर, और पर को माँगने में भिखारी हो रहा है। समझ में आया? जहाँ से मिलता है, वह चैतन्यरत्न

कौन है ?-उसकी इसे खबर नहीं है। जहाँ नहीं मिलता, वहाँ इसने जावा (झपट्टे) मारे हैं। जावा आया न, अपनी गुजराती काठियावाड़ी भाषा। जावा समझते हो ?

अपना एक समय में परमेश्वरपद ऐसा का ऐसा पड़ा है। जैसे डिब्बी में रत्न पड़ा हो, वह पड़ (ढ़क्कन) उघाड़े तो ऐसा का ऐसा पड़ा है। वैसे राग और पुण्य और ये मेरे—ऐसी मान्यता के पड़ में चैतन्यरत्न तो ऐसा का ऐसा पड़ा है। उस पड़ को खोले तो है, ऐसा है। यह इसका पहला मुख्य कर्तव्य है। उस पर इसका लक्ष्य अनादि से नहीं है। यह किया और यह छोड़ा और यह क्रिया और दान, व्रत, भक्ति, पूजा और यह और वह, ऐसी की ऐसी जो कृत्रिम रागदशा और या संयोगी सत्ता, उसमें अपनापना मानकर अपना पूरा चैतन्यनिधान स्वयं लुटा दिया है। समझ में आया ? इसके लिये यहाँ बात करते हैं।

भाई ! तेरा तो नित्य शुद्ध चिदानन्द कारणपरमात्मा-स्वरूपी जीव (स्वरूप) है। समझ में आया ? शरीर के एक रजकण की जरा-सी कुछ अनुकूलता हो, वहाँ कहता है-मुझे कुछ ठीक मिला। जरा-सी प्रतिकूलता (आवे, तो कहता है) मेरा गया ! हैरान, हैरान मूढ़ होकर, परमात्मा का छिपा रखकर स्वयं पामरता को महिमा दी है। समझ में आया ? पुण्य-पाप के भाव, उनके बन्धन और उनके फल-यह सब पामरता है; यह कहीं वस्तु का स्वरूप नहीं है। पोपटभाई ! ऐसे जहाँ जरा-सा कुछ ठीक शरीर या वाणी या कर्म अच्छे बँधें या भाव ठीक हो शुभ या यह हुआ और यह हुआ... आहाहा ! महान चैतन्यसत्ता का रत्न, हीरा, इसने अपनी श्रद्धा पर में रखी और स्व को लुटा दिया है। कहो, बराबर है ? जुगराजजी ! आहा !

कहते हैं कि भगवान ! तू तो ऐसा है न कि जहाँ तेरी नजर पड़े, वहाँ निधान पूरा चैतन्य पड़ा है। ऐसा का ऐसा पड़ा है। यह राग मैं, यह शरीर मैं, यह योनि मैं, यह कुल मैं, यह निरोगता मैं, ये पैसे (मेरे)-ऐसी मान्यता की आड़ में भगवान पूरा स्वयं अपने को भूल गया है। कहो, ज्ञानचन्दजी ! आहाहा !

कहते हैं, तू तो नित्य शुद्ध चिदानन्द है न, प्रभु ! असली स्वभाव से, कायमी असली मींज तेरा, असली मींज तेरा चिदानन्द शुद्ध है न ! वह तो शुद्ध और ज्ञानानन्द की मींज चैतन्य है। ये प्रकार जितने वर्णन करते हैं, उससे विवेक कर कि ये मेरे नहीं हैं, तो इस विवेकरूपी वृक्ष के फल, अनन्त आनन्द का फल आवे, ऐसा वह विवेक है, उसकी यहाँ बात चलती है। समझ में आया ?

नित्य-शुद्ध चिदानन्दरूप कारणपरमात्म... अपना स्वभाव ही अनन्त आनन्द और अनन्त शुद्ध और बेहद स्वच्छता, पूरा परमेश्वरस्वरूप ही स्वयं आत्मा है। भगवान, पर्याय में

परमेश्वर हुए, यह (आत्मा) वस्तु से परमेश्वर है। गुप्त और प्रगट का ही अन्तर दिखता है; बाकी कोई अन्तर नहीं है। समझ में आया? यह गुप्त चैतन्य भगवान ऐसा है। है तीसरी लाईन? **नित्य शुद्ध...** शाश्वत् पवित्र, शाश्वत् पवित्र, चिदानन्द, वह पवित्र क्या?-कि ज्ञान और आनन्द तेरा रूप है। ज्ञान और सुख तेरा सागर स्वभाव है, सुखसागर तेरा स्वभाव है।

ऐसा **कारणपरमात्मा...** अर्थात् पूरा वस्तु का स्वरूप। जिसमें से कार्य (अर्थात्) केवलज्ञान के फल पकें, ऐसा जो स्वभाव, उसे इन सब भेदों से विवेक करना (कि) यह नहीं, यह नहीं और यह (मैं हूँ)। ऐसा जो भेदज्ञान, ऐसा जो विवेक का वृक्ष, उसके फल में केवलज्ञान और सिद्धपद का फल पके। समझ में आया? यहाँ मोक्षमार्ग और मोक्ष, दो कहना है न? आहाहा! समझ में आया?

(यह बात) इसने सुनी नहीं। 'श्रुत परिचित अनुभूता' यह करना, कुछ राग करना और यह करना, ऐसा ही इसने सुना है, ऐसा शास्त्र में कहा है। **श्रुतयरिचतानुभूता सर्वस्थापि कामभोगबन्ध कथा॥** (समयसार, गाथा-४) काम-भोग शब्द से (आशय) मात्र विषय, ऐसा नहीं। अपना शुद्ध आनन्दघन नित्य, ध्रुव आनन्दस्वभाव का विषय छोड़कर, जितना परविषय के शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श, उस पर विषय की वाणी का करना, यह करना, राग करना, यह पुण्य करना, यह पाप करना या यह भोगना, (इस प्रकार) यह पुण्य-पाप के विकल्प को करना और भोगना, यह बात इसने अनन्त काल से सुनी है। समझ में आया? यह इसके परिचय में आ गयी है, यह इसके-अनुभव में-वेदन में भी जहर के वेदन में यह बात इसे आ गयी है, परन्तु भगवान आत्मा '**एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स**' (समयसार, गाथा-४) परमात्मा अखण्डानन्द प्रभु, जहाँ दृष्टि से पूरी दौलत दिखायी दे, ऐसा परमात्मा मैं ही स्वयं हूँ, ऐसी पर से भिन्न की दृष्टि इसने कभी की नहीं। दृष्टि की भूल से भगवान छिपा रहा है। समझ में आया? अब यह कीमत न हो और यह किया और यह करना और यह करना... परन्तु क्या करे? यह (आत्मा) तो ज्ञान, दर्शन और आनन्द का स्वभाव है, वह करे क्या? समझ में आया? क्या शुभ-अशुभभाव को करे? विकार को करे? वह स्वभाव में है? इस शरीर का करे? देश का करे? किसका करे यह? उपदेश का करे? करे क्या यह? आहाहा!

तेरी सत्ता में जो सत्ता अर्थात् अस्तित्व में तो शुद्ध चिदानन्दस्वरूप अस्तित्व में है। उस पर सावधानी करके दृष्टि कर, ज्ञान कर और स्थिर हो, यह तेरा करना है, यह कर्तव्य है। यह तो पहले आ गया न? **णियमेण य जं कज्जं...** समझ में आया? तेरी सत्ता/अस्तित्व के अतिरिक्त पुण्य-पाप, शरीर, वाणी, मन पूरा, उसमें तेरा अस्तित्व जिसमें नहीं, उसका तू किस प्रकार कर सकेगा? समझ में आया?

तेरे अस्तित्व में पुण्य-पाप का भाव भी नहीं, कर्म नहीं, शरीर नहीं, परद्रव्य-रजकण नहीं। ये सब परपदार्थ तेरे चैतन्य के महानिधान में कुछ है नहीं। अब नहीं, उसे तू क्या करेगा ? बनायेगा मेरे (अपने) ? अनन्त काल से परमाणु को अपनेरूप मानता है, परन्तु एक परमाणु इसका कभी हुआ है ? शरीर मेरा, रजकण मेरे, यह मेरे... परन्तु कब कहाँ तेरा हुआ, कह ? अनन्त काल से पुण्य और पाप के विकल्प हैं, वे मेरे हैं (-ऐसा) माना है। हुए हैं कभी इसके ? तन्मय हो गये हैं गुण में ? ज्ञान, दर्शन, चैतन्यतत्त्व में वे राग-द्वेष एकमेक हो गये हैं ? समझ में आया ?

यह तो चैतन्यरस, अनाकुल आनन्द का अविनाशी सागर आत्मा है। इस आत्मा को द्रव्यकर्म और भावकर्म नहीं है। आहाहा! नहीं है, उन्हें (अपने) मानता है तो अपनी सम्पदा को लुटाता है-ऐसा कहते हैं। आहाहा! वे नहीं हैं; इसलिए विभाव परिणति का अभाव होने से। भगवान आत्मा में विभाव अर्थात् विकारी परिणति / पर्याय का अभाव है। यहाँ कहा न ? द्रव्यकर्म और भावकर्म के ग्रहणयोग्य, निमित्त ग्रहनेयोग्य, ऐसी विभाव परिणति-विकारी दशा, जिससे भावकर्म हो और द्रव्यकर्म में निमित्त हो, ऐसी विभाव / विकारी परिणति का, प्रभु! तुझमें अभाव है। तेरा भाव यह—ऊपर कहा वह—है। समझ में आया ? बहुत सूक्ष्म (बात है), परन्तु ऐसा वीतरागमार्ग ऐसा नोंच डाला है। परम वीतराग परमेश्वर का मार्ग लोगों ने इस प्रकार से अन्य मार्ग को वीतराग मार्ग बना दिया है। ऐ... मोहनभाई! आहाहा

तीन लोक का नाथ आत्मा परमात्मा निर्वाण नाथ-ऐसा कहकर अनुभवप्रकाश (ग्रन्थ) में बुलाया है। निर्वाणनाथ, आहा..हा..! आगे आयेगा। मोक्षस्वरूप पूर्णानन्द, यह ऐसा आत्मा का निर्वाण-मोक्ष का नाथ वर्तमान मोक्षस्वरूप का नाथ है। पर्याय में प्रगट हो, वह अलग बात है। आहाहा!

भगवान! तेरे चैतन्य हीरा की क्या कीमत करना!! सर्वज्ञ भी उसकी कीमत (महिमा) की बात पूरी वाणी में नहीं कह सके-ऐसा चैतन्य भगवान पूर्णानन्द शुद्ध—ऐसा प्रभु (है), उसमें विभाव-विकार पर्याय का अभाव है। विकारी पर्याय की सत्ता / अस्तित्व पर्याय में—अंश में है; स्वभाव में अस्तित्व नहीं, मौजूदगी नहीं; इसलिए उसे जन्म नहीं—भगवान आत्मा जन्मता ही नहीं। आहाहा! जन्म, उस राग की परिणति और उसका कर्म ग्रहण इतना पर्यायभाव चैतन्यसत्ता में नहीं है; पर्याय में है, सत्ता में नहीं है। आहाहा! समझ में आया ? उसके कारण आत्मा को जन्म ही नहीं है। आहाहा! समझ में आया ?

दृष्टि जहाँ चैतन्य के महास्वभाव पर पड़ी, ऐसा भगवान चैतन्य महारत्न, उसमें विकार

की पर्याय का अभाव है, तो विकार से ग्राह्य कर्म... उस विकार की परिणति से ग्राह्य क्या? द्रव्यकर्म—भावकर्म ग्रहण के योग्य, वापस। ऐई! भाषा देखो न! भावकर्म वस्तु में कहाँ है? खड़ा करता है। इसलिए ग्रहण के योग्य विकार परिणति का ही उसमें अभाव है। आहाहा! क्या कहते हैं? समझ में आया? इस भगवान आत्मा वस्तु में विकारी पुण्य-पाप के भाव को पकड़ना, ऐसी विकारी परिणति का ही चैतन्य में अभाव है। आहाहा! समझ में आया?

पुण्य-पाप की वृत्तियों को पकड़ना, उन्हें पकड़ना कि 'यह मेरी'-ऐसा चैतन्य सत्ता में है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा आत्मा इसकी अन्तर्मुख दृष्टि में आवे, तब यह सब अस्तित्व अन्तर में नहीं है-ऐसा भासित हो, तब इसे पर है, उसका ज्ञान रहे (कि) मेरी सत्ता में वह है नहीं। इसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। आहाहा! उसने सत्यदर्शन किया और सत्यज्ञान किया। क्योंकि परम सत् में वह (पर, विकार) नहीं है और अंश में है, वह इसमें (स्वभाव में) नहीं है-ऐसी दृष्टि की, तब इसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुआ। समझ में आया? पीछे स्थिरता और उसमें पीछे। वह भी जितना इसमें नहीं, ऐसे दर्शन ज्ञान किये, उतना साथ में स्थिर भी हुआ है। आहाहा! गजब बात, भाई! ऐ.. छगनभाई! नये लोगों को ऐसा समझ में आता है या नहीं? कभी आवे सुनने (फिर कहे) अब यह क्या कहते हैं? लो!

भाई! यह तो परम सत्य परमेश्वर ने-त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ देवाधिदेव ने समवसरण में धर्मसभा में सौ इन्द्रों की उपस्थिति में, पूरे लोक के स्वामी, अर्द्ध देवलोक के स्वामी, दक्षिण के शकेन्द्र, उत्तर के ईशानेन्द्र ऐसे-ऐसे चौसठ, सौ इन्द्रों की उपस्थिति में भगवान की-वीतराग की ध्वनि ऐसी आयी थी।

भाई! तू चैतन्य शुद्ध रत्न है न, प्रभु! तेरी प्रभुता में यह विकार, विकल्प और जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, उस भाव को पकड़ना-ऐसा भाव तेरे स्वभाव में नहीं है। आहाहा! यह मुद्दे की रकम की बात (होवे) नहीं और ऊपर के पत्ते तोड़ने की बातें (करे), यह किये प्रौषध और यह की सामायिक और... किसकी सामायिक और प्रौषध? तुझे आये कहाँ से? अभी सम्यग्दर्शन में चैतन्यरत्न पर से निराला ऐसा (है, ऐसा भान आया नहीं), जिसमें स्थिरता से शान्ति होती है, अर्थात् चारित्र होता है, उस चीज़ की दृष्टि की नहीं, दृष्टि में दौलत को देखी नहीं। दौलत देखे तो वहाँ खोदने का मन हो। खोदने का समझे न? निकालना।

इसी तरह भगवान आत्मा एक सैकेण्ड के असंख्यभाग में विकारी अवस्था की पर्याय में अस्ति है, हों! विकार की-उदयभाव की अस्ति है। वस्तु के स्वभाव में उसे ग्रहने की वस्तु

के स्वभाव में योग्यता ही नहीं। ऐसा शुद्ध चैतन्यरत्न, उसे अन्दर दृष्टि में लेना और यह (विकार) मुझमें नहीं है–ऐसा विवेक करने का नाम मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन–ज्ञान कहा जाता है। आहाहा! लूट लिया, कहते हैं। एक तो कुगुरु ने लूटा। स्वयं लुटाया है और उसमें इसे ऐसे मिले कि तेरा ऐसा होगा, हों! इससे ऐसा होगा। ऐ.. जुगलराजजी! आहाहा! अब ऐसा होगा, पाँच लाख खर्च कर न, कल्याण हो जाएगा! मन्दिर बना तो कल्याण हो जाएगा! यह दया, दान कर तो कल्याण हो जाएगा! मार डाला, गला पकड़कर नरक में इकट्ठे ले गया; चल, हम जाते हैं, तू भी वहाँ चल। समझ में आया?

जहाँ सम्यक् चैतन्यरत्न की दृष्टि नहीं और जहाँ विकार से धर्म मनाया है, उस मिथ्यादृष्टि के फल में परम्परा से निगोद है। समझ में आया? आहाहा! और समयग्दर्शन के फल में परम्परा से केवलज्ञान है। आहाहा! इस प्रकार अन्तर (में) जिसे स्वयं की ही कीमत न पड़े, अब वह कीमत न पड़े (महिमा न आवे), वह दमहीन किसी को (महिमा) दे ही। आहाहा!

जन्म नहीं, जरा नहीं। भगवान आत्मा चैतन्य हीरा, उसमें वृद्धावस्था कैसी? वृद्धावस्था तो शरीर की है। परन्तु वृद्धावस्था को मैं ग्रहूँ, ऐसी योग्यता इसमें (आत्मा में) नहीं है। आहाहा! वृद्धावस्था मुझे, मुझे–ऐसी योग्यता ही उसमें नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा भगवान आत्मा चैतन्यरत्न शुद्ध भगवान परमात्मा स्वयं (है), उसे दृष्टि में लेने से उसमें यह जरा और मरण है नहीं। मरण नहीं। भावकर्म को पकड़ने की योग्यता (अर्थात्) ग्रहण के योग्य वह है, इसका अभाव है। उसे मरण नहीं, उसे यह रोग नहीं। कहो, जयचन्दभाई! हाय.. हाय..! वहाँ पकड़ा गये हैं।

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने ऐसा आत्मा देखा, वैसा तू आत्मा (है–ऐसा) उनने भी तुझे देखा। उनने तुझे देखा कि तू तो शुद्ध आनन्दकन्द आत्मा है। वह तू आत्मा है, ऐसे आत्मा में तू देख; भगवान ने देखा, वैसा तू देख कि उस आत्मा में रोग नहीं। आहाहा! शोर मचाता है न? समझ में आया? वह तो धूल की दशा में रोग है। यह धूल ही उसमें नहीं है, फिर आत्मा में रोग कहाँ से आया? समझ में आया? यहाँ तक तो कल आया था। इतना थोड़ा अधिक स्पष्ट किया।

अब (कहते हैं), उसमें शोक नहीं है। समझ में आया? यह दु:ख–शोक हो। लड़का मर जाए, लक्ष्मी चली जाए, उसमें सुविधा हो, वह चली जाए! पहले से असुविधा हो, उसे दिक्कत नहीं, परन्तु सुविधा हो और (वह) जाए। मूर्ख है या नहीं? सुविधा थी कब तुझे? ऐ.. मूलचन्दभाई! भाई! तुम बातें करो, परन्तु वह आये, वह समाये, परन्तु जाए, वह समाये नहीं।

बनिये ऐसी बातें करते हैं। चिमनभाई! धूल में भी अनुभव नहीं, सुन न! बापू! कठिनाई, दिक्कत आयी हो, उसे खबर पड़े। कठिनाई भी स्वरूप में ही नहीं, आवे कहाँ से? किसने कहा तुझसे ऐसा? स्वरूप में दिक्कत छूती नहीं; स्वरूप–भगवान आत्मा को कठिनाई स्पर्श नहीं करती। कहाँ से आयी तुझे कठिनाई? समझ में आया? माना है। है क्या? कहाँ थी? भ्रमणा से माना है कि मैं रोगी और मैं यह। वह तो जड़ में है, तुझे क्या? तुझमें है वह?

श्रोता : वह भ्रमणा रखनी या निकाल डालनी?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह किसलिए बात चलती है? समझ में आया? आहाहा! अरे! अपना राजा छोड़कर सभी बातें (की)। स्वयं परमात्मा की दृष्टि छोड़कर, उसका माहात्म्य छोड़कर, उसकी महिमा छोड़कर; यह रोग मुझे और यह निरोगता मुझे और मैं सधन हूँ और मैं निर्धन हूँ... मैं वकील हूँ और मैं पण्डित हूँ और मैं मूर्ख हूँ और मैं व्यापारी हूँ.. मूढ़ है। यह एक भी नहीं है, सुन न!

श्रोता : मूढ़ नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वरूप में नहीं। मूढ़ ने माना है, मूढ़ हूँ–ऐसा माना है। उसकी ग्रहण की शक्ति अन्दर में नहीं है। अद्धर का अद्धर लटकाया है। आहाहा! क्यों ज्ञानचन्दजी! बैंक के मैनेजर कहलाते हैं, इसके ऐसे कहलाते हैं.. दो–दो हजार का वेतन। कहाँ गया? कोठारी आया या नहीं? नहीं आया? खुशालभाई नहीं आये। समझ में आया? अरे! अरे! परन्तु मार डाला, कुचल डाला इसे! दस हजार का जहाँ वेतन और बीस हजार का वेतन महीने में (आता हो)।

श्रोता : किसे...

पूज्य गुरुदेवश्री : इसे। (स्वयं) स्वरूप के भान में नहीं; यह मेरे और मुझे हुआ (–ऐसी मान्यता में) इसने मारकर कुचल डाला। चैतन्य परमेश्वर को रागदोली दिया। क्या कहा? शब्द आया नहीं बराबर? रागदोल्यो!–यह काठियावाड़ी भाषा है। ऐई! भगवान को विकार में रागदोल्यो। बहुत बढ़िया मेसूर चार शेर घी पिलाया हुआ ऐसा जालीवाला हो, वह लड़का दस्त किया हो और उसे छुआकर खाये, ऐसा। इसी प्रकार भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का रस, उसकी दृष्टि छोड़कर और यह विकल्प और राग, और शोक को मेरा (मानना), यह विष्ठा को छुआता है, ऐसा यहाँ कहते हैं। उस विष्ठा में आत्मा को रगदोली (गन्दा कर देना) डाला। आहाहा! आहाहा! बात सुनना कठिन पड़े।

भगवान! तू तो भगवान है। यहाँ तो परमेश्वर बुलाते हैं। समझ में आया? परमेश्वर बुलाते हैं कि सीखना हो तो मेरे पास आ। तू भगवान है। भगवान ऐसा सिखाते हैं। आहाहा!

सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ सौ इन्द्र के पूजनीय प्रभु कहते हैं, बाल-गोपाल, शरीर, स्त्री-परिवार, शरीर को मत देख। अन्दर भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ (बिराजमान है), उसे विकार की वृत्ति और शोक-बोक है नहीं। 'यह शोक मुझे है'-ऐसा करके चैतन्य के रत्न को तू विष्ठा में मत गन्दा मत कर। आहाहा! इसने आत्मा के माहात्म्य के गीत सुने नहीं। यह वह कौन है ? समझ में आया ?

एक बड़ा राजा आया हो और इसे कीमत (महिमा) करना न आवे तो क्या (हो) ? लो! समझ में आया ? भावसिंहजी एक जगह गये थे न ? किसी ने रोटी और दही दिया। वह मानो कि साधारण मनुष्य है। (इन्होंने जाकर कहा कि) मुझे खाना है। उसे खबर नहीं कि यह दरबार है। उन्होंने वस्त्र ऐसे (साधारण) पहिने हुए थे। रोटी और दही दिया। (तब दरबार ने कहा) तुम किसी समय मेरे देश में आना। तुम कौन हो ? कि मैं गाँव का दरबार हूँ। हैं। अरे! आप पहले बोले नहीं। आपको जैसे-तैसे बैठाया। यह रोटी और दही बेचारे गरीब व्यक्ति के यहाँ होवे न ? दही का गोरडुँ भरा हो। जंगल में शिकार में जाते न! (दरबार) बहुत प्रसन्न हुए, (फिर कहा), मेरे गाँव में आना। फिर गाँव में आया, तब आदर दिया था। परन्तु पहले तो पहिचाना नहीं कि यह भावनगर दरबार हैं।

इसी प्रकार यह भावनगर दरबार चैतन्य भाव का नगर है आत्मा भगवान। इसे पहिचाने बिना ये पुण्य और पाप और शोक में रगदोली दिया! यह मैं.. यह मैं.. यह मैं.. श्रद्धा के विश्वास में विपरीत में मार डाला चैतन्य के जीवन को। समझ में आया ? दृष्टि से मोक्ष है और दृष्टि से निगोद-दो बात है। आहाहा! (यहाँ) कहते हैं कि भगवान आत्मा में शोक नहीं है। प्रभु! शोक कहाँ से आया ? जिसका चैतन्यरत्न चमकते ज्ञान-दर्शन और आनन्द से तेज मारते रत्न जैसे किरणें हैं। समझ में आया ? वहाँ कोयले का कण कहाँ से आया ? भगवान! ऐसे रत्न एक साधारण होवे ऐसे हजार पासा का, पासा में ऐसे कान्ति मारता (हो), उसमें यह कोयले का कण कहाँ से आया ? समझ में आया ? इसी प्रकार भगवान आत्मा अनन्त गुण के पासा से शोभता-ओपता प्रभु है। अनन्त गुण के पासा से शोभित ऐसे आत्मा को शोक नहीं है। यह समझ में आया ? इसमें कोयले का कण आया कहाँ से ? पोपटभाई! हम तो भाई दु:खी। कहीं डाली नजर पहुँचती नहीं और ऐसी बातें करे। छह महीने से हैरान होते हैं। कोई और चार वर्ष से (बोलता है)। कितने वर्ष हुए ? साढ़े तीन वर्ष।

एक महिला थी, साढ़े तीन वर्ष से बेचारी ऐसे उल्टी पड़ी है। बहुत रोग-पीड़ा है। अरे! महाराज! (वहाँ) गये थे। पोरबन्दर (संवत्) १९८७ की बात है। सीधे सोया ही नहीं जाये।

ऐसे पीड़ा... पीड़ा.. पेट में कुछ होगा। साढ़े तीन वर्ष से बहुत पीड़ा। हाय.. हाय.. हम पीड़ित हैं, मर जायेंगे। यहाँ भगवान कहते हैं कि पीड़ा तो तेरे स्वरूप में गन्ध में भी नहीं है। यह भी तू कहाँ से लाया? उस हीरा में कोयला नहीं होता। समझ में आया? इसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा के पूर में पड़ा हुआ तत्त्व, कहते हैं कि उसे शोक-बोक है नहीं। पर्याय में शोक है, तथापि वस्तु में नहीं है, ऐसे अस्ति-नास्ति करनी है।

अब **चार गति के जीवों के कुल तथा योनि के भेद जीव में नहीं है...** यह चौरासी लाख उत्पन्न (उत्पत्ति के) स्थान। चौरासी लाख योनि कहते हैं न? उत्पत्ति स्थान-जीव की उत्पत्ति स्थान चौरासी लाख प्रकार के हैं और उसमें उत्पन्न हुए शरीर के आकृति के कुल एक सौ साढ़े सत्तानवें लाख करोड़ हैं। जैसे कि छाँड है न, छाँड़? उसमें जीव उत्पन्न होते हैं न जीव? यह छाँड़ है न छाँड़? छाँड़ समझते हो? गोबर, गोबर। थोड़ा-थोड़ा अभ्यास तुम यहाँ आकर (करो)। छाँड़ अर्थात् गोबर... छाँड़ है न? उस छाँड़ को उत्पत्ति स्थान कहा जाता है और उसी-उसी में उत्पत्ति स्थान के बहुत भंग होते हैं।

एक सेकेण्ड के बाद उसके वर्ण, गन्ध, रस बदल जाते हैं, एक सेकेण्ड के बाद बदल जाते हैं, सेकेण्ड के बाद बदल जाते हैं। वे जितने उत्पत्ति के स्थान में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श बदलते हैं, उतने योनिस्थान कहने में आते हैं और उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के आकारवाले जो पोरा, जीवांत, लट, उत्पन्न होती है, उसे कुल कहने में आता है। ये सब योनि और कुल भगवान आत्मा में है नहीं। चौरासी लाख की योनि (जीव को) ?- कि नहीं। भगवान आत्मा में कहाँ है! भाई! चौरासी लाख में जन्मा है न? ऐई! सुन न! वह तो एक समय की पर्याय की योग्यता से वह की वह सब बात है। वस्तु के स्वरूप में योनि में उत्पन्न स्थान वे आत्मा में है नहीं। आहाहा!

यह तो केवलज्ञान की उत्पत्ति का स्थान है। भगवान तो केवलज्ञान की सिद्धपद के पवित्रता की पर्याय का उत्पत्ति स्थान है। यह कुल की, योनि की उत्पत्ति स्थान भगवान आत्मा में नहीं है। आहाहा! जीवों के कुल... कुल समझे? कुल अर्थात् यह नहीं, हों! बाप, दादा की यह बात नहीं है। कुल अर्थात् जो पानी आदि दुर्गन्धित हों, उसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श बदले, वे बदलते जायें वैसे-वैसे उसकी उपजने की योनि बदलती जाती है। ऐसे-ऐसे दुनिया में चौरासी लाख योनि के स्थान भगवान ने देखे हैं। उसमें जो जीवांत उत्पन्न होती है भिन्न-भिन्न आकारवाले पोरा, जीवांत,... ऐसी आकृति के कुल के उपजें, उसे कुल कहा जाता है। उस कुल की जाति एक सौ साढ़े सत्तानवें लाख करोड़ है। देखो!

पृथ्वीकायिक जीवों के बाईस लाख करोड़ कुल हैं... पृथ्वी है न, पृथ्वी, एकेन्द्रिय जीव है। है अवश्य, ऐसा सिद्ध करते हैं, हों! पर्याय में पृथ्वीकाय के जीव, वे उपजने की योग्यता उसकी पर्याय में है, वस्तु के स्वभाव में नहीं। देखो! यह बात सर्वज्ञ भगवान ने देखी हुई वह बात कहते जाते हैं। ऐसे अन्यमति लोग बात करे, चौरासी लाख, परन्तु चौरासी लाख क्या? इसकी उन्हें खबर नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं, पृथ्वी के जीव होते हैं न? एक कण में पृथ्वी (होती है), वह सचेत खारी हो, संचल है,... एक कण में असंख्य जीव हैं, उन असंख्य जीवों में उनके जीव के शरीर के आकार से उपजे उसे कुल कहा जाता है। पृथ्वी के ऐसे बाईस लाख करोड़ कुल हैं।

अप्कायिक जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं;... पानी की बूँद है न? एक बूँद पानी में जीव उपजने के सात लाख करोड़ कुल हैं। उनके जीव की योग्यता के कारण। **तेजकायिक जीवों के तीन लाख करोड़ कुल हैं;...** सर्वत्र करोड़ लेना। करोड़ लेना, करोड़। अग्नि के इतने तीन लाख (करोड़ कुल हैं) अग्नि के जीव हैं और तीन लाख (करोड़) उपजने के स्थान हैं। वस्तु द्रव्य चैतन्यरत्न में वह है नहीं। आहाहा! पर्याय के अंश में है, वस्तुदृष्टि में नहीं, चैतन्य शुद्धभाव, भगवान शुद्धभाव में वे उत्पत्ति स्थान है ही नहीं। कहाँ उपजे? समझ में आया?

वायुकायिक जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं;... वायु, यह हवा होती है न? वे सब जीव हैं। **वनस्पतिकायिक जीवों के अट्ठाईस लाख करोड़ कुल हैं;...** वनस्पति है न यह? समझ में आया? **द्वीन्द्रिय जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं;...** दो इन्द्रिय है न? लट। उसे उपजने के यह गोबर, सड़ा हुआ दूध,... सड़ा हुआ होवे न, उसमें उपजे। यह उसके प्रकार हैं। जीव उपजे उसके कुल हैं।

त्रिन्द्रिय जीवों के आठ लाख करोड़ कुल हैं; चतुरिन्द्रिय जीवों के नौ लाख करोड़ कुल हैं; पंचेन्द्रिय जीवों में जलचर जीवों के साढ़े बारह लाख करोड़ कुल हैं; खेचर जीवों के बारह लाख करोड़ कुल हैं; चार पैरवाले... (गाय-भैंस) **जीवों के दस लाख करोड़ कुल हैं; सर्पादिक पेट से चलनेवाले जीवों के नौ लाख करोड़ कुल हैं; नारकों के पच्चीस लाख करोड़ कुल हैं;...** नारकी हैं असंख्य परन्तु उनके कुल की जाति के शरीर के आकार के इतने प्रकार हैं। **मनुष्यों के बारह लाख करोड़ कुल हैं और देवों के छब्बीस लाख करोड़ कुल हैं। कुल मिलकर एक सौ साढ़े सत्तानवें लाख करोड़ (१९७५०००,०००,०००,००) कुल हैं।** ये आत्मा में नहीं हैं। हाय.. हाय..! गजब बात। समझ में आया?

अब योनि। **पृथ्वीकायिक जीवों के सात लाख योनिमुख हैं;...** पृथ्वी के जीव जिस स्थान में उपजे, उनके रंग, गन्ध, रस, स्पर्श की योग्यता की समानता हो, उसे एक योनि; फेरफार उसकी दूसरी योनि। ऐसे-ऐसे पृथ्वी के सात लाख योनि अर्थात् उपजने के स्थान हैं। वे भगवान आत्मा में नहीं हैं। आहाहा! यह कुल की बात नहीं। हों! कि यह पारेख के कुल में जन्मा, दोशी के कुल में जन्मा या अमुक के कुल में (जन्मा)। वह कुल तो है ही नहीं, वह तो व्यर्थ की कल्पना दी है कि यह अमुक कुल का है और दोशी का है और...

अप्कायिक जीवों के सात लाख योनि मुख हैं;..... पानी के जीव हैं न, वे उपजने के स्थान इतने हैं। वैसे अग्नि के सात लाख योनि अर्थात् उपजने के स्थान हैं। वैसे वायु के। इन नित्यनिगोदी जीवों के सात लाख उपजने के स्थान हैं। नित्य निगोद जो कभी निकले नहीं उन्हें उसमें उपजने के सात लाख योनि स्थान हैं। **चतुर्गति (चार गति में परिभ्रमण करनेवाले, अर्थात् इतर) निगोदी जीवों के सात लाख योनि मुख हैं; वनस्पतिकायिक जीवों के दस लाख योनि मुख हैं;...** वनस्पति प्रत्येक (अर्थात्) यह पीपल, नीम। **द्वीन्द्रिय जीवों के दो लाख योनि मुख हैं;...** लट उत्पन्न होने के (स्थान)।

त्रीन्द्रिय जीवों के दो लाख योनि मुख हैं; चतुरिन्द्रिय जीवों के दो लाख योनि मुख हैं; देवों के चार लाख योनि मुख हैं; नारकों के चार लाख योनि मुख हैं; तिर्यंच जीवों के चार लाख योनि मुख हैं; मनुष्यों के चौदह लाख योनि मुख हैं। (कुल मिलाकर ८४,००,००० योनि मुख हैं।) यह जीववस्तु चिदानन्द भगवान में ये कुछ हैं नहीं। एक समय की पर्याय में इतनी योग्यता उस जीव ने कभी ग्रही नहीं। पर्याय में इतना है। जीव ने कभी अन्दर द्रव्यस्वभाव में प्रवेश किया नहीं। आहाहा! समझ में आया?

ऐसे कुल और योनिस्थान भगवान आत्मा नित्य शुद्ध चिदानन्दस्वरूप में नहीं है। ऐसा जो शुद्धभाव वह अन्तर में दृष्टि में लेने योग्य है कि जिससे उसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान हो, जिससे उसके फल में उसे मुक्ति हो। समझ में आया?

चौदह जीव के स्थान हैं। सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त है। लोक में सूक्ष्म जीव है। पूरे लोक में भगवान ने सूक्ष्म देखे हैं। **सूक्ष्म एकेन्द्रिय, पर्याप्त और अपर्याप्त;...** किसी को पूरी पर्याप्ति न बँधी (हो), वह जानने की बात है। **स्थूल एकेन्द्रिय, पर्याप्त...** यह स्थूल है। यह बाहर पृथ्वी आदि दिखती है वह। **द्वीन्द्रिय, पर्याप्त और अपर्याप्त; त्रीन्द्रिय, पर्याप्त और अपर्याप्त; चतुरिन्द्रिय, पर्याप्त और अपर्याप्त; असंज्ञी पंचेन्द्रिय,...** मनरहित **पर्याप्त और अपर्याप्त; संज्ञी**

पंचेन्द्रिय, पर्याप्त और अपर्याप्त—ऐसे भेदोंवाले चौदह जीवस्थान हैं। जीव के ऐसे प्रकार हैं, वे जीव चैतन्य धातु में नहीं हैं। ऐसे सब प्रकार पर्याय के अंश में योग्यता है परन्तु वस्तु द्रव्यस्वभाव चिदानन्द मूर्ति आनन्दकन्द में वे हैं नहीं। जीव के स्थान जीव में नहीं हैं।

श्रोता : गुणस्थान जीव के कहे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे जीव के कहे वह पर्यायनय से, व्यवहारनय से। समझ में आया ? व्यवहारनय से पर्याय में हैं। एक-एक समय की अवस्था है, बस! इतनी बात, हों! वस्तु में, त्रिकाल में नहीं है। जिसमें नहीं, उसकी दृष्टि करने का नाम सम्यग्दर्शन है। है, उसकी दृष्टि तो अनादि से है, वह तो पर्यायबुद्धि कहते हैं। समझ में आया ? ऐसी बात! जैनदर्शन में वीतराग में ऐसा मार्ग! रात्रिभोजन न करना हो, कन्दमूल न खाना, यह न खाना, ऐसी बात हो। ऐ.. चन्दुभाई! भगवान! सुन तो सही, बापू! यह खाये कौन और पीये कौन ? यहाँ तो भगवान वीतराग मार्ग में एक तत्त्व की पर्याय दूसरे तत्त्व कर सके, यह तीन काल में नहीं होता। आहाहा! समझ में आया ? व्यवहार से अर्थात् वह तो बोलनेयोग्य है। करे कौन व्यवहार से ? समझ में आया ?

यह चौदह जीव के स्थान जीव में नहीं हैं। प्रकार पड़े न ? भेद पड़े न ? यह दो इन्द्रिय और तीन इन्द्रिय और चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय। एक समय की अवस्था की योग्यता में भले हो; वस्तुस्वभाव में उनका प्रवेश नहीं है। एक समय का भगवान ऊपर कहा था न ? नित्य शुद्ध चिदानन्दरूप कारण प्रभु भगवान आत्मा सिद्धपद की पर्याय का कारण-सिद्धपद की पर्याय का कारण आत्मा, वह ऐसों का कारण नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं, देखो! कारण नहीं हो सकता, कहते हैं। ओहोहो! समझ में आया ?

संज्ञी और असंज्ञी। हम संज्ञी हैं, वह कहे कि संज्ञी हैं, इसलिए हमें केवलज्ञान होने की योग्यता है। संज्ञी के कारण नहीं, संज्ञीपना वह जीव के स्वरूप में है ही नहीं। आहाहा! यह आत्मा है, उसमें से केवलज्ञान होता है। संज्ञीपना है, इसलिए होता है, मन है, इसलिए होता है (ऐसा नहीं है)। समझ में आया ? आहाहा! कली-कली खोलकर रख दी है। भाई! तू भगवान है, बापू! तेरा भगवान महिमावन्त पदार्थ में जीव के ऐसे चौदह प्रकार पड़े न, समय के, वे वस्तु में कहाँ हैं; वे तो पर्याय में-अवस्था में खड़े किये हुए भाव हैं। नहीं थे में से खड़े किये हैं।

संज्ञी तो हुए हैं और इसलिए संज्ञीपना अपने को मोक्ष में कारण होगा, धर्म प्राप्त करने का कारण होगा! - कि नहीं; धर्म प्राप्त करने का कारण यह स्वयं आत्मा होता है। ऐसे भेद धर्म के कारण में नहीं होते, ऐसा कहते हैं।

श्रोता : दूसरी जगह है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरी जगह हो। व्यवहार कहे नहीं ? निमित्त से कहे। ऐसा वहाँ था, वहाँ आगे उससे बुद्धि हटाकर स्वभाव में आया है। उस समय बुद्धि कहाँ से हटायी है, यह बताने को बात करते हैं। आहाहा ! यह तो कटोकटी का खेल हो न, जब व्यक्ति को नहीं होता, देना हो और ऐसे (प्रसंग) हों तो कटोकटी के खेल में मनुष्य को जहर पीने का मन हो जाता है, लो ! अरे ! इज्जत कैसे रहे ? इज्जत कैसे रहे ? ऐसे बेचारा झपट्टे मारता है, हों !

ऐसे यहाँ कहते हैं, बापू ! ऐसा चैतन्यरत्न, उसमें कटोकटी के खेल में तू ऐसा मानेगा (तो) तूने जहर पीने का प्याला पीया। छूटने के मार्ग का रास्ता यह नहीं है, मैं तो चैतन्यरत्न हूँ। समझ में आया ? आहाहा ! यह तो जरा कुछ हो तो (कहे) मैं ऐसा हुआ, मैं ऐसा हुआ। इसकी मूढ़ता भी दो माप की। अनुभव प्रकाश में कहा है न ? भाई ! यदि अविद्या अकेली होती, तब तो अविद्या का जोर नहीं चलता, भाई ! ऐसा कहा। अविद्या अर्थात्, अविद्या अर्थात् कर्म आदि, हों ! अकेली कर्म आदि चीज़ हो तो उसका जोर इतना नहीं। कि अविद्या... परन्तु यह तो तू स्वयं शुद्ध में भी बड़ा और अशुद्ध में भी बड़ा। विपरीतता में भी बड़ा और सुलटाई में भी तू बड़ा है। अकेला आवरण होता न तो उसकी शक्ति इतनी नहीं होती कि आत्मा को निमित्त होने में ढाँक दे। परन्तु तुझमें अशुद्ध शक्ति भी बड़ी। पर्याय में उल्टा पड़ा इतना मान, जिसमें नहीं उसे तू मान। आहाहा ! समझ में आया ?

जिसकी सत्ता में, अस्तित्व में राग नहीं, विकल्प नहीं, योनि नहीं, अवतार नहीं, कुल नहीं, पर्याप्त-अपर्याप्त नहीं। नहीं है, उसे माने, वह तेरी भ्रमणा है। समझ में आया ? जाननेयोग्य है, जाननेयोग्य है। जाननेयोग्य तो ज्ञान का विषय है। स्व-पर को जाने अर्थात् जानने का विषय हो गया। समझ में आया ?

क्षण में तोड़कर केवल (ज्ञान) ले !! केवलज्ञान का कन्द है। वहाँ कहाँ इसे काल माँगता है ? अन्दर नजर कटाक्ष किया, (वहाँ) एकदम ऐसा किया हलहल ज्योति चैतन्य केवलज्ञान (प्रगट हुआ)। लकड़हारे का केवली एक समय में ! कहो, समझ में आया ? परन्तु इसे भरोसा नहीं आता कि मैं इतना हूँ। नजर जहाँ डाले वहाँ बड़ा है, उसकी खबर नहीं। ऐसी श्रद्धा करने की दरकार भी नहीं करता। यह किया और छोड़ा और लिया और दिया, धर्म के नाम पर क्रियाकाण्ड में उलझ गया। निवृत्त नहीं, वह पाप में उलझा। कमाना और भोग, खाना-पीना, इसमें (उलझ गया)। निवृत्त हुआ, तब वापस इसमें उलझा-यह किया और यह किया,

यह किया। यह करना, करना जो स्वरूप में राग का (करना)। नहीं है, उसे यही चालू करना, करना। समझ में आया?

श्रोता : यह उलझना नहीं चाहता।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उलझना नहीं चाहता था (ऐसा) नहीं है। अपने आप से सुलझा है, यह उत्साह करके उलझा है। समझ में आया? आहाहा! अनुभव प्रकाश में दृष्टान्त दिया है। एक पत्थर पुरुष के आकार से बड़ा पत्थर था। इसलिए वहाँ जाकर कहे, तू क्यों यहाँ खड़ा है? अन्धेरा था। ऐसे छूने गया तो गिरा। भाईसाहब मैं पराजित हुआ, उठ। परन्तु कहाँ उठे। वह तो पत्थर था। जहाँ उजाला हुआ, वहाँ (खबर पड़ी कि) यह तो पत्थर था। इसी प्रकार ऐसी की ऐसी मूर्खता अनन्त काल से की है। जड़ के साथ लड़ाई की, भाईसाहब, भाग भाईसाहब। ऐई! शरीर तू हैरान करता है, हों! रोग तू हैरान करता है, हों! निर्धनता तू हैरान करती है, हों! परन्तु वह तो जड़ है। जड़ हैरान करे नहीं और सुखी भी करे नहीं। कहाँ से लगाई है तूने यह? फिर जहाँ खबर पड़ी की मैं तो चैतन्य हूँ, यह तो सब जड़ हैं। कहो, समझ में आया? आहाहा!

अब चौदह मार्गणास्थान नहीं है, भगवान को, ऐसा कहा, देखा? है न अन्त में? ये सब भगवान परमात्मा... वह गोम्मटसार में व्यवहारनय से बात की है। व्यवहारनय से जीव ने गति और है न? देखो! **गति...** ये चार गति अपने आ गया है। नारकत्व और उसमें आ गया था न? पहले ही आ गया था। ये चार गति की पर्याय की योग्यता द्रव्यस्वरूप में नहीं है। वह पर्यायदृष्टि छोड़कर वस्तुदृष्टि करनेयोग्य है। उसका नाम सम्यग्दर्शन और धर्म है। गति में चार गति ही जीव में नहीं है। आहाहा! गति होवे तो छूटे कहाँ से? एक पर्याय में खड़ा किया हुआ विकल्प वस्तु में नहीं है। गति आत्मा को मोक्ष का कारण नहीं है। मनुष्यगति मोक्ष का कारण नहीं है। अरे.. अरे..! मनुष्य भव मिला हो तो.. नहीं, नहीं। वह कारण प्रभु भगवान है, वह मोक्ष का कारण है, मनुष्यगति (मोक्ष का कारण) है नहीं। आहाहा!

इन्द्रिय... परन्तु यह कोड़ी-कोड़ी का भिखारी जहाँ हो, वहाँ यह था न तो ठीक है, यह हो तो ठीक है। मनुष्यगति हो न तो मुझे धर्म हो। भिखारी है। जहाँ चैतन्य चक्रवर्ती पड़ा है, वह कुछ माँगता नहीं यह, उसे इसकी जरूरत नहीं है। ऐसे चक्रवर्ती चैतन्य के भान बिना यह गति हो तो ठीक पड़े, ऐसा हो तो ठीक पड़े, पर्याप्त हो तो ठीक पड़े! कोड़ी-कोड़ी का भिखारी! चक्रवर्ती का राज मेरे घर में है, वह भूल गया। समझ में आया?

छह खण्ड का चक्रवर्ती। आता है न? हरिषेण का क्या आता है? हरिषेण अकेला जाता

है न? उसकी माँ का वह डालने (जाता है)। उसे खबर है कि मैं चक्रवर्ती होनेवाला हूँ, चक्रवर्ती होनेवाला हूँ। भले अभी अकेला हूँ। समझ में आया? आती है न वह कथा, नहीं (आती)? चक्रवर्ती होनेवाला हूँ, छह खण्ड का स्वामी होनेवाला हूँ। मेरी माँ के वीतराग के जैनरथ को पहले चलानेवाला हूँ। भगवान का रथ पहले चलेगा। (माँ की) सौत कहे, मेरा चलेगा, यह कहे कि मेरी माँ का चलेगा। बाहर में भी इतना पुण्य। यह चक्रवर्ती पद भगवान आत्मा है। मेरा आनन्दकन्द का शुद्ध चैतन्य का रथ चलेगा। राग के रथ और गति के रथ मेरे पास हैं नहीं। आहाहा! कहो, समझ में आया? ऐ... पोपटभाई! आहाहा!

सुना सब... मानो फूटे कान। नहीं आता? कथा सुनकर फूटे कान, तो भी न आया ब्रह्मज्ञान। सब विपरीत बातें सुनी सब। आहाहा! ऐसा करो, ऐसा करो, ऐसा करो। श्रीमद् ने कहा है, हों! प्रतिदिन तुम छह काय के जीव और ऐसे और (वैसे बात करते हो परन्तु) वह समकित की बात तो लाओ। महाराज! वह तो बात करो कुछ। यह श्रीमद ने कहा है। अब यह तो तुमने बहुत बात की, हों! बहुत वर्ष हुए हमें। पचास-पचास वर्ष से सुनते आये हैं। छह काय की दया पालो और अमुक, अमुक। अब समकित का कुछ करो न! उसे (आत्मा का) भान नहीं होता, क्या करे बेचारा? जो मूल चीज़ है, जिससे निहाल होने का रास्ता, वह तो पहले बताओ। यह तो ठीक किया। यह छोड़ा और यह तो कुछ शुभभाव में हो, ठीक। यह तो सुना अब छोड़ों न, आज समकित की बात तो करो। पोपटभाई!

यह अमरचन्दभाई कहते थे, हों! लालभाई के पिता। समकित कैसा होगा? परन्तु जवाब कुछ दे नहीं। क्या होगा इसमें? समकित सब ऐसा-ऐसा कहते हैं, समकित चीज़ तो कुछ दूसरी होनी चाहिए। आहाहा! यह गति आत्मा में नहीं है, यह इन्द्रिय नहीं है, पाँच इन्द्रिय की खण्ड-खण्ड की योग्यता भाव, वह भी पर्याय के हैं, द्रव्य में नहीं। जहाँ नहीं, वहाँ नजर डालने से सम्यग्दर्शन होता है। इन्द्रिय के खण्ड-खण्ड पर नजर डालने से एकत्वबुद्धि होती है। यह मैं इतना (माने) तो मिथ्यात्व होता है। पंचेन्द्रियपना हो तो ज्ञान पावे। पंचेन्द्रिय होवे तो ऐसा होवे। अरे! सुन न अब। पंचेन्द्रिय यह जड़ तो आत्मा में नहीं परन्तु पंचेन्द्रिय का जानने का जो खण्ड-खण्ड उपयोग है, वह भी द्रव्य में नहीं है। आहाहा!

पूर्व के पुण्य किये हों, मनुष्यदेह मिले, कान मिले, सुनने का मिले तो धर्म होता है या नहीं? यहाँ कहते हैं कि नहीं। यह भगवान आत्मा कारणपरमात्मा है तो धर्म होता है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। यह होने से धर्म होता है। यह (मनुष्यदेह) होने से होता है, यह वस्तु में है नहीं। आहाहा! शोर मचाते हैं। ऐ... सोनगढ़ अरे! सुन न अब। सोने को जंग नहीं होती। सुन,

सोनगढ़ है यह। ऐई! यह कहते हैं ऐई! सोनगढ़। अब सुन न! सोनगढ़ के नेता ऐसा करते हैं, ऐसी बिचारे बात करते हैं। कोई सोनगढ़ का नेता भी नहीं, कोई नहीं, सुन न अब।

श्रोता : कड़वी भाषा प्रयोग करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कड़वी भाषा कौन प्रयोग करे ?

यहाँ तो कहते हैं, भगवान! तू कहाँ है ? कितना है ? जहाँ तू जितना है, वहाँ इन्द्रियाँ नहीं और जहाँ इन्द्रियाँ हैं, वहाँ तू पूरा स्वरूप आत्मा है ही नहीं वहाँ। आहाहा! गजब बात, भाई! आहाहा! इन पंचेन्द्रियों के योग्यता ज्ञान के क्षयोपशम की खण्ड-खण्ड, वहाँ तू नहीं और जहाँ तू है, वहाँ वे नहीं। बाहर की तो इन्द्रियाँ तो कहीं रह गयीं। समझ में आया ? कहो, पूनमचन्दजी! क्या करना ? सब इनके साथ लड़ाई करते हैं, हों! भगवान! यह महाकठिनता से सुनने को मिला अब रहने दे। लक्ष्मी टीका करने आती है तो मुँह धोने दे पहले। अरे! मुँह नहीं (धोया जाता) टीका तो आयेगा। वह चली जायेगी। मैं मुँह धोकर आऊँ अच्छा लगेगा। वहाँ वह (लक्ष्मी) चली गयी। लो, अब। कहाँ थी ? वह तो गयी। यह काल गया।

इसी प्रकार इस समय आत्मा को समझने का काल है। उस समय तू इस बात को ऐसे नहीं होता, ऐसे नहीं होता (ऐसा) नकार मत कर, भाई! आहाहा! दिन फिरा है तेरा, कहते हैं। उस राजा का नहीं आता ? 'राह' नाम का बड़ा राजा था। उसके चारण होते हैं। वह जब गद्दी पर बैठता है, तब उसकी महिलाएँ उसे ऐसे टीका करे, तिलक करे तब गद्दी पर बैठे। उसमें सास-बहू थी और वह गया वहाँ टीका कराने। बहू थी जवान रूपवान बहुत। ऐसे टीका करने गया तो राजा मोहित हुआ। टीका न करने दे। क्योंकि टीका करने दे तो लड़की हो जाये। ऐसे (चेहरा) फिरावे। वे लोग भद्रिक बहुत होते हैं। भद्रिक, सरल, सज्जन। रूपवान शरीर आदि परपुरुष नहीं हो, प्राण जाये तो भी परपुरुष नहीं। देखो न! वह यशोदा कैसी ? यशना। सिद्धार्थ राजा कहे, रानी बनाऊँ, राजा बोलना नहीं। यह तेरा स्वामी आता है। टोकरा उठाये। राजा कहे, रानी बनाऊँ, बोलना नहीं, बोलना नहीं। यह बात हम नहीं सुनेंगे। आहाहा! लौकिक नीति के लोग ऐसे। समझ में आया ?

इसी प्रकार यहाँ भगवान आत्मा में कहते हैं कि तू रागवाला, तुझे पंचेन्द्रिय से लाभ हो, ऐसा बोलना नहीं। वह स्वरूप में नहीं है। समझ में आया ? आहाहा! मर गये, हों! फिर अन्त में राजा ने पीछे मनुष्य भेजा। वह वश में नहीं हुए तो मार डाला। मर गया परन्तु वश में नहीं हुआ। समझ में आया ? वह टीका करने गया और इनकार किया। माँ, सासु को माँ कहते हैं

न? इस (राजा) राह मुँह फेरता है। वह तो बेचारी निर्दोष महिला, हों! उसे खबर नहीं कि यह क्या है? ऐसे मुँह फिराता है, माँ! बहिन! इस राजा के दिन फिरे हैं। हम लड़कियाँ जैसी, हम टीका करते हैं, प्रजा की लड़कियाँ हैं। उस पर इसकी नियत बिगड़ी? इसके दिन फिरे हैं। इसे राज नहीं रहेगा। समझ में आया?

इसी प्रकार आत्मा की बात जब सत् सुनने को मिलती है, (तब ऐसा कहे) अभी यह नहीं। तेरे दिन फिरे हैं, यह नहीं मिलेगी। आहाहा! समझ में आया? राज नहीं रहेगा, नहीं रहेगा। राज उड़ गया, उड़ गया राज। ऐसा काल, ऐसी बात तुझे परमात्मस्वरूप हो भगवान, तुझे सुनने को मिले और इनकार करता है, मनुष्यपना नहीं रहेगा। निगोद में जाकर हैरान हो जायेगा। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं, यह इन्द्रिय नहीं। आहाहा! वे कहें, है न। परन्तु किसने इनकार किया? सुन न! वह तो पाँच इन्द्रिय की योग्यता की एक समय की पर्याय है। एक समय की पर्याय-अवस्था वस्तु में वह नहीं है। वस्तु अतीन्द्रिय भगवान है। अतीन्द्रिय भगवान आत्मा की अन्तर्दृष्टि करने का नाम सम्यग्दर्शन है और इन्द्रिय पर तुझे दृष्टि (की) इतना हूँ, इतना हूँ, इतना मैं हूँ। समझ में आया?

लींबड़ी दरबार को भाई! था न क्या कहलाता है उनका? तुम्हारे पास गाँव नहीं था? 'बलाला' उसमें दो खेत होंगे। राज मिला। दस लाख का तालुका, दस लाख का तालुका मिला न? पहले नौकर थे। वीरजीभाई कहे, नौकर थे। उस नौकर को दस लाख का राज मिला। पश्चात उसे... जमीन थी, छोड़ दी। इसी प्रकार एक समय की पर्याय पंचेन्द्रिय की योग्यता वह तू?-कि मैं नहीं। पहले मैंने माना था। मेरा खेत बड़ा है। मैं तो अनइन्द्रिय भगवान पूर्णानन्द स्वरूप हूँ, वह मेरा खेत और वह मेरा धाम है। पंचेन्द्रिय मुझमें है नहीं। ऐसी स्वरूप की दृष्टि करना और पर्याय है, उसे जानने में रखना, आदरने में नहीं। इसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। (***श्रोता :*** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

२ श्री पंचास्तिकाय, गाथा-८, प्रवचन-१३
दिनांक २८.११.१९६९

पंचास्तिकाय, षट्द्रव्य। अस्तिकाय है न? अस्तिकाय। अस्ति है। बहुत प्रदेशोंवाले पाँच तत्त्व है, पाँच द्रव्य हैं। यहाँ क्या कहते हैं? यह आत्मा है या परमाणु है। उसका तीन लक्षण स्वरूप है। प्रत्येक पदार्थ का त्रि-लक्षण (अर्थात्) उत्पाद, वह भी है, व्यय है, ध्रुव है। त्रि-लक्षण स्वरूप है। ये त्रि-लक्षण स्वरूप से नहीं। एक-एक लक्षण की अपेक्षा से है तीन लक्षण स्वरूप नहीं। ऐसी बात है। समझ में आया?

जिस स्वरूप से उत्पाद है... इस आत्मा में एक समय की पर्याय में जो उत्पादरूप है, उस प्रकार से एक उत्पाद एक ही लक्षण है। यहाँ तो छहों द्रव्यों की बात है। एक समय की ज्ञान की पर्याय है, अनन्त गुण की जो एक समय की पर्याय है, वह उत्पाद है; वह उत्पादरूप से ही है; वह कहीं व्यय और ध्रुव-लक्षणरूप नहीं है। समझ में आया? वह उत्पाद एक ही लक्षण है।

जिस स्वरूप से व्यय है... पहले समय की अवस्था का व्यय है, जिस स्वरूप से अभाव है-व्यय है, **उसका (-उस स्वरूप का) उस प्रकार से व्यय एक ही लक्षण है...** समझ में आया? जैसे कि आत्मा में अनन्त गुण की एक समय की जो पर्याय उत्पन्न हुई, वह उत्पन्न लक्षण से उत्पन्न स्वरूप ही है; व्यय लक्षणवाला स्वरूप वहाँ नहीं है। समझ में आया? अर्थात्?-कि एक समय में यहाँ आत्मा में ज्ञान की पर्याय में... यह तो अनन्त पर्यायों को साथ में लेना है। बाद में अनन्त पर्याय में पर्याय अलग निकालेंगे। यहाँ तो एक समय में अनन्त पर्यायें हैं, वह उत्पादलक्षण पर्याय से है। है अनन्त एक साथ। परमाणु में भी एक पॉईन्ट / रजकण है, उसमें भी एक समय में अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायें जो उत्पन्न होती है, वे उत्पाद लक्षणवाली है। पूरा लो तो तीन लक्षणवाली है, परन्तु एक-एक लो तो एक लक्षणवाली है। इसलिए तीन लक्षणवाली, एक लक्षणवाली है। तीन लक्षणवाली महासत्ता, वही एक लक्षणवाली अवान्तरसत्ता है। समझ में आया?

जो आत्मा में एक समय की ज्ञानपर्याय उत्पन्न हुई, एक उत्पन्न है, तो उसमें वास्तव में

ज्ञान की पर्याय उपजी, वह अनन्त सिद्धों को तीन काल, तीन लोक के द्रव्य को सिद्ध की पर्याय को, सिद्ध के द्रव्य के, अनन्त परमाणु रूपी द्रव्य को, उसके गुण को उसकी पर्याय को एक समय की ज्ञानपर्याय-उत्पाद उन्हें जान लेती है। ***यह दूसरी चीज़ है, इसलिए उत्पाद है, दूसरी ध्रुव चीज़ है, इसलिए उत्पाद है अथवा स्वयं ध्रुव है, इसलिए उत्पाद है-ऐसा नहीं है। समझ में आया?***

एक समय की ज्ञान की उत्पादरूप पर्याय (हो), जिसमें अनन्त परमेश्वर एक समय की पर्याय में समा गये हैं। अनन्त सिद्ध, अनन्त केवली अर्थात् सिद्ध या केवली अथवा लाखों केवली, अनन्त जीव जो 'ज्ञ' स्वभाव से ध्रुव हैं और परमाणु जो ध्रुव स्वभाव से नित्य है, उन सबको ज्ञान की एक समय की पर्याय उत्पाद, वह अपने उत्पादरूप ही है। समझ में आया? ***इतनी सामर्थ्यवाली एक पर्याय उत्पन्न होती है, लो! उसे व्यय की अपेक्षा नहीं, उसे ध्रुव की अपेक्षा नहीं। समझ में आया? कहते हैं कि यह उत्पाद है, वह उत्पादस्वरूप से ही है और पूर्व की अवस्था का व्यय है, वह व्ययस्वरूप से है। उत्पाद के कारण व्यय है अथवा व्यय के कारण उत्पाद है-ऐसा नहीं है। समझ में आया?***

और जिस स्वरूप से ध्रौव्य है... ज्ञान का जो ध्रुवपना और अनन्त गुण का जो ध्रुवपना है, ध्रुवपना; वह ध्रुवपना, ध्रुवपने के कारण है। उसके ध्रुवपने में-भगवान आत्मा के ध्रुवपने में एक में अनन्त परमेश्वर, अनन्त द्रव्य एक समय की पर्याय में उत्पादरूप हुए। ऐसी-ऐसी अनन्त पर्यायें, अनन्त-अनन्त पर्यायें, अनन्त परमेश्वर की एक समय की पर्याय में अनन्त परमेश्वर, उस अनन्त पर्याय में अनन्तगुणा परमेश्वर, वे सब पर्याय का अन्दर ध्रुवपना देखो तो ध्रुव, ध्रुव के कारण है; उत्पाद के कारण भी नहीं। पर के कारण तो नहीं... समझ में आया? वह ज्ञान की पर्याय का उत्पाद, उत्पाद के कारण अर्थात् पर के कारण तो नहीं... आहाहा! क्या सत्ता की सिद्धि करते हैं! देखा? समझ में आया? एक समय की ज्ञान की पर्याय उत्पादरूप से उत्पाद है, वह पर के कारण तो नहीं, परन्तु ध्रुव के कारण (भी) नहीं है। समझ में आया? ओहोहो!

कहते हैं, अन्दर भगवान महा समुद्र ध्रुव है। समझ में आया? ध्रुव में महाभगवान अनन्त विराजते हैं। अनन्त परमेश्वर एक पर्याय में, ऐसी अनन्त पर्याय के परमेश्वर वे उसके एक ज्ञानगुण में हैं। यहाँ तो सब गुणों का ध्रुवपना ऐसा उसका सामर्थ्य एक ज्ञान में, ऐसा दर्शन में, ऐसा आनन्द में, ऐसा ध्रुवपना जो है, उस ध्रुवपने का स्वरूप उसमें एक लक्षण से सिद्ध है। उत्पाद के और व्यय के कारण से ध्रुव है - ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

कितना ज्ञान महासागर है आत्मा! ध्रुव का ज्ञान महासागर!! अनन्त केवली उस

उत्पादरूप वर्तते हैं। उनके उत्पाद का ज्ञान अपने कारण से अपना ज्ञान हुआ, ऐसा जो उत्पाद, ऐसे-ऐसे अनन्त उत्पादरूप ध्रुव जो है, उत्पाद की अपेक्षा रखता नहीं। अन्तर भगवान आत्मा ज्ञानस्वभाव समुद्र अनन्त-अनन्त परमेश्वर को तो एक पर्याय पी गयी! ऐसी अनन्त-अनन्त पर्यायों को एक ध्रुव पी गया!! आहाहा! समझ में आया? ऐसा अनन्त गुण का साहिबा आत्मा महासत्ता है। अभी तीन होकर (महासत्ता), हों! उसमें एक अवान्तरसत्ता का अन्तर्भेद तीन में से एक पड़ा न ध्रुव का! तीन होकर महासत्ता! त्रिलक्षणी महासत्ता है। वह अत्रिलक्षणी अर्थात् एक लक्षणी महासत्ता उसरूप नहीं। अवान्तरसत्तारूप महासत्ता नहीं। समझ में आया?

ऐसा परमेश्वर का परमेश्वर जानने की अपेक्षा से, हों! दूसरे का परमेश्वर नहीं। एक समय में अनन्त परमेश्वर का अस्तित्व एक समय में जाना, वह अपनी पर्याय का उत्पाद अपने से हुआ है। परमेश्वर हैं, इसलिए हुआ है-ऐसा नहीं। समझ में आया? समवसरण में त्रिलोकनाथ तीर्थंकर परमेश्वर बिराजते हैं और ज्ञानी का लक्ष्य वहाँ गया, इसलिए उसकी पर्याय का उत्पाद हुआ, सामने चीज़ है, इसलिए (उत्पाद हुआ)-ऐसा नहीं है। समझ में आया? उस ज्ञान की पर्याय का उत्पाद अपने से, अपने कारण, महासत्ता जो तीन की गिनी है, उसमें की अवान्तरसत्ता अपने से उत्पन्न हुई है। आहाहा! और उस उत्पाद की अवान्तरसत्ता ध्रुव की अपेक्षा नहीं रखती। पर की अपेक्षा तो है ही नहीं कि भगवान थे, इसलिए यह ज्ञान की पर्याय हुई-(ऐसा तो है ही नहीं)। उसका उत्पाद उसमें है, इसका उत्पाद यहाँ का इसमें है। अस्तित्व है न यहाँ। समझ में आया?

ऐसा भगवान आत्मा है(-ऐसा) कभी सुना नहीं होगा। इसलिए आत्मा को पामर कर डाला। राग का कर्ता। अरे! ऐसा ज्ञान का महासमुद्र, वह राग का कर्ता हो सकता नहीं। समझ में आया? वह राग का जाननेवाला, एक समय की पर्याय में रागादि, पूरी दुनिया का जानने का एक समय की पर्याय का सामर्थ्य है। उस ज्ञान की पर्याय का उत्पाद, राग है और पर है; इसलिए होता है-ऐसा नहीं है। समझ में आया? अर्थात् वह विकल्प और व्यवहार है, इसलिए उस क्षण यहाँ ज्ञान की उत्पत्ति होती है, ऐसा नहीं है। दूसरे क्षण में यहाँ राग की उत्पत्ति है, इसलिए दूसरे क्षण में उसके कारण से ज्ञान की पर्याय हुई (-ऐसा नहीं है), वह तो व्यय लक्षण व्यय में गया। अरे! ज्ञान की पर्याय जो पहले समय में थी, वह व्यय लक्षण तो व्यय में गया और नयी जो पर्याय उत्पन्न हुई, वह अपनी स्वतन्त्र पर्याय ज्ञान के उत्पादलक्षण से सिद्ध हुई है। समझ में आया?

यहाँ तो अब कहते हैं कि उत्पादलक्षण से उत्पाद है; व्ययलक्षण से व्यय है और ध्रुव

-लक्षण से ध्रुव है। तीन लक्षणवाली जो पूरी महासत्ता गिनने में आयी है, उसमें अन्तर्भेद एक लक्षणवाला है, इन तीन में उसका अभाव है। तीन में एक लक्षण का अभाव है और एक लक्षण में तीन का अभाव है। अस्ति-नास्ति। महासत्ता में अवान्तरसत्ता का अभाव; अवान्तरसत्ता में महा (सत्ता) का अभाव। गजब बात! समझ में आया? परवस्तु का तो अभाव है, परन्तु अपनी एक-एक अवस्था में-अवान्तर भेद में अपना दूसरा भेद है, वह इसमें नहीं। ऐसा एक-एक अस्तित्व का लक्षण स्वतन्त्र उत्पाद का, व्यय का और ध्रुव का है। आहाहा!

ऐसा ज्ञानस्वभाव ध्रुव.. अरे! यहाँ तो अनन्त गुण का ध्रुवपना लेना है, क्योंकि अनन्त गुण को यहाँ तीन लक्षण में ध्रुव को एक लक्षण गिना है। पश्चात् फिर ध्रुव को महासत्ता गिनकर उसके गुण के अन्तर्भेद को अवान्तरसत्ता गिनते हैं। समझ में आया? ध्रुव एक आत्मा का है, वह महासत्ता है और उसके अन्दर में एक-एक गुण का अन्तर्भेद है, वह अवान्तरसत्ता है। समझ में आया?

यहाँ तो तीन लक्षण में से एक लक्षण पूरा भिन्न करना है, परन्तु यहाँ तो वापस एक ध्रुव में लो तो ध्रुव एक जिस लक्षण में है, उसमें जो ध्रुव जो महासत्तारूप से है, वह अनन्त पर्यायों में पर्याय... महासत्तारूप से अनन्त पर्यायों का पिण्ड जो ध्रुव है, उसका एक-एक गुणभेद ग्रहो; एक ज्ञानगुण-जिसमें अनन्त पर्यायें समा गयी हैं, अनन्त परमेश्वर को जाने, तीन काल-तीन लोक को जाने, इससे अनन्त गुणा हो तो जाने, ऐसा भगवान आत्मा के ज्ञान की एक समय की पर्याय का सामर्थ्य है। ***ऐसा सामर्थ्यवाले को ऐसा मानना कि यह राग था, इसलिए ऐसी सामर्थ्य पर्याय उत्पन्न हुई; पामर राग था, (वह गया, इसलिए) प्रभुता उत्पन्न हुई... यहाँ तो कहते हैं कि ध्रुव था, इसलिए पर्याय उत्पन्न हुई-ऐसा भी नहीं है ले सुन!*** आहाहा! क्या परन्तु समुद्र वर्णन किया है न बड़ा!! चैतन्यरत्न... हें!

हाँ... जहाँ हो, वहाँ आता है न? बनारसीदास में आता है। आहाहा! एक जरा मनन तो-विचार तो करे कि यह मैं कितना हूँ? जिसके अनन्त-अनन्त गुण एक-एक द्रव्य के, सिद्ध के; वैसा द्रव्य, उसके अनन्त गुण; कितने गुण हैं? कि तीन काल के समय से अनन्तगुणे गुण हैं। तीन काल के समय से एक द्रव्य के अनन्तगुणे गुण।

आकाश के प्रदेश अनन्त है, तीन काल से भी इस आकाश के प्रदेश अनन्तगुणे हैं। उससे भी एक द्रव्य के अनन्तगुणे गुण हैं; ऐसे अनन्त गुणे जो एक-एक द्रव्य के गुण हैं और उनकी पर्याय, उनके अनन्त गुण का एकरूप-ऐसे अनन्त द्रव्य एक ज्ञान की पर्याय में जान

लिये हैं। एक समय की पर्याय उत्पादरूप हुई, उसने जाना। वे हैं, इसलिए जाना है–ऐसा नहीं है। ध्रुव है, इसलिए जाना है–ऐसा नहीं है। समझ में आया ? अथवा पूर्व की अवस्था का व्यय हुआ, इसलिए यह उत्पाद में जाना है–ऐसा भी नहीं है। समझ में आया ? वजुभाई ! गजब भाई !

इसका अस्तित्व ही इतना है। अस्तिरूप से एक समय की जो अनन्त गुण की पर्याय, उसका अस्तित्व इतना सत्त्व है। आहाहा ! भगवान आत्मा अनन्त परमेश्वर को एक समय में जाने, ऐसे ज्ञान को राग का काम सौंपना कि यह राग करे, वह दया, दान, व्रत का राग करे... परन्तु राग तो साथ में होता है, भाई ! समझ में आया ? क्या कहा ? साधक (दशा) में राग तो साथ में होता है, (ज्ञान और राग) दोनों साथ में होते हैं। उत्पाद, उत्पादरूप से है तो राग का उत्पाद है, यहाँ ज्ञान का उत्पाद है। एक समय का उत्पाद दोनों साथ में है। अब इसे ऐसा कहना कि यह राग का उत्पाद है, राग है, इसलिए यहाँ (ज्ञान का) उत्पाद होता है, तो कहते हैं कि ऐसा नहीं है। समझ में आया ? आहाहा !

किस प्रकार से अस्तित्व को सिद्ध किया है ? ऐसा है, वह सिद्ध किया है न ! यहाँ कहाँ इसे कल्पना से सिद्ध किया है। आहा ! द्रव्यानुयोग तत्त्वज्ञान का विषय महासमर्थ है, गम्भीर है। श्रीमद् में आता है न ? द्रव्यानुयोग गम्भीर है, शुक्लध्यान का रहस्य है। आहाहा ! समझ में आया ? ओहो ! भगवान की वाणी दिव्यध्वनि और भगवान, इन सबको एक समय में ज्ञान की पर्याय जाने। वह दिव्यध्वनि है; इसलिए पर्याय का अस्तित्व है–ऐसा नहीं है। समझ में आया ? भगवान को तो, किसी को तो आठ वर्ष में केवलज्ञान होवे और दिव्यध्वनि निकले। आठ वर्ष से कोटिपूर्व तक। समवसरण में दिव्यध्वनि.. उसे जो ज्ञानगुण का उत्पाद है, वह उत्पादलक्षण से है, ऐसा सिद्ध करते हैं। वह वाणी है और यह है; इसलिए उत्पाद हुआ है (-ऐसा नहीं है)। आहाहा ! देखो न, एक बात ! वस्तु की स्थिति ही ऐसी है, उसकी खबर नहीं होती और दृष्टि में विपरीतता तथा जैसा स्वभाव है, उसका अनादर (हो) और इसे धर्म होवे (-ऐसा नहीं है)। व्रत पालन कर मर जाए, अपवास कर-करके सूख जाए तो मिथ्यात्व का पाप हो। ऐंई ! जेठाभाई ! यह अभी तक यही किया है न सब ? आहाहा !

बापू ! तुझे खबर नहीं। तेरे अस्तित्व में, एक-एक समय के अस्तित्व में कितना सामर्थ्य है ! अरे ! व्यय के अस्तित्व में भी, उत्पाद के कारण नहीं–ऐसा अभावरूप होने का सामर्थ्य है; और ध्रुव को ध्रुवरूप रहने का महासामर्थ्य है, ध्रुव महाप्रभु है। समझ में आया ? उत्पाद द्वारा ध्रुव को देखे भले, परन्तु ध्रुव, उत्पाद के कारण से नहीं है। समझ में आया ? थोड़ा

सूक्ष्म पड़े, परन्तु है कुछ-इसका ध्यान में तो रखना चाहिए या नहीं ? महासत्ता की खान की बातें चलती है। समझ में आया ?

अस्तिकाय सिद्ध करते हैं। आहाहा! असंख्य प्रदेशी भगवान, वह काय। उसमें जो अनन्त गुण (और) पर्याय। उत्पाद, उत्पाद के कारण से-लक्षण से सिद्ध है। ध्रुव, ध्रुव के लक्षण से सिद्ध है। तीन लक्षणवाली महासत्ता; उसमें एक लक्षणवाली अवान्तरसत्ता का तीन में अभाव है। एक लक्षणवाली सत्ता में तीन लक्षण का अभाव है। उत्पाद में-पर्याय में ध्रुव का अभाव है; उस उत्पाद में व्यय का अभाव है; व्यय में उत्पाद का अभाव है; ध्रुव में उत्पाद का अभाव है और ध्रुव में व्यय का अभाव है। ऐसी वस्तु सर्वज्ञ परमेश्वर ने देखकर इस प्रकार से कही है। इससे दूसरे प्रकार से कहे तो वह परमेश्वर को पहिचानता नहीं और द्रव्य को जानता नहीं, विपरीत दृष्टि को घोंटता है। समझ में आया ?

राग की मन्दता, कषाय के परिणाम, व्रत, नियम आदि के हों तो उनसे आगे जाया जा सकता है, ऐसा अस्तित्व का स्वरूप नहीं है-ऐसा यहाँ कहते हैं। आहाहा! क्यों ? कि आत्मा में जब एक समय में ज्ञान की पर्याय उत्पन्न हुई, श्रद्धा की उत्पन्न हुई, उस समय अभी राग की भी उत्पन्न हुई है। वह उत्पन्न लक्षण से उत्पाद है, बस! वह उत्पाद, राग का उत्पाद ज्ञान की पर्याय को उपजावे (-ऐसा नहीं है)। वे दोनों स्वयं तो उपजे हैं, उसमें उपजावे किसे ? आहाहा! समझ में आया ? अथवा पूर्व की मन्दराग की, मन्दकषाय की पर्याय है, व्रत-नियम आदि के भाव हैं, इसलिए उसे अन्दर आत्मा को पहुँचाते हैं-(ऐसा नहीं है)। (क्योंकि) वह व्यय तो व्यय हो गयी है। व्यय हो गयी, वह उत्पाद में तो आती नहीं, अतः व्यय हुई, वह उत्पाद को करे-यह तो है नहीं। अभी भारी गड़बड़ है। समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं, उत्पाद है, वह ध्रुव है, इसलिए उत्पाद है-ऐसा भी नहीं है। आहाहा! देखो न भाई! यह पर्याय का एक समय का स्वतन्त्र (अस्तित्व सिद्ध करते हैं)। सत् सत् है न ? सत् को कोई हेतु नहीं होता। एक समय की भगवान आत्मा की पर्याय ज्ञान, दर्शन, शान्ति, आनन्द इत्यादि या रागादि (है) परन्तु वह उत्पाद, उत्पाद से है; उत्पाद, पर से तो नहीं और उस राग का उत्पाद है, वह कर्म से नहीं; उस राग का उत्पाद है, वह ज्ञान से नहीं; राग का उत्पाद है, उस समय में ज्ञान का उत्पाद राग के कारण नहीं। इसमें आवे क्या ? कल तुम नहीं थे। यह सब यहाँ पूछने का था कल। कहो, समझ में आया या नहीं इसमें ? इसमें भगवान घोंटा जाता है।

ऐसा भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ अनन्त-अनन्त शान्ति और आनन्द की-

अनाकुल की खान ऐसा जो ध्रुव। आहाहा! महासमुद्र चैतन्य रत्नाकर ध्रुव है, वह ध्रुव अपने लक्षण से ही लक्षित है। उत्पाद से ज्ञात हो ध्रुव; ध्रुव कहीं ध्रुव से ज्ञात नहीं होता परन्तु उत्पाद से ज्ञात होता है परन्तु ध्रुव, ध्रुव के कारण रहा हुआ है; उत्पाद के कारण ध्रुव रहा है, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? यह मूल तो तत्त्व का अस्तित्व और उसकी सत्ता किस प्रकार है, उसकी खबर नहीं, इसलिए यह सब गड़बड़ी उठी है। सम्प्रदाय के नाम से यह धर्म है और यह धर्म है। अधर्म है, वह धर्म है। ऐई! भगवान की भक्ति और व्रत का भाव, वह विकल्प है, वह विकल्प है, वह अधर्मभाव की उत्पत्ति है। अरे! गजब बात है।

मुमुक्षु : सम्प्रदाय को धर्म मान लिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : मान लिया। दृष्टि पूरी तत्त्व भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द साहेब बड़ा है, आनन्दकन्द का नाथ है, अनन्त परमेश्वर जिसने गर्भ में रखे हैं। अरे! उसकी क्या खबर। पूरी दुनिया तीन काल तीन लोक से अनन्तगुने सिद्ध हों, अनन्तगुणा काल हो तो उसकी एक समय की पर्याय में जान सके, ऐसी ताकतवाला प्रभु है। वह राग के कारण नहीं। वे इतने संयोग हैं, इसलिए नहीं, आहाहा! समझ में आया ? बाबूभाई! समझ में आया या नहीं ?

अरे! जहाँ निधान भगवान विराजता है, वहाँ नजर तो कर, कहते हैं। अनन्त परमेश्वर जिसके पेट में-गर्भ में पड़े हैं। उसके ध्रुव में पुण्य-पाप जरा भी नहीं हैं। वह तो उत्पाद में गया। वह उत्पाद में कहा पहला। पुण्य का विकल्प उठा, उस क्षण में धर्मी को ज्ञान की पर्याय भी उत्पन्न हुई तो वह तो एक समय में दो हुए हैं। तो उसको व्यवहार कहना और इसे निश्चय कहना परन्तु व्यवहार है, इसलिए निश्चय है, ऐसा नहीं है। राग है, इसलिए ज्ञान का उत्पाद है, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? आहाहा!

यहाँ तो अन्तिम ध्रुव आया न ? कहते हैं। **जिस स्वरूप से ध्रौव्य है, उसका (उस स्वरूप का) उस प्रकार से ध्रौव्य एक ही लक्षण है...** परमाणु है परमाणु, यह परमाणु सूक्ष्म पॉईन्ट, उसमें भी अनन्त पर्यायें जो होती हैं, अनन्त गुण की रंग की अवस्था, रंग की अवस्था (होती है)। एक समय में अनन्त गुण की रंग की अवस्था है, वह उत्पाद, उत्पाद के कारण हैं। रंग गुण है; इसलिए नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! परमाणु में निमित्त आया, इसलिए रंग आया, यह तो है ही नहीं, परन्तु रंगगुण ध्रुव पड़ा है, इसलिए रंग की पर्याय अनन्त गुणे वर्णरूप परिणमी है, ऐसा नहीं है। अरे! जगत को सुनने को मिलता नहीं। ऐसा तत्त्व है और ऐसा वस्तु का स्वरूप है। समझ में आया ?

यहाँ तो... ऐई! वह पण्डित आया था न? (वह कहता था), दिखता है, अग्नि आयी तो पानी गर्म हुआ। भाई! क्या तुमने कहा? अग्नि अग्नि में है, पानी पानी में है। पानी की अवस्था का अस्तित्व पानी की अवस्था में है। अग्नि की अस्तित्व की अवस्था अग्नि में है। उसके कारण यहाँ गर्म हुआ, यह तूने कैसे किस प्रकार माना? समझ में आया? यहाँ तो कहते हैं कि अग्नि का जो उत्पाद, उस क्षण का है, उसके उत्पादरूप उसमें ही है और पानी का जो उष्णपने का उत्पाद है, वह स्वयं उत्पाद, उत्पाद के कारण है; अग्नि के कारण उष्ण की पर्याय उत्पन्न हुई है, ऐसा नहीं है। उत्पन्न उसके कारण (तो हुई) नहीं परन्तु ध्रुव में स्पर्शगुण है, इसलिए उष्ण पर्याय उत्पन्न हुई है, (ऐसा भी नहीं है)। आहाहा! अकेली वीतरागता! अकेली ज्ञायकता है! ऐसा कैसे? यह ज्ञान में प्रश्न ही नहीं। होने ही रूप से इस प्रकार से वस्तु है, उसमें फिर ऐसा कैसे, इस प्रश्न को अवकाश नहीं है। समझ में आया?

यह बड़े-बड़े पण्डितों को विवाद उठता है, लो! उस समय भाई ने प्रश्न किया था। धीरुभाई के भाई ने। उसने पूछा, होनेवाला होगा, वह होगा तो फिर पुरुषार्थ कहाँ रहा? यह सबको व्यवधान है। धीरुभाई को पूछा और धीरुभाई ने कहा परन्तु तू नहीं समझे अभी। होनेवाला होगा, वह होगा। ***बापू! होनेवाला होगा, वह होगा अर्थात् उत्पाद। समझ में आया? होनेवाला होगा, वह होगा, इस उत्पाद का ज्ञान कौन करे? यह ज्ञान जाने। ज्ञान का उत्पाद कैसे हो? स्वयं के कारण ज्ञान का उत्पाद हो। समझ में आया? यह होनेवाला होगा, (वह) होगा, इसका निर्णय ज्ञायकभाव पर जाता है। ज्ञायकभाव हूँ, अकेला जाननेवाला हूँ अर्थात् जिस समय की मुझमें पर्याय होनी है, वह होनी है; जड़ में जिस समय (होनी है) वह होनी है, उसे मैं जाननेवाला हूँ, यह जाननेवाले का निर्णय किया, ज्ञानस्वरूप से ज्ञायक भगवान हूँ, ऐसा निर्णय किया तो होनेवाला वह होगा का जाननेवाला रहा। इसका नाम पुरुषार्थ है। आहाहा!*** क्या हो? ऐसी गड़बड़ चढ़े न! यह सूक्ष्म बात है, हों! पूछते थे, बेचारे प्रेम से पूछते थे, हों! (मैंने पूछा), धीरुभाई को पूछा नहीं? (तो उसने कहा) कि धीरुभाई ने मुझे कहा कि परन्तु तू नहीं समझेगा अभी। धीरुभाई की बात सत्य। धीरूभाई चतुर व्यक्ति है और उसे अभ्यास है न! आहाहा! उसने कहा, भाई! ऐसा है, बापू! हों! मार्ग ऐसा है। आया था, घूमकर यहाँ आया था न? कहा, ऐसा मार्ग है, एकदम जँचे ऐसा नहीं है। होनेवाला होगा वह होगा, अर्थात् क्या? उसे जाना किसने? होना होगा वह होगा, इसका ज्ञान किया हो, तब होना होगा वह होगा। तब होना होगा वह होगा किसमें? - कि द्रव्य में। तो द्रव्य का ज्ञान किया हो तो होना होगा वह होगा, उसका जाननेवाला रहे। उसके बिना ज्ञान हुआ कहाँ

से ? होनेवाला होगा वह होगा का ज्ञान कहाँ से हुआ ? आहाहा! समझ में आया ? देखो! वीतराग का मार्ग दुनिया के साथ कुछ मेल खाये ऐसा नहीं है। समझ में आया ? वस्तु की स्वरूप की स्थिति ही ऐसी है।

कहते हैं कि भगवान आत्मा ध्रुवस्वरूप जो चिदानन्द अनादि-अनन्त ध्रुव.. ध्रुव.. ध्रुव.. जिसमें अनन्त परमेश्वर के परमेश्वर के पर्याय के पिण्डरूप ध्रुवपना पड़ा है। आहाहा! जिसका / ध्रुव का ज्ञान, वह पर्याय से भी अधिक है और पूरी दुनिया से अधिक अर्थात् भिन्न है। समझ में आया या नहीं ? '....' सब चीज़ से भिन्न, ज्ञानस्वभाव से अधिक। अधिक अर्थात् पर से भिन्न, ऐसा जान। '...' ज्ञान भगवान आत्मा जाननहार प्रज्ञाब्रह्म चैतन्यबिम्ब वह राग और पर से अत्यन्त भिन्न अर्थात् अत्यन्त पृथक् है।

ऐसा अन्तर्ज्ञान करे उसे सम्यग्दर्शन धर्म की पहली शुरुआत होती है। पश्चात् उसे चारित्र होता है, स्वरूप में स्थिर हो, तब चारित्र। ये व्रत-ब्रत के विकल्प आवें, वे चारित्र-फारित्र नहीं हैं। चारित्र अर्थात् चरना। चरना, वह स्वरूप में हो, उसमें चरे या राग में चरे। समझ में आया ? आहाहा! यह हंस मोती को चरे! यह हंस दाने को नहीं खाये। समझ में आया ? मानसरोवर का हंस मोती खाता है, भूखा रहे परन्तु ज्वार नहीं खाता। आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा तो शुद्ध ज्ञान और आनन्द के चारे को चरनेवाला आत्मा है। वह राग को चरे और राग को खावे, वह आत्मा नहीं है। वह हंस नहीं है, वह हंस नहीं है। समझ में आया ? भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु, उस आनन्द के चारे को चरे अर्थात् रमे, उसका नाम चारित्र है। (आत्मा) आनन्द का चारा खाये। राग का भूसा खायेगा ? आहाहा!

कहते हैं **ध्रौव्य है उसका (-उस स्वरूप का) उस प्रकार से ध्रौव्य एक ही लक्षण है इसलिए वस्तु के...** अब पूरी वस्तु ली। **उत्पन्न होनेवाले, नष्ट होनेवाले और ध्रुव रहनेवाले स्वरूपों में से प्रत्येक को त्रिलक्षण का अभाव होने से...** पूरे द्रव्य की अपेक्षा से तीन लक्षण हैं। यह पूरी चीज के कारण तीन लक्षण हैं, परन्तु प्रत्येक को एक-एक को तीन लक्षण का अभाव है। आहाहा! अस्ति और नास्ति! अनेकान्त! यह वीतराग का अनेकान्त देखो! आहाहा! यह (अज्ञानी) तो खिचड़ा (करता है) ऐसा भी होता है और ऐसा भी होता है। निमित्त से होता है और उपादान से होता है, राग से धर्म होता है और वीतरागपर्याय से धर्म होता है। अरे! यह तो खिचड़ा-मिथ्यात्व भाव है। समझ में आया ?

कहते हैं कि **ध्रुव रहनेवाले स्वरूपों में से प्रत्येक को त्रिलक्षण का अभाव होने से**

त्रिलक्षणा (सत्ता) को... त्रिलक्षण सत्ता को। एक-एक आत्मा, एक-एक परमाणु उनके तीन लक्षण अस्तित्व को **त्रिलक्षण को अत्रिलक्षणपना है...** महासत्ता की अपेक्षा से तीन और अन्तर्भेद की अपेक्षा से एक लक्षणपना है। अर्थात् तीन लक्षणपना उसमें नहीं है। समझ में आया ? ध्रुव में कहीं तीनों लक्षण आ जायें ? उत्पाद में तीनों आ जायें ? व्यय में तीनों आ जायें ? पूरे द्रव्य की अपेक्षा से तीन हुए। एक-एक में तीन नहीं आते, इसलिए एक महासत्ता में तीन है, तब एक-एक में अवान्तरसत्ता का उसमें अभाव है। गजब सूक्ष्म, भाई !

यह तो वीतराग तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ भगवान यह 'महावीर महावीर' तो बहुत करते हैं सब। महावीर की देशना, महावीर की देशना... आता है न वर्धमान देशना ? हेमचन्द्राचार्य का। अन्दर सब गप्प मारी है। महावीर की देशना आती है एक पुस्तक हेमचन्द्राचार्य की। कुछ ठिकाना नहीं होता। लोगों को खबर नहीं होती और कहनेवाले की जरा क्षयोपशम की दशा विशेष देखे... आचार्य हो, इसलिए लगे कि... आहाहा ! क्या रोचक ज्ञान इनका ! क्या रोचक कथन ! मिथ्यात्व का रोचक है। आहाहा ! समझ में आया ?

कहते हैं कि **अत्रिलक्षणपना है (अर्थात् जो सामान्य-विशेषात्मक सत्ता...)** अर्थात् महासत्ता और अवान्तरसत्ता, यह सब होकर जो सत्ता, ऐसी जो **(महासत्तारूप होने से त्रिलक्षणा है, वही यहाँ कही हुई अवान्तरसत्तारूप भी होने से...)** वह महासत्ता, वह भी एक सत्तारूप से है। तीनों भी एकरूप हैं। **(अवान्तरसत्तारूप भी होने से अत्रिलक्षणा भी है)।** ओहोहो ! समझ में आया ? समझ में आता है ? उसके अन्तर्भेद में भी है न अवान्तरसत्ता ? कहते हैं। महासत्ता है, उसके अन्तर्भेद अवान्तरसत्ता, वही स्वयं अवान्तरसत्ता है। ऐसा कहते हैं। दो बोल हुए न ? तीसरा, तीसरा आया न ?

(३) एक वस्तु की स्वरूपसत्ता अन्य वस्तु की स्वरूपसत्ता नहीं है... एक-एक आत्मा की, एक-एक परमाणु की जो स्वरूपसत्ता है, वह अन्य वस्तु की स्वरूपसत्ता नहीं है। **इसलिए एक (सत्ता) को अनेकपना है...** जो एक ऐसा कहा है सब होकर एक है, सब होकर एक है, ऐसा कहा था परन्तु उसमें एक-एक स्वरूप की सत्ता वह दूसरी स्वरूप सत्तारूप से नहीं है। इसलिए वह एक कही थी, वही अनेक है। समझ में आया ? वेदान्त कहता है वैसा नहीं, हों ! सब होकर आत्मा एक है, ऐसा नहीं। आहाहा ! वह तो वस्तु एक ही कहता है। यह तो अस्तित्व की अपेक्षा से सब एक है। उसकी अपेक्षा से एक-एक स्वरूप की सत्ता भिन्न-भिन्न है; इसलिए महासत्तारूप से एक है, वही अवान्तरसत्तारूप से अनेक है। समझ में आया ? ऐसा तो पढ़ने में भी कठिन नहीं आता होगा, नहीं ? पढ़ने में क्या आवे ?

यह तो भगवान होने का मार्ग है ! परमेश्वर होने का मार्ग है ! स्वयं परमेश्वरस्वरूप ही है। महाचैतन्य प्रभु है, वह भाषा ऐसी बोले परन्तु वह किस प्रकार है ? समझे न ? ....उसे बोले चैतन्य महाप्रभु... महाप्रभु यहाँ बैठते थे। बैठे कहाँ महाप्रभु ? महाप्रभु तो महाप्रभु में है। समझ में आया ? आहाहा ! वहाँ धूल भी नहीं, सुन न ! महाप्रभु तो यहाँ अन्दर में है। बाहर में कहाँ था ? और दूसरा महापरमेश्वर त्रिलोकनाथ, वह समवसरण में बैठे हों तो उसमें तुझे क्या ? तुझे क्या ? तेरा अस्तित्व उनके कारण है ? और उनका अस्तित्व तेरे कारण है ? तेरे श्रद्धा और ज्ञान की पर्याय की उत्पत्ति वे हैं तो है ? आहाहा ! समझ में आया ? लो ! बहुत वेदना, वह सम्यग्दर्शन का कारण, भगवान का दर्शन, वह सम्यग्दर्शन का कारण; देव की महाऋद्धि देखे तो... अब सुन न, वह तो निमित्त का (कथन) है। निमित्त कौन था, उसका कथन है। ऐ.. भीखाभाई ! इसमें चर्चा किसके साथ करना ? ऐसा नहीं, किसके साथ इसमें मेल खाये किस प्रकार खाये ? पूरा पूर्व-पश्चिम का अन्तर है।

ऐ.. क्रियाकाण्ड को उत्थापते हैं। भाई ! बड़ी पुस्तक बनायी है न ? चन्द्रशेखर। प्रेमविजय के शिष्य। उसके गुरु की पुस्तक बनायी। क्रिया का नाश करते हैं, लाख-लाख नाश करते हैं, सुन न ! क्रियाकाण्ड का विकल्प है, वह विकार है और विकार वह आत्मा नहीं तथा आत्मा का अस्तित्व उसमें नहीं। समझे ? आस्रवतत्त्व में आत्मा का अस्तित्व है ? आहाहा ! देखो ! चन्द्रशेखर ऐसा लिखता है, इसलिए अपने मन्दिरमार्गीयों को वह पढ़ने योग्य है, पढ़ो.. अरे ! भगवान ! तुझे खबर नहीं, बापू ! तेरी सम्पदा और तेरी ऋद्धि कितनी बढ़ी है, इसकी तुझे खबर नहीं है। महाप्रभु चैतन्य भगवान, वह राग के क्रियाकाण्ड से प्राप्त हो, वह पामर की... समझ में आया ? क्या कहलाता है ? तुम्हारी भाषा भूल जाते हैं। किसी की सिफारिश.. सिफारिश.. सिफारिश। यहाँ राग की पहुँच काम न आवे, कहते हैं। ऐई ! जयन्तीभाई ! विकल्प तो अन्धा है। यह व्यवहार जितना दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का विकल्प है, वह तो अन्धा है, जड़ है, अचेतन है; वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। अचेतन अर्थात् उसमें चैतन्य का कण नहीं है। आहाहा ! भारी कठिन काम। यह तो अचेतन कहा है भगवान ने उसे तो। राग के भाग को अचेतन कहा है। दया, दान, व्रत, भक्ति के विकल्प उठते हैं, वे अचेतन हैं। उनमें चैतन्य भगवान ज्ञान का पुंज प्रभु का कण उसमें कहाँ राग में है ? वह राग तो अन्धा है। अन्धे से जगे ? कोई अन्धा कर नहीं सकता धूल भी वह। ऐ.. भीखाभाई ! आहाहा !

कहते हैं, वस्तु की एक-एक सत्ता अवान्तर से दूसरी रूप की सत्तारूप से नहीं है। 'है' है अपेक्षा से सबको एकरूप कहा परन्तु एक में अनेक होकर एक है न ? अनेक होकर एक

है न? अनेक अपेक्षा से अवान्तरसत्ता एक की अपेक्षा से नास्ति और अनेक की अपेक्षा से एकपना भी नास्ति।

(अर्थात् जो सामान्यविशेषात्मक सत्ता महासत्तारूप होने से 'एक' है, वही यहाँ कही हुई अवान्तरसत्तारूप भी होने से 'अनेक' भी है।) लो! ओहोहो! बहुत समाहित किया है, हों! थोड़ी भाषा में। यह पढ़े तो कुछ समझ में नहीं आवे, बहुत पढ़ जाये। अब अध्यात्म की बात चली है न बाहर? पढ़ो अपने। (फिर) निकाले, उसकी दृष्टि हो, वैसा निकाला करे। आहाहा! भगवान महावीर ने दीक्षा ली, तब इन्द्र ने वस्त्र दिया। अरे! भगवान को वस्त्र नहीं होता। मुनि को वस्त्र नहीं होता, भगवान को कौन दे? यह तो कल्पित उठायी हुई मिथ्या बात है। मुनि नग्न-दिगम्बर हों, उन्हें वस्त्र का धागा नहीं हो सकता। ऐसा मुनिपना होता है, उन्हें अन्तर में तीन कषाय का अभाव होता है। समझ में आया?

श्रोता : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : देना पड़ा। हमारी दीक्षा में गाया था, भरत वैरागी.। 'देवों ने दीक्षा ओघा मोहपत्ती, जैनशासन के राजीभरतेश्वर, भयो रे भूपत वैरागी।' हमारी दीक्षा हुई थी न! ५६ वर्ष हुए, ५६ वर्ष होंगे। उतारा में गाया था। मगसिर शुक्ल ९ की दीक्षा थी और लोग बहुत आये थे। दीक्षा के बाद गाया, 'भरतेश्वर भूपत भयो रे वैरागी...' फिर गाया यह अन्दर। केवलज्ञान हुआ परन्तु जब तक ओघो और मुँहपत्ती नहीं दिये, तब तक कोई वन्दन नहीं करे। ऐसी बातें कुकर्म है न! ऐई! छगनभाई! सुना है या नहीं?

इसी प्रकार भगवान ने दीक्षा ली, तब इन्द्र ने वस्त्र दिया था। किसलिए दिया? कन्धे पर रखने को। परन्तु यह किस प्रकार का न्याय? ओढ़ने के लिये नहीं और कन्धे पर रखा। यही गप्प मारी है न एकदम! और फिर वापस एक ब्राह्मण आया तो उसे आधा फाड़कर दिया। यह उन्होंने करुणा की। कुकर्म करते हैं। वीतराग को दूसरे को देने का भाव! समझ में आया? उसे वस्तु के गुण के अस्तित्व की खबर नहीं है। मुनि वीतरागदशा जहाँ प्रगट हुई, उसे वस्त्र का टुकड़ा कैसा? और वह वस्त्र रखे और दूसरे को दे... अरे! अत्यन्त विपरीत मान्यता के सब लक्षण हैं। आहाहा! जेठाभाई!

अब कहते हैं **सर्वपदार्थस्थित...** है न? सर्वपदार्थस्थित, एक पदार्थस्थित। **(४) प्रतिनिश्चित (-व्यक्तिगत निश्चित) पदार्थ में स्थित सत्ताओं द्वारा ही पदार्थों का प्रतिनिश्चितपना (-भिन्न-भिन्न निश्चित व्यक्तित्व) होता है...** प्रत्येक वस्तु अपनी-अपनी

सत्ता में होने से अनेकरूप से प्रत्येक का भिन्न-भिन्नपना है। **इसलिए सर्वपदार्थस्थित (सत्ता) (सर्व पदार्थ में रहा हुआ अस्तित्व) को एकपदार्थस्थितपना है।** समझ में आया? एकपदार्थस्थितपना है। महासत्ता वह एक की अपेक्षा से एक पदार्थ सिद्ध है। ओहोहो! वीतरागता किसे कहना? मुनिपना किसे कहना? ऐसे शाम-सबेरे प्रतिक्रमण में बोले। कुसाधु को साधु नहीं, असंजमम परिणामी... किया है न? भगवानभाई! ये सब पहाड़े बहुत किये थे हमने वहाँ। अबहूं परिणामी, आतपतमं परिणामी अकल्प को छोड़ देता हूँ, कल्प को अंगीकार करता हूँ। श्वेताम्बर के साधु को हो, श्वेताम्बर के साधु को होता है और श्रावक को। स्थानकवासी में दोनों को होता है। ....अज्ञान को छोड़ता हूँ, परन्तु ज्ञान किसे कहना और अज्ञान किसे कहना, इसका भान नहीं होता। ज्ञान छोड़ दिया है। ...मिथ्यात्व को छोड़ा है परन्तु मिथ्यात्व कहना किसे यह खबर नहीं होती। क्या छोड़े? धूल। शाम-सबेरे झूठ बोलता है। भगवान की साक्षी में झूठ बोलता है।

यहाँ कहते हैं, सब पदार्थों में भी एक-एक पदार्थ भिन्न-भिन्न स्थित है। सर्व पदार्थ स्थित की अपेक्षा से वही वस्तु एक-एक है, वह अवान्तरसत्तारूप से वह है। महासत्ता महाविश्वरूप है सब, वह एकरूप है, एक की अपेक्षा से। जो सब रूप है, वह एक रूप भी है। **(अर्थात् जो सामान्यविशेषात्मक सत्ता महासत्तारूप होने से 'सर्वपदार्थस्थित' है, वही यहाँ कही हुई अवान्तरसत्तारूप भी होने से 'एकपदार्थस्थित' भी है।)** समझ में आया? लो! ये चार बोल हुए।

(५) प्रतिनिश्चित एक-एक रूपवाली सत्ताओं द्वारा ही वस्तुओं का प्रतिनिश्चित एक-एकरूप होता है। समझ में आया? यह रूप आया। विश्वरूप, विश्वरूप अर्थात् सब रूप। सब होकर सब। उसमें एक-एक रूप, वह एकरूप है। विश्वरूप की अपेक्षा से एकरूप असत्ता है और एक सत्ता की अपेक्षा से विश्वरूप असत्ता है। **(अर्थात् जो सामान्यविशेषात्मक सत्ता...)** सामान्य अर्थात् महासत्ता, विशेष अर्थात् अवान्तरसत्ता। सब होकर सत्ता ऐसी **(महासत्तारूप होने से 'सविश्वरूप' है...)** सब, समस्तरूप। विश्व अर्थात् समस्त, समस्तरूप है।

(वही यहाँ कही हुई अवान्तरसत्तारूप भी होने से 'एकरूप' भी है)। महासत्ता के अन्तर्भेद में एक-एक द्रव्य है, वह एकरूप भी है। एक यह अलग और एकरूप अलग। एक यह वह महासत्ता को लागू पड़ता है और एकरूप अवान्तरसत्ता को लागू पड़ता है। समझ में आया? थोड़ा-थोड़ा पढ़कर विचार करना चाहिए। समझ में आया? यह तो अध्यात्मशास्त्र है।

वस्तु की स्थिति को बतलानेवाला है। है, है-ऐसा तो कहते हैं परन्तु है, वह किस प्रकार से है, ऐसा जो जैसा है, वैसा न समझे और न माने तो उसकी विपरीत दृष्टि जाती नहीं है।

अब **(६) प्रत्येक पर्याय में स्थित (व्यक्तिगत भिन्न-भिन्न) सत्ताओं द्वारा ही प्रतिनिश्चित एक-एक पर्यायों का अनन्तपना होता है...** आहाहा! एक द्रव्य है आत्मा, उसकी अनन्त पर्याय है। वे अनन्त पर्याय महासत्ता। ऐई! एक भगवान आत्मा, उसके अनन्त गुण। एक द्रव्य है महासत्ता, उन गुण के अन्तर्भेद की अपेक्षा से अवान्तरसत्ता। अब गुण की एक समय की अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें प्रत्येक जीव में हैं। अब वे अनन्त पर्यायें एक समय की, उन्हें महासत्ता कहा, तब उनको-एक-एक को अवान्तरसत्ता कहा। समझ में आया?

आत्मा में अनन्त पर्यायें हैं। वे अनन्त पर्यायें एक साथ अनन्त गुण की हैं, इस अपेक्षा से महाअस्तिरूप है। उनकी एक-एक ज्ञान की पर्याय, एक ज्ञान की पर्याय अवान्तरसत्ता है। इतनी एक समय की पर्याय, अनन्त परमेश्वर को जाने, ऐसी एक पर्याय है, तथापि वह अवान्तर अन्तर्भेद है। महासत्ता की अपेक्षा से एक समय की पर्याय ध्रुव को जाने, गुण को जाने, परमेश्वर को जाने, तीन काल को जाने, तीन लोक को जाने, तथापि अनन्त पर्यायें जो अनन्त गुण की हैं, उनमें की एक समय की पर्याय है अवान्तर अन्तर्भेद भिन्न है। वह अवान्तरसत्ता है तो अनन्त पर्यायें हैं, ऐसा नहीं है। अनन्त पर्यायें हैं तो एक अवान्तर पर्याय की सत्ता है, ऐसा नहीं है। गजब ऐसा... समझ में आया?

परमाणु में एक समय में अनन्त गुणों की अनन्त पर्याय महासत्ता। पश्चात् एक गुण की हरी पर्याय है, दो गुण, चार गुण, वह अवान्तरसत्ता है। तो कहते हैं, दूसरी अनन्त पर्यायें हैं, इसलिए यह हरी पर्याय है, ऐसा नहीं है। हरी पर्याय अवान्तर है, इसलिए सब पर्यायें हैं, ऐसा नहीं है। ओहोहो!

ज्ञान की एक पर्याय अवान्तरसत्तारूप से, दूसरी श्रद्धा की एक पर्याय अवान्तरसत्तारूप से, तीसरी आनन्द की पर्याय अवान्तरसत्तारूप से—ऐसी-ऐसी अनन्त पर्यायें! एक में इतना सामर्थ्य है, ऐसा ही एक दूसरी पर्याय में श्रद्धा में भी इतना सामर्थ्य है। समझ में आया?

ज्ञान में एक समय में अनन्त परमेश्वर को जानने का सामर्थ्य है, वह स्वतन्त्र अवान्तरसत्ता है और दूसरी श्रद्धापर्याय में भी इतने सब आत्मा को और पूर्ण आत्मा को श्रद्धे, ऐसी सामर्थ्यता, वह इस ज्ञान की पर्याय का सामर्थ्य है, इसलिए श्रद्धा की पर्याय का सामर्थ्य है-ऐसा नहीं है। समझ में आया? पुराने व्यक्ति को बहुत सूक्ष्म लगे। पहले तो एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीन

इन्द्रिय... जाओ! हो गया.. अप्पाणं वोसरे करके आत्मा को छोड़ दिया। कुछ भान नहीं होता। क्या है अप्पाणं और क्या है तस्सुतरी... कुछ नहीं मिलता। ऐसा का ऐसा चला जाता है।

यहाँ कहते हैं, भगवान आत्मा में अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें हैं। अनन्त है, वह सामान्य हैं। एक-एक पर्याय है, वह स्वतन्त्र है। सब है, इसलिए एक है, ऐसा नहीं है और एक ज्ञान की, श्रद्धा की ऐसी पर्याय है, इतने बड़े द्रव्य को, गुण को, तीन काल के परमेश्वर को श्रद्धे, ऐसी एक समय की पर्याय है; इसलिए ज्ञान की पर्याय का ज्ञानपना है, ऐसा नहीं है। चारित्र की पर्याय इतनी बड़ी एक समय की है कि यह पूर्ण द्रव्य और पूर्ण गुण में एकाग्र होकर स्थिरता (हुई)। इतना सामर्थ्य है उसका, स्थिरता का इतना सामर्थ्य है, तथापि वह सामर्थ्य श्रद्धा की पर्याय और ज्ञान की पर्याय के कारण नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

(६) प्रत्येक पर्याय में स्थित (व्यक्तिगत भिन्न-भिन्न) सत्ताओं द्वारा ही प्रतिनिश्चित एक-एक पर्यायों का अनन्तपना होता है... एक-एक होवे तो अनन्त होता है, ऐसा कहते हैं। एक-एक होवे तो अनन्त होवे न! या सीधे अनन्त मिले। इसलिए अनन्त पर्यायमय (सत्ता) को एकपर्यायमयपना है, इसलिए अनन्त का एकपना है। **इसलिए अनन्त पर्यायमय (सत्ता) को एकपर्यायमयपना है (अर्थात् जो सामान्य-विशेषात्मक सत्ता महासत्तारूप होने से 'अनन्तपर्यायमय' है वही यहाँ कही हुई अवान्तरसत्तारूप भी होने से 'एकपर्यायमय' भी है।)** इस प्रकार अवान्तरपर्यायसत्ता, वह महासत्ता नहीं है; महासत्ता, वह एक समय की पर्यायरूप नहीं है। ऐसा अस्ति-नास्ति का अनेकान्तपना वस्तु के स्वभाव में विराजमान है। ऐसा जो समझण समझे, उसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान हुए बिना नहीं रहता।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

३

श्री नियमसार, गाथा २५ से २७, प्रवचन - २९
दिनांक ३१-०३-१९७१

२५ गाथा हो गयी। नियमसार, अजीव अधिकार। कारणपरमाणु और कार्यपरमाणु, जघन्य परमाणु और उत्कृष्ट परमाणु—ऐसे चार का वर्णन किया है। कारणपरमाणु वह कि जो स्कन्ध है, उसका कारण है; इसलिए उसे कारणपरमाणु कहा। उसी कारणपरमाणु को दोनों लागू पड़ते हैं। ऐसा है न, पाठ में? **वही परमाणु...** ऐसा। जो परमाणु है, यह रजकण, पाईन्ट, ऐसा एक वस्तु का स्वभाव। भले छाटा है परन्तु द्रव्य है। स्वभाव को किसी क्षेत्र की विशालता की आवश्यकता नहीं है। एक परमाणु ऐसा स्वभाव है कि जो स्कन्ध का कारण होता है, उसी परमाणु में एक गुण आदि स्निग्धता हो तो बन्ध के अयोग्य है। उसी परमाणु को जघन्य परमाणु कहा जाता है। एक, दो, तीन आदि हों, दो-तीन, चार आदि, दो और दो चार या तीन और दो पाँच, वह आदि हो तो उसे-परमाणु को बन्ध के योग्य के कारण उत्कृष्ट कहा जाता है। वह के वही परमाणु को देखो! यह एक वस्तु का - जड़ का स्वतः स्वभाव। उसे तो कुछ खबर भी नहीं। खबर तो आत्मा को है कि ऐसा इसमें होता है। ऐसा परमाणु है। स्कन्ध का अन्तिम टुकड़ा। टुकड़े करते-करते बाकी रह जाये, उसे कार्यपरमाणु कहते हैं। ये चार प्रकार हुए। है तुम्हारे यहाँ उसमें?

मुमुक्षु : श्वेताम्बर में कहाँ से होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं? क्यों कहाँ से होगा? **इसी प्रकार (श्रीमद्भगवत्-कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसार में (१६५वीं तथा १६६वीं गाथा द्वारा) कहा है कि —**

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि वज्झन्ति हि आदिपरिहीणा॥१६५॥

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बन्धमणुभवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो॥१६६॥

इस ओर है, ५६ पृष्ठ। इसका अर्थ। **परमाणु के-परिणाम...** परमाणु जो एक रजकण, पाईण्ट है, उसके परिणाम अर्थात् पर्याय **स्निग्ध हों या रूक्ष हों,..** स्निग्ध हो या रूक्ष हो। **सम अंशवाले हों या विषम अंशवाले हों,...** दो अंशवाले, चार वाले, छह वाले हों या तीन, पाँच और सात वाले हों। **यदि समान की अपेक्षा दो अधिक अंशवाले हों,...** दो और दो चार; तीन और दो पाँच; सात और दो नौ; आठ और दो, दस। इस प्रकार दो अधिकवाले हों तो **तो बँधते हैं;...** एक में नहीं बँधते। एक अंश परमाणु बन्ध के योग्य नहीं है।

इसी प्रकार आत्मा में भी अन्तिम गुण, अवगुण का जो अन्ति अंश है, वह उसके बन्ध का कारण नहीं है। समझ में आया? यह क्या कहा? मोह का, राग का, अन्तिम अंश है, वह स्वयं अपने बन्ध का कारण नहीं है। दूसरे के बन्ध का कारण हो। राग का अंश राग को बाँधे, ऐसा नहीं होता। समझ में आया? हीराभाई!

यहाँ जैसे परमाणु में एक स्निग्धता या एक रूक्षता की पर्याय है, वह बन्ध के योग्य है नहीं। इसी प्रकार आत्मा में भी जो क्रोध, मान, माया, दर्शनमोह, दर्शन में समकितमोह का भी उसका अन्तिम अंश है लो न, तो समकितमोह का अंश भी दर्शनमोह को नहीं बाँधता। अन्तिम अंश है न? इसी प्रकार रागादि का अन्तिम अंश है, वह उसके रागादि को नहीं बाँधता। वह राग का अंश छह कर्म का बन्धन भले हो। ऐसा ही वस्तु का स्वतः स्वभाव है। आहा..हा..! यह गाथा कही। दूसरी गाथा। यह नहीं दूसरी गाथा। इसी और इसी की दूसरी।

स्निग्धरूप से दो अंशवाला परमाणु, चार अंशवाले स्निग्ध (अथवा रूक्ष) परमाणु के साथ बन्ध का अनुभव करता है... देखा, अनुभव करता है शब्द है। उसे अनुभव करना है कहाँ? परन्तु होता है—अनुसरण कर होता है। समझ में आया? **अथवा रूक्षता से तीन अंशवाला परमाणु,...** यह तो दृष्टान्त दिये हैं, हों! रूक्ष तीन वाला और यह तो स्निग्धता भी तीन वाला, पाँच वाला हो तो वह बन्ध का पाता है। **परमाणु, पाँच अंशवाले के साथ जुड़ा हुआ बँधता है।'** क्या कहा पण्डितजी! तीन रूक्षवाला, पाँच रूक्षवाले के साथ बँधता है तो दृष्टान्त। परन्तु तीन स्निग्धतावाला, पाँच स्निग्धतावाले के साथ बँधता है। दो और दो चार वाला, तीन और दो पाँच वाला, ऐसे रूक्ष या स्निग्ध चाहे जो हों, तद्नुसार बँधते हैं। एक नहीं बँधता। एकड़े एक, बगड़े बे। एक अंशवाला नहीं बँधता। दो अंशवाला बँधता है। देखो, पुद्गल का भी ऐसा स्वभाव है। एक नहीं बँधता।

और (२५वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक द्वारा पुद्गल की उपेक्षा करके शुद्ध आत्मा की भावना करते हैं):-

स्कन्धैस्तैः षट्प्रकारैः किं चतुर्भिरणुभिर्मम।
आत्मान–मक्षयं शुद्धं भावयामि मुहुर्मुहुः।।३९।।

(श्लोकार्थ :—) उन छह प्रकार के स्कन्धों या चार प्रकार के अणुओं के साथ मुझे क्या है ?... पर चीज़ है। मैं तो उसका जाननेवाला हूँ। वह भी मुझमें रहकर मेरे से जाननेवाला हूँ। आहा..हा..! **मैं तो अक्षय शुद्ध आत्मा को पुनः पुनः भाता हूँ।** मुझे आनन्द का प्रयोजन है तो मेरा आनन्द आत्मा सच्चिदानन्द है। उस आनन्द के अक्षयसुख। अक्षय शुद्ध आत्मा को मैं पुनः पुनः भाता हूँ। मेरा आनन्द का प्रयोजन है तो आनन्द तो मेरे पास है। ऐसे अक्षय–क्षय न हो, ऐसा शुद्ध आत्मा, द्रव्यस्वभाव परिपूर्ण, उसे मैं भाता हूँ। भाता हूँ, इसका अर्थ क्या हुआ? **पुनः पुनः भाता हूँ।** ऐसा पाठ है, लो। **भावयामि** और चिन्तयामि। विकल्प है यह?

मुमुक्षु : एकाग्रता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : एकाग्रता की बात ली है। प्रत्येक अर्थ में फेरफार। शुद्ध आत्मा अक्षय, त्रिकाल ध्रुवस्वरूप ऐसा भगवान आत्मा, उसमें मैं एकाग्रता करता हूँ। मेरा तो यह काम है। परमाणु के प्रकार चार हो तो हो। मुझे उसके साथ प्रयोजन नहीं है। आहा..हा..! मेरा भगवान अनन्त आनन्द और अनन्त स्वच्छता, शान्ति, स्थिरता इत्यादि शक्तियों से अक्षय शुद्ध आत्मा है। ऐसे आत्मा को मैं अन्तर्मुख होकर **पुनः पुनः भाता हूँ।** बारम्बार उसमें एकाग्रता करता हूँ। यह करना है। आहा..हा..!

देखो! यह सारांश कहा। अजीव जाननेयोग्य है परन्तु जानकर उसके ऊपर से लक्ष्य छोड़कर स्वरूप का ध्यान, स्वरूप की भावना करनी है। समझ में आया?

२६, परमाणु का विशेष कथन।

अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदियग्गेज्झं।
अविभागी जं दव्वं परमाणू तं वियाणीहि।।२६।।

आचार्य कहते हैं,

जो आदि में भी आप है मध्यान्त में भी आप ही।
अविभाग, इन्द्रिय ग्राह्य नहिं, परमाणु सत् जानो वही॥२६॥

आहा..हा..! इस परमाणु में भी छोटा क्षेत्र अनन्त गुण में असंख्यवें भाग का, तथापि जीव के अनन्त गुण की जितनी संख्या है, उतने गुण उसमें हैं। यह तो कैसे (जँचे)! जितने

जीव के गुण की संख्या है, उतने ही गुण की संख्या (परमाणु में है)। भले उसमें चैतन्य न हो, परन्तु जड़ की पर्याय-गुण की संख्या उतनी ही अनन्त उसमें है। क्या कहा? लो, दो बार कहा तो भी? हीरा में ऐसा कहते होंगे? एक आत्मा में जितने गुण हैं, उतने ही गुण परमाणु के-जड़ के हैं। वे नहीं परन्तु उतने। क्या कहा? पण्डितजी! जितने एक आत्मा में अनन्त गुण की संख्या, उतने ही गुण एक परमाणु में है। वैसे नहीं परन्तु उतने - संख्या से उतने ही हैं। क्या कहा? पण्डितजी!

मुमुक्षु : एक आत्मा में, परमाणु में जितने गुण हैं उतनी संख्या....

पूज्य गुरुदेवश्री : उतनी संख्या से। वे गुण नहीं। आत्मा में तो ज्ञान, आनन्द आदि है। समझ में आया? आहा..हा..! यह (आत्मा) तो असंख्य प्रदेशी, वह (परमाणु) एक प्रदेशी। वस्तुस्वभाव है, वह वस्तुस्वभाव है। ऐसा माहात्म्य आने पर वह तेरा स्वभाव, तेरा स्वभाव असंख्यप्रदेशी क्षेत्र है, उसके गुण स्वभाव की चौड़ाई असंख्य प्रदेशी है। उस परमाणु के गुण की तो एक प्रदेशी चौड़ाई है। तेरे गुण की असंख्य प्रदेशी चौड़ाई है। ऐसा अन्तरस्वभाव। अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द पड़ा है, उसका आश्रय कर, उसकी भावना कर। बस, यह करना है। कर-करके, पढ़-पढ़कर, सब जानकर भी यह करना है। सुखी होना होवे तो (यह करना है)।

(गाथा) २६ की *टीका :—* **यह, परमाणु का विशेष कथन है। जिस प्रकार सहज परम पारिणामिकभाव की विवक्षा का आश्रय करनेवाले...** क्या कहते हैं? देखो! आत्मा का त्रिकाल सहज स्वाभाविक परमपारिणामिकभाव की विवक्षा का आश्रय करनेवाले, उसके कथन का और उसके भाव का आश्रय करनेवाले, **सहज निश्चयनय की अपेक्षा से,...** भगवान आत्मा स्वाभाविक परमपारिणामिकभाव की जिसमें विवक्षा करनी है। जिसमें उदय की, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक की (अपेक्षा) नहीं। त्रिकाली ज्ञायकभाव, परमस्वभावभाव, वह जिसमें कहना है, ऐसा सहज निश्चयनय। स्वाभाविक निश्चयनय। देखो! उस **निश्चयनय की अपेक्षा से,...** भगवान नित्य है। वह नित्य से कभी च्युत नहीं हुआ। परमपारिणामिकभाव स्वभाव से कभी च्युत हुआ ही नहीं। आहा..हा..! समझ में आया?

(नित्य) और अनित्य निगोद से लेकर सिद्धक्षेत्र पर्यन्त विद्यमान जीवों का... निगोद से लेकर यह सब पर्याय है न? वह सिद्ध तक। **जीवों का निजस्वरूप से अच्युतपना कहा गया है;...** उस निगोद से लेकर सिद्ध की पर्याय तक में, सब उसके द्रव्य जो परमस्वभावभाव हैं, उनसे कभी च्युत नहीं हुए। आहा..हा..! समझ में आया? फिर से। हमारे सेठी! फिर फिर से कहते हैं न! फिर।

जो यह आत्मा नित्य वस्तु है। कैसी ? स्वाभाविक परमपारिणामिकभाव का कथन करनेवाला जो नय, उस नय की अपेक्षा से आत्मा त्रिकाली नित्य.. नित्य.. नित्य.. ध्रुव है। अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, अनन्त स्वच्छता, प्रभुता ऐसी शक्तियों से भरपूर सहज तत्त्व पारिणामिकस्वभाव से नित्य है। वह आत्मा, इस अपेक्षा से सहज पारिणामिकभाव की – निश्चयनय की अपेक्षा से निगोद से लेकर सिद्ध तक की जो पर्यायवाले हैं, वे जीव भी ऐसे नित्य त्रिकाल हैं। वे नित्य से कभी च्युत नहीं हुए। आहा..हा.. ! वस्तु के स्वभाव की कथन करने की दिगम्बर सन्तों की शैली (अन्यत्र) कहीं है नहीं।

मुमुक्षु : अलौकिक।

पूज्य गुरुदेवश्री : अलौकिक वस्तुस्वभाव वर्णन करते हैं। आहा..हा.. ! ऐसी बात सुनने को दूसरे सम्प्रदाय में मिले, ऐसा नहीं है। ऐसी यह चीज़ है। क्योंकि वहाँ है नहीं। यह तो था, उसमें से आया है। समझ में आया ? क्या कहते हैं ?

परमाणु की व्याख्या करते हुए (कहते हैं) जैसे परमाणु स्वयं अपने से आदि, मध्य और अन्त है; वैसे आत्मा भी वस्तुस्वभाव से परमस्वभाव निश्चय से, निश्चयनय की अपेक्षा से वह स्वयं अपने से कभी च्युत हुआ नहीं। स्वयं ही अपनी आदि में, स्वयं ही अपने मध्य में, स्वयं ही अपने अन्त में वह वस्तु ध्रुव है, वह ऐसी की ऐसी है। समझ में आया ?

(नित्य) और अनित्य निगोद से लेकर... पर्याय की बात है न ? **सिद्धक्षेत्र पर्यन्त...** उस सिद्ध की पर्याय में भी, परमस्वभावभाव जो ध्रुव है, वह पर्याय में आया नहीं। वह ध्रुवरूप से च्युत हुआ नहीं। आहा..हा.. ! वह चैतन्य महाहीरा, उसकी कीमत क्या ? जिसका मूल्यांकन करने से अपनी बुद्धि में मूल्यवाला हो जाता है। अमूल्य रहता नहीं। ऐसी यह चीज़ है। आहा..हा.. ! भगवान आत्मा परम सहज परमपारिणामिकभाव, सहज स्वाभाविक परमपारिणामिक (भाव), जिसे किसी पर्याय की, उदय की अपेक्षा नहीं, ऐसा जो स्वभाव है। ऐसा सहज निश्चय परमपारिणामिकभाव को कहनेवाला ऐसा सहज और निश्चय, ऐसा। ऐसा जो आत्मा; जैसे परमाणु की आदि, मध्य और अन्त में स्वयं ही है। वैसे आत्मा के परमपारिणामिकभाव में–नित्यता में स्वयं ही कायम है। उसमें से कभी हटा नहीं। आहा..हा.. ! **निजस्वरूप से अच्युतपना कहा गया है;...** किस नय से ?

मुमुक्षु : व्यवहारनय से।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। यह निश्चय आया।

सहज परम पारिणामिकभाव की विवक्षा का आश्रय करनेवाले... इसे कहने का

आश्रय करनेवाला ऐसा निश्चयनय, उसकी अपेक्षा से वह स्वयं नित्य है। अनन्त जीव, पर्याय में निगोद हो या पर्याय में त्रस हो या पर्याय में सिद्ध हो, तथापि उन जीवों का निज स्वरूप से अच्युतपना निश्चय से, नित्य से अच्युत है, ऐसा कहने में आया है। आहा..हा..! देखो तो एक टीका! समझ में आया? कहते हैं कि ***निगोद की पर्यायें, सातवीं नरक के नारकी की पर्याय हो, अन्तिम ग्रैवेयक के मिथ्यादृष्टि की पर्याय हो, या क्षायिक समकिती की पर्याय हो या सिद्ध की पर्याय हो, आहा..हा..! जिसमें अनन्त आनन्द और अनन्त शान्ति प्रगट हुई है, ऐसी पर्याय हो, तथापि वस्तु जो नित्य है, उसमें से कभी च्युत नहीं हुई। आहा..हा..!*** समझ में आया?

उन रहे हुए जीवों का... वापिस बहुत अधिक अनन्त जीव हैं न? एक जीव नहीं। अनन्त आत्मायें हैं। निगोद से लेकर सिद्ध। वहाँ तक लिया न? निगोद के अनन्त आत्मायें और सिद्ध के अनन्त आत्मायें और बीच के साधक और बाधक, ऐसे अनन्त आत्मायें। समझ में आया? अक्षर के अनन्तवें भाग की ज्ञान की पर्याय निगोद को खुली हुई बाकी है और केवलज्ञान की पर्याय पूर्ण विकसित है और बीच में साधक जीव को मोक्षमार्ग की पर्याय खुली हुई है और मिथ्यादृष्टि पंचेन्द्रिय आदि में सब आ गये। उनकी पर्याय में तीव्र मिथ्यात्व, गृहीत मिथ्यात्व की पर्याय परिणमित हुई है या सिद्ध अनन्त केवलज्ञानरूप हुए हैं। आहा..हा..! तथापि वे जीव अपने नित्य ध्रुवस्वरूप से कभी च्युत नहीं हुए हैं। आहा..हा..! समझ में आया? पण्डितजी! वाह! दो लाईन में तो कितना समा दिया है!!

परमाणु जैसे अजीव पदार्थ को रहने के लिये किसी की आवश्यकता नहीं। वह स्वयं ही अपने से है। स्वयं स्वयं से आदि में, मध्य में और अन्त में है। इसी प्रकार भगवान आत्मा निगोद से लेकर सिद्ध तक सब आ गये बीच में? बाघ और भालू, माँस के भक्षण करनेवाले की पर्याय। पर्याय उनकी है। बाकी माँस दूसरी भिन्न (पर्याय है)। ऐसी पर्याय में भी; सिद्ध की पर्याय में भी; तीव्र गृहीतमिथ्यात्व की पर्याय में भी... समझ में आया? आहा..हा..! वस्तु नित्य ध्रुव तो स्वयं से कभी हटी ही नहीं है, कभी वह पर्याय में आयी नहीं। आहा..हा..! समझ में आया? कहो, यह बात थी? देखो! बात है परमाणु की, उसमें आत्मा डाला।

उसी प्रकार पंचम भाव की अपेक्षा से... देखो! **परमाणुद्रव्य का परमस्वभाव होने से,...** पंचम भाव की अपेक्षा से, हों! **परमाणुद्रव्य का परमस्वभाव होने से, परमाणु स्वयं ही अपनी परिणति...** परिणति शब्द से यहाँ पर्याय नहीं लेना। क्योंकि यहाँ पंचम भाव की-त्रिकाल की अपेक्षा है। समझ में आया? परमाणु का जो त्रिकाली पंचम भाव है, उसकी यहाँ

बात है। नहीं तो उसकी पर्याय, वह पारिणामिकभाव की पर्याय है, परन्तु यहाँ वह सिद्ध नहीं करना है। पाठ में तो आदि स्वयं वस्तु है, परमाणु सूक्ष्म, वह स्वयं अपनी आदि, स्वयं स्वयं का मध्य और स्वयं स्वयं का अन्त। समय कहने के लिये, दूसरा कुछ भेद है नहीं।

उसी प्रकार पंचम भाव की अपेक्षा से... यह किसका पंचम भाव? परमाणु का। **परमाणुद्रव्य का परमस्वभाव होने से,...** देखो! फिर ऐसा लिया न वहाँ? उसका परमस्वभाव है इसलिए द्रव्य लिया। **परमाणु स्वयं ही अपनी परिणति का आदि है,...** अर्थात् कि परमाणु स्वयं अपने भाव की आदि है, ऐसा। परिणति शब्द से यहाँ पर्याय नहीं, परन्तु उसका भाव। समझ में आया? **स्वयं ही अपनी परिणति का मध्य है...** अर्थात् स्वयं ही अपने स्वभाव का भी स्वयं ही मध्य है। वस्तु ध्रुव... ध्रुव... द्रव्य। आहा..हा..! **और स्वयं ही अपना अन्त भी है (अर्थात्, आदि में भी स्वयं ही,...)** ऐसा लिया है। देखो! साराँश। परिणति में यहाँ पंचम भाव है न यहाँ तो? और परमस्वभाव लिया है न? पंचम भाव में परमस्वभाव साथ में न लेकर बाद में लिया। अर्थात् वह द्रव्य ही सिद्ध करना है यहाँ तो। वस्तु परमाणु द्रव्य। आहा..हा..! अतीन्द्रिय वस्तु एक परमाणु, एक आकाश के प्रदेश में ऐसे अनन्त परमाणु के अनन्त स्कन्ध समाहित होते हैं, ऐसा एक परमाणु ऐसा है, कहते हैं। आहा..हा..! जिसकी आदि, अन्त और मध्य में वस्तु स्वयं ही है, बस। कहो, समझ में आया? स्वयं ही है।

(कभी भी निजस्वरूप से च्युत नहीं है)। क्या कहा? वह परमाणु जो द्रव्य है, वह कभी स्निग्धता-रूक्षता की पर्याय में नहीं आता। एक स्निग्ध गुण हो, दो हो या तीन हो; बन्धयोग्य हो या बन्ध के अयोग्य हो। वस्तु द्रव्य जो है, वस्तु पंचम भाववाला तत्त्व, वह कभी पर्याय में नहीं आता। ओहो..हो..! नहीं तो उसकी परमाणु की जो पर्याय है, वह तो पारिणामिकभाव की ही पर्याय है, क्योंकि उसे कोई उदय या ऐसा कुछ है नहीं। परन्तु वह वस्तु जो त्रिकाल पंचम भाव है, वस्तु शक्ति, भाव-शक्ति। अरे! देखो तो सही! वस्तु छोटी-बड़ी, ऐसा नहीं देखना। उसका स्वभाव (देखना)। अरे! ऐसे परमाणु का ऐसा स्वभाव है कि एक गुण की स्निग्धता हो, अनन्त गुण की स्निग्धता हो, एक गुण की रूक्षता हो, अनन्त गुण की रूक्षता हो। भारीरूप परिणमित हुआ हो या हल्केरूप परिणमित हुआ हो, तथापि परमाणु तो वह का वही है। वह भारी-हल्के में आया नहीं। समझ में आया? कहो, प्रकाशदासजी!! कभी आया था? तीन वर्ष में कभी सुना था? आहा..हा..!

(कभी भी निजस्वरूप से च्युत नहीं है)। अर्थात्? पंचम भाववाला अजीव परमाणु तत्त्व कभी अपनी पर्याय में नहीं आया। दुर्गन्ध पर्याय हो या सुगन्ध हो; स्निग्धता हो या रूक्षता

की हो; शीत की हो या गर्म की हो या भारी की हो या हल्की की हो। परमाणु में भारी पर्याय होती है ? है परमाणु की। भारी और हल्की पर्याय हुई है। देखो विशिष्टता! इसमें हल्की-भारी हुई है। परमाणु एक की, हों! और उसमें भिन्न है, तथापि उस हल्की-भारी की पर्याय में वह पंचम भाव का द्रव्य नहीं आया। आहा..हा..! देखो न! कितना लॉजिक है या नहीं यह सब ? कि तुम्हारा वकालात का लॉजिक होगा अकेला ? वस्तुविज्ञान है। यह वस्तुविज्ञान है। आहा..हा..!

इसमें परमाणु भारी है या ऐसा का ऐसा रहा है ? यह देखो इतने स्कन्ध में आने पर बदलता है या नहीं इतना ? पर्याय स्कन्ध में आया तब होकर। पर के कारण हुई है ? वह भी खोटी बात है। स्कन्ध में आया इसलिए परमाणु धारी हुई पर्यायरूप परिणमित हुआ है, यह मिथ्या बात है और भारी रूप पर्याय परिणमे तथापि द्रव्य उसमें पर्याय में आया है, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? वजुभाई! भाई! यह अभी पढ़ना हुआ। उस बार नहीं पड़ा था-पाँच वर्ष पहले यह अजीव का छोड़ दिया था। अजीव, व्यवहार और अन्तिम उपयोग, ये तीन छोड़ दिये थे। इस समय कहें, सब समान पढ़ना।

मुमुक्षु : क्या कहा ? महाराज!

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले वाँचन किया था, तब अधिकार छोड़ दिया था। यह व्यवहार अधिकार है न ? तो छोड़ दिया था। व्यवहार का अधिकार, यह अधिकार और अन्तिम उपयोग का (शुद्धोपयोग) अधिकार है। इस समय धारावाही लिया है। अच्छा किया, लो, हमारे वजुभाई कहते हैं।

मुमुक्षु : महाराज! व्यवहार तो निश्चय को बताता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर ऐसा है। व्यवहार निश्चय को बताता है। समझ में आया ? आहा..हा..! ऐसा न मानना कि यह फिर परमाणु की ऐसी व्याख्या क्या ? इस व्याख्या में भगवान समाहित हो जाता है। कहते हैं कि ऐसे परमाणु उसकी चाहे जो पर्यायरूप हुआ हो, भारी-हल्का। क्या कहलाता है फिर ? दो, चार स्निग्धता-रूक्षता तो है। शीत-उष्ण तो उसमें आया ? कठोर और कोमल। कठोर और कोमल पर्याय, भारी और हल्की पर्याय। वह स्थूल में होती है। परमाणु में होती है। उस समय में भी वह परमाणु उसमें नहीं आया, द्रव्य उसमें नहीं आया। ***आहा..हा..! पर्याय पर्यायरूप से हुई, द्रव्य पर्यायरूप से आया नहीं।***

मुमुक्षु : द्रव्य पर्यायरूप से आ जाये तो द्रव्य का नाश हो जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : नाश हो जाये। परन्तु आता ही नहीं। दो अंश भिन्न हैं। आहा..हा..!

समझ में आया ? इसी प्रकार भगवान आत्मा निगोद से लेकर कितने जीव लिये हैं ? एक शरीर में अनन्त जीव, एक अंगुल के असंख्य भाग में, शकरकन्द में, आलू में असंख्य शरीर, एक शरीर में अनन्त जीव, सिद्ध की अपेक्षा अनन्त गुने (जीव)। उन सबकी पर्याय भले अभव्य की पर्याय हो, कहते हैं। आहा..हा..! गृहीतमिथ्यात्व के तीव्र रूप से कषाय खाने के कारखाने लगाकर (बैठा हो), भाव में, हों! यह तो भाव की पर्याय। गाय और भैंस रखते हैं न ऐसे ? ऊपर पड़े एकदम। उस ओर अलग और इस ओर अलग। ऐसे मिथ्यात्व की जो तीव्र कषाय की अवस्था है, उसमें भी द्रव्य तो नित्य है। वह द्रव्य उसमें आया नहीं। समझ में आया ? और जो सिद्धरूप से परिणमे.. आहा..हा..! उस पर्यायरूप भी द्रव्य तो आया नहीं, कहते हैं। अहो! ऐसा का ऐसा है, कहते हैं। उसमें भेद या खण्ड कुछ है नहीं। आहा..हा..! ऐसा भगवान आत्मा, उसके अन्तर में एकाग्रता कर, वह तेरे कल्याण का मार्ग है। आहा..हा..! यह तो सब बातें करके मर गया, यह व्रत और यह तप। हैरान.. हैरान.. (हो गया)। काय-क्लेश। समझ में आया ?

सहजानन्द प्रभु! सहजपरमपारिणामिकभाव को कहनेवाले ऐसे सहज निश्चयनय से वह तो ऐसा का ऐसा है। **जो ऐसा होने से,...** वह परमाणु **इन्द्रियज्ञानगोचर न होने से,...** इन्द्रियज्ञानगोचर नहीं है। **और पवन, अग्नि इत्यादि द्वारा नाश को प्राप्त न होने से, अविभागी है, उसे हे शिष्य! तू परमाणु जान।** उसे तू परमाणु जान। आहा..हा..! योगसार में तो कहा है कि छह द्रव्य को प्रयत्न से जान। ऐसी गाथा आती है। छह द्रव्य का व्यवहार ज्ञान भी तू प्रयत्न से जान।

अब २६वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं –

अप्यात्मनि स्थितिं बुद्ध्वा पुद्गलस्य जडात्मनः।
सिद्धास्ते किं न तिष्ठन्ति स्वस्वरूपे चिदात्मनि।।४०।।

(श्लोकार्थ : —) जड़ात्मक पुद्गल की स्थिति स्वयं में (पुद्गल में ही) जानकर... जब परमाणु भी ऐसा जड़ अपने में रहता है.. आहा..हा..! ऐसा कहते हैं। जिसे कुछ भान नहीं, जिसमें ज्ञान नहीं, ऐसा परमाणु भी स्वयं अपने में द्रव्यरूप से कायम रहता है। **(अर्थात्, जड़स्वरूप पुद्गल, पुद्गल के निज स्वरूप में ही रहते हैं—ऐसा जानकर), वे सिद्धभगवन्त, अपने चैतन्यात्मक स्वरूप में क्यों नहीं रहेंगे ?** जब परमाणु भी ऐसे द्रव्यस्वरूप में त्रिकाल रहता है तो सिद्धस्वरूप ऐसा भगवान आत्मा... सिद्ध भगवन्तों की व्याख्या भाषा ली है, परन्तु समस्त आत्माओं की बात है। अरे! यह आत्मा अपने द्रव्य में क्यों नहीं रहेगा ? द्रव्य तो ऐसा का ऐसा रहता है, वहाँ क्यों नहीं जाये ? आहा..हा..! समझ में आया ? गजब बात, भाई!

दिगम्बर सन्तों की कथनी! जड़ की हो तो भी अलग, चैतन्य की अलग, बातें अलग, भाई! लोग मानते हैं कि यह सम्प्रदाय है। वाड़ा है, ऐसा नहीं भगवान! यह तो वस्तु की स्थिति की मर्यादा की बात है। समझ में आया?

मुमुक्षु : आपने स्पष्टीकरण करके बताया, नहीं तो हमें कौन बताता?

पूज्य गुरुदेवश्री : ***आहा..हा..! भगवान! जब परमाणु अपनी जड़ की स्थिति में से च्युत नहीं होता तो द्रव्यस्वभाव ऐसा भगवान अपने में अपने से कैसे हटे? और वहाँ दृष्टि लगाकर उसमें रहे? ऐसा कहते हैं। वापस पर्याय में, हों! ऐसा स्वरूप है, वह हटा नहीं। ऐसा जिसे ज्ञान होता है, वह उसमें रहता है। रहा है ही। प्रत्येक का रहा है।*** समझ में आया? आहा..हा..! कहते हैं कि जड़स्वरूप पुद्‌गल जब अपनी जाति में रहता है, तो यह भगवान स्वयं द्रव्यस्वभाव जैसा है, उसमें क्यों न रहे अब? पर्याय से क्यों न रहे, ऐसा कहते हैं, हों! समझ में आया? इसकी ज्ञान की पर्याय में ऐसा आवे कि यह तो ऐसा का ऐसा है, तब इसने ऐसा का ऐसा है, जाना कहलाये। पोपटभाई! आहा..हा..!

पोपट है, वह नलिनी को पकड़कर ऐसे (उल्टा) हो गया। उसमें उड़ने की शक्ति तो है परन्तु ऐसा हो गया है; इसलिए मानो में उल्टा हूँ (ऐसा मानता है)। ऐसे छोड़े तो एकदम उड़ जाये, भले ऐसे नीचे सिर हो। अरे! ऐसा तेरा स्वभाव। परमाणु ने जब नित्यपना छोड़ा नहीं तो तेरा नित्य आनन्दकन्द प्रभु क्यों स्वयं को छोड़े? ऐसी दृष्टि कैसे न करे? और ऐसी स्थिरता क्यों न करे? ऐसा कहते हैं यहाँ तो। आहा..हा..! ऐई! जेठालालभाई!

वह परमाणु नित्य है। ऐसा का ऐसा रहा है। ऐसा उसे उसकी पर्याय को खबर नहीं। परमाणु की पर्याय को खबर है? उसकी पर्याय की इसे (जीव को) खबर है कि परमाणु ऐसा का ऐसा नित्य रहा है। इस प्रकार जब परमाणु ऐसा उसमें रहता है और पर्याय में आता नहीं, तो मैं एक द्रव्यस्वभाव त्रिकाली आनन्दकन्द प्रभु, मैं कैसे पर्याय में आऊँ? ऐसा मानते हुए पर्याय को द्रव्य में स्थिर करता है। समझ में आया? वाडीभाई! ऐसी लहर है दिगम्बर सन्तों की। आहा..हा..! ये मुनि हैं, इसलिए इनकी टीका मान्य नहीं, ऐसा (कुछ लोग) कहते हैं। अरे! भगवान! यह तू क्या करता है? भाई! तुझे खबर नहीं। आहा..हा..! इनने कहाँ लेकर छोड़ा, देखो तो सही! बात परमाणु की करते हैं और बात यहाँ कर डाली। भाई! परमाणु की आदि-अन्त में स्वयं है। उसे कोई अपेक्षा की आवश्यकता नहीं है। उसे तो खबर भी नहीं कि आदि-मध्य में मैं का मैं हूँ या नहीं। उसके जाननेवाले की पर्याय में ऐसा आया कि यह तो ऐसा का ऐसा है। यह जाननेवाले की पर्याय, यह आत्मा ऐसा का ऐसा है, उसमें क्यों न स्थिर हो?

ऐसा कहते हैं। हीराभाई!

(स्वरूप में ही रहते हैं — ऐसा जानकर)... जानकर कहा है न? **विहाण** था न? भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं **विहाण,** ऐसा था न? विशेष जान! परन्तु वापस इस जानने का प्रयोजन क्या? कि परमाणु ऐसा है... जिसने जिस ज्ञान की दशा ने... एक-एक परमाणु ऐसे कितने? आत्मा की संख्या अपेक्षा अनन्तगुने। ऐसे परमाणु भी द्रव्य से ऐसे के ऐसे रहते हैं। ऐसी ही वस्तु की स्थिति है। इसकी तो उसे खबर नहीं। उसकी खबर करनेवाला यह ज्ञान, उसे जैसे द्रव्य को ऐसा का ऐसा है, ऐसा रहता है, ऐसा जानता है, तो तू भी ऐसा का ऐसा सहज पारिणामिकभाव से है। उसमें क्यों न स्थिर हो? उसमें क्यों न जाये? आहा..हा..! ऐ.. हीराभाई! ऊँचा किया है ऐसा।

अरे सिद्धभगवन्त। वे सिद्धभगवान ही यह आत्मा है। निश्चय से सिद्धभगवान ही है न। वस्तु स्वयं सिद्ध ही है। शुद्ध ध्रुव। वह **अपने चैतन्यात्मक...** चैतन्यरूप **स्वरूप में क्यों नहीं रहेंगे?** आहा..हा..! जब जिसके ज्ञान में ऐसा आया कि परमाणु द्रव्य, अनन्त-अनन्त जड़, जिन्हें कुछ ज्ञान नहीं, जिनकी कुछ खबर नहीं, हम जगत के तत्त्व है या नहीं, ऐसी भी जिन्हें खबर नहीं। आहा..हा..! ऐसे तत्त्वों का, ऐसा का ऐसा द्रव्य रहता है-ऐसा जाननेवाला भगवान,... वे अनन्त परमाणु द्रव्यरूप से तो ऐसे के ऐसे हैं। पर्याय में आये नहीं। ऐसा जाननेवाला पर्याय ज्ञान की, वह तेरा द्रव्य भी ऐसा का ऐसा है; बाहर आया नहीं—ऐसा स्वरूप सन्मुख निर्णय करके क्यों स्थिर न हो? आहा..!

(श्वेताम्बर के) ३२-४५ (सूत्र) पढ़ो तो यह मिले, ऐसा नहीं है। एक-एक लाईन में... आहा..हा..! यह दिगम्बर धर्म अर्थात् आत्मधर्म। छोटाभाई कहते थे कि अब यह दिगम्बर धर्म बाहर आया। नहीं तो छिप गया था। छोटाभाई कदोल रहते हैं न (वे कहते थे)। दिगम्बर धर्म कुछ गिनती में नहीं था। बाहर में श्वेताम्बर-श्वेताम्बर। अहमदाबाद में और सर्वत्र भाई दो-तीन दिन पहले कहते थे। भाई कहते थे छोटाभाई। अरे! दिगम्बर धर्म अर्थात् ऐसा आत्मा का सनातन स्वरूप। वह कोई पक्ष और वाड़ा नहीं है।

मुमुक्षु : समझानेवाला नहीं था, इसलिए कहाँ से बाहर आये?

पूज्य गुरुदेवश्री : जिस समय हो, ऐसा आवे न। कहो, समझ में आया? आहा..हा..! गजब बात, भाई! कारणपरमाणु, कार्यपरमाणु... निकालकर फिर डाला कि वह परमाणुद्रव्य, पर्याय में नहीं आया, हों! एक गुणरूप परिणमे... भाई! गजब बात है। वस्तु की स्थिति तो प्रसिद्ध करने की पद्धति अलौकिक है। ओहो..हो..! जब परमाणु जैसे जड़ भी चाहे जितनी

भारी-हल्की, स्निग्धता-रूक्षतारूप द्रव्य नहीं होता। ओहो..हो..! तो ऐसा द्रव्य, भगवान आत्मा का द्रव्य, वह संसार की पर्यायरूप कैसे आवे और कैसे जाये? कैसे हो? इसलिए इसकी दृष्टि द्रव्य में जाने पर, वह सिद्धरूप परिणमने की योग्यता अन्दर हो जाये, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? लो, यह ४०वाँ श्लोक हुआ। २७वीं गाथा!

एयरसरूवगंधं दोफासं तं हवे सहावगुणं।
विहावगुणमिदि भणिदं जिणसमये सव्वपयडत्तं।।२७।।

गुण-गुण शब्द प्रयोग किया है, हों! तथापि यह पर्याय है।

दो स्पर्श इक रस गंध वर्ण स्वभावगुणमय है वही।
सर्वाक्षगम्य विभावगुणमय को प्रगट जिनवर कही॥२७॥

टीका : **— यह, स्वभावपुद्गल के स्वरूप का कथन है। चरपरा, कड़वा, कषायला, खट्टा और मीठा - इन पाँच रसों में का एक रस;....** परमाणु में होता है। समझ में आया? क्योंकि परमाणु का गुण रस है, वह तो त्रिकाल है। यह तो पर्यायें हैं, ये पर्यायें हैं। खट्टी-मीठी यह पर्याय है, गुण नहीं। क्या कहा? पण्डितजी! पर्याय है यह तो, रस गुण है। यह खट्टा-मीठा रस, यह तो पर्याय है। यह रस गुण भी पर्याय में आया नहीं।

सफेद, पीला, हरा, लाल और काला — इन (पाँच) वर्णों में का एक वर्ण;... है। वर्णों में से। वर्ण अर्थात् यह गुण का नहीं। वर्ण गुण तो त्रिकाली है, उसकी यह पर्याय है। यहाँ पर्याय को गुण कहने में आता है। आहाहा! तथापि यह काली, लाल, आदि पर्याय में द्रव्य नहीं आया। नित्य रस से भरपूर तत्त्व ऐसी पर्यायरूप नहीं आता। आहा..हा..! यह वीतराग का विज्ञान ही अलग प्रकार का है। यह पहले अजीव का पढ़ा नहीं था न। अब कहते हैं यह पढ़ो।

सुगन्ध और दुर्गन्ध में की एक गंध;... सुगन्ध-दुर्गन्ध तो पर्याय है। गन्ध नाम का गुण त्रिकाल है। आहा..हा..! अरे! परमाणु का गुण, ध्रुव भी जहाँ पर्याय में नहीं आता। द्रव्य, पर्याय में नहीं आता, इसका अर्थ कि द्रव्य के अनन्त गुण, पर्याय में नहीं आते। आहा..हा..! वीतराग के कथन वीतरागभाव की प्रसिद्धि करते हैं। आहा..हा..! भगवान! चाहे जिस पर्यायरूप तेरी दशा हो, उसे न देख, ऐसा कहते हैं। तेरा त्रिकाल तत्त्व, पर्याय में नहीं आया, उसे देख। यह ऐसा आता है न? देखो न! चौदह मार्गणा में, भाई! मार्गणा न देख, मार्गणा, वह जीवद्रव्य में नहीं है। आहा..हा..! तू भव्य-अभव्य—ऐसा न देख। आहा..हा..!

मुमुक्षु : द्रव्य तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य को देखा तो यह (बात) पूरी हो गयी। आहा..हा..! चौदह मार्गणा में आता है न? गति-जाति मार्गणा आती है न? वह जीव में नहीं है, ऐसा आयेगा। जीव अधिकार में। जीव में नहीं। तब वह जीव नहीं? कि नहीं। यह पर्याय जीव, वह व्यवहार जीव। आहा..हा..! गजब बात, भाई! केवलज्ञान में जीव आया नहीं। एक अंश में पूरा अंशी नहीं आता, उसमें नहीं समाता। आहा..हा..! ज्ञान और आनन्द गुण का तत्त्व-सत्व प्रभु, उसकी पर्याय में नहीं आता। ऐसे ये परमाणु ऐसे रंग-रस में नहीं आते, पर्याय में है। आहा..हा..!

कठोर, कोमल, भारी, हलका,... देखो अब आया। **हलका, शीत, उष्ण, स्निग्ध (चिकना) और रूक्ष (रूखा) — इन आठ स्पर्शों में से अन्तिम चार स्पर्शों में के अविरुद्ध दो स्पर्श;...** एक परमाणु में लेना है न? एक परमाणु में दो अविरुद्ध दो स्पर्श। शीत हो तो उष्ण नहीं हो और उष्ण हो तो शीत नहीं हो। उष्ण, चिकना, शीत नहीं। **यह, जिनों के मत में...** ओहो..हो..! वीतराग भगवान के अभिप्राय में **परमाणु के स्वभावगुण हैं।** ये परमाणु द्रव्य की स्वभाव पर्यायें हैं। **विभावपुद्गल, विभावगुणात्मक होता है।** दो परमाणु से लेकर अनन्त परमाणु स्कन्ध, वह विभावगुण है। देखो! विभावगुण अर्थात् विभावपर्याय।

यह द्वि-अणुकादिस्कन्धरूप विभावपुद्गल के विभावगुण, सकल इन्द्रियसमूह द्वारा ग्राह्य (जानने में आनेयोग्य) है... वह परमाणु इन्द्रियग्राह्य नहीं कहा था। यह पर्याय इन्द्रियग्राह्य है। **विभावपुद्गल के विभावगुण, सकल इन्द्रियसमूह द्वारा ग्राह्य (जानने में आनेयोग्य) है — ऐसा (इस गाथा का) अर्थ है।** आहा..हा..!

इस प्रकार (श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री पंचास्तिकायसमय में (८१वीं गाथा द्वारा) कहा है कि — लो, यह कल कहा था वह।

'एयरसवण्णगंधं दोफासं सद्दकारणमसद्दं।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणाहि॥'

लो, एक यह स्कन्ध है, अंगुली का पिण्ड। इसमें एक-एक रजकण, अपने स्वचतुष्टय से रहा हुआ है। नित्य, पर्याय में तो आया नहीं, परन्तु पर्याय यहाँ दूसरे को स्पर्शित नहीं है, ऐसा कहते हैं। एक रस की पर्यायवाला परमाणु, एक रंग की पर्यायवाला परमाणु, एक गन्धवाला परमाणु और दो स्पर्शवाला परमाणु। **शब्द का कारण है;...** परन्तु स्वयं **अशब्द है...** परमाणु स्वयं अशब्द है। एक रजकण इसमें चाहे जो, वह उसमें शब्द नहीं है परन्तु शब्द का कारण है। **स्कन्ध के भीतर हो, तथापि...** आहा..हा..! देखो तो सही! ये रजकण देह में हों। उसमें-

स्कन्ध में हों, स्कन्ध में (हों) तो भी वह, **तथापि द्रव्य है (अर्थात्, सदैव सर्व से भिन्न, शुद्ध एक द्रव्य है)।** शुद्ध का अर्थ अकेला। वापस है तो विभाव ऊपर परिणमित हुआ, भाई! यह शुद्ध डाल दिया।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; परन्तु तथापि वह बन्ध पर्यायवाला कहा। पर्यायवाला भी... ऐसा है। पर्यायवाला कहा न। **परमाणु, शब्द का कारण है; अशब्द है और स्कन्ध के भीतर हो, तथापि द्रव्य है...** ऐसी पर्यायवाला। **(सदैव सर्व से भिन्न, शुद्ध एक द्रव्य है)।** वस्तुरूप से गिनो तो शुद्धद्रव्य है। पर्यायरूप से गिनो तो पर के सम्बन्धरहित भिन्न चीज़ है। समझ में आया? कहो, इतने में एक रहा हुआ है, परन्तु वह अपने स्वचतुष्टय में है। आहा..हा..! ऐसा ज्ञान सर्वज्ञ के अतिरिक्त और वह भी उनके ज्ञानगम्य हो सके, इस प्रकार से... समझ में आया? एक-एक परमाणु के स्कन्ध में होने पर भी **(सदैव सर्व से भिन्न, शुद्ध एक द्रव्य है)।** लो, आहा..हा..!

और मार्गप्रकाश में (श्लोक द्वारा) कहा है कि — देखो, शब्द का कारण है। कौन? एक परमाणु, हों! शब्द का कारण आत्मा है, ऐसा नहीं। यह होंठ शब्द का कारण हैं, ऐसा नहीं। शब्द का कारण परमाणु है। आहा..हा..! आत्मा, शब्द का कारण नहीं। शब्द की उत्पत्ति आत्मा है, इसलिए होती है, ऐसा नहीं। आहा..हा..! भाई! गजब बात है।

मुमुक्षु : होंठ चले तो हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : होंठ है, वह वर्गणा दूसरी है - आहारवर्गणा है। यह (शब्द) शब्दवर्गणा है। आहारवर्गणा से शब्दवर्गणा की उत्पत्ति नहीं है। आहा..हा..! भारी कठिन काम जगत को। अभी बाहर परद्रव्य का कर्ता न माने तो दिगम्बर जैन नहीं, ऐसा कहते हैं। अरर! क्या किया तूने भगवान? अरे! अकेला व्यवहार से भिन्न है, इतना ख्याल में लेना तुझे कठिन पड़ता है। ***आत्मा, शरीर में होने पर भी शरीर से अत्यन्त भिन्न है। राग के साथ दिखने पर भी राग से अत्यन्त भिन्न है और पर्यायवाला दिखने पर भी द्रव्य, पर्याय से भिन्न है। ऐसी दृष्टि किये बिना इसे सम्यग्दर्शन नहीं होगा। कहो, समझ में आया?*** लो, विशेष कहेंगे......

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

४

श्री परमात्मप्रकाश, गाथा ५८, प्रवचन १३९
दिनांक २१-११-१९७६

परमात्मप्रकाश, ५८ गाथा। **आगे ऐसा कहते हैं कि निर्मल सम्यक्त्वधारी जीवों का मरण भी सुखकारी है,...** गाथा में लेंगे। गाथा में निजदर्शन अभिमुख लेंगे। इसका अर्थ कि समकितसहित। जिस प्राणी को आत्मदर्शन है, आत्मा पूर्ण आनन्द और पूर्णस्वरूप सत् है, उसका अनुभव होकर जो अनुभूति होकर रुचि होती है, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शनसहित मरण को प्राप्त होता है, मर जाता है, देह छूट जाए तो भी वह सुखकारी है। **उनका मरना अच्छा है, सम्यक्त्व के बिना पुण्य का उदय भी अच्छा नहीं है-** आहाहा! समकित बिना-आत्मदर्शन, शुद्धचैतन्यघन की जिसे अनुभूति से प्रतीति नहीं, उस जीव के बड़ा पुण्य हो तो भी वह पुण्य उसे नरक में ले जाएगा। समझ में आया? एक बार पुण्य से कदाचित् राजपद मिले, परन्तु फिर नरक-निगोद में जाएगा। इस प्रकार, सम्यग्दर्शन का इतना माहात्म्य है। वह कहते हैं। (गाथा) ५८।

वर णिय-दंसण-अहिमुहउ मरणु वि जीव लहेसि।
मा णि-दंसण-विम्मुहउ पुण्णु वि जीव करेसि॥५८॥

आहाहा! बहुत मर्म की बात, जैनदर्शन का रहस्य है। आहा! **हे जीव! जो अपने सम्यग्दर्शन के सन्मुख होकर...** सन्मुख का अर्थ यहाँ सहित है। सातवें अध्याय (मोक्षमार्गप्रकाशक) में मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्व के सन्मुख कहा है, वह नहीं। आहाहा! जिसे आत्मदर्शन, आत्मज्ञान, आत्मा जो वस्तु पूर्ण परमात्मस्वरूप है, उसके सन्मुख होकर जो अनुभव में प्रतीति हो, अनुभूति होकर, आत्मा की अनुभूति होकर... जैसा है, वैसा अनुभव होकर रुचि हो, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! उस सम्यग्दर्शनसहित मरण भी अच्छा है। मरणसहित देह छूट जाए तो भी अच्छा है।

परन्तु जो जीव, अपने सम्यग्दर्शन से विमुख... आहाहा! जो मात्र पुण्य-दया, दान, व्रत की क्रिया में मग्न है। जिसे भगवान आत्मा निजस्वरूप की अन्तर्मुख दृष्टि का अभाव है। आहाहा! भगवान शुद्ध चैतन्य ज्ञायकभाव, अनन्त ज्ञानस्वभावभाव। पर्याय में अल्पज्ञता है,

परन्तु वस्तु है, वह अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, अनन्त दर्शन आदि से भरपूर वस्तु है। आहाहा! उसका इसे भावभासन होना चाहिए-ऐसा कहते हैं। आहाहा! वह चीज़ यह है-ऐसा इसे ज्ञान में भासन होना चाहिए। आहाहा! इस सम्यग्दर्शनसहित देह छूट जाए, मरण हो तो भी वह अच्छा है। वह स्वर्ग में जायेगा और वहाँ से मनुष्यपना प्राप्त कर मोक्ष जायेगा। आहाहा! और उससे विमुख है (अर्थात्) स्वरूप की दृष्टि का भान नहीं, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, अनन्त शान्ति, स्वच्छता, ईश्वरता, प्रभुता-ऐसे अनन्त गुण का पिण्ड एकरूप द्रव्य वस्तु की दृष्टि का जिसे अभाव है, ऐसे सम्यग्दर्शन का जिसे अभाव है.. आहाहा! वह पुण्य भी करे—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि पुण्य करे तो भी अच्छा नहीं है। भभूतमलजी!

श्रोता : क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या करना, क्या? अन्दर दृष्टि करनी, यह करना है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अन्दर परमात्मस्वरूप विराजता है, तेरा स्वरूप ही परमात्मस्वरूप है। उसके सन्मुख होकर, अनुभव करके दृष्टि करना, यह करना है; बाकी सब व्यर्थ है। आहाहा! कहो, समझ में आया?

श्रोता : परन्तु यह तो बहुत कठिन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन माना है। वस्तु तो अपना निज घर है। अन्दर पड़ी है। है, उसके पास जाना है, उसमें क्या कठिन है? कठिन मान लिया है और पुरुषार्थ किया नहीं। आहाहा! सहजात्मस्वरूप स्वाभाविक आत्मस्वरूप जो अनादि महासत्ता चैतन्य की, आनन्द की महासत्ता अस्तिरूप भगवान है, उसका इसने सन्मुख होकर विश्वास नहीं किया। बाकी सब शास्त्र का जानपना किया, व्रत पाले, भक्ति करे, पूजा करे, दान करे। कहो, भभूतमलजी! इन्होंने आठ लाख का दान किया था। मन्दिर, मन्दिर (बनाया), बैंगलोर (में)। उसमें क्या है? राग मन्द हो तो पुण्य है। आहाहा! ऐसी बात है।

भगवान आत्मा पूर्णानन्द का जहाँ स्वीकार नहीं है, चैतन्य महाप्रभु अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द का कन्द है। आहाहा! एक बार हमने कहा नहीं था? शक्करिया का। शक्करिया, शक्करिया समझ में आता है? शक्करकन्द। शक्करकन्द नहीं होता? उसकी ऊपर की लाल छाल है, उसके अलावा देखो तो पूरा शक्करकन्द-शक्कर की मीठास का पिण्ड है। आहाहा! इसी प्रकार यहाँ आत्मा की पर्याय में जो दया, दान, व्रत, भक्ति आदि होते हैं, वे छिलका / छाल है। जैसे छाल के पीछे शक्करकन्द है; शक्कर, शक्कर अर्थात् मिश्री, शक्कर की मिठास का पिण्ड है। आहा! अरे! इसने कभी प्रयत्न कहाँ (किया है)? इसकी दरकार कहाँ (की है)?

भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। लो! सेठ का आया सागर। वह सागर है, कहते हैं। आहाहा! वह अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द और अतीन्द्रिय अनन्त ज्ञान का भान-अन्तर्दृष्टि होने पर जो सम्यग्दर्शन हो... आहाहा! यह कहते हैं कि भले देह छूट जाए, मरण (के समय) बाहर में कोई शरण न हो, तो भी वह मरण अच्छा है। समकिती का देह छूटना भी अच्छा है और सम्यग्दर्शनरहित यह पुण्य करे, अथवा पूर्व के पुण्य का बड़ा उदय (हो), अरबों कमाता हो, बाल-बच्चे (अच्छे) हों, दुकानें चलती हों, दस-दस, बीस-बीस दुकान (हों)... आहाहा! कहते हैं कि इस सम्यग्दर्शन के बिना पुण्य भी करे तो भी अच्छा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

भगवान आत्मा अन्दर पूर्णानन्द का नाथ विराजता है। उसका जिसे स्वीकार नहीं और एक समय की पर्याय और राग-पुण्य के भाव का स्वीकार है, वह मिथ्यादृष्टि भले पुण्य करे (तो भी) अच्छा नहीं है, क्योंकि उस पुण्य के फल में कोई स्वर्ग आदि जाएगा या राजा (होगा), वहाँ से मरकर नरक में जाएगा। आहाहा! आचार्यों ने करुणा करके, अज्ञानी के उद्धार का मार्ग क्या है, वह कहा है। आहा! समझ में आया?

प्रथम में प्रथम इसे सम्यग्दर्शन करना।

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ;
तोरि सकल जगदंद-फंद, निज आतम ध्याओ।

द्वैतपना छोड़कर (अर्थात्) यह द्रव्य है और यह पर्याय दो है, यह बात भी लक्ष्य छोड़कर। आहाहा! 'निज आतम उर ध्याओ।' निज आतम (ध्याओ)। भगवान (ध्याओ, ऐसा) नहीं। निज आतम उर ध्याओ। ध्यान का विषय निज आत्मा को बिना। आहाहा! ऐसा जो सम्यग्दर्शन, उससे रहित पुण्य भी करे, भले व्रत पाले, भक्ति करे, पूजा करे, लाखों-करोड़ों रुपये का दान करे, धर्मशालाएँ बनावे.. लो! और सेठ का याद आया। सेठ ने वहाँ धर्मशाला बनायी है न सागर में? वहाँ हम थे न! उद्घाटन हुआ न? तुम्हारी धर्मशाला। तीन लाख की धर्मशाला बनायी। यह कहते हैं कि सब पुण्य है, राग की मन्दता है, परन्तु वह पुण्य, सम्यग्दर्शन के बिना (परिभ्रमण का कारण है)। आहाहा! सम्यग्दर्शन नहीं तो उस पुण्य से तो स्वर्ग आदि, राजादि (पदवी) मिलेगी। अभी कहेंगे। यह तो अभी ५८वीं चलती है न?

(गाथा) ६० में कहेंगे। पुण्य से वैभव—यह बाहर की धूल मिलेगी। अरबों रुपये! प्रारब्ध के तक। अब अरबों तक गया है, पहले तो प्रारब्ध था। सौ करोड़ का अरब और सौ अरब का खरब; खरब, निखर्ब, महापद्म... हमारे समय में १८ बोल, प्रारब्ध तक थे। सौ अरब

का खरब, सौ खरब का निखर्व, खरब, निखर्ब, महापद्म.. १८वाँ बोल है। यह कहते हैं कि अरबों रुपये दिन की आमदनी करता हो तो भी क्या? इस सम्यग्दर्शन के बिना पुण्य से उसे मद चढ़ेगा, अभिमान होगा। स्वभाव की दृष्टि का अधिकपना भासित नहीं हुआ, इससे उसे पुण्य की अधिकता भासित होगी। आहाहा! उसे मद चढ़ेगा। गाथा ६०वीं में कहेंगे। है न ६०वीं? देखो, ६०वीं!

पुण्णेण होइ विहवो... अपने यह चलती है ५८ (वीं)। इसकी ६०। है? ६०, ६० **पुण्णेण होइ विहवो...** अज्ञानी को पुण्य से तो वैभव-बाहर की धूल मिलेगी। आहाहा! और वैभव से मदो-उस वैभव से उसे मद चढ़ेगा। यहाँ तो यह (बात है)। नागा बादशाह हैं दिगम्बर। उन्हें जगत की कुछ पड़ी नहीं है। बादशाह, नागा बादशाह, कहते हैं न-बादशाह से आघा। आहाहा! कहते हैं कि पुण्य से वैभव, और वैभव से मद और मद से मति भ्रष्ट होगी। आहाहा! **मइ-मोहेण य पावं** उस मति-मोह से पाप करके **ता पुण्णं अम्ह मा होउ** आचार्य कहते हैं कि ऐसा पुण्य हमको मत होओ। नीचे अर्थ में है। है भाई! भभूतभाई! नीचे।

पुण्य से घर में धन होता है,... नीचे अर्थ है। पुण्य से, पुण्य से धन (मिलता है), हों! तुम्हारे पुरुषार्थ से नहीं। आहाहा! है भाई? है? शोभालालजी! ६०वीं गाथा। है? **पुण्य से घर में धन होता है, और धन से अभिमान,...** होता है। हम अरबोंपति, हम करोड़ोंपति, हमारी दुकान ऐसे चलती है, पाँच सौ-पाँच सौ लोग काम करते हैं। आहाहा! हमारे पोपटभाई है न? इन पोपटभाई के साला थे। (उनके पास) दो अरब और चालीस करोड़ (थे)। ये पोपटभाई बैठे हैं, इनका साला 'शान्तिलाल खुशाल', दो अरब चालीस करोड़। उनकी बहिन है इनके घर में। दो लड़कियाँ हैं न ब्रह्मचारी? फिर एक बार पोपटभाई ने इनके साला को कहा। पैसा बहुत दो अरब चालीस करोड़। (तो इन्होंने कहा) परन्तु अब किसलिए इतना सब करते हो? पैसा बहुत। ये पोपटभाई, इनकी दो लड़कियाँ अपने यहाँ बाल ब्रह्मचारी हैं, ६४ (बहिनों) में... आहाहा! फिर जवाब देता है। पैसे का अभिमान चढ़ गया, जवाब देता है, क्या हम कमाने के लिये यह करते हैं? हजारों लोगों का पोषण होता है; इसलिए यह धन्धा करते हैं। ऐ.. सेठ! ऐसा जवाब देता है। ये पोपटभाई! हजारों लोग (काम करे) क्योंकि बड़ा गृहस्थ व्यक्ति। चालीस लाख के तो बँगले हैं। दस-दस लाख के दो हैं। साठ-साठ के तीन तो बँगले हैं। आहा! धूल में भी नहीं कुछ। वह पाँच मिनिट में मर गया, लो! हार्टफेल। यह तो मद चढ़ा-ऐसा बताते हैं। अभिमान हो जाए कि हम तो किसी का पोषण करते हैं। मिल के मालिक ऐसा मानते हैं कि इस मिल में हजारों लोगों का (भरण) पोषण होता है न! तेरी ममता के कारण करता है, यह मानता नहीं। आहाहा!

श्रोता : परोपकार बताया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, करते हैं। धूल भी नहीं; तेरी ममता है। सुन न! मतिभ्रष्ट होकर मद चढ़ता है, कहते हैं। है? **बुद्धि के भ्रम होने से...** देखो! बुद्धि भ्रम होता है। धन से अभिमान और अभिमान से बुद्धिभ्रम। **बुद्धि भ्रम होने से (अविवेक से) पाप होता है, इसलिए ऐसा पुण्य हमारे न होवे।** भाई! भभूतमलजी! है गाथा? आहाहा!

यह परमात्मप्रकाश है। भगवान परमात्मस्वरूप! एक समय की वर्तमान पर्याय में अल्पज्ञता होने पर भी, उसकी वस्तु है, वह तो अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, ज्ञायकभाव से परिपूर्ण है। उसकी सन्मुख के अनुभव की प्रतीति बिना ऐसा पुण्य हमको न होओ। आहाहा! सम्यग्दर्शन के बिना का पुण्य है, वह हमको न होओ। बाद में कहेंगे, सम्यग्दर्शन हो, वहाँ पुण्य हो, परन्तु वह पुण्य उसे नरक में नहीं ले जाएगा; वह पुण्य स्वर्ग में ले जाएगा, वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष जाएगा। समझ में आया? आहाहा!

श्रीमद् राजचन्द्र लो! गृहस्थदशा में थे, जवाहरात का धन्धा (था)। लाखों का बड़ा धन्धा (था), परन्तु अन्दर में भान था, सम्यग्दर्शन (था)। देह छूटकर स्वर्ग में गये हैं, परन्तु वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष जाएँगे। समझ में आया? आहा! स्वयं लिखते हैं, 'शेष कर्म का भोग है, भोगना अवशेष रे', अभी अस्थिरता का राग बाकी रहता है, परन्तु 'इससे देह एक धारकर जाऊँगा स्वरूप स्वदेश रे।' भभूतमलजी! आहा! गृहस्थाश्रम में सम्यग्दर्शन है, आत्मा का भान है। आहाहा! 'अशेष कर्म का (भोग है)' अभी राग बाकी है, वह मिटता नहीं, हमारा पुरुषार्थ कम है। 'इससे देह एक धारकर..' देह धारण करना पड़ेगा। स्वर्ग के अलावा, हों! स्वर्ग का देह तो एक धर्मशाला है, बाद में मनुष्य का देह (पायेंगे)। 'अशेष कर्म का भोग है, भोगना अवशेष रे..' आहाहा! 'इससे देह एक धारकर जाऊँगा स्वरूप स्वदेश रे।' हमारे स्वदेश आत्मधाम में हम प्रविष्ठ हो जाएँगे। आहाहा! और मिथ्यादृष्टि क्रियाकाण्ड, पंच महाव्रत आदि पालन कर अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक जाता है, परन्तु वापस वहाँ से मरकर मनुष्य, वहाँ से मरकर पशु और मरकर नरक तथा निगोद में (जाता है)। आहाहा! समझ में आया? ऐसा समकित का माहात्म्य है और ऐसी मिथ्यात्व की नीचता-हलकापना है। आहाहा!

श्रोता : वेदनीयकर्म तो केवली को भी वेदना पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई वेदते नहीं। केवली क्या वेदे? - केवली तो अनन्त आनन्द वेदते हैं। जरा असाता का उदय है, वे तो अनन्तवें भाग के रजकण हैं। महासमुद्र भरा हो, उसमें एक जरा इतनी चिमटी (भर) राख दिखायी दे? वैसे अन्दर में जरा रजकण प्रतिकूल थोड़े हों, परन्तु उन्हें वेदते नहीं; वेदन तो अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन है।

केवली को क्षुधा नहीं होती, तृषा नहीं होती, रोग नहीं होता। श्वेताम्बर मानते हैं, वह एकदम विपरीत-उल्टा है। समझ में आया? महावीर भगवान को छह महीने रोग रहा। और आहार लेने गये... लाया तब खाया... सब कल्पनाएँ हैं। ऐ.. शान्तिभाई! ये सब उनके यहाँ प्रमुख थे। जहाँ-तहाँ बैठे और फिर बातें करे, उसको पुष्टि देते। अब बदल गये। अरे रे! हमारी जिन्दगी मुफ्त में चली गयी। शान्तिभाई वहाँ कलकत्ता में करते? तुम तो दिल्ली है? दिल्ली। बैंगलोर, बैंगलोर। यह तो कलकत्ता में। भाई! आहा!

अरे रे! बापू! जिसे आत्मदर्शन वस्तु क्या चीज़ है, उसकी जिसे खबर भी नहीं, वह व्रत, तप, भक्ति और पूजा करे, कहते हैं कि उसके पुण्यफल में कभी राज आदि, स्वर्ग आदि मिले, पश्चात् तो नरक-निगोद में जाएगा। आहाहा! यह कहते हैं, देखो! हमें ऐसा पुण्य न हो। आहाहा! मुनि को खबर है कि हम यहाँ से स्वर्ग में जानेवाले हैं। पंचम काल के मुनि हैं, उनका मोक्ष तो नहीं, खबर है; परन्तु यह पुण्य हमारे सम्यग्दर्शन सहित हेयबुद्धि से आता है। आहाहा! समझ में आया? आत्मा के सुख के आदर में यह पुण्य का भाव हेय और दु:खरूप लगता है। उसमें पुण्य आता अवश्य है। उसके फलरूप से स्वर्ग आदि होंगे। वहाँ से अन्तिम भव हमारा मनुष्य का हो या वहाँ भले राज में उत्पन्न हो, परन्तु हम मुनिपना लेकर केवलज्ञान प्राप्त करेंगे। आहाहा! लोगों को कीमत (नहीं)-सम्यग्दर्शन क्या है, उसकी कीमत नहीं। आहाहा! बाहर का त्याग, व्रत, तप और यह लंघन करे न, उसकी... आहाहा! उसकी महिमा (करते हैं)। इसने इतने उपवास किये और इसने इतना किया न... देखो न! यहाँ है न? क्या कहलाता है? उपधान किया है। माला पहिचाननेवाले हैं। पालीताणा। सवा सौ लोग (एकत्रित हुए)। अरे रे! उपधान करते हैं न?

श्रोता : उसमें समकित का उपचार किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसका उपचार समकित का? श्वेताम्बर में ऐसा आता है। दीक्षा दे, उसे द्रव्य समकित का उपचार करे। समकित का उपचार होता होगा? आहाहा!

यहाँ आचार्य कहते हैं। ५८ (गाथा) चलती है न? **भावार्थ - निर्दोष निज परमात्म की अनुभूति की रुचिरूप...** आहाहा! भगवान आत्मा कैसा है? पवित्र निर्दोष है। आहाहा! पुण्य और पाप के दोष भी उस वस्तु के स्वरूप में नहीं है। आहाहा! वापस निर्दोष निज परमात्मा, हों! तीर्थंकर केवली हो गये, वे तो उनके परमात्मा। आहाहा! निर्दोष पवित्र निज आत्मा परमात्मा। यहाँ परमात्मप्रकाश है न? **निज परमात्म की अनुभूति...** आहाहा! अन्तर आत्मा पूर्णानन्द प्रभु को यहाँ परमात्मा कहा। आहाहा! परम स्वरूप से विराजमान भगवान

परमात्मा है। आहाहा! निज परमात्मा की अनुभूति–इस परमात्मा का अनुभव होकर। देखा! जो चीज़ है, उसे अनुसर कर दशा हुई। आहाहा! उसकी रुचिरूप, उसकी रुचि।

तीन गुप्तिमयी जो निश्चयचारित्र उससे अविनाभावी... यह साथ में इतना रागरहित चारित्र होता है न! **(तन्मयी) जो वीतरागनिश्चयसम्यक्त्व...** आहाहा! **वीतरागनिश्चय –समकित उसके सन्मुख हुआ है। हे जीव!...** उस समकितसहित हुआ, ऐसा हे जीव! आहाहा! निज परमात्मा के सन्मुख हुई जो दृष्टि। आहाहा! उस समकित से सहित हुआ, ऐसा **हे जीव! जो तू मरण भी पावे,...** आहाहा! **तो दोष नहीं,...** तो भी दोष नहीं है। क्योंकि स्वर्ग में जाएगा, वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष जाएगा। आहाहा!

श्रेणिक राजा सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए। राज था, हजारों रानियाँ थीं। आहाहा! परन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त हुए। आहाहा! और जरा शुभ विकल्प आया तो तीर्थंकरगोत्र बाँधा, तो समकित सहित जो थे। आहाहा! परन्तु पहले नरक का आयुष्य बँध गया था। मुनि की अशातना की थी, उसमें सातवें नरक का आयुष्य बँध गया। वे यहाँ समकित प्राप्त हुए, तैंतीस सागर का आयुष्य तोड़ डाला; चौरासी हजार वर्ष का रहा। क्योंकि घी, शक्कर और आटा का जो लड्डू बना हो, वह कहीं उस लड्डू में से घी निकालकर नयी रोटी नहीं होती। आटा निकलकर रोटी नहीं होती। घी निकलकर पूड़ी (नहीं होती)। वह तो खाना ही पड़ेगा। इसी प्रकार एक बार आयुष्य बँध गया हो (तो) उसकी स्थिति घटती है। समकित प्राप्त करने पर स्थिति घट गयी। ३३ सागर की (स्थिति) बाँधी थी, वह चौरासी (हजार वर्ष में) रह गयी। आहाहा!

सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए। हजारों रानियाँ थी, सब परिवार बड़ा राज (था)। आहाहा! और भगवान के समवसरण में तीर्थंकरगोत्र बाँधा। आहाहा! फिर अभी नरक में गये हैं, परन्तु वहाँ से निकलकर तीर्थंकर होनेवाले हैं। आहाहा! जिनका जन्म होगा तो तीन लोक में जरा साता की खलबलाहट हो जाएगी। साता.. साता.. सात.. (हो जाएगी)। यह सुख की साता; वह (अतीन्द्रिय) सुख नहीं। आहाहा! देखो! यह सम्यग्दर्शन का माहात्म्य!!

जिन्हें राग छूटा नहीं, व्रत नहीं, तप नहीं, चारित्र नहीं परन्तु एक आत्मा का अनुभव और दृष्टि (हुए हैं)। आहाहा! उस अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में जो रुचि हुई है, वह ऐसी रुचि है... आहाहा! कि उसमें पूर्णानन्द का स्वीकार है। आहा! उन्हें जरा सम्यक्त्व से पहले आयुष्य बँध गया (तो) नरक में गये हैं। चौरासी हजार (वर्ष की) स्थिति में (गये हैं)। ढाई हजार वर्ष हुए। अभी साढ़े इक्यासी (हजार वर्ष) बाकी हैं। पहले नरक में हैं। आहाहा! यहाँ अरबोंपति सब बादशाही सेवन करते हों, वह वहाँ नरक में पड़ा है, परन्तु वहाँ से (निकलकर) तीर्थंकर होंगे।

वेदना है, जितना राग है, उतना वेदन है। जितना राग गया, उतना सुख है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का राग गया है, उतना सुख है। शेष दूसरे तीन कषाय हैं, उतना अभी (दु:ख है)। आहाहा! यह तो वस्तु की स्थिति ऐसी है। वे तीर्थंकर, तीन लोक के नाथ; नरक में से आने से पहले उनकी माता के पास आकर इन्द्र छह महीने पहले तो उनका गर्भ साफ करेंगे। आहाहा! यह सम्यग्दर्शनसहित पुण्य का फल है। आहाहा! अज्ञानी का-सम्यग्दर्शनसहित का-पुण्य, भोग में आसक्ति करके मरकर चला जानेवाला है। आहाहा! समझ में आया?

जो तू मरण भी पावे, तो दोष नहीं, और उस सम्यक्त्व के बिना... विमुख शब्द है न? उसमें सन्मुख है, परन्तु सन्मुख अर्थात् सहित और विमुख अर्थात् रहित। **सम्यक्त्व के बिना मिथ्यात्व अवस्था में...** देखो! आहाहा! अभी जिसकी श्रद्धा ही विपरीत है। पुण्य से धर्म होगा, व्रत करते-करते कल्याण होगा, यह पुण्यभाव करते-करते आगे बढ़ा जाएगा—ऐसी जिसे मिथ्या श्रद्धा है.. आहाहा! उपदेश में भी यह कहे, यह व्रत और तप और यह करो (तो) तुम्हारा कल्याण होगा! वह मिथ्या श्रद्धा है। आहाहा!

अरे! चौरासी के अवतार में, बापू! एक-एक योनि में इसने सम्यक्त्व के बिना अनन्त अवतार किये हैं। यह मिथ्यात्व का प्रताप है। आहाहा! समकित का प्रताप यह है, जिसे कोई वर्तमान निर्धनता हो, नरक हो, तिर्यंच में अवतरा हो। लो न समकिती है। तिर्यंच में अभी असंख्य तिर्यंच समकिती हैं। आहाहा! तो भी यहाँ से स्वर्ग में जायेंगे, वहाँ से मनुष्य होकर कितने ही मोक्ष जानेवाले हैं। आहाहा! और इस सम्यक्त्व के बिना पुण्य बाँधा हो, वह भले राजा आदि हो, वह पशु है और यह राजा मनुष्य है परन्तु वह मरकर भोग की वांछा में मिथ्यात्व में पुण्य बाँधा है। उस इच्छा के प्रेम में, पुण्य के प्रेम में उसके फल में उसका प्रेम (उसे) छूटता नहीं है। आहाहा!

मिथ्यादृष्टि जीव **पुण्य भी करे तो अच्छा नहीं है।** है? आहाहा! जिसे दृष्टि में मिथ्यात्व है, वह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा करे परन्तु वह अच्छा नहीं है, ऐसा कहते हैं। ऐसी बातें, बापू! यह तो किसी दिन ऐसी बात (आवे)। यह तो जगत का इतना भाग्य है कि ऐसी वस्तु रह गयी। आहाहा! समझ में आया? आहा! कहते हैं, मिथ्यादृष्टि पुण्य करे तो भी अच्छा नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

श्रोता : अवांछक वृत्ति से करे तो।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यादृष्टि को अवांछक वृत्ति होती ही नहीं। दृष्टि मिथ्यात्व है;

इसलिए वहाँ राग की ही भावना है। सम्यक्त्वी को अवांछक वृत्ति से होता है। यह आयेगा थोड़ा, देखो!

जो सम्यक्त्वरहित मिथ्यादृष्टि जीव पुण्यसहित हैं, तो भी पापी ही कहे हैं... है? अरे! सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन क्या चीज़ है, इसकी मूल की बात की खबर नहीं होती और ऊपर के सब वृक्ष, पत्ते तोड़े! बड़ी इमली हो और इमली का वृक्ष। लाखों पत्ते तोड़े परन्तु फिर मूल तो सुरक्षित है। पन्द्रह दिन में वापस अंकुरित हो जायेगा। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि यह व्रत करे और तप करे और ऊपर के पत्ते तोड़े परन्तु मिथ्यात्व का मूल तो वहाँ सुरक्षित है। आहाहा! ऐसा उपदेश ही कम हो गया। भभूतमलजी! इसने सुना हो न बहुत। आहाहा! अरे रे! इसका उन्हें विरोध करना है। अरे! भगवान! आहाहा!

श्रोता : चरणानुयोग की शैली क्या है?

पूज्य गुरुदेवश्री : चरणानुयोग के उपदेश में क्या है? चरणानुयोग का सार तो वीतरागता है। व्रत आदि का ज्ञान करावे परन्तु सार तो उसका वीतरागता है। चरणानुयोग का व्यवहार करे, वह कहीं धर्म है? यह कहते हैं न कि चरणानुयोगप्रमाण हम आचरण करते हैं; इसलिए हम साधु हैं। चरणानुयोग का व्यवहार है, वह साधुपना है ही नहीं। उसे तो चरणानुयोग का आचरण जिसे सम्यग्दर्शन और वीतरागभाव सहित है, उसे ऐसा भाव आता है, ऐसा उसे चरणानुयोग बताता है। आहाहा! दूसरा क्या हो? अरे! निराधार अशरण शरण है। भगवान चिदानन्द अन्दर शरण है। उसे शोधता नहीं, खोजता नहीं और यह करूँ और यह करूँ और यह करूँ... आहाहा! कहते हैं कि वह पापी ही है।

मिथ्यादृष्टि जीव पुण्यसहित है तो भी पापी ही कहे हैं। आहाहा! गोम्मटसार में तो मिथ्यादृष्टि को अशुभभाव ही कहा है, शुभभाव कहा नहीं। आहाहा! समझ में आया? सम्यग्दृष्टि को शुभभाव कहा है। आहाहा! **पापी है तथा जो सम्यक्त्वसहित हैं, वे पहले भव में उपार्जन किये हुए पाप के फल से दुःख दरिद्र भोगते हैं...** आहाहा! सम्यग्दर्शनसहित है और वर्तमान में दरिद्र है। पच्चीस रुपये कमाना (हों तो भी) नहीं कमा सकता। है? दरिद्र है और दुःख (भोगता है), बाहर की प्रतिकूलता का पार नहीं। शरीर में रोग हो, स्त्री मिले नहीं, पुरुष सेवा करनेवाले का नौकर न हो, मनुष्य न हो, पैसा न हो, आहाहा! वह दुःखी हो तो भी... आहाहा! **पुण्याधिकारी ही कहे हैं।** है? पुण्य का अधिकारी है। वह मरकर स्वर्ग जानेवाले हैं। यहाँ भले दरिद्री हों, तुम बड़े सेठ करोड़पति दिखायी दो और वह गरीब व्यक्ति हो, रोटियों के लिये मुश्किल से पच्चीस रुपये महीने मिलते हों! आहाहा! पति-पत्नी दो हों, वस्त्र जीर्ण

(हों), गरीब व्यक्ति (हों) परन्तु वह पुण्य का अधिकारी है। आहाहा! उसका पुण्य ऐसा होगा कि उसे स्वर्ग (मिलेगा अथवा) बड़ा राजा होगा। समझ में आया?

वर्तमान में दु:ख और दरिद्र भोगता है। आहाहा! रहने का मकान मिलता नहीं, काँटे की बाड़ करके घास का पुला डालकर झोपड़ी में रहना पड़ता हो। ऐई! कुबा कहते हैं न कुबा? घास का बनाते हैं न? अन्दर रहे। बेचारा गरीब व्यक्ति हो परन्तु समकिती है तो वह पुण्य का अधिकारी है। आहाहा! और चालीस-चालीस लाख के बंगले में सोते हों परन्तु वे सब मिथ्यादृष्टि पाप के अधिकारी हैं। आहाहा!

अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द सम्पन्न प्रभु है। आहाहा! उसकी दृष्टि होना, वह तो अलौकिक वस्तु है। दृष्टि भले पर्याय है, परन्तु उसका विषय है, वह तो परमात्मा का है। आहाहा! पूर्ण परमात्मा, वह दृष्टि का विषय है। आहाहा! अब ऐसा उपदेश। भभूतमलजी! यह सब पुण्य की क्रिया की भभूत लगा दे। इसे तो अब प्रेम है न! यह तो वस्तु अलग है, बापू! जरा सा बैठे नहीं तह में परन्तु बैठाना चाहिए इसे। आहाहा!

श्रोता : दृष्टि, दृष्टि को नहीं परन्तु परमात्मा को पकड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परमात्मा है। दृष्टि पर्याय है, वह पर्याय को नहीं पकड़ती, परमात्मा को (पकड़ती है)। आहाहा! भाई! यह बातें नहीं; यह तो वीतराग के मार्ग के रहस्य हैं। आहा! भले दुनिया माने, न माने। आहाहा!

दरिद्र भोगते हैं तो भी पुण्याधिकारी ही कहे हैं। शास्त्र में उन्हें पुण्याधिकारी कहा है। **इसलिए जो सम्यक्त्वसहित हैं, उनका मरना भी अच्छा। मरकर ऊपर को जावेंगे...** मरकर स्वर्ग में जायेंगे, वैमानिकदेव होंगे। आहाहा! सम्यग्दृष्टि (मनुष्य) मरकर मनुष्य नहीं होता तथा भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष में नहीं जाता, नरक और तिर्यंच में नहीं जाता। आयुष्य नहीं बँधा हो, उसकी बात है। समझ में आया? आहाहा! **ऊपर को जावेंगे..** वैमानिकदेव (होंगे)। आहाहा!

श्रीमद् राजचन्द्र, लो! स्वर्ग में हैं, वैमानिक में हैं। वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष जायेंगे। उनके कितने ही भक्त ऐसा कहते हैं (कि वे) महाविदेह में गये हैं। (परन्तु) महाविदेह में तो मिथ्यादृष्टि जाता है। क्या करता है तू यह? मनुष्य मरकर मनुष्य तो मिथ्यादृष्टि होता है। समकिती मनुष्य में जाये? इसलिए यहाँ ऊपर जाता है, ऐसा कहा है। ऐसे नहीं जाता। ***आहाहा! लोगों को राग के प्रेम में, सत्य क्या है, सिद्धान्त कहाँ टूटता है, इसकी खबर नहीं होती। आहाहा!***

श्रोता : विदेहक्षेत्र में तो भगवान विराजते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान विराजे तो क्या है ? विदेह में अनन्त बार गया है और मनुष्य मरकर मनुष्य होवे तो मिथ्यादृष्टि होता है; समकिती मनुष्य मरकर मनुष्य नहीं होता, समकिती नारकी भी मरकर मनुष्य ही होता है, तिर्यंच नहीं होता। देव मरकर समकिती मनुष्य होता है, तिर्यंच नहीं होता। मनुष्य मरकर स्वर्ग में ही जाता है, वह भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष, नरक, तिर्यंच में नहीं जाता। आहाहा!

श्रोता : यह तो सब अभी क्रमसर हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्रमसर ही है। क्रमसर की दृष्टि कहाँ है इसकी? क्रमसर के माननेवाले की दृष्टि कहाँ है ? उसे क्रमसर बैठा है। बातें की है इसने क्रमसर की ? समझ में आया ? ऐसा क्रमसर होता है, उसकी दृष्टि कहाँ है ? परमात्मा भगवान पर दृष्टि है, उसे यह क्रमसर आ गया है। ऐसी बात है, बापू! दुनिया के साथ मेल नहीं खाता। आहाहा!

समकित बिना महाव्रत पालन करे, अट्ठाईस मूलगुण पाले तो भी अभी पापी है, कहते हैं। आहाहा! समकितसहित दरिद्र हो, निर्धन हो, वांढो हो, वांढा समझते हो ? स्त्री बिना। कोई स्त्री देता न हो। आहाहा! आँखों से काणा हो, एकाध आँख हो और दूसरी आँख न हो तथा समकित हो। कोई कन्या भी न दे परन्तु है पुण्य का अधिकारी। वह बड़ा देव होनेवाला है। समझ में आया ? और समकित बिना के सब पुण्य के थोथा खाते हैं... ऐ.. देवानुप्रिया! उसे वहाँ सब पुण्य का है। किराया उपजता है। अकेला है तो भी किराया खाता है। किराया खाया जाता होगा ? राग, राग (खाता है)। आहाहा!

यहाँ आचार्य कहते हैं। श्लोक बहुत सरस है। भभूतमलजी! आहा! जो **सम्यक्त्व से रहित है, उनका पुण्यकर्म भी प्रशंसा के योग्य नहीं है।** है ? जो समकितरहित है, उसका पुण्यकर्म अर्थात् पूर्व का पुण्य और वर्तमान शुभभाव, वह प्रशंसायोग्य नहीं है। **वे पुण्य के उदय से क्षुद्र (नीच) देव...** आहाहा! **तथा क्षुद्र मनुष्य होके...** मिथ्यादृष्टि पुण्य करेगा तो हल्का गरीब मनुष्य में अवतरित होगा। आहाहा! **संसार वन में भटकेंगे।** जो मिथ्यादृष्टि जीव पुण्य करता (है) परन्तु प्रशंसायोग्य नहीं है क्योंकि उससे नीच देव और क्षुद्र मनुष्य होकर संसार वन में भटकेगा।

यदि पूर्व के पुण्य को यहाँ भोगते हैं तो तुच्छ फल भोग के नरक निगोद में पड़ेंगे। आहाहा! अरबोंपति, करोड़ोंपति पुण्य के फल को भोगते हैं परन्तु सम्यग्दर्शनरहित के वह पुण्य हैं। आहाहा! **तुच्छ फल भोग के नरक निगोद में पड़ेंगे।** आहाहा! समकिती यहाँ दरिद्र होगा तो (भी) वह स्वर्ग का बड़ा देव होगा और वह पुण्यवन्त प्राणी इसमें (मिथ्यात्व में)

होगा, वह मरकर नरक और निगोद में जायेगा। आहाहा! ऐसे तो अनन्त भव किये, भाई! आहाहा! इसे जरा थोड़ा बाहर का अनुकूल मिले, वहाँ इसे अधिकाई (आकर) आकर्षण हो जाता है। शरीर, पैसा, यह स्त्री, पुत्र कहीं ठीक मिले, वहाँ आकर्षित हो जाता है। वे तो धूल के पिण्ड है। आहाहा! रूपवान शरीर हो, भाषा मीठी हो, स्त्री करोड़पति की लड़की आयी हो तो ओहोहो! क्या हम हैं! क्या तुम हो? पापी हो, सुन न! आहाहा! हमारी माँ दीवान की बहिन थी, हमारी ऐसी माता थी, हमारे पिता ऐसे थे, परन्तु तुझे क्या है परन्तु? आहाहा!

श्रोता : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : वह स्वयं होगा और स्वयं निकलेगा अर्थात् उसे स्वयं को खाली हो गया। स्वयं निकल गया। इसे ऐसा कि ऐसे तो मरकर सब रहनेवाले हैं, ऐसा कहते हैं। यहाँ रहने का भी निकलनेवाला है, यह कहते हैं, वह रहे तो मैं तो निकल गया। मैं निकला। अब वापस आनेवाला नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बातें भारी, भाई! है?

इसलिए मिथ्यादृष्टियों का पुण्य भी भला नहीं है... क्योंकि उसमें अन्दर पुण्यभाव की उसे रुचि है। समकिती को पुण्यभाव की रुचि नहीं, उसे उसके प्रति हेयबुद्धि, जहरबुद्धि है। आहाहा! उसकी आनन्दबुद्धि तो भगवान में है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि की सुखबुद्धि तो भगवान में है, आत्मा में है, पुण्य में तो दु:खबुद्धि है। अज्ञानी को आत्मा में सुखबुद्धि नहीं, उसे पुण्य में सुखबुद्धि है। आहाहा! पहले ४९ गाथा में पीछे कहा था। अज्ञानी पुण्य को उपादेय मानता है, उसे आत्मा हेय हो जाता है। आत्मा हेय (होता है)। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, शुभभाव को जो उपादेय मानता है, उसे आत्मा हेय हो जाता है और जो आत्मा को उपादेय मानता है, उसे पुण्य हेय हो जाता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है, बापू! दुनिया के साथ तो बहुत मुश्किल पड़े। आहाहा!

श्रोता : एक मोक्ष की वांछा करता है और एक पुण्यफल की इच्छा करता है, दोनों में कौन अच्छा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : मोक्ष की इच्छा करे, वह इच्छा तो साधारण है। वह इच्छा भी छोड़नेयोग्य है, ऐसा मानते हैं। वह आती है, ऐसा आता है। '**समाहिबोहि लाभं**' आता है। आहाहा!

श्रोता : पर से जुदा एकत्व की उपलब्धि केवल सुलभ ना।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुलभ ना अर्थात्? अनन्त काल में मिली नहीं, इसलिए सुलभ ना, परन्तु मिल सकती नहीं, ऐसा इसका अर्थ नहीं है। क्या कहा? (मिल नहीं सकती) ऐसा नहीं है। अन्दर पुरुषार्थ की उग्रता से मिले, ऐसा है। अनन्त काल में नहीं मिली, इसलिए सुलभ

नहीं है, ऐसा। परन्तु वस्तु स्वयं है, सहज है, सत् है, सत् से भरपूर है, सत् वह सरल है, सत् वह सर्वत्र है, सत् वह (सुगम है)। आहाहा! (सत् की) प्राप्ति सरल है, यह श्रीमद् कहते हैं, यह श्रीमद् के वाक्य हैं। सत् सत् है, सरल है, सर्वत्र है, उसकी प्राप्ति सुलभ है परन्तु उसके समझानेवाले गुरु मिलना दुर्लभ है, ऐसा वहाँ कहा है। आहाहा! समझ में आया?

'नजरने आलसे रे में नयने न निरख्या हरि।' नर का नारायण होने की ताकत है। जन का (से) जैन होने की ताकत है। नर का नारायण होने की ताकत है। जन है, उसे जिन होने की ताकत है। आहाहा! समझ में आया? जन है, वह नरक और निगोद के योग्य नहीं है। वह तो जिन (होने) के योग्य है। आहाहा! समझ में आया? यह तो पर्याय में अज्ञानभाव खड़ा करता है, इससे नरक-निगोद है। वस्तु जिनपना है। जन, वह जिनपना है, वह तो जिनपने के योग्य है। आहाहा! भाई! यह तो दुनिया से अलग प्रकार है, बापू! यह दुनिया की बाहर की चमक और उसमें महत्ता माने! आहाहा! समझ में आया?

मिथ्यादृष्टियों का पुण्य भी भला नहीं है। निदानबन्ध पुण्य से भवान्तर में भोगों को पाकर... देखो! मिथ्यादृष्टि है न? उसे दृष्टि में निदान ही पड़ा है, पुण्य की इच्छा ही है। **पुण्य से भवान्तर में भोगों को पाकर पीछे नरक में जावेंगे...** आहाहा! ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती। छह खण्ड का राज, छियानवें हजार स्त्रियाँ, छियानवें करोड़ सैनिक! आहाहा! जब निदान किया, तब तो समकित पहले था। समकिती चक्रवर्ती हो सकता है। मिथ्यादृष्टि को निदान में चक्रवर्तीपना नहीं होता। आहाहा! सम्यग्दृष्टि था, उसमें निदान करके दृष्टि मिथ्या हो गयी। उसे चक्रवर्तीपना हो, मिथ्यादृष्टि को कभी सम्यक्त्व प्राप्त हुआ नहीं, उसे चक्रवर्ती पद हो सकता ही नहीं। वासुदेव, चक्रवर्ती सब समकित पाये हुए। वे निदान में (मिथ्यादृष्टि) हुए हैं। आहाहा! समझ में आया?

श्रोता : निदान के समय सम्यक्त्व चला जाता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : शल्य आया न? निदान, माया, मिथ्यात्व। आहाहा! मार्ग बहुत (सूक्ष्म), बापू! जन्म-मरण रहित का मार्ग है यहाँ तो.. आहाहा!

अभी तो यह बात ही सुनना कठिन हो गयी और बात बाहर आयी, वहाँ लोगों को ऐ.. ऐसा है और वैसा है और अमुक है... सम्यग्ज्ञानदीपिका की बात हमारे सिर पर डाली। कहो, वाममार्गी है, कहते हैं। सम्यग्ज्ञानदीपिका में ऐसा कहा, स्त्री पर को भोगे, तथापि बाहर में न आवे, यह बात सहन नहीं हुई उन्हें। वह तो धर्मदास क्षुल्लक का कथन है। ८७ वर्ष पहले की

पुस्तक है। अभी कल तक चौपानिया में आया था। उन्हें पूछो कि यह क्या है ? परन्तु किसका लिखा हुआ है ? आहाहा ! क्या हो ? जगत को इस प्रकार की पात्रता कम हो, वहाँ ऐसा होता है। आहाहा !

अभी तो लोगों को अब जिज्ञासा हुई है। सत्य क्या है वह सुनना... आहाहा ! प्रेम से सत्य को सुनते हैं, रुचि से ऐसा कहते हैं कि मार्ग तो यह बराबर है। आहाहा ! यह विरुद्ध नहीं चलता, बापू ! यहाँ तीन लोक के नाथ परमात्मा के पन्थ में यह विरुद्ध नहीं चलता। आहा ! वह तो लोक का पुण्य कम है, नहीं तो कोई इन्द्र-देव आकर विरोध करे। ऐसा मार्ग है परन्तु अब लोगों का पुण्य न हो तो (नहीं होता)। ऋषभदेव भगवान के समय चार हजार साधु हुए। नहीं ? वेष बदलकर दूसरा करने लगे। देव ने आकर ऐसा कहा कि दण्ड करेंगे। वेष बदल डालो, दूसरा वेष लो। नग्नपने में दूसरा (गलत आचरण) करोगे तो नहीं चलेगा। आहा ! इतना लोगों का भाग्य ! देव ने आकर रोका। आहाहा ! (अभी) इतना पुण्य कम है।

श्रीमद् राजचन्द्र जैसे समकिती वैमानिक में गये हैं... सोगानी जैसे, निहालचन्द्रभाई जैसे (स्वर्ग में गये हैं)। द्रव्यदृष्टिप्रकाश आया है ? कैसा ? ठीक! वहाँ दिया था ? सोगानी का द्रव्यदृष्टिप्रकाश है न ? स्वर्ग में गये हैं। वैमानिक स्वर्ग। आहाहा! होता है न।

निदानबन्ध पुण्य से भवान्तर में भोगों को पाकर पीछे नरक में जावेंगे। सम्यग्दृष्टि प्रथम मिथ्यात्व अवस्था में किये हुए पापों के फल से दुःख भोगते हैं... दुःख अर्थात् प्रतिकूलता आती है। **लेकिन अब सम्यक्त्व मिला है, इसलिए सदा सुखी ही होवेंगे।** आहाहा ! सम्यग्दर्शन में आत्मा का सुख है। आहाहा ! **आयु के अन्त में नरक से निकलकर मनुष्य होकर...** आहाहा ! देखो ! **ऊर्ध्वगति ही पावेंगे।** श्रेणिक राजा आदि। आहाहा ! समकिती नरक में पड़े हैं, परन्तु वहाँ से निकलकर मनुष्य होकर मोक्ष जायेंगे या स्वर्ग में जायेंगे और पीछे मोक्ष जायेंगे। **मिथ्यादृष्टि जो पुण्य के उदय से देव भी हुए हैं तो भी देवलोक से आकर एकेन्द्रिय होवेंगे।** आहाहा ! दूसरे देवलोक तक (से आकर) एकेन्द्रिय होते हैं। **ऐसा दूसरी जगह भी वरम इत्यादि श्लोक से कहा है कि सम्यक्त्वसहित नरक में रहना ही अच्छा...** योगसार में है। **और सम्यक्त्वरहित का स्वर्ग में निवास भी शोभा नहीं देता।** इतना सम्यग्दर्शन का माहात्म्य है। विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

५ श्री समयसार, गाथा ५८ से ६०, प्रवचन १३३
दिनांक ११-११-१९७८

क्या कहते हैं? **(अब यहाँ प्रश्न होता है कि) इस प्रकार तो व्यवहारनय और निश्चयनय का विरोध आता है; अविरोध कैसे कहा जा सकता है? इसका उत्तर दृष्टान्त द्वारा तीन गाथाओं में कहते हैं—**

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई।।५८।।

तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो।।५९।।

गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति।।६०।।

देखा लुटाते पंथ में को, 'पंथ ये लुटात है'—
जनगण कहे व्यवहार से, नहिं पंथ को लुटात है॥५८॥

त्यों वर्ण देखा जीव में इन कर्म अरु नोकर्म का।
जिनवर कहे व्यवहार से, 'यह वर्ण है इस जीव का'॥५९॥

त्यों गंध, रस, रूप, स्पर्श, तन, संस्थान इत्यादिक सबैं।
भूतार्थदृष्टा पुरुष ने, व्यवहारनय से वर्णये॥६०॥

टीका : लो, **जैसे व्यवहारीजन, मार्ग में जाते हुए किसी सार्थ (संघ) को लुटता हुआ देखकर, संघ की मार्ग में स्थिति होने से उसका उपचार करके,...** आहाहा! हमारे तो यह अनुभव हुआ है। 'गारियाधार' से 'उमराला' जाते हुए एक 'पांदरड़ा' आता है। उसकी बड़ी नहर आती है, वह लुटाऊ नहीं कहलाती है, भाई! इतनी गहरी है, है बड़ी नहर परन्तु इतनी गहरी है और फिर ऐसे गहरे से चढ़ने का है, इसलिए बीच में कोई चोर आकर लूटे तो आसपास के लोगों को कुछ पता नहीं पड़ता। आहा...हा...! ऐसा 'पांदरड़ा' है। 'गारियाधार'

से 'उमराला' जाते हुए (आता है)। हमारे साथ दूसरे थे। मेरी तो छोटी उम्र, और गाड़ा में बैठकर गये थे। दूसरे (लोग) देखने के लिये उतर गये। (पूछा) कैसे है?–कि यह मार्ग लुटता है। लुटाऊ मार्ग है। इसलिये अपने गाड़ा एकदम हाँको, और हम नीचे उतर जाते हैं तथा सामने देखते हैं। यह तो बनी हुई बात है। बहुत वर्ष की, ७५ वर्ष पहले की बात है। यह मार्ग लुटता है, ऐसा कहते हैं। यह मार्ग लुटाऊ है–ऐसा बोलते थे। क्योंकि वहाँ आगे गहरा–गहरा है। ऐसे रास्ता ऊँचा हो, इसलिए गहरा–गहरा (हो), इसलिए वहाँ चोर लूटे तो कोई बाहर में ठेठ तक आवे, तब तक पता नहीं पड़ता। लुटाऊ मार्ग है (कहे परन्तु) मार्ग लुटाऊ नहीं है। आहाहा!

देखो तो सही दृष्टान्त! उपचार करके यह मार्ग लुटता है – ऐसा कहते हैं। **तथापि निश्चय से देखा जाये तो, जो आकाश के अमुक भागस्वरूप है...** आकाश के अमुक भागस्वरूप मार्ग है। **वह मार्ग तो कुछ नहीं लुटता;...** मार्ग कहीं लुटता नहीं है। आहाहा! **इसी प्रकार भगवान अरहन्तदेव,...** सर्वज्ञ परमेश्वर, **जीव में बन्धपर्याय से स्थिति...** एक समय की बन्धपर्याय की स्थिति देखकर। आहाहा! एक समय में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, कर्म का सम्बन्ध–ऐसा एक समय है। भगवान तो त्रिकाली आनन्दकन्द प्रभु है। आहाहा! उसमें ये परमाणु आदि, बन्ध आदि, भेद आदि एक समय में रहनेवाले हैं। आहाहा!

जीव में बन्धपर्याय से स्थिति को प्राप्त... आहाहा! **कर्म और नोकर्म का वर्ण देखकर,...** वर्ण से लिया है न? वर्ण, गन्ध से लिया है न? इसलिए? कर्म–नोकर्म की वर्ण की बन्धपर्याय की जीव में स्थिति एक समय होने से **उसका उपचार करके,...** यह तो गति करते हुए, परिणमन करते.. करते.. करते.. आये हैं। आहा..हा..! यह आत्मा के स्वभाव में, पर्याय में गति करते एक समय (के लिये) आये हैं। परन्तु एक समय की स्थिति देखकर ये आत्मा के हैं–ऐसा कहने में आता है, वह तो व्यवहार है। आहाहा! आहाहा!

यहाँ तो वहाँ तक कहा न! नियमसार... चार भाव हैं, वे आवरणसंयुक्त हैं–ऐसा कहा। आहाहा! ऐ... देवानुप्रिया! तुम्हारा सब इसमें आया है या नहीं? क्षायिकभाव, उपशमभाव, केवलज्ञान, केवलदर्शन, यह क्षायिकभाव है। उन्हें वहाँ 'आवरणसंयुक्त' कहा – ऐसा टीका में पाठ है–आवरणसंयुक्त। अर्थात् इन्हें कर्म के निमित्त के अभाव की अपेक्षा आती है न! आहाहा! इसलिए उसे आवरणसंयुक्त गिनकर, उस भाव की भावना न करनी (–ऐसा कहा है)। आहाहा! पंचम स्वभावभाव, ध्रुवभाव, ध्रुवभाव ऐसा। आहाहा! उसकी भावना (करनी)। उसकी भावना है उपशम, क्षयोपशमभाव, परन्तु पंचम (भाव की) भावना (भाना), इस भावना की भावना नहीं। आहाहा! आहाहा! क्षायिक, क्षयोपशम आदि पर्याय है परन्तु उसकी

भावना नहीं। आहा! यह तो एक क्षणिक अवस्था है। केवलज्ञान, केवलदर्शन भी... आहाहा! त्रिकाली भगवान के समक्ष एक समयमात्र स्थिति को प्राप्त है।

आहाहा! मार्ग में लुटते देखकर मार्ग लुटता है। लुटता है तो उपचार है। इसी प्रकार स्वयमेव गति, स्थिति,... उसका क्षायिकपना, क्षयोपशमपना वहाँ आया है... आहाहा! उसे आत्मा का कहना, वह तो व्यवहार उपचार है। आहाहा! गजब बात है।

जीव में एक समय की स्थिति, बन्धपर्याय की स्थिति की अपेक्षा से देखें तो वह उपचार करके कहा है। **'जीव का यह वर्ण है'...** जीव के गुणस्थान हैं। आहाहा! वहाँ एक समय की पर्याय की स्थिति है। अबन्धस्वरूप भगवान आत्मा तो त्रिकाल ऐसा का ऐसा ध्रुव प्रवाह चला आता है, उसमें एक समय की ये पर्याय की अवस्थायें जो दिखती हैं, वे वास्तव में तो यह स्वयं अवस्थायें उस समय में आने की योग्यता से सब हुई है। रागादि ये सब। आहाहा! भगवान ज्ञायकस्वरूप के ऊपर यह तो ऐसे गति करते-करते उनकी स्थिति-प्रमाण आये हैं परन्तु एक समय का सम्बन्ध देखकर... आहाहा! जीव के (वर्ण है ऐसा कहा)। बहुत सूक्ष्म बात, बापू! आहाहा! पर का तो कर नहीं सकता परन्तु क्षायिक भाव की भावना करनी नहीं, कहते हैं। आहाहा! गजब बात है।

पर का कर नहीं सकता, राग करता नहीं परन्तु क्षायिकभाव की पर्याय की भावना जीव नहीं करता। आहाहा! वह तो त्रिकाली ज्ञायकभाव भगवान अभेदस्वरूप है। यह तो यहाँ भेद को उपाधि कहा न? और उसमें भी आया है न? **'परपरिणतिमुज्झत् खण्डयद्भेदवादा'** (समयसार) ४७ श्लोक। आहाहा! **'परपरिणतिमुज्झत्** परन्तु **खण्डयद्भेदवादा'** उसे भी छोड़ दिया। आहाहा! कर्ताकर्म (अधिकार में है)। कर्ता-कर्म, परपरिणति। आहा! एक समय की स्थिति देखकर (इसके हैं ऐसा कहने में आता है)। है तो वे स्वयं मार्ग में चलते चलते अन्दर आये हैं, उनके मार्ग से, हों! आहाहा! परन्तु एक समय की स्थिति की अवधि देखकर, इसके हैं, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। आहाहा!

यह सब सम्बन्ध जो शरीर, वाणी, कर्म, भेद, गुणस्थान... आहाहा! ये तो पलटते... पलटते... पलटते... इनके समय में समय की स्थिति उनके कारण ऐसे आये हैं परन्तु आत्मा की बन्धस्थिति की एक समय में स्थिति पाते देखकर (जीव के कहे हैं)। है तो उसके आहा! भेद, गुणस्थान हैं तो उसके-अजीव के। आहा! परन्तु भगवान आत्मा चैतन्यमूर्ति परमस्वभावभाव में तो ये नहीं, परन्तु उसकी पर्याय में एक समय की अवधि देखकर... आहा! व्यवहार से उसके हैं, ऐसा कहा है। हैं तो उसके (अजीव के)। इसके (जीव के) नहीं। ***आहाहा! राग,***

द्वेष, पुण्य, पाप, गुणस्थान, जीवस्थान, मार्गणास्थान, वे हैं तो उसके (अजीव के)। आहाहा! क्या शैली! भगवान तीन लोक का नाथ चैतन्य परमस्वभावभाव,... वह है तो इसका, परन्तु यहाँ एक समय की बन्ध की पर्याय की स्थिति का सम्बन्ध देखकर इसके हैं, ऐसा व्यवहार से कहा। आहाहा! ऐसी बात है प्रभु! ओहोहो!

श्रोता : आज तो आप बहुत सूक्ष्म बात फरमाते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु ऐसी बात ही यह सादी भाषा में तो आती है। आहाहा!

संघ लुटता है, उसमें मार्ग लुटता है, यह कहना, वह तो उपचार है। इसी तरह इस जगत की सभी चीज़ें अजीव हैं। उनके कारण यहाँ उस प्रकार के भाव को प्राप्त होती है। आहाहा! परन्तु आत्मा को बन्ध की एक समय की स्थिति देखकर सम्बन्ध (कहा)। आहाहा! है तो भेद, भेद का; राग, राग का; कर्म, कर्म का; संहनन, संहनन का। आहाहा! परन्तु एक समय की ऐसी स्थिति देखकर (जीव का कहा है)।

प्रभु तीन लोक का नाथ ज्ञायकस्वभाव की एक समय की पर्याय में सम्बन्ध देखकर उसके हैं (ऐसा कहा)। हैं तो उसके, परन्तु इसके हैं - ऐसा एक समय की स्थिति देखकर कहने में आता है। आहाहा! गजब काम किया है न! यह टीका! अब वह कहता है कि टीका करके दुरुह किया। भगवान! भाई! ऐसा रहने दे भाई! ऐसे अवसर में तू ऐसे अभिमान में मत जा! आहाहा!

भावलिंगी सन्त ऐसा कहते हैं, प्रभु! तू तो त्रिकाली ध्रुव परमपारिणामिकस्वभावभाव तत्त्व है। ***आहाहा! अरे रे! वास्तव में तो यह क्षायिकभाव और क्षयोपशमभाव की भी पर्याय है उसकी... आहाहा! परन्तु एक समय की स्थिति की अपेक्षा गिनकर व्यवहार से इसका (जीव का) कहा। गजब काम किया है न! प्रभु!*** भगवान आत्मा अभेदस्वरूप, अभेदस्वरूप है। जिसमें पर्याय का भी भेद नहीं। आहाहा! परन्तु वह भेद एक समय की स्थिति देखकर (जीव का कहा है)। है तो भेद भेद का; है तो राग राग का; है वर्ण वर्ण का; है गुणस्थान गुणस्थान का - अजीव का। आहाहा!

भगवान चैतन्यस्वरूप परमानन्द की मूर्ति प्रभु अभेदवस्तु में एक समय के भेद को देखकर-है तो भेद भेद का; गुणस्थान, गुणस्थान का, परन्तु यहाँ एक समय का ऐसा सम्बन्ध देखकर-जीव का व्यवहार से कहने में आता है। आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु! क्या हो? आहाहा! जिसे क्षायिकभाव भी आवरणवाला कहा क्योंकि उसमें निमित्त की अपेक्षा आती है। भगवान का स्वभाव है, उसमें किसी निमित्त की अपेक्षा का और भाव या अभाव ऐसा कुछ

है नहीं – ऐसा ज्ञायकभाव, पंचमभाव, परमात्मभाव है। आहाहा! उसे एक क्षायिकभाव को भी आवरणवाला गिनकर... आहाहा! वह आत्मा में नहीं है। आहाहा! आया है न इसमें? **'क्षायिकभाव ठाणा'** क्षायिकभाव के केवलज्ञान आदि प्रकार आत्मा में नहीं हैं। आहाहा! परन्तु एक समय की क्षायिक आदि, क्षयोपशम की पर्याय का त्रिकाल के साथ एक समय का सम्बन्ध देखकर... आहाहा! बन्धपर्याय का सम्बन्ध देखकर, अबन्धस्वभावी भगवान में यह एक समय की स्थिति देखकर, इसके हैं – ऐसा व्यवहार से कहा है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

'जीव का यह वर्ण है' ऐसा व्यवहार से प्रगट करते हैं, तथापि निश्चय से, सदा ही जिसका अमूर्त स्वभाव है... भगवान आत्मा का तो त्रिकाली अमूर्त स्वभाव है। अमूर्त (स्वभाव) तो धर्मास्तिकाय में (भी) है परन्तु **उपयोगगुण के द्वारा अन्य द्रव्यों से अधिक है...** आहाहा! जानन-देखन स्वभाव से... आहाहा! इन सब भेद आदि से अधिक अर्थात् भिन्न है। आहाहा! **उपयोगगुण के द्वारा अन्य द्रव्यों से अधिक है...** ये सब अन्य द्रव्य कहने में आये हैं। आहाहा! नियमसार में तो क्षायिकभाव को भी परद्रव्य कहा है। आहाहा! त्रिकाली भगवान परमात्मस्वरूप ऐसा का ऐसा बिराजमान है। आहाहा! उसके अन्दर में पर्याय की एक समय की स्थिति देखकर, वह क्षायिकभाव जीव का है – ऐसा व्यवहार से कहते हैं। आहाहा! ऐसी बात है। ओहोहो! क्या जिनेश्वर त्रिलोकनाथ की वाणी! और सन्तों ने... आहाहा! जगत को पंचम काल के प्राणी के समक्ष प्रसिद्ध किया है।

प्रभु! तू तो ज्ञायकस्वभाव से भरपूर ऐसा अखण्डानन्द प्रभु है न! उसमें एक समय की ये सब दशायें, क्षायिक-क्षयोपशमदशा भी एक समय की अवस्था है। आहाहा! एक समय की अवस्था का त्रिकाली में सम्बन्ध देखकर वह जीव का है – ऐसा कहा है। है नहीं इसका। आहाहा!

राग और द्वेष तो विकारीदशा है; कर्म और संहनन और संस्थान तो जड़ की दशा है परन्तु अन्दर में कर्म के निमित्त के अभाव से होनेवाली निवृत्तदशा... आहाहा! उसे भी परद्रव्य के भाव गिनकर, आत्मा में वह नहीं... तब उसे (जीव का) क्यों कहा?—कि एक समय की (स्थिति देखकर कहा)। एक ही समय (रहती है)। भगवान तो त्रिकाली प्रभु है, उसमें एक समय की स्थिति देखकर इसके हैं – ऐसा व्यवहार से कहा है। आहाहा! निश्चय से इसके नहीं। आहा! देखो! यह तीन लोक के नाथ की वाणी! आहाहा! यह दिगम्बर सन्तों की वाणी! आहा! गजब काम किया है! काम तो कर गये परन्तु जगत् को समझाने की शैली (भी गजब!) आहाहा!

जो विकल्प आया, उसका कर्ता नहीं और उस काल में जो क्षयोपशम की पर्याय हुई है, वह मुझमें नहीं। आहाहा! ऐसी दृष्टि को, अभेद की दृष्टि होने पर भी पर्याय में क्षयोपशम की पर्याय हो, राग हो, (वह) है तो पर का, कहते हैं। आहाहा! भगवान! तेरी महिमा का पार नहीं, प्रभु! तू अन्दर कौन है? साक्षात् भगवान स्वरूप है!! आहाहा! सच्चिदानन्द प्रभु है! भाई! आहाहा! शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का भण्डार परमात्मा है। उसे यह पर्यायवालाऔर ...वाला कहना, वह तो एक समय की स्थिति इसमें देखकर कहा जाता है। आहाहा! नहीं तो वह पर्याय और रागादि सब अजीव कहे गये हैं, त्रिकाली जीव की अपेक्षा से। आहाहा! और वह भी अनुभूति के काल में कहा न! जब अखण्ड-अभेद चीज़ ऐसे जानने में आयी, ऐसे जब अनुभव हुआ, तब अनुभूति से यह सब बात भिन्न रह जाती है। आहाहा! यह समयसार! अजोड़ चक्षु है!!

श्रोता : कथंचित् वक्तव्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : कथंचित वक्तव्य और कथंचित् अवक्तव्य। यह वक्तव्य कहना भी एक उपचार से है। आहाहा! वाणी के काल में वाणी निकलती है, उसमें जीव का निमित्त देखकर; निमित्त देखकर अर्थात् उसका कोई कर्तव्य नहीं। आहाहा! बहुत अलौकिक बात है प्रभु! ***ओहोहो! यहाँ तो अभेद चीज़ की दृष्टि में भेद है, वह भी पर का है-अजीव का है, पुद्गल के परिणाम हैं। आहाहा! गजब काम किया है न, नाथ! यहाँ जाना, बापू! यहाँ तक। आहाहा! यह कोई अपूर्व अनन्त पुरुषार्थ है! आहाहा!*** शास्त्र से कोई काम पार न पड़े, शास्त्र के पठन से भी यह पार न पड़े। आहाहा!

त्रिकाली चीज़ भगवान आत्मा ध्रुव (है)। उसमें, ये स्थिति प्राप्त जगत के पदार्थ तो पर हैं, परन्तु एक समय की स्थिति का सम्बन्ध देखकर... आहाहा! व्यवहार से (इसके कहे गये हैं)। त्रिकाली में तो है नहीं, निश्चय से तो है नहीं परन्तु यह स्वयं परिणमन करते-करते एक समय की मुद्दतवाले ऐसे साथ में दिखायी दिये, इससे व्यवहार से उन्हें जीव का कहा। आहाहा! ऐसा है, भाई! यह कोई शास्त्र के पठन से यह मिले, ऐसा नहीं है। आहाहा! अलौकिक बात है! आहाहा! यह दिगम्बर दर्शन, वह जगत में कहीं है नहीं। यह वस्तु का स्वभाव है, वह दिगम्बर दर्शन है। आहा! क्योंकि जो त्रिकाली वस्तु है, उसमें एक समय की स्थितिवाली (वह चीज़ है), वे हुए हैं तो उनके कारण परन्तु यहाँ एक समय की स्थिति देखकर व्यवहार कहे। आहाहा! अभूतार्थनय से कहे। आहाहा! भगवान आत्मा भूतार्थ प्रभु! आहाहा! भगवान का विरह पड़ा परन्तु विरह भुलावे, ऐसी यह बात है!! आहाहा! क्या शैली! क्या प्रवाह! इनकी वाणी के प्रवाह का प्रपात! आहा!

कहते हैं, प्रभु! एक बार शान्ति से सुन, भाई! तू तो अभेदस्वरूप है, वह तू है, परन्तु ये सब शरीर, वाणी, मन, भेद, गुणस्थान आदि हैं, वे हैं तो सब अजीव; वे हैं तो सब पुद्गल के परिणाम। आहाहा! अखण्डानन्द प्रभु त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव की अपेक्षा से तो वे सब अजीव हैं। आहाहा! वास्तव में तो क्षायिक और क्षयोपशमभाव पर्याय है, वह त्रिकाली की अपेक्षा से अजीव है। व्यवहार जीव हुआ न! इसलिए निश्चय से अजीव। आहाहा! वाह, प्रभु वाह! क्या इनकी शैली!! आहाहा! है तो इसके परिणमते इसके काल में वे अजीव, उसमें हैं वे तो; परन्तु यहाँ भगवान त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप प्रभु को एक समय का ऐसा सम्बन्ध है न? एक समय की स्थिति से वहाँ टिका है न? एक समय, इतनी अपेक्षा से उसे व्यवहार है। आहाहा!

श्रोता : पंचास्तिकाय में इन्हें संयोग-वियोग कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सम्बन्ध है न इतना! एक समय रहता है न! क्षयोपशमभाव, भेदभाव भी एक समय पर्याय में रहते हैं। त्रिकाल में नहीं, इसलिए निश्चय से (नहीं) परन्तु एक समय ऐसा सम्बन्ध है, इतना गिनकर व्यवहार से इसके कहे हैं। आहाहा! अरे! ऐसा तत्त्व सुनने को नहीं मिलता, आहाहा! और बाहर आया तो इसका विरोध करते हैं, प्रभु! परन्तु क्या हो? भाई! आहाहा! दुनिया को ऐसे व्यवहार से होता है (ऐसा कहे) तो उसे मजा आये। अरे प्रभु! आहाहा! व्यवहार— ***यह क्षायिकभाव है, वह व्यवहार है। आहाहा! पर्यायमात्र व्यवहार है, भाई! इस व्यवहार से निश्चय हो, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा!***

भगवान पंचम भाव की भावना... पाठ तो ऐसा लिया है न? भाई! क्षायिक, उपशम, आदि चार भाव आवरणसंयुक्त होने से जीव के नहीं हैं। फिर कहा कि इसलिए... आहा! पंचम भाव की भावना से मोक्ष प्राप्त करते हैं, चार भाव से मोक्ष प्राप्त नहीं करते। आहाहा! मोक्ष की पर्याय, मोक्ष की पर्याय से प्राप्त नहीं करते। आहाहा! यह तो पंचम भाव जो भगवान ज्ञायक प्रभु वीतरागमूर्ति एकरूप अभेद वस्तु की भावना—पंचम भाव की भावना! भावना है तो उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक परन्तु भावना उसकी (स्वभाव की)। भावना की भावना नहीं! आहाहा! ऐसी बातें हैं।

एक ओर कहते हैं कि ये चार भाव जीव के नहीं। दूसरी ओर कहते हैं कि पंचम भाव की भावना से मुक्ति होती है। यह भावना है तो क्षयोपशम, उपशम परन्तु इसकी (त्रिकाली की) भावना है; पर्याय की भावना नहीं। ***आहाहा! अरे रे! जिन्दगी जाती है, शरीर चला जाता है, गति बदल जाती है। उसमें यह बात नहीं समझे तो... बापू! ये सब करोड़पति और अरबोंपति, बापू! मरकर कहाँ जायेंगे? आहाहा! आहाहा! जिन्हें ऐसा सुनने को नहीं मिलता... आहाहा! उन्हें समझने का कहाँ रहा? आहाहा!***

यहाँ कहते हैं कि पंथ का (दृष्टान्त) देकर गजब बात की है! आहाहा! लुटता है वह (संघ), परन्तु पंथ लुटता है - ऐसा उपचार से (कहा है)। क्योंकि उस पंथ में संघ की एक समय की स्थिति है न? आहा! इसी प्रकार ये सब भाव—जितना २९ बोल का घूरा कहा है न, वे सब हैं तो अजीव के, भेदभाव हैं, वे अजीव हैं। अरे रे! जीवद्रव्य नहीं, इस अपेक्षा से अजीव। एक समय की पर्याय है, वह जीवद्रव्य नहीं। पूरा जीवद्रव्य नहीं, इससे एक समय की पर्याय को भी जीवद्रव्य नहीं, अजीव है - ऐसा कहा। दूसरी भाषा से उसे परद्रव्य कहा। आहाहा!

यह स्वयं तो भगवान अमूर्त है और **उपयोगगुण के द्वारा अन्य द्रव्यों से अधिक है...** जानन-देखन जो त्रिकाली स्वभाव भगवान, उसकी वर्तमान अनुभूति होने पर... आहाहा! आहाहा! वे अन्य द्रव्य हैं। आहाहा! गुणस्थान के भेद, लब्धिस्थान के भेद, वे अन्य द्रव्य हैं। गजब करते हैं न! ***आहाहा! क्षायिकभाव भी अन्य द्रव्य है।*** यह द्रव्य नहीं, इसलिए अन्य द्रव्य, ऐसा। त्रिकाली जो ज्ञायकभाव भगवान पूर्णानन्द प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का पूर्ण भण्डार... आहाहा! वह क्षायिकभाव नहीं, इसलिए वह क्षायिकभाव जीवद्रव्य नहीं। आहाहा! परन्तु आत्मा की त्रिकाली चीज़ में एक समय की स्थिति-सम्बन्ध है—ऐसा देखकर व्यवहार से आत्मा का है, ऐसा कहने में आया है। आहाहा! अरे! प्रभु! सन्त और गणधर जो इसके अर्थ करते होंगे... आहाहा! अलौकिक बातें हैं, बापू! आहाहा!

इस जीव का वर्ण नहीं, गन्ध नहीं। है न? **ऐसे जीव का कोई भी वर्ण नहीं है।** गन्ध नहीं, रस नहीं, स्पर्श नहीं, रूप नहीं, शरीर, संस्थान, संहनन (नहीं)। यहाँ तक तो ठीक; ये तो पर की पर्याय, यहाँ तक तो पर की पर्याय है। अब **राग, द्वेष, मोह,...** मोह अर्थात् मिथ्यात्व। आहाहा! **प्रत्यय...** अर्थात् आस्रव। **कर्म, नोकर्म...** ये चार कहे, वे भी आत्मा के नहीं। आहाहा! कोई भी मोह, राग, द्वेष जीव के नहीं हैं। आहाहा! ये सब तो अजीव के हैं।

कर्म, नोकर्म, वर्ण, वर्गणा, स्पर्धक,... ये तो जड़ के गये। अब यहाँ तो **अध्यात्म - स्थान,...** जीव के अध्यवसाय के प्रकार, वे जीव में नहीं हैं। आहाहा! एक समय की पर्याय है; इस कारण व्यवहार से इसके कहे हैं, वस्तु में वे नहीं हैं। आहाहा! **अनुभागस्थान,..** वे तो जड़ के हैं। वे (जीव के) नहीं। **योगस्थान,...** कम्पन आदि भी आत्मद्रव्य में नहीं है। कम्पन भले इसकी पर्याय में है, परन्तु द्रव्य में (नहीं)। अजीव में जाता है। **बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान,...** आहाहा! मार्गणास्थान। समकित और उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक और सब मार्गणास्थान, वे जीव में नहीं हैं। आहाहा! ऐसा कहना कि इसे खोजना हो तो किस स्थिति

में है, इसलिए मार्गणा कही। आहा! परन्तु वह तो पर्याय की मार्गणा कही। आहाहा! भले ज्ञान के पाँच भेद हों, समकित के भेद हों, सब आत्मा में नहीं हैं। अभेद में भेद नहीं है, भेद को तो यहाँ उपाधि में डाल दिया है। आहाहा!

स्थितिबंधस्थान,... कर्म की अवधि। **संक्लेशस्थान,...** अशुभभाव। वह अशुभभाव है तो जड़ का, परन्तु एक समय में ऐसे संक्लेश की पर्याय का सम्बन्ध है, ऐसा देखकर जीव का व्यवहार से कहा। आहाहा! यह गले उतरना, आत्मा में बैठना, हों! आहाहा! **विशुद्धिस्थान,...** शुभराग के प्रकार हैं, वे सब अजीव हैं परन्तु त्रिकाली जीव के साथ एक समय की ऐसी स्थिति-सम्बन्ध देखकर, एक समय की स्थिति देखकर व्यवहार से इसके कहे हैं। आहाहा!

संयमलब्धिस्थान,... आहाहा! एक समय की जो पर्याय निर्मल हुई, एक समय की देखकर इसके है, ऐसा कहा। बाकी वह स्थान जीवद्रव्य का नहीं है। आहाहा! सामने है न पुस्तक? आहाहा! यह **संयमलब्धिस्थान,...** जीव के नहीं, जीवद्रव्य के नहीं परन्तु एक समय की स्थिति देखकर व्यवहार से जीव के कहे गये हैं। आहाहा! वरना वे क्षयोपशम के भाव हैं, तथापि क्षयोपशम भी एक समय की अवधिवाला है। भगवान त्रिकाली के साथ एक समय की अवधि देखकर जीव का कहा है, बाकी जीवद्रव्य का है नहीं। आहाहा!

जीवस्थान... चौदह जीवस्थान—पर्याप्त-अपर्याप्त आया था न? एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त और अपर्याप्त, सूक्ष्म और बादर (ऐसे) चौदह बोल। वे एक समय की स्थिति देखकर इसके (जीव के कहे), बाकी वस्तु में नहीं है। आहाहा! जीवद्रव्य में नहीं, परन्तु एक समय की स्थिति देखकर व्यवहार से इसके कहे हैं। आहाहा! गजब टीका! अमृतचन्द्राचार्य की टीका... आहाहा! अमृत उड़ेला है अकेला!

गुणस्थान... चौदह (गुणस्थान) वे अजीव हैं, अजीव के हैं परन्तु जीव की एक समय की पर्याय (में देखकर इसके हैं ऐसा कहा)। परमेश्वर सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ अरिहन्तदेव जिनेश्वर परमात्मा! यह जीव के नहीं परन्तु एक समय की स्थिति देखकर व्यवहार से जीव के कहे हैं। आहाहा! अरिहन्तदेव सर्वज्ञ जिनेश्वर परमात्मा! ...ये जीव के नहीं परन्तु एक समय की स्थिति देखकर व्यवहार से जीव के कहे हैं। आहा! अब यहाँ तो शुभभाव से होता है, शुभभाव से होता है (ऐसा लोग कहते हैं)। लो! आहा! कल भाई आये थे न, मुरैनावाले, वहाँ (ऐसा कहते हैं) शुभभाव कारण है, यह शुभभाव कारण है न? अरे! प्रभु... प्रभु... प्रभु... प्रभु... वह शुभभाव है, अजीव का स्थान है, परन्तु एक समय की ऐसी पर्याय देखकर व्यवहार से कहा, उससे आत्मा का कल्याण होता (-ऐसा नहीं है)। आहाहा! कल्याण तो पर्याय के

आश्रय से नहीं होता। आहा! त्रिकाली पंचमभाव भगवान पूर्णानन्द प्रभु की भावना से कल्याण होता है। भले वह भावना क्षयोपशम, उपशम, क्षायिकरूप हो परन्तु भावना पंचम भाव त्रिकाल... त्रिकाल... त्रिकाल... ज्ञायकभाव... आहाहा! इसके आश्रय से कल्याण होता है। पर्याय के आश्रय से पर्याय में कल्याण नहीं होता। ऐसी बात कहाँ है ? आहाहा!

श्रोता : यह बात सोनगढ़ में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वीतराग के घर की बात है प्रभु, हों! आहाहा! दोनों को समझाने की विधि भी कैसी, देखो न! द्रव्य में तो नहीं परन्तु तब उसे व्यवहार से कहना क्यों ? एक समय का ऐसा इतना (सम्बन्ध) है न! आहाहा! इसलिए व्यवहार से कहा। आहाहा! अब ऐसी बात सुने (परन्तु) राजकीय व्यक्ति को बैठे किस प्रकार यह ? भाई कान्तिभाई आये थे, ऐसा कहते थे, मोरारजी देसाई निकलनेवाले हैं। अपने को उन्हें कुछ कहना या नहीं ? कहा—हमारा काम नहीं। अपने आप आवे तो भले आवें। हम यहाँ कहें नहीं कि यहाँ आओ। यह कहाँ मार्ग ? बापू! आहाहा! अरे! जैन के बाड़ा में पड़े, उन्हें सुनना कठिन पड़ता है। आहाहा! कठिन बात, बापू!

यह सब ही (भाव) व्यवहार से अरहन्त भगवान... आहा! स्वयं कहते हैं, ऐसा नहीं कहते... आहाहा! भगवान सर्वज्ञदेव, परमेश्वर जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है, कहते हैं। **व्यवहार से अरहन्तभगवान जीव के कहते हैं, तथापि...** ऐसा होने पर भी... आहाहा! **निश्चय से, सदा ही जिसका अमूर्त स्वभाव है...** भगवान का तो अमूर्त स्वभाव है। यह भगवान आत्मा, हों! **और जो उपयोगगुण के द्वारा अन्य से अधिक है...** इस उपयोगगुण द्वारा भेद से भी भिन्न है। आहाहा! जानन-देखन उपयोग द्वारा! वह भले जानन-देखन उपयोग त्रिकाल है परन्तु इसे वर्तमान उपयोग द्वारा इसकी ओर के जुड़ान से... आहाहा! अनुभूति से। **अन्य से अधिक है...** इस भेद से भिन्न है, राग से भिन्न है, द्वेष से भिन्न है, जीवस्थान से भिन्न, मार्गणास्थान से भिन्न है। आहाहा!

ऐसे जीव के वे सब नहीं हैं,... वे जीवद्रव्य के नहीं हैं। आहाहा! वे जीवद्रव्य में नहीं हैं। आहाहा! **क्योंकि इन वर्णादि भावों के और जीव के तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध का अभाव है।** आहाहा! क्या कहते हैं ? राग-द्वेष, गुणस्थान आदि को, जैसे उष्णता और अग्नि को तादात्म्य सम्बन्ध है, वैसे भगवान ज्ञायकस्वभाव को और इन गुणस्थान भेद को तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! एक समय की स्थिति का सम्बन्ध है, वह तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! ऐसे संयमलब्धि के स्थान जो भेद हैं, उन्हें और अभेद को तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! अब यह समयसार, एक व्यक्ति पन्द्रह दिन में पढ़ गया, बापू! भाई! आहाहा!

श्रोता : पढ़ गया न! समझ गया नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह ऐसा कहता है, मैं पढ़ गया। क्या पढ़ा? बापू! इसकी एक लाईन, एक गाथा... आहा! भगवान की दिव्यध्वनि का सार है यह! अजोड़ चक्षु है!!

क्योंकि इन वर्णादि... अथवा रंग-गन्ध को तो तादात्म्य सम्बन्ध नहीं, वैसे राग-द्वेष के परिणाम और जीवद्रव्य को तादात्म्य सम्बन्ध नहीं। तत्-सम्बन्ध। परन्तु लब्धिस्थान आदि जो भाव पर्याय में इन्हें, और आत्मा को त्रिकाली तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, एक समय की पर्याय का अनित्य सम्बन्ध है। आहाहा! **तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध का अभाव है।** भगवान ज्ञायकभाव की जो अभेद अनुभूति, उसमें वे नहीं आते। आहाहा! इसलिए उन्हें तादात्म्य सम्बन्ध लक्षण का अभाव है। आहाहा! तादात्म्य सम्बन्ध होवे तो अनुभूति में भी आना चाहिए। आहाहा! आनन्द को और भगवान को तादात्म्य सम्बन्ध है, ज्ञान को और भगवान आत्मा को तादात्म्य सम्बन्ध है कि जिससे अनुभूति में वे ज्ञान और आनन्द आते हैं। आहाहा! समझ में आया?

यह तो ५६ में नहीं कहा? रुई का दृष्टान्त देकर। दृष्टान्त पाठ में नहीं था, टीका में कहा और पाठ में तो ५७ गाथा में आया क्षीर और पानी, दूध और पानी एक जगह रहने पर भी दोनों के भाव भिन्न हैं। इसी प्रकार भगवान आत्मा और यह गुणस्थान आदि और यह लब्धिस्थान आदि एक क्षेत्र में रहने पर भी भाव भिन्न है। आहाहा! अब यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि व्यवहार है—साधक जीव को व्यवहार ही होता है। यह व्यवहार ही होता है? यह व्यवहार तो ज्ञायक का भान होकर, है, उसे जानने के लिये कहा। आहाहा! उसके बदले (ऐसा कहे कि) साधक को व्यवहार ही होता है, निश्चय तो सिद्ध को (होता है)। अरे... प्रभु! क्या किया यह तूने? अरे!

भावार्थ - ये वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यन्त भाव... (उनतीस) **सिद्धान्त में जीव के कहे हैं, वे व्यवहारनय से कहे हैं,...** एक समय की पर्याय का सम्बन्ध देखकर। **निश्चयनय से वे जीव के नहीं हैं,...** द्रव्यस्वभाव में वे नहीं हैं। **क्योंकि जीव तो परमार्थ से उपयोगस्वरूप है।** वह तो ज्ञान-दर्शन के उपयोगस्वरूप है, उसमें भेद कहाँ से आये? आहाहा! उसमें ये गुणस्थान और जीवस्थान और मार्गणास्थान कहाँ से आये? कहते हैं। आहा! गजब टीका की है न। कुन्दकुन्दाचार्य! कुन्दकुन्दाचार्य ने महान, गहन, गम्भीर गाथा (रची है)। इसका टीकाकार ने स्पष्ट किया, तब वे कहते हैं कि 'दुरुह' कर डाला। भगवान.. भगवान.. भगवान..! प्रभु.. प्रभु! तू क्या करता है? भाई! वे आचार्य हैं। समर्थ आचार्य परमेष्ठी हैं। कुन्दकुन्दाचार्य के कथनों को परमेष्ठी ने स्पष्ट किया है, उन्हें ऐसा नहीं कहा जाता। उन्होंने

'दुरुह' कर डाला, प्रभु! ऐसा नहीं कहा जाता। उन्होंने स्पष्ट कर दिया है, ऐसा कहा जाता है। आहा! प्रभु, प्रभु! क्या करता है ? भाई! आहाहा! आहाहा! यह दुनिया मान और सम्मान और ऐसा, हा... हो... (करे) बापू! पड़े रहोगे, भाई! आहा! यह शल्य लेकर जो पड़ा है, वह चला जायेगा अन्दर से! आहाहा! दुनिया महिमा करे, दुनिया माने कि आहा... आहा... आहा...! वह कोई साथ नहीं आयेगा वहाँ। आहाहा!

श्रोता : आचार्य ने उपकार माना है कि आप महाविदेह जाकर ऐसा न लाये होते तो हम कहाँ से पाते ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न, कहा न! देवसेनाचार्य (ने कहा)। अहो! भगवान के पास कुन्दकुन्दाचार्य न गये होते तो हम मुनिपना कैसे पाते ? आहाहा! यह शैली... अनुभव और चारित्र तो था परन्तु वहाँ भगवान के पास साक्षात् गये। आहाहा! भले क्षायिक न हुआ परन्तु अप्रतिहत सम्यग्दर्शन-ज्ञान हो गया। आहाहा! उनके वे सम्यग्दर्शन-ज्ञान से आगे जाकर केवल (ज्ञान) प्राप्त करेंगे।

यह यहाँ कहते हैं, अरहन्तदेवों ने व्यवहार से कहा है। **यहाँ ऐसा जानना कि — पहले व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा था...** ग्यारह गाथा में झूठा कहा था। **सो वहाँ ऐसा न समझना कि वह सर्वथा असत्यार्थ है,...** यह पर्याय नहीं ही, गुणस्थान नहीं ही, पर्याय में नहीं ही – ऐसा नहीं जानना। पर्याय असत्यार्थ कही कि वह तो त्रिकाल की अपेक्षा से उसे असत्यार्थ कहकर गौण करके असत्यार्थ कहा। आहाहा! पर्याय में भेद गुणस्थान आदि की पर्याय है। व्यवहार झूठा है, अर्थात् वह तो त्रिकाल की अपेक्षा से उसे झूठा कहा परन्तु वर्तमान की अपेक्षा से व्यवहार है, सत्य है। आहा! है अर्थात् सत्य, हों! आश्रय करनेयोग्य है, यह प्रश्न यहाँ नहीं। आहा!

वहाँ ऐसा नहीं समझना कि सर्वथा झूठा ही है, पर्याय है ही नहीं। गुणस्थान और ये सब पर्याय में है ही नहीं – ऐसा नहीं समझना। **कथंचित् असत्यार्थ जानना; क्योंकि जब एक द्रव्य को भिन्न, पर्यायों से अभेदरूप,...** आहाहा! **उसके असाधारण गुणमात्र को प्रधान करके...** त्रिकाली गुण को मुख्य गिनकर। **कहा जाता है, तब परस्पर द्रव्यों का निमित्तनैमित्तिकभाव...** निमित्तनैमित्तिकभाव रागादि, भेद आदि **तथा निमित्त से होनेवाले पर्यायें - वे सब गौण हो जाते हैं,...** गौण हो जाती है, अभाव हो जाती है – ऐसा नहीं; नहीं – ऐसा नहीं। आहाहा! गौण होकर उन्हें झूठा कहा है। आहाहा!

देखो! वहाँ लिया था न भाई! पर्याय को अभूतार्थ कहा, वह तो गौण करके कहा। ग्यारह (गाथा) में अर्थ लिया था। वह ये ही (अर्थ करनेवाले) पण्डित जयचन्द (हैं)।

आहाहा! वेदान्त की तरह पर्याय नहीं, जीव में नहीं, द्रव्य में (नहीं); इसलिए पर्याय में पर्याय नहीं – ऐसा नहीं है। आहाहा! **पर्यायों से अभेदरूप,...** पर से भिन्न और **उसके असाधारण गुणमात्र...** (अर्थात्) त्रिकाली उपयोग। **प्रधान करके कहा जाता है, तब परस्पर द्रव्यों का निमित्तनैमित्तिकभाव तथा निमित्त से होनेवाले पर्यायें - वे सब गौण हो जाते हैं,...** अभाव हो जाते हैं – ऐसा नहीं; गौण हो जाते हैं। **वे एक अभेदद्रव्य की दृष्टि में वे...** आहाहा! ज्ञायकभाव के अनुभव की अभेददृष्टि में **वे प्रतिभासित नहीं होते,...** यह आ गया न? (३७) कलश आ गया है। **'नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात्।'** अभेद चैतन्यवस्तु का अनुभव होने पर, उसमें—अभेद में वे भेद दिखायी नहीं देते। आहाहा!

इसलिए वे सब उस द्रव्य में नहीं हैं। इस प्रकार कथंचित् निषेध किया जाता है। पर्याय नहीं है – ऐसा नहीं है। अभेद में भेद दिखायी नहीं देता, इस अपेक्षा से उन्हें कथंचित् निषेध किया जाता है। **यदि उन भावों को उस द्रव्य में कहा जाये...** पर्याय अपेक्षा से, पर्याय अपेक्षा से, **तो वह व्यवहारनय से कहा जा सकता है...** आहाहा! गुणस्थान, जीवस्थान, मार्गणा, भेदस्थान व्यवहार से इसमें (जीव में) कहे जाते हैं। यह व्यवहार से.. असत्यार्थ कहा था परन्तु व्यवहार से सत्यार्थ इतनी स्थिति है – ऐसा कहा जाता है। आहाहा! **ऐसा नयविभाग है।** व्यवहार की और निश्चयनय की विभाजन की यह अविरोधता है।

विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

६

श्री समयसार, गाथा २३ से २५, प्रवचन ८५
दिनांक १३-०९-१९७८

(दशलक्षण धर्म का) आठवाँ दिन है त्याग.... त्याग (धर्म)

जो चयदि मिट्ठभोज्जं, उवयरणं रायदोससंजणयं।
वसदिं ममत्तहेदुं, चायगुणो सो हवे तस्स॥४०१॥

मुनि की व्याख्या है। जिन्हें अपना आत्मा ज्ञानस्वरूपी आनन्द का अन्तर अनुभव हुआ हो, तदुपरान्त स्वरूप में प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया हो, उन मुनि की बात है, उन मुनि को त्यागधर्म है। त्याग की व्याख्या - मुनि को संसार, देह, भोग के ममत्व का त्याग है ही; अब, जिस वस्तु के साथ वर्तमान में काम पड़ता है, वह भोजन। भोजन में इष्ट भोजन को छोड़ते हैं। आहाहा! आत्मा के आनन्द के स्वाद के समक्ष इष्ट भोजन भी छोड़ देते हैं। अतीन्द्रिय आनन्द के... आहाहा! अनुभव और वेदन के समक्ष मुनि, प्रिय भोजन-इष्ट भोजन छोड़ देते हैं, उसका नाम त्याग है।

उपकरण के सम्बन्ध में उसमें राग-द्वेष का त्याग, जो उपकरण मिले हैं उनमें राग - द्वेष का (त्याग)। अनुकूल है — ऐसा नहीं रखते या जिसमें राग हो, और.... आहार, उपकरण, वस्ती, तीन के साथ सम्बन्ध, तीनों में राग का त्याग करते हैं। आहाहा! ममत्व का हेतु बड़ी बस्ती, मकान आदि हो तो आनन्द के स्वाद के आगे उसकी कोई कीमत नहीं है, वह बस्ती छोड़ दे उसका नाम त्यागधर्म कहा जाता है। त्याग अर्थात् यह बाह्य स्त्री, कुटुम्ब, परिवार का त्याग, वह तो है ही। संसार भोग, देह के ममत्व का त्याग तो है ही। उसकी बात है। आहाहा!

बस्ती, भोजन, और उपकरण — तीन के साथ सम्बन्ध है — तीन। तो इनके प्रति ममत्व की वृत्ति का (त्याग करते हैं)। आनन्द का स्वाद लेकर, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद... आहाहा! अनुभव में विशेष सुख का स्वाद आता है तो वह बस्ती छोड़ देते हैं। आहाहा! इसका नाम त्याग है। वह आठवाँ दिन है। आज ? बुधवार, बुधवार से।

यहाँ यह गाथा आयी। कहाँ तक आया ? अप्रतिबुद्ध... **महा अज्ञान से जिसका हृदय**

स्वयं अपने से ही विमोहित है — ऐसा अप्रतिबुद्ध... है ? पाँचवीं लाइन है। क्या कहते हैं ? जैसे स्फटिक में... स्फटिक निर्मल होने पर भी, संयोग आदि में अथवा जिस चीज में स्फटिक रखा हो, उसकी झाँईं अन्दर पड़ती है। पीतल का बर्तन हो तो उसकी झाँईं पड़ती है, वह उपाधि है; उसी प्रकार भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप स्फटिक जैसा है, उसमें राग और पुण्य-पाप के भाव की झाँईं — उपाधि दिखती है। आहाहा! वह अस्वभावभाव है, शुभ-अशुभभाव.... आहाहा! वह अस्वभावभाव है, वह स्वभावभाव रहित है, उसे अपना मानकर अज्ञानी, अस्वभावभाव को अपना मानता है और वेदन करता है। आहाहा! परन्तु अपना आत्मा क्या है — उसका ज्ञानी को ज्ञान है; अज्ञानी को उसका पता नहीं है। आहाहा!

राग है परन्तु राग को जाननेवाला आत्मा भिन्न है — ऐसा ज्ञानी को ज्ञान है, अज्ञानी को पता नहीं। आहाहा! राग है, बहुत सूक्ष्म बात बापू! राग है, चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति का राग हो तो वह शुभराग है, अस्वभावभाव है परन्तु उसे जाननेवाला यह है, ऐसा जानता कौन है ? किसकी सत्ता में यह राग है — ऐसा ज्ञात होता है ? समझ में आया ? ज्ञान की सत्ता में वह राग, ज्ञात होता है। आहाहा! यह स्वभावभाव मैं हूँ — ऐसा अज्ञानी नहीं मानकर, यह दया, दान का विकल्प - राग आया, वह उपाधि है, वह अस्वभावभाव है, वह विभावभाव है... आहाहा! उसे अपना मानता है, अज्ञानी उसे अपना मानता है। है ?

हृदय स्वयं अपने से ही विमोहित है — ऐसा अप्रतिबुद्ध जीव स्व-पर का भेद नहीं करके.... आहाहा! यह राग और स्वभाव भिन्न है — ऐसा दो का भेदज्ञान अज्ञानी नहीं करता। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, बापू! आहाहा! **उन अस्वभावभावों को ही....** ये पुण्य-पाप के विकल्प, राग, उससे स्व का भेद नहीं करके, अस्वभावभावों को ही... है ? आहाहा! **(अपना स्वभाव नहीं ऐसे विभावों को ही) अपना करता हुआ....** आहाहा! जानने-देखनेवाला भगवान ये स्वभावभाव से राग भिन्न है, और राग अस्वभावभाव से स्वभाव भिन्न है। आहाहा! ऐसा अनन्त बार मुनिपना लिया, द्रव्यलिङ्गी साधु हुआ परन्तु राग और आत्मा दोनों को एक मानकर, अस्वभावभाव में अपना लाभ मानकर मिथ्यादृष्टि रहा। आहाहा! समझ में आया ? ऐसा कठिन काम है, भाई!

पुद्गलद्रव्य ही मेरा है.... ***यह रागादि पुद्गलद्रव्य है; वास्तव में आत्मद्रव्य नहीं है। आहाहा! चाहे तो वह शुभराग हो परन्तु वह राग, पुद्गल-जड़ है; चैतन्य नहीं।*** क्योंकि वह राग जानता नहीं है। राग जानता नहीं है; राग, ज्ञान द्वारा जानने में आता है; इसलिए राग पुद्गल

और अचेतन है; भगवान उससे भिन्न हैं। आहाहा! परन्तु उसका इसे पता नहीं है, स्व और पर की भिन्नता का भान नहीं है; इसलिए पर को अपना भाव मानता है। है ? आहाहा! **यह मेरा है; इस प्रकार अनुभव करता है।**

कोष्टक में **(जैसे स्फटिक पाषाण में अनेक प्रकार के वर्णों की निकटता से अनेक वर्णरूपता दिखायी देती है....)** स्फटिक में ऐसा दिखाई देता है। **(स्फटिक का निज श्वेत निर्मल भाव दिखायी नहीं देता....)** आहाहा! स्फटिक जिस बर्तन में रखा हो, उसकी झाँईं दिखायी देती है, उसे अज्ञानी स्फटिक मानते हैं। इसी प्रकार **अज्ञानी को कर्म की उपाधि से आत्मा का शुद्ध स्वभाव आच्छादित हो रहा है....** आहा...हा...! ये पुण्य और पाप के विकल्प का राग — चाहे तो दया का राग हो, चाहे तो भक्ति का राग हो... आहाहा! परन्तु उस राग — अस्वभावभाव को अपना मानकर... आहाहा! **शुद्धस्वभाव आच्छादित हो रहा है....** राग को अपना मानने से, राग को जाननेवाला भगवान ज्ञानस्वरूप आच्छादित-ढँक रहा है। आहाहा! राग की प्रीति के प्रेम में ज्ञानस्वरूपी भगवान ढँक गया है। अरे...अरे...! ऐसी बातें हैं। आहा!

जैसे लाल-पीला आदि बर्तन हो, उसमें स्फटिक रखने से उसमें उसकी उपाधि दिखती है तो उसे निर्मल स्वभाव नहीं दिखता; इसी प्रकार अज्ञानी, अपना चैतन्य ज्ञान-स्वभाव प्रभु है, उसे राग की उपाधि से अपना मानकर, उसे स्वच्छता का ज्ञान नहीं होता, आहाहा! **कर्म की उपाधि से....** अर्थात् रागादि। **आत्मा का शुद्ध स्वभाव आच्छादित हो रहा है....** दिखायी नहीं देता। राग को ही देखनेवाले को... आहाहा! राग को ही जाननेवाला वहाँ ढँक गया, उसे राग ही रह गया, आहाहा! मैं तो राग हूँ — ऐसा अज्ञानी को राग की उपाधि से ज्ञानस्वभाव ढँक गया, तिरोभूत हो गया, दृष्टि में नहीं रहा। आहाहा!

(इसलिए पुद्गलद्रव्य को अपना मानता है...) आहाहा! भगवान ज्ञान-चैतन्य चमत्कार, आनन्दकन्द प्रभु, राग के प्रेम में, अस्वभावभाव की एकत्वबुद्धि में स्वभावभाव ढँक गया तो वह स्वभावभाव दिखायी नहीं देता; अकेला राग ही दिखायी देता है। आहाहा! ऐसी बातें अब! यह समयग्दर्शन होने की रीति है। आहाहा! **ऐसे अज्ञानी को अब समझाया जा रहा है कि....** देखो, यह समयसार अज्ञानी को समझाया जा रहा है। अप्रतिबुद्ध को यह समझाया जा रहा है। आहाहा!

रे दुरात्मन्!... आहाहा! सन्तों की करुणा है, करुणा, हों! आहाहा! प्रभु! तू राग और

पुण्य का जो परिणाम है, वह पुद्गल है, उसे अपना मानता है, हे दुरात्मन! हे दुष्ट आत्मा! आहाहा! सन्तों की करुणा है, अरे... ! तू क्या मानता है ? भाई! आहाहा! तेरी चीज इस राग के विकल्प से महाचैतन्य चमत्कार भिन्न पड़ी है न! आहाहा! उसे तो तू मानता नहीं, जानता नहीं और जो तेरी चीज में नहीं — ऐसे रागादि पुद्गल को अपना मानता है, दुरात्मन्! तेरी दृष्टि मूढ़ है। आहाहा!

राग में सुखबुद्धि होती है तो आनन्दकन्द का नाथ वहाँ ढँक गया। आहाहा! यह राग के विकल्प में ठीक है, सुख है, मजा है, ऐसा माननेवाले ने राग, पुद्गल है उसे अपना माना। राग से (भिन्न) आनन्दस्वरूप भगवान में आनन्द है, आत्मा आनन्दस्वरूप है — ऐसा हे दुरात्मन्! तूने नहीं माना। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें! अभी तो सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन की बात चलती है। मुनिपना, बापू! यह तो कोई अलौकिक वस्तु है। क्या हो ? समझ में आया ? यहाँ तो भगवान अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान की चमत्कारी वस्तु है, उसे राग की उपाधि में राग को ही अपना मानकर चैतन्य-चमत्कार, राग से भिन्न है, उसे छोड़ देता है। जो स्वभावभाव है, उसे नहीं मानता; अस्वभावभाव है, उसे मानता है। आहाहा!

दूसरे प्रकार से कहें तो यह राग है वह पुद्गल-अजीव है। अजीवभाव में आत्मा रुककर, त्रिकाली ज्ञान-जीवस्वभाव उसे ढँक गया। आहाहा! ऐसी बातें अब, लो! पहले तो 'दया वह सुख की बेलड़ी, दया वह सुख की खान, अनन्त जीव मुक्ति गये....' पहाड़े बोलता है, किसकी दया ? आहाहा! पर की दया का भाव तो राग है और राग को देखनेवाला पुद्गल को देखता है। आहाहा! भगवान की भक्ति भी राग है, शास्त्र की भक्ति भी राग है और तू राग को देखता है तो उस पुद्गल को ही तू देखता है, उस अजीव को तू देखता है और अस्वभावभाव है, वही मेरा है — ऐसा तू मानता है। आहाहा! कठिन बात, आहाहा!

श्रोता : राग में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वर्ण, गन्ध नहीं परन्तु अचेतन है। चैतन्य-चमत्कार ज्ञानस्वरूप भगवान की किरण राग में नहीं है; इस कारण राग को अचेतन और पुद्गल कहा गया है। आहाहा! चाहे तो पंच महाव्रत का राग-विकल्प हो तो भी वह अचेतन है। चैतन्यप्रकाश की मूर्ति भगवान सूर्य की किरण उसमें नहीं है। वह चैतन्यरूपी सूर्य की किरण राग में नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। इस कारण राग को अचेतन कहकर पुद्गल कहा है। आहाहा! यह श्रवण में भी जो राग उत्पन्न होता है, वह राग पुद्गल है। आहाहा! क्योंकि चैतन्यस्वभाव का

उसमें अभाव है, आहाहा! ऐसे पुद्गल को अपना मानकर अज्ञानी अपना स्वरूप, राग है — ऐसा मानता है। हे दुरात्मन! आहाहा! सन्तों की कड़क भाषा नहीं (परन्तु) करुणा है। आहाहा!

अरे भगवान! यह दया, दान, व्रत, भक्ति का राग तो पुद्गल है। अरर! यह बात! पंच महाव्रत का विकल्प, राग है, आहाहा! वह पुद्गल है। हे दुरात्मन्! तू पुद्गल को अपना क्यों मानता है? आहाहा! पैसे-बैसे की बात तो कहाँ रह गयी! वह तो धूल कहाँ (रह गयी)। उसे अपनी माने वह तो महामूढ़ है, महामूढ़! आहाहा! यहाँ तो परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव कहते हैं, उसे सन्त, आड़तिया होकर जगत को प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! वीतरागी दिगम्बर सन्त हैं, आहाहा! आनन्द और आनन्द की वीतराग दशा में झूलते-झूलते सन्तों को करुणा से विकल्प आया। आहाहा!

ऐसे एक ओर 'भगवान आत्मा' ऐसा कहे और यहाँ 'दुरात्मन्' ऐसा कहा। ७२ गाथा में ऐसा कहा कि यह पुण्य और पापभाव प्रभु! अशुचि है, मैल है, नाक की गन्दगी-मैल है, यह मैल है, अचेतन है, जड़ है। भगवान-ऐसा शब्द लिया है। भगवान! तू तो निर्मल आनन्द ज्ञानस्वरूप है न! प्रभु! आहाहा! समझ में आया? यहाँ राग को पुद्गलरूप से गिनकर (अजीव का कहा) और अज्ञानी अपने आत्मा का है — ऐसा मानता है। गिना किसने? ज्ञानियों ने (पुद्गलरूप से) गिनकर... आहाहा! (अज्ञानी) उस राग को अपना मानता है और वह राग करते-करते कल्याण होगा (ऐसा मानता है)। आहाहा! यह पंच महाव्रत पालते-पालते, व्यवहार रत्नत्रय करते-करते (कल्याण मानता है)। पुद्गल करते-करते पुद्गल से चैतन्य जागृत होगा (— ऐसा मानता है)। आहाहा!

हे दुरात्मन्!... आहाहा! क्योंकि राग को अपना मानता है, यह तेरा आत्मा दुरात्मा है। आहाहा! **आत्मघात करनेवाले!....** आत्मघात करनेवाले, आहाहा! यह राग का कण-विकल्प, वृत्ति उत्पन्न हुई — दया, दान, व्रत, भक्ति के राग की वृत्ति को अपनी मानकर आत्मघाती है। तू आत्मा का घात करनेवाला है, प्रभु! आहाहा! ऐसी तो दिगम्बर सन्त करुणा से बात करते हैं। आहाहा! जंगलवासी सन्त, सिद्ध के साथ बातें करनेवाले (हैं, वे) जगत् के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्यदेव भगवान के पास गये थे। संवत् ४९, दो हजार वर्ष पहले (गये थे) भगवान तो विराजमान हैं, अभी पाँच सौ धनुष की देह है। आहाहा! वहाँ आठ दिन रहे और वहाँ श्रुतकेवली के पास चर्चा करके कितना ही समाधान हुआ। यहाँ आये और तत्पश्चात् यह शास्त्र बनाये। आहाहा! तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान। सीम-

अपनी मर्यादा में–आनन्द में–वीतरागस्वभाव में (रहनेवाले), उन सीमन्धर भगवान की पाँच सौ धनुष की देह है, करोड़ पूर्व की आयु है। श्वेताम्बर में चौरासी लाख पूर्व की आयु कहते हैं — ऐसा नहीं है, करोड़ पूर्व की आयु है। श्वेताम्बर ने सब बातें बहुत कल्पित कर डाली है। क्या कहें ? अरेरे!

श्रोता : उन्हें सहारा देनेवाले मिले।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो सब अज्ञानी हो तो इकट्ठे मिलते ही है न! आहाहा! करोड़पूर्व की प्रभु की आयु है। समवसरण में विराजमान हैं। आहाहा! वहाँ आठ दिन रहे थे, वहाँ से आकर यह बनाया, फिर एक हजार वर्ष बाद अमृतचन्द्राचार्यदेव हुए, उनकी यह टीका है। आहाहा!

हे आत्मघाती! आहाहा! भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूपी प्रभु है। ऐसे स्वभाववान को नहीं माननेवाला और अस्वभाव राग, पुद्गल है (उसे अपना) माननेवाला आत्मघाती है। तूने आत्मा के शुद्धस्वभाव का अनादर किया है। यह तूने आत्मा का घात किया है। युगलजी! ऐसी बात है। आहाहा! चाहे तो शास्त्र श्रवण का राग हो... आहाहा! शास्त्र कहने का विकल्प हो परन्तु वह राग, पुद्गल है। आहाहा! प्रभु! उसमें चैतन्य के नूर के तेज का प्रवाह नहीं आया। आहाहा! सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र में शुद्ध चैतन्य का प्रवाह आता है। आहाहा! राग और दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि भाव या हिंसा, झूठ, चोरी, विषय–भोग, वासना के भाव में भगवान चैतन्य का रस अंश भी नहीं आया। आहाहा! जिसमें अचेतनपना, पुद्गलपना है, उसे प्रभु! तूने अपना माना है तो तू आत्मघाती है, प्रभु! आहाहा!

श्रोता : स्वभाव और अस्वभाव की स्पष्टता अभी होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सत्य। ऐसी (बात है) बापू! भाई, क्या हो ? आहाहा!

निर्मलानन्द चैतन्यस्वरूप स्व–पर प्रकाशक स्वभाव का सागर प्रभु है — ऐसे अपने स्वरूप को नहीं मानकर, उससे विपरीत रागादि जो पुद्गल–अचेतन–जड़ है, उन्हें अपना मानकर वहाँ रुक गया (तो तू) आत्मघाती हुआ। आहाहा! भगवान चैतन्यमूर्ति निर्मलानन्द प्रभु श्रद्धा में आना रह गया। रागादि मैं हूँ यह (श्रद्धा) तूने की। क्रियाकाण्ड में सामायिक और प्रौषध और प्रतिक्रमण करता है, वह राग है, राग है। सामायिक (कैसी) ? समकित दृष्टि बिना सामायिक कैसी ? आहाहा! बहुत कठिन काम, सामायिक करूँ और प्रौषध करूँ और प्रतिक्रमण करूँ, यह सब तो विकल्प–राग है, वह पुद्गल है। उस पुद्गल को अपना माननेवाला

चैतन्य आनन्द के नाथ का घात कर डालता है। वह नहीं, मैं यह हूँ। आहाहा! ऐसी बात है।

आहाहा! सन्तों की करुणा तो देखो! हे दुरात्मन्! राग की वृत्ति उत्पन्न हुई, ज्ञानानन्दस्वभाव में राग नहीं है, वह राग आया कि दया पालूँ और यह करूँ और वह करूँ, वह वृत्ति उपाधि है। आहाहा! वह पुद्गल है, अचेतन है, अजीव है, जड़ है, मैल है, दु:ख है। आहाहा! उसे तू अपना मानता है और भगवान चैतन्य आनन्दकन्द प्रभु का अनादर करता है तो विद्यमान चीज को तूने अविद्यमान कर डाली और अविद्यमान चीज को तूने विद्यमान कर डाली। रागादि अविद्यमान चीज है, वास्तव में अन्दर नहीं है। समझ में आया? उनका सत्पना तूने स्वीकार किया तो भगवान सत्स्वरूप त्रिकाल का तूने अनादर कर डाला। आहाहा! बहुत कठिन काम! दुनिया को अभी यह मिलना बहुत कठिन! बस! आठ दिन, दस दिन हो आठ अपवास करे, उसमें रात्रिभोजन त्याग करे (तो) ओहोहो! गजब किया! महीने के अपवास (करे) महीने-महीने के अपवास! थे कब उपवास? तेरा लंघन है। वह तो क्रियाकाण्ड का राग मन्द किया हो तो पुण्य है। मान के लिए करे और यह अपवास करेंगे तो.... क्या कहलाता है वह? उच्छामणी करे, आहाहा! फिर पाँच-पच्चीस हजार खर्च करे तो अपना मान रहे.... बहू ने बहुत अच्छी तपस्या की थी (यह भाव) तो पाप है। कदाचित् राग मन्द किया हो तो वह पुण्य है, पुद्गल है, राग है; वह धर्म नहीं। आहाहा!

रे दुरात्मन्! आत्मघात करनेवाले!.... आहाहा! महाप्रभु चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा चैतन्य चमत्कार के अस्तित्व का तो तूने घात कर दिया, प्रभु! आहाहा! और राग को तूने जीवित रखा, वह तेरा जीवन हो गया; पुद्गल में तेरा जीवन हो गया। **जैसे परम अविवेकपूर्वक....** भाषा देखो! **जैसे परम अविवेकपूर्वक खानेवाले हाथी....** हाथी आदि पशु। हाथी को चूरमा देते हैं न? साथ में घास हो, घास; चूरमा के साथ घास हो, वह **हाथी आदि पशु सुन्दर आहार को तृणसहित खा जाते हैं....** आहाहा! वह सुन्दर आहार चूरमा हो, उसे घास के साथ खा जाते हैं परन्तु घास और चूरमा भिन्न है, इसका पता नहीं है। आहाहा! पडसा होता है न? हमारी काठियावाड़ी भाषा है। पडसा समझे? काशीफल, पडसा होता है। इतना-इतना चौड़ा होता है, उसमें चूरमा या रोटी या लड्डू डालकर (दें फिर) खाता है। आहाहा!

परम अविवेकपूर्वक खानेवाले हाथी आदि पशु सुन्दर आहार को तृणसहित खा जाते हैं.... आहाहा! उस तृणसहित चूरमा को खा जाते हैं। **उसी प्रकार खाने के स्वभाव को तू छोड़,....** आहाहा! राग मेरा है — ऐसा अनुभव छोड़। आहाहा! जीव अधिकार है न?

इस राग को अजीव में — पुद्गल में डाल दिया है। आहाहा! यहाँ तो अभी व्यवहाररत्नत्रय अच्छा करे तो निश्चय पाये, पहुँच सके (ऐसा मानते हैं)। अरे...! प्रभु! यह तू क्या करता है? भगवान के विरह में तूने क्या किया? प्रभु! लोक को प्रसन्न रखकर यह तूने क्या किया? लोग प्रसन्न हों कि आहाहा! देखा? व्यवहार से भी निश्चय प्राप्त होता है, एकान्त निश्चय से ही निश्चय प्राप्त होता है — ऐसा नहीं। वे सुननेवाले, आहाहा! सुननेवाले को और कहनेवाले को कुछ पता नहीं होता। आहाहा!

श्रोता : दृष्टान्त दीजिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टान्त कहा न यह! दूसरे को ऐसा कहते हैं — तू यह दया, दान, व्रत के परिणाम करता है तो तेरा कल्याण होगा, इससे तुझे सम्यग्दर्शन होगा। आहाहा! पुद्गल खाते-खाते तुझे आत्मा का आनन्द होगा... जहर खाते-खाते तुझे अमृत की डकार आयेगी! आहाहा! भाई! मार्ग बहुत अलौकिक है! सच्चिदानन्द प्रभु, जिसमें प्रभु में-आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द ठसाठस भरा है, भाई! तुझे पता नहीं। अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर सागर प्रभु पूरा है, उसे तू नहीं मानकर, राग के स्वाद में तेरी मिठास आ गयी। आहाहा! वह हाथी आदि अविवेकी (प्राणी) घास के साथ चूरमा खाता है, वैसे तू राग के साथ आत्मा का अनुभव करता है परन्तु आत्मा वैसा है नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। फिर लोग 'सोनगढ़' का कहते हैं न? कहो प्रभु! शास्त्र है तो भगवान का; यह कहीं (यहाँ का नहीं है) सोनगढ़ का एकान्त है, निश्चयाभास है... कहो प्रभु! आहाहा! बापू! तेरा पन्थ कोई अलग प्रकार का है नाथ!

यहाँ आचार्य कहते हैं **उसी प्रकार खाने के स्वभाव को तू छोड़, छोड़।...** आहाहा! यह राग मेरा है ऐसा अनुभव छोड़। आहाहा! चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का शास्त्र का (राग) आया हो, शास्त्र को वन्दन करने का भाव राग है और राग का अनुभव है, वह पुद्गल का अनुभव है। आहाहा! हे आत्मा! वह तू छोड़। आहाहा! दो बार कहा — **छोड़, छोड़।...** यह राग का अनुभव, हाथी जैसे चूरमा के साथ घास खाता है, वह तू छोड़! वैसे भगवान का राग के साथ अनुभव करता है, उस राग को छोड़, वह राग तेरी चीज नहीं है। आहाहा! राग किसे कहना यह अभी पता नहीं होता। स्त्री, पुत्र के प्रति राग करो, अमुक करो, यह राग... परन्तु दया पालना और पंच महाव्रत का भाव, वह भी राग है। आहाहा!

श्रोता : भगवान के दर्शन करने का भाव।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान के दर्शन करना, वह राग है।

श्रोता : आपका व्याख्यान सुनना वह?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह राग है श्रवण का — कहा न ? इस पुस्तक का वाँचन करना, वह विकल्प राग है। आहाहा! भाई! वह हो, परन्तु वह तू नहीं है; वह तेरी चीज नहीं है प्रभु! आहाहा! अरे! अनन्त काल से भटक रहा, बिना भान भगवान; सेव्या नहीं गुरु सन्त को, छोड़ा नहीं अभिमान। सन्त किसे कहना ? और किसे कहना ज्ञानी ? बापू! अरेरे! वन-जंगल में रण में अकेला हो वैसे अभी अकेले हो गये हैं। आहाहा!

भगवान परमात्मा ऐसा फरमाते हैं, प्रभु! तू एक बार मेरी बात सुन! आहाहा! जिसे तू धर्म मानता है — दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, वह राग है, पुद्गल है, अचेतन है, जड़ है, अजीव है। उसका अनुभव है, वह आत्मा का अनुभव है — ऐसी दृष्टि छोड़ दे। आहाहा! कठिन काम इसमें, भाई!

जिसने समस्त सन्देह,.... अब क्या कहते हैं ? भाई! प्रभु! भगवान आत्मा तो सर्वज्ञदेव ने उसे कहा है। यह राग कहीं आत्मा नहीं है। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बँधता है, वह भाव, राग है; वह आत्मा नहीं। आहाहा! लो, 'षोढस कारण भावना भाय, तीर्थंकर पद पाये', नहीं आता ? प्रसन्न-प्रसन्न हो जाता है। वह होता है समकिती को, परन्तु वह राग, पुद्गल-जड़ है। आहाहा! उससे तीर्थंकर प्रकृति का — जड़ परमाणु का बन्ध होता है। आहाहा! वह अबन्धभाव नहीं है। आहाहा!

तू भगवान आत्मा चैतन्यबिम्ब चन्द्र शीतलस्वरूप वीतरागमूर्ति शीतल शान्तस्वरूप है, उसमें अशान्त ऐसे विकल्प और राग को तू अपने अनुभव करता है, वह छोड़ दे, प्रभु! सुखी होना हो और धर्म पन्थ में जाना हो तो छोड़ दे! आहाहा! क्यों छोड़ दे ? **जिसने समस्त सन्देह, विपर्यय, अनध्यवसाय दूर कर दिये हैं....** भगवान सर्वज्ञ परमात्मा ने समस्त सन्देह, विपरीत और अनध्यवसायभाव दूर कर दिये हैं। **और जो विश्व को (समस्त वस्तुओं को) प्रकाशित करने के लिए....** आहाहा! विश्व अर्थात् समस्त वस्तु-लोक-अलोक। **प्रकाशित करने के लिए एक अद्वितीय ज्योति है,....** अजोड़ ज्योति चैतन्यभगवान सर्वज्ञ हैं। आहाहा! सर्वज्ञ अरिहन्त परमेश्वर अद्वैत ज्योति, अजोड़ ज्योति हैं। उनके जैसी दूसरी कोई ज्योति जगत में है नहीं।

ऐसे सर्वज्ञ ज्ञान से स्फुट (प्रगट) किया गया.... त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर... आहाहा! सम्पूर्ण लोक और अलोक को प्रकाशित करनेवाले ऐसे सर्वज्ञ भगवान द्वारा (प्रगट) किया गया **जो नित्य उपयोगस्वभावरूप जीवद्रव्य....** प्रभु ने तो आत्मा को उपयोगस्वरूप कहा है। जानना-देखना उपयोगस्वरूप भगवान आत्मा है। वह रागरूप किस प्रकार हो गया ?

आहाहा! सर्वज्ञ **सव्वण्हुणाणदिट्ठो** सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वर अरिहन्तदेव ने सर्वज्ञस्वभाव में जीव को उपयोगस्वरूप देखा है। जानन-देखन उपयोगी आत्मा। इस राग को भगवान ने आत्मा नहीं कहा है। आहाहा! यह तो बात-बात में अन्तर लगता है। क्या हो भाई! आहाहा!

तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं, वह यह मुनि कहते हैं। भाई! सर्वज्ञ परमेश्वर लोकालोक के प्रकाशक हैं, उन्होंने तो... आहाहा! उपयोगस्वभावरूप जीवद्रव्य कहा है। जीवद्रव्य अर्थात् भगवान आत्मा को अनन्त गुणवाला नहीं कहा परन्तु उपयोगस्वरूप आत्मा कहा है। क्योंकि अनन्त-अनन्त गुण हैं तो अनन्त-अनन्त गुण के कितने भेद इसे बतलाना? यह एक चीज महाप्रभु उपयोग जिसका लक्षण है, आहाहा! उपयोगस्वरूप भगवान आत्मा, वह जीवद्रव्य है, **उपयोगस्वभावरूप जीवद्रव्य**.... आहाहा! अनन्त गुणस्वरूप जीवद्रव्य नहीं लिया। मुख्य लक्षण बताने के लिए ऐसा कहा कि जीव भगवान तो उपयोगस्वरूप उसका स्वभाव है न! आहाहा! जानना-देखना ऐसे उपयोगस्वरूप भगवान है न! आहाहा! जीवद्रव्य को ऐसा कहा।

सव्वण्हुणाणदिट्ठो पाठ है न? यह तो पाठ है, गाथा है, देखो न **सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।** आहाहा! उसे अनन्त गुणवाला है — ऐसा नहीं कहा। आहाहा! परन्तु जानना-देखना उपयोग जो मुख्य चीज है, जो विशिष्ट लक्षण है (वैसे स्वरूप कहा); इसलिए कहा न? **उवओगलक्खणो णिच्चं** — ऐसा कहा है। यह भगवान तो जानन-देखन उपयोग लक्षणस्वरूप है। वह तेरे राग में कैसे आ गया? आहाहा! समझ में आया?

चैतन्य के अनन्त गुणस्वरूप आत्मा — ऐसा नहीं लेकर, महाप्रभु उपयोग लक्षण निश्चय-ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा को कहा है न! आहाहा! और **लक्खणो** लिया है। **उवओगलक्खणो णिच्चं सव्वण्हुणाणदिट्ठा** आहाहा! भगवान आत्मा को भगवान आत्मा ने उपयोग लक्षण देखा है, उसमें राग लक्षण और रागभाव आया कहाँ से? ऐसा कहते हैं। जानन-देखन उपयोग है न? आहाहा! दूसरे अनन्त गुण में ऐसा जानन-देखन (स्वरूप) नहीं है। आहाहा! ज्ञानप्रकाश, दर्शनप्रकाश, ऐसा जो उपयोग, उस उपयोगस्वरूप भगवान आत्मा है। भगवान ने तो ऐसा कहा है और हे दुरात्मन! तू दया, दान के राग को अपना मानता है और पुद्गल से लाभ मानता है, यह कहाँ से लाया? ऐसी बातें हैं।

जिसके प्रकाश के तेज में स्व-पर ज्ञात हो — ऐसा उपयोगस्वरूप भगवान तो है, वह परस्वरूप नहीं। आहाहा! राग तो अनुपयोग है। राग — दया, दान, व्रतादि का विकल्प है, वह

तेरा है — ऐसा मानता है (परन्तु) वह तो अनुपयोग है। आहाहा! भगवान तो जानन-देखन उपयोगस्वरूप है — ऐसा भगवान ने देखा है। भगवान ने तो ऐसा कहा है। जिन्हें तीन काल-तीन लोक का ज्ञान विश्व प्रकाशक है। विश्व अर्थात् समस्त का प्रकाशक। तीन काल-तीन लोक को एक समय में जाने — ऐसा प्रकाश (प्रगट है)। आहाहा! ऐसी चैतन्यज्योति भगवान ने तो ऐसा कहा है कि जीव तो निश्चय से उपयोग लक्षण है। उसमें तेरा राग कहाँ से आया? आहाहा! वहाँ बैंगलोर में कुछ मिले — ऐसा नहीं। धूल आवे वह धूल — पैसा। आहाहा!

नित्य उपयोगस्वभावरूप.... यह एक शब्द पड़ा है। त्रिकाल ज्ञान उपयोग, दर्शन उपयोगस्वरूप वह है। आहाहा! वह रागरूप कभी नहीं हुआ, रागरूप होता नहीं। आहाहा! उपयोगस्वरूप जीव चैतन्य, वह अजीव — रागरूप कैसे हो? जो अनुपयोग है, उपयोग नहीं। आहाहा! समझ में आया? बात कहना सूक्ष्म और कहना कि समझ में आया? समझ में आता है? बापू! यह (बात) है, भाई! आहाहा!

एक विश्व को-सर्व को प्रकाशित करनेवाले भगवान सर्वज्ञदेव **सर्वज्ञ ज्ञान से स्फुट (प्रगट) किया गया....** सर्वज्ञ ज्ञान से प्रगट किया गया। **नित्य उपयोगस्वभावरूप जीवद्रव्य....** देखो! नित्य उपयोगस्वरूप जीवद्रव्य — ऐसा भी नहीं कहा। नित्यस्वभाव — ऐसा नहीं कहा, नित्य उपयोगस्वभावरूप जीवद्रव्य (कहा है)। आहाहा! जानन-देखन उपयोगस्वभावरूप.... आहाहा! जीवद्रव्य **वह पुद्गलद्रव्य कैसे हो गया....** वह रागरूप कैसे हो गया? आहाहा! ऐसी बातें हैं। युगलजी! भगवान का यह मार्ग है, भाई! आहाहा! दुनिया फिर चाहे जो कहो — एकान्त है, निश्चयाभास है — ऐसा कहे, प्रभु! भाई! तुझे राग के प्रेम में वस्तु भिन्न है, उसका भान नहीं है। आहाहा! उसे ऐसा कि ऐसी क्रिया करते हैं, महाव्रत पालते हैं, इन्द्रिय दमन करते हैं, आजीवन ब्रह्मचर्य पालते हैं तो भी कल्याण नहीं होगा? यह सब क्रिया राग की है, सुन तो सही! यह तो राग की वृत्ति का उत्थान है। भगवान आनन्दकन्द में वह उत्थान है ही नहीं। आहाहा!

कैसी गाथा है, देखो न! आहाहा! यह पुद्गलद्रव्य कैसे होगा? जिससे तू यह अनुभव करता है कि **'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है'....** राग मेरा है। क्या हो गया तुझे? आहाहा! घास निकाल देने की चीज है, उसे चूरमा के साथ खाता है? राग पुद्गल है, उसके साथ आत्मा मेरा है — ऐसा अनुभव करता है? आहाहा! गजब है न? वास्तव में तो यह जीव-अजीव अधिकार है, इसलिए जो राग है — चाहे तो दया का, व्रत का, भक्ति-पूजा का, वह सब अजीव है, वह पुद्गल है, वह जड़ है, अचेतन है। अरर! ऐसा सुनना (कठिन पड़ता है।)

आहाहा! सर्वज्ञ भगवान ने तो ऐसा कहा है। आहाहा! तू ऐसा नया कहाँ से निकला कि यह राग की क्रिया करते-करते, अनुपयोग करते-करते उपयोग हो जायेगा! आहाहा!

आहाहा! **क्योंकि यदि किसी भी प्रकार से जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो....** किसी भी प्रकार से भगवान आनन्द और ज्ञान उपयोग, वह रागरूप हो... है? **और पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्यरूप हो....** और राग-पुद्गलद्रव्य है, वह जीवद्रव्यरूप हो... दृष्टान्त देंगे। **तभी 'नमक का पानी'....** आहाहा! नमक का पानी। नमक होता है न? गर्मी में पानी हो जाता है न? गर्मी के कारण (पानी हो जाता है)। नमक का पानी पहले लेना है। पानी का नमक बाद में लेंगे। पानी का नमक होता है, यह बाद में... यहाँ तो पहले नमक का पानी (लेते हैं)। **इस प्रकार के अनुभव की भाँति....** आहाहा! समझ में आया? दृष्टान्त बाद में विशेष आयेगा... अभी इतना बाकी है।

पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्यरूप हो तभी 'नमक का पानी' इस प्रकार के अनुभव की भाँति ऐसी अनुभूति वास्तव में ठीक हो सकती है कि 'यह पुद्गलद्रव्य मेरा है', किन्तु ऐसा तो किसी भी प्रकार से नहीं बनता। आहाहा! जैसे नमक है, वह पानी हो जाता है; वैसे भगवान चैतन्य है, वह राग हो जाता है — ऐसा कभी नहीं बनता।

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

(७) श्री समयसार कलश टीका, कलश २१५, प्रवचन २३९
दिनांक २६-०२-१९७८

कलश टीका, २१५ कलश, फिर से थोड़ा लेते हैं। '**जनाः तत्त्वात् किं च्यवन्ते**' अरे! **संसारी जीवो...** आचार्य करुणा करके कहते हैं कि अरे जीवों! आहाहा! **जीव वस्तु सर्व काल शुद्धस्वरूप है,...** क्या कहते हैं? भगवान आत्मा तो शुद्धस्वरूप ही है। वह पर का कर्ता भी नहीं। दया, दान के भाव को करे, ऐसा भी नहीं। पर को तो करे नहीं... आहाहा! परन्तु दया, दान के भाव को करे, ऐसा नहीं। वह तो शुद्ध चीज़-वस्तु है। आहाहा!

समस्त ज्ञेय को जानती है... अर्थात्? कि अन्दर राग आवे, उसे स्पर्श किये बिना ज्ञान जाने, ऐसा उसका स्वभाव है। क्या कहा? समझ में आया? आहाहा! भगवान ज्ञानस्वरूप आत्मा को कोई दया, दान आदि का राग आवे, परन्तु इससे पर की दया कर सके-यह तो प्रश्न है ही नहीं... आहाहा! ऐसी चीज़ है, परन्तु यह भाव आया, उसे ज्ञानस्वभाव स्पर्श नहीं करता। क्या कहा? ***यह ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा तो चैतन्य ज्योत चेतना है। वह रागादि अचेतन स्वभाव को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! वह तो शुद्ध चैतन्य वस्तु है, ऐसा जिसके ज्ञान में ज्ञात होता है, वह आत्मा, अन्दर राग होवे तो राग को स्पर्श किये बिना राग को जानता है।*** आहाहा! समझ में आया? पर की दया पालना या मारना, वह तो कर नहीं सकता, क्योंकि पर को स्पर्श नहीं कर सकता, परन्तु अन्दर में राग आवे, वह भी शुद्ध जीव के स्वभाव में राग का स्पर्शना और चुम्बन करना अर्थात् स्पर्शना, चुम्बन अर्थात् स्पर्शना (यह भी नहीं है)। आहाहा! इस चैतन्यघन भगवान आत्मा की सत्ता चेतन—जानने-देखने की है। इस जानने-देखने में जो राग आवे, उसे भी स्पर्श किये बिना, वह अपने क्षेत्र में, भाव में रहकर उसे जानता है। आहाहा! है?

भ्रष्ट क्यों करते हैं? अरे! ऐसे अनुभव में क्यों भ्रष्ट होता है? अर्थात् राग को जानने पर इसे ऐसा हो जाता है कि अरे! मैं रागरूप हो गया अथवा राग मेरे ज्ञानस्वरूप से हो गया – ऐसे जीव भ्रष्ट क्यों होता है? आहाहा! बहुत सूक्ष्म बाते हैं, बापू! लोगों ने माना है, वे सब बाहर की बातें हैं। आहा! यहाँ तो शुद्ध जीवस्वरूप है, वह राग को जानने पर, राग को स्पर्श नहीं करता।

वह परज्ञेय है; और वास्तव में यह राग है, वह चेतन से भिन्न जाति है, इसलिए अचेतन है। इस अचेतन को चेतन स्पर्श नहीं करता। आहाहा!

श्रोता : स्पर्श करे तो क्या बाधा है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्पर्श करे तो बाधा है। वह मिथ्यादृष्टि मलिन माने। छूता अर्थात् स्पर्श नहीं करता, क्योंकि राग और ज्ञायकभाव के बीच अत्यन्त अभाव है। आहाहा! रागतत्त्व, वह पुण्यतत्त्व है, मलिन तत्त्व है, अचेतन तत्त्व है। भगवान चेतन तत्त्व है, निर्मल तत्त्व है, ज्ञायकस्वभाव से भरपूर तत्त्व है। उस राग को स्पर्श किये बिना ज्ञान, राग को, अपने भाव में रहकर, क्षेत्र में रहकर राग को जानता है। परन्तु ये लोग, राग को जानते हुए 'मैं राग को जानता हूँ, अर्थात् स्पर्श करता हूँ'—ऐसे भ्रष्ट क्यों हो जाते हैं ? – ऐसा कहते हैं। आहाहा! अन्तिम गाथाएँ हैं।

श्रोता : राग को ज्ञान स्पर्श करे तो दोनों एक हो जाएँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों वस्तुएँ अत्यन्त भिन्न हैं और भिन्न को भिन्न स्पर्श नहीं कर सकता, **बहिर्लुटंती** आ गया है न यह ? पहले आ गया नहीं ? आहाहा! उस राग से भगवान आत्मा **बहिर्लुटंती** – बाहर लोटता है और आत्मा के स्वभाव से भी राग **बहिर्लुटंती**। आहाहा!

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को तो स्पर्श नहीं करता... आहाहा! गजब बात है! यह तो दृष्टान्त दिया था न, चलने का ? यह पैर चलता है, वह जमीन का स्पर्श नहीं करता। अरे रे! यह बात कहाँ.. ? क्योंकि जमीन की पर्याय और आत्मा की पर्याय के बीच अत्यन्त अभाव है। अत्यन्त अभाव में भाव स्पर्शरूप कैसे हो सकता है ? आहाहा! ऐसा है। वीतरागमार्ग, सत्य बहुत अलौकिक है। सुनने को मिले नहीं, बेचारे कहाँ जाएँ ? आहाहा! यह भटकन चौरासी में कौए, कुत्ते के अवतार कर-करके मर जाए, अनन्त बार। आहाहा!

यहाँ तो आचार्य महाराज ऐसा कहते हैं कि **वस्तु का स्वरूप तो प्रगट है...** क्या प्रगट है ? कि राग को स्पर्श किये बिना, परद्रव्य को स्पर्श किये बिना ज्ञान उसे जाने, ऐसा वस्तु का स्वरूप तो प्रगट है। आहाहा! आहाहा! समझ में आया ? भाव बहुत गहरे हैं, भाषा तो सादी है। आहाहा! यह बीड़ी पीता है (तो) कहते हैं कि बीड़ी को हाथ छूता नहीं तथा होठ को आत्मा छूता नहीं। आहाहा! वैसे ही राग हुआ, उसे आत्मा स्पर्श नहीं करता। अरे! प्रभु! देख तो सही! ऐ.. सेठ! तुम्हारा लिया, बीड़ी का दृष्टान्त, दृष्टान्त के बिना समझ में किस प्रकार आवे ? आहाहा!

श्रोता : छूता नहीं तो पीने में क्या दिक्कत है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु पीना कहाँ रहा वहाँ ? बीड़ी को छूता नहीं और होठ को छूता नहीं, आत्मा होठ को छूता नहीं। आहाहा ! ऐसी बात है, भाई ! जिनेन्द्रदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा का मार्ग कोई अलौकिक है ! अभी तो सुनने को मिलता नहीं, ऐसी चीज़ हो गयी है। क्या हो ? आहाहा !

देखो ! अब आता है, **जीव वस्तु सर्व काल शुद्धस्वरूप है, समस्त ज्ञेय को जानती है, ऐसे अनुभव से क्यों भ्रष्ट होते हैं ?** देखा ? आहाहा ! मैं राग को, राग में प्रविष्ट हुए बिना, मुझमें रहकर राग को जानता हूँ। ऐसे स्वभाव के अनुभव से जीव भ्रष्ट क्यों होते हैं कि मैं राग को छूता हूँ, राग को स्पर्श करता हूँ, शरीर को स्पर्श करता हूँ। ऐसे राग को जाननेवाला भिन्न, ऐसे अनुभव से भ्रष्ट क्यों होते हैं ? आहाहा ! समझ में आया ?

कैसे हैं जन ? अरे ! कैसे हैं जगत के जीव ? आहाहा ! **'द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियः'** अपने द्रव्य से अन्य **ज्ञेय वस्तु को जानता है इससे... 'चुम्बन'** मानों मैंने स्पर्श किया अर्थात् **अशुद्ध हुआ है जीवद्रव्य ऐसा जानकर...** आहाहा ! शरीर और वाणी को ज्ञान जाने, तथापि ज्ञान, शरीर-वाणी को स्पर्श नहीं करता - ऐसा तो ज्ञान का स्वभाव है। उससे जन (जीव) अनुभव से भ्रष्ट क्यों होते हैं कि मैं इस शरीर को स्पर्श करता हूँ। आहाहा ! इस शरीर की जो इन्द्रियाँ हैं, उन्हें भी आत्मा स्पर्श ही नहीं करता। आहाहा ! तो भी इस ज्ञान के अनुभव में तो शरीर को स्पर्श किये बिना का ज्ञान है, ऐसी वस्तु का अनुभव है। परन्तु उसके बदले मैं शरीर को स्पर्श करता हूँ, यह कोमल शरीर है, उसे मैं स्पर्श करता हूँ, इस प्रकार जीव को परद्रव्य के साथ चुम्बन अर्थात् स्पर्श कैसे मानता है ? आहाहा ! सूक्ष्म बात है, प्रभु ! आहाहा ! जन्म-मरण का अन्त लाने की बातें, बापू ! बहुत कठिन ! उसका फल भी कितना ! अनन्त आनन्द.. आनन्द.. आनन्द.. आहाहा !

जीवतत्त्व ज्ञानस्वरूप से स्थित है। यह परतत्त्व जो है शरीर, वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार आदि, सबको अपने में रहकर जानने का स्वभाव है, तथापि उसे यह लगता है कि मैं उन्हें स्पर्श करता हूँ, उन्हें स्पर्श करता हूँ - ऐसा (मानकर) ज्ञान के स्वरूप से भ्रष्ट क्यों हो जाता है ? आहाहा ! समझ में आया ? चुम्बन का अर्थ यहाँ अशुद्ध किया, परन्तु चुम्बन का अर्थ स्पर्श करना होता है। आहाहा ! यह चुम्बन नहीं लेते शरीर का और बालक का ? यह होंठ भी वहाँ स्पर्श नहीं करता, कहते हैं। आहाहा ! आत्मा का ज्ञान तो होंठ को कैसे छुए, परन्तु होंठ, उसके लड़के का चुम्बन लेता होंठ उसके शरीर को स्पर्श नहीं करता। अरे ! ऐसी बात ! क्योंकि तत्त्व (से) तत्त्व भिन्न है। शरीर, वाणी, मन, अजीवतत्त्व है। दया, दान के, व्रत के भाव होते

हैं, वे आस्रवतत्त्व अथवा पुण्यतत्त्व है। भगवान है, वह ज्ञायकतत्त्व है। आहाहा! ऐसी बात है। वह ज्ञायकतत्त्व पर को स्पर्श किये बिना जानने का स्वरूप ही उसका ऐसा है। तथापि यह क्या हुआ? जीव, जगत के प्राणी क्या करते हैं? आहाहा! कि हम इस राग को जानते हुए राग को स्पर्श करते हैं। आहाहा! इससे हम अशुद्ध हो जाते हैं। आहा! ऐसी यह भ्रमणा क्यों हुई जगत को? आहाहा! समझ में आया?

एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को स्पर्श करे तो दो तत्त्व एक हो जाते हैं, भिन्न रहते नहीं। आहाहा! यह तो धीर का काम है, भाई! यह कोई बाहर से कोई व्रत किये और उपवास किये और इसे हो गया धर्म, वह तो कहीं तीन काल में नहीं है; परन्तु यह व्रत का विकल्प उठा.. आहाहा! उसे भी ज्ञानस्वरूपी भगवान अपने में रहकर, उसे स्पर्श किये बिना जाने, तथापि उसे मैं स्पर्श करता हूँ, छूता हूँ और इससे मैं पर को जानने से अशुद्ध हो जाता हूँ – ऐसा भ्रम अज्ञानी को क्यों होता है? आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है। समझ में आया? है?

'द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियः' 'आकुलधियः' क्या? पर को स्पर्श कर **ज्ञेयवस्तु का जानपना कैसे छूटे...** पर को स्पर्श करना, मानों मैं स्पर्श करता हूँ – यह कैसे छूटे? अथवा मुझे पर का जानना होता है, वह तो पर का जानना हुआ, वह तो अशुद्धता हुई; इसलिए पर का जानना कैसे छूटे? – ऐसा अज्ञानी भ्रम करता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! उसे बहुत जगह से विमुख होना पड़ेगा। हें? आहा! यह कहीं बातों से बड़ा हो ऐसा नहीं है। बड़ा बनाने के लिये अनाज, तेल और घी चाहिए। ऐसे यह अन्दर का माल है। आहाहा!

चैतन्यतत्त्व , वह अचेतनतत्त्व को कैसे स्पर्श करे? अचेतन–जड़ तो ठीक, परन्तु राग भी अचेतन है, उसे कैसे स्पर्श करे? आहाहा! अर्थात् कि उसे कैसे स्पर्शे? अर्थात् कि ज्ञान में ऐसे हो जाए कि इस राग को जानता हूँ; इसलिए मैं स्पर्शा हूँ और इससे मुझे ज्ञान होता है। वह अशुद्ध है, इससे उसका ज्ञान छूटे तो मैं शुद्ध होऊँ, यह भ्रम है। समझ में आया? आहाहा! यहाँ तो अभी पर की दया पाले तो धर्म हो, (ऐसा लोग मानते हैं)। अरर! कुकर्म करते हैं न! आत्मा का घात कर डालते हैं। मरणतुल्य करते हैं। नहीं आया? कलश टीका में आया है। आहाहा!

श्रोता : समाधिशतक में ऐसा कहा, घात हो जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो जगत घात होता है, परन्तु यहाँ तो स्वयं मरणतुल्य हो जाता है। अपने को मरणतुल्य कर डालता है। आहाहा! अर्थात् मानो कि मैं जागती ज्योति चैतन्य ज्ञान, दर्शन, आनन्द के स्वभाववाला हूँ – ऐसा नहीं मानता। वह तो मानो कि राग को करता

हूँ और राग को स्पर्श करता हूँ। वह जीव के स्वरूप को इसने मरणतुल्य कर डाला है। जानने-देखनेवाले के स्वभाव को इसने घात कर डाला है। आहाहा! पर का घात तो कर नहीं सकता.. आहाहा! परन्तु स्वयं को इस प्रकार से व्यवहाररत्नत्रय का राग आवे, उसे मैं स्पर्श करता हूँ, यह तो ठीक, यह तो और व्यवहाररत्नत्रय से मुझे निश्चय में लाभ होता है, अरे! प्रभु! तू ज्ञान और आनन्द का धनी है, इस राग के विकार से तुझे अविकारी का लाभ हो, (ऐसा कैसे बने) ? तू अविकारी है, उसमें से अविकारी लाभ होता है। आहाहा! समझ में आया ? ऐसा धर्म अब।

श्रोता : अपराधभाव से निरपराधभाव कैसे हो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परन्तु अभी तो यह चला है।

यहाँ तो इससे आगे जाकर उसे जानने से मैं अशुद्ध हो जाता हूँ, तो वह तो उसका जानना और अपना जानना, वह तो अपने स्वभाव में रहकर जान सकने का स्वभाव है। पर का जानना हो गया, इसलिए अशुद्ध हो गया। परवस्तु है न ? उसे जाना तो अशुद्ध हो गया, इसलिए स्व को जानूँ तो शुद्ध, वह पर को जानना छोड़ दूँ। तो पर को जानना तो तेरा स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है। उसे छोड़ने जायेगा तो तेरी वस्तु छूट जायेगी। आहाहा! अरे रे! चौरासी के अवतार में भटक मरा है अनन्त काल। ऐसी भ्रमणा कहीं-कहीं इसी (प्रकार से की है)। अटकने के साधन अनन्त, छूटने का साधन एक-स्वरूपसन्मुख जाना वह (एक साधन है)। आहाहा! समझ में आया ?

श्रोता : दीपक विष्ठा को प्रकाशित करता है, तथापि दुर्गन्ध प्रविष्ट नहीं होती।

पूज्य गुरुदेवश्री : दीपक उसे छूता ही नहीं। छूए किसे ? एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में तो अभाव है। छूए किसे ? छून भाव हो गया। आहाहा! कठिन काम। अरे! पैर जमीन को स्पर्श नहीं करता, तथापि नीचे कंकड़ी हो तो लगती है, ऐसा दिखता है। आहाहा! वह लगी भी नहीं, कंकड़ी शरीर को छुई ही नहीं। आहाहा! और इस शरीर में कुछ हुआ, उसे ज्ञान ने स्पर्श नहीं किया। आहाहा! अरे! उसमें उस ओर का जरा अरुचि का विकल्प आया, उसे ज्ञान छुआ नहीं। ज्ञान का स्वभाव ऐसा कहाँ है कि पर को स्पर्श करे! ***आहाहा! वह तो भगवान अपने स्वभाव में रहकर, उसका ज्ञान करे, ऐसा कहना वह व्यवहार है। उस सम्बन्धी का अपना ज्ञान उसे (स्वयं को) वह जानता है। उसे स्पर्श कर जानता है। राग को स्पर्श कर राग को नहीं जानता। आहाहा!*** कहो, चिमनभाई! ऐसा कहाँ तुम्हारे लोहे में था वहाँ ? आहाहा! और न्याय से इसके ख्याल में आ सकता है। आहाहा! अरे रे! मेरा क्या होगा ? मैं कहाँ जाऊँगा ? और मैं क्या हूँ ? वह तो ज्ञानस्वरूपी भगवान है। वह कहाँ जाये ? आहाहा!

बहिन का शब्द आया है, वह सबको बहुत मीठा लगा है। 'जागता जीव विद्यमान है न!' बहुत कहते हैं, लिखो। इतना सब कहाँ लिखना? ॐ करते हैं मुश्किल से, बस। लिख दो! (ऐसा कहते हैं) ॐ बस है। जागता जीव विद्यमान है न! वह कहाँ जाये? ***वह जाननस्वभावी भगवान ध्रुव है न! वह परिणमे तो जाननेरूप से परिणमे, परन्तु पर है, इसलिए पर को जाननेरूप परिणमता है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! वह तो अपना स्वभाव ही स्व-पर जानने का स्वभाव वह आत्मज्ञपना, वह तो स्वपना है। आहाहा!*** परन्तु अज्ञानी को भ्रम हो जाता है कि मैं पर को जानता हूँ तो बाहर चला गया। पर को जानता हूँ, इसलिए मैं बाहर गया, ऐसा हो जाता है। आहाहा! ऐसी बात है। ***पर को जानने का कहना, वह भी उपचार व्यवहार है। आहाहा!*** ऐसी बात है, भाई!

चैतन्यस्वरूपी भगवान! 'स्व-पर प्रकाशक शक्ति हमारी, तातैं वचन भेद भ्रमभारि ज्ञेयशक्ति द्विविधा प्रकाशी स्वरूपा पररूपा भासी।' यह राग और शरीर, वाणी परज्ञेय है। उन्हें ज्ञान में अपने में रहकर उन्हें जानना, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है परन्तु उन्हें स्पर्श करता है अथवा जानता है; इसलिए ज्ञान अशुद्ध हो गया, वह ज्ञान बाहर चला गया... आहाहा! बाहर को जानता है, इसलिए ज्ञान अपने स्थान से, भाव से छूटकर बाहर में गया, ऐसा अज्ञानी को भ्रम हो जाता है। आहाहा! है?

श्रोता : ज्ञान सर्वगत तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वगत नहीं, वह व्यवहार से कहा है। यह तो प्रवचनसार में (कहा) ज्ञान अथ्था—अर्थ ज्ञान में है अर्थात् उनका ज्ञान है, वहाँ उसका अर्थ (यह है)। अर्थ ज्ञान में है, ऐसा कहा उसका अर्थ (यह है कि) अर्थ सम्बन्धी का ज्ञान, ज्ञान में है ऐसा कहना है। अर्थ तो अर्थ में है। आहाहा! वहाँ तो सर्वगत कहा है। पंचाध्यायी में सर्वगत माने उसे निश्चयाभास कहा है। पंचाध्यायी में सर्वगत को (ऐसा कहा है)। अपेक्षित जानना चाहिए न! आहाहा! सर्वगत तो सैंतालीस नय में एक स्वभाव है। किस अपेक्षा से? अपने को और पर को सर्व को जानने का स्वरूप है, इसलिए सर्वगत है परन्तु पर को जानना, इससे उस पर को जानने पर ज्ञान बाहर चला गया है, अपने अस्तित्व में से एक प्रदेश भी भिन्न / दूर हो गया है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अपने घर में रहकर जैसे लश्कर निकले उसे देखे, उस लश्कर में वह आँख गयी नहीं और लश्कर आँख में आया नहीं। घर में खड़ा-खड़ा देखे, वह सब निकले उसे (देखे)। जुलूस निकले, रथ निकले, हाथी निकले, आहाहा! वैसे भगवान ज्ञानस्वरूपी अपने में बैठा है। आहाहा! उसमें यह सब जड़ के और राग के प्रकार लश्कर निकलें, उस समय उन्हें उनका

उस सम्बन्धी का स्वभाव उसका ज्ञान होने का उस काल में अपना स्वभाव अपने से है। वह अशुद्ध नहीं है। आहाहा! और पर को जाना, इसलिए ज्ञान बाहर में चला गया है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! यह कहा था न तब? राणपुर (संवत्) १९८४ के चातुर्मास में। (एक) वेदान्ती भावसार था। खत्री.. खत्री.. रूगनाथ। महाराज! आप कहते हो... व्याख्यान में सब आवे, वेदान्ती, परन्तु अन्दर में प्रविष्ठ हुए बिना, यह उसे जानना अन्दर में प्रविष्ट हुए बिना किस प्रकार जाने? ऐसा प्रश्न किया था। खत्री ने (प्रश्न किया था)। भाई! आहाहा! इस अग्नि को ज्ञान जानता है, वह ज्ञान अग्नि में प्रविष्ट है? ज्ञात होती है या नहीं? यह अग्नि है, ऐसा ज्ञात होता है या नहीं? यह १९८४ की बात है। कितने हुए? ५० वर्ष। राणपुर चातुर्मास था न! लोग बहुत सब आते, नाम प्रसिद्ध था न! आवे, अन्यमती भी आवे, मन्दिरमार्गी सुनने आवे। परन्तु अपना पक्ष अन्दर से छोड़ना कठिन पड़े। आहाहा! इस सम्प्रदाय में अभी पक्ष लेकर बैठे, उसमें से उन्हें हटना कठिन पड़े। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **ज्ञेयवस्तु का जानपना कैसे छूटे,...** ऐसा अज्ञानी मानता है। **जिसके छूटने से जीवद्रव्य शुद्ध होवे, ऐसी हुई है बुद्धि जिनकी, ऐसे हैं। उसका समाधान ऐसा है...** यहाँ तक आया है। यहाँ तक कल आया था। परसों, कल तो सज्झाय थी। '**यत् ज्ञानं ज्ञेयं अवैति तत् अयं शुद्धस्वभावोदयः**' आहाहा! **जो ऐसा है कि ज्ञान ज्ञेय को जानता है...** आहाहा! **ऐसा प्रगट है...** ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा, शरीर, वाणी, कुटुम्ब, कबीला, सब परज्ञेय हैं। देव, गुरु, शास्त्र भी परज्ञेय हैं और अन्दर में दया, दान का राग आता है, वह भी परज्ञेय है। आहाहा! यह उन्हें जाने, यह प्रगट है।

सो यह '*शुद्धस्वभावोदयः*' यह तो **शुद्ध जीव वस्तु का स्वरूप है।** उदय-प्रगट है, ऐसा कहते हैं। '**शुद्धस्वभावोदयः**' यह तो शुद्ध जीवस्वभाव का प्रगटपना है। स्व-पर प्रकाशक, यह तो शुद्ध जीव का उदय है - प्रगट है। आहाहा! भारी काम कठिन। यह तो पूरे दिन मानो धन्धे में पड़ा और यह किया और यह किया और यह किया... आहाहा! मार डाला जीव को। मरणतुल्य कर डाला है। यह आता है, पहले आ गया है। मरणतुल्य किया है। आहाहा!

चैतन्य जागती ज्योति स्वपर प्रकाशक स्वरूप में विराजमान है। उसे पर के ज्ञेय को जानना, वह तो उसका स्वरूप ही है, कहते हैं। वह तो शुद्ध जीव का स्वभाव, उदय हुआ स्वभाव ही है। पर को जानना, वह कहीं अशुद्धता है और पर को स्पर्श करता है, इसलिए पर को जानता है, ऐसा नहीं है।

श्रोता : पर के सामने देखकर जानता है... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर के सामने देखकर जानता है, ऐसा नहीं है। जानता है अपने में, अपने से।

श्रोता : उपयोग तक कहाँ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उपयोग भले पर की ओर है परन्तु वह जानता है अपने को अपने में रहकर।

श्रोता : उपयोग को पर का आश्रय....

पूज्य गुरुदेवश्री : आश्रय-फाश्रय कुछ नहीं होता।

श्रोता : उपयोग पर में है अर्थात्....

पूज्य गुरुदेवश्री : पर में नहीं, पर को जानने में है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, उपयोग भले विकल्प में आया परन्तु फिर भी उस विकल्प को उपयोग जानता है, ऐसा उसका स्वरूप है।

श्रोता : उपयोग स्व में ही जाये, ऐसा नियम नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं।

श्रोता : ज्ञान का उपयोग बाहर में होवे....

पूज्य गुरुदेवश्री : बाहर में नहीं। वह अन्दर में अपने में है।

श्रोता : अन्दर में है परन्तु मुख बाहर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, मुख भी बाहर नहीं। मुख भी अन्दर है। आहाहा!

श्रोता : तो स्वसन्मुख और परसन्मुख में अन्तर क्या रहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह स्वसन्मुख दृष्टि ध्रुव ज्ञायक पर ही पड़ी है। आहाहा!

श्रोता : तब तो उपयोग अन्दर में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर ही है वह, भले रागादि में हो, विषय-कषाय में (हो), तथापि उसके जाननहार में स्वयं है, राग में नहीं। ऐसा कठिन काम है। आहाहा! अरे! जिन्दगी चली जाती है। मरण के तुल्य हो जायेगा। मरण का एक समय आयेगा, वहाँ छूट जाएगा ऐसे। युवा अवस्था होगी तो भी छूट जायेगा। आहा! क्योंकि वह पृथक् तत्त्व है, उसके साथ में एक कहाँ रहा हुआ है? आहाहा! एक क्षेत्र में परन्तु शामिल नहीं। अपने और पर के क्षेत्र, आकाश की अपेक्षा से कहे जाते हैं। आहाहा! शरीर और कर्म... अरे! यहाँ तो राग का क्षेत्र भी भिन्न गिना है। संवर अधिकार। दया, दान, भक्ति के परिणाम हों... भाई! वह

विकल्प है, उसका क्षेत्र इतना भिन्न गिना है। उस भिन्न क्षेत्र को, भिन्न भाव को ज्ञान में रहकर, स्व में रहकर जानना स्व-पर प्रकाशक, वह तो शुद्ध जीव का उदयभाव-स्वभाव है, ऐसा कहते हैं। आया न? '**शुद्धस्वभावोदयः**'

श्रोता : स्वच्छता का उदय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अपना प्रगटपना है। अपना स्वभाव है, वह तो स्वभाव ही है, ऐसा कहते हैं। उदय अर्थात् स्वभाव है। '**शुद्धस्वभावोदयः**' वह तो शुद्धस्वभाव का प्रगटपना है। आहाहा! अब ऐसी बातें पकड़ में नहीं आवे, बेचारे क्या करे? आ जाते हैं फिर बाहर में क्रियाकाण्ड में लग जाते हैं। व्रत करो और अपवास करो और आंनवेल करे.. धर्म हो जायेगा। अरे रे! जीव को कहाँ भटका मारा है! भ्रमणा ही भ्रमणा में।

यहाँ तो यह सिद्ध करते हैं कि शुद्ध जीव का स्वभाव तो स्व-पर को जानना, वह अपेक्षा से पर को कहा है। ज्ञान, ज्ञान को जाने और ज्ञान में पर ज्ञात होता है, वह तो ज्ञान है और ज्ञान के अतिरिक्त अपने दूसरे अनन्त गुण को जाने, वह भी पर प्रकाशक है... आहाहा! तथापि वह ज्ञान अनन्त गुण को जाने, तो भी वे गुण ज्ञान में नहीं आ गये। आहाहा! ऐसा है।

श्रोता : तादात्म्यसम्बन्ध होने पर भी स्वरूप पृथक् का पृथक् रहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : तादात्म्यसम्बन्ध ज्ञान को आत्मा के साथ है। राग को संयोगी सम्बन्ध नहीं कहा? संयोगीभाव है। उस संयोगीभाव को स्पर्श भी नहीं करता। है?

श्रोता : राग को क्षणिक तादात्म्य कहा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अपेक्षा से। इसकी पर्याय में है न, इस अपेक्षा से। बाकी परमार्थ से तो वह संयोगीभाव है, तो उसके सम्बन्ध है ही नहीं। तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है, इसलिए सम्बन्ध नहीं है, ऐसा। त्रिकाली के साथ सम्बन्ध नहीं है, ऐसा। तथापि वह पर्याय में है, उसे जानने पर, ज्ञान राग में स्पर्श कर जानता है, ऐसा नहीं है। वह तो इसकी पर्याय में है, वह तो अशुद्धता बतानी हो इसलिए। परन्तु यहाँ तो इसकी पर्याय में है, इसकी ही पर्याय उस काल में उसे और पर को जाने, ऐसा अपने में रहकर राग को जाने ऐसा स्वभाव है। रागरूप उस समय भी ज्ञान हुआ नहीं है। आहाहा! समझ में आया? वह तो '**शुद्धस्वभावोदयः**' शुद्ध जीवस्वभाव उदय अर्थात् स्वरूप ही है, ऐसा कहना है। आहाहा!

भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार अग्नि का दाहक स्वभाव है... देखा! दृष्टान्त दिया। **समस्त दाह्य वस्तु को जलाती है।** अग्नि का दाहक स्वभाव है, वह समस्त वस्तुओं को जलाती है। तथापि... आहाहा! है? **जलाती हुई अग्नि अपने शुद्धस्वरूप है। अग्नि का**

ऐसा ही स्वभाव है... सबको जलाने पर भी अग्नि, अग्निस्वरूप से रहकर जलाया है। वह अग्नि कहीं परस्वरूप लकड़ीरूप होकर जलाया नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : जलाती है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जलाती है, ऐसा कहना, वह व्यवहार कहा न! आहा! (अग्नि का) **दाहक स्वभाव है, समस्त दाह्य वस्तु को जलाती है। जलाती हुई अग्नि अपने शुद्धस्वरूप है।** समझाना हो तो किस प्रकार समझाना ? आहाहा! लकड़ी, गोइंठा, कण्डे ये कण्डे ऐसे बने हुए, वह अग्नि उनरूप होती है, परन्तु वह अग्नि अपने स्वरूप से ही हुई है। वह कण्डे के स्वरूप से नहीं हुई। आहाहा! अपना अस्तित्व कितना और कैसा है और कहाँ है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। आहाहा! अपने अस्तित्व में अग्नि भी अपने अस्तित्व में रहकर जलाती है, ऐसा कहना परन्तु वह तो अग्निरूप होकर है। ऐसे पर को जानता है, वह अपने स्वरूप से उस रूप होकर जानता है, पररूप होकर जानता है, ऐसा है नहीं। आहाहा!

अग्नि अपने शुद्धस्वरूप है। देखा ? शुद्धस्वरूप भाषा ली है। **अग्नि का ऐसा ही स्वभाव है; उसी प्रकार जीव...** यह दृष्टान्त का सिद्धान्त। **ज्ञानस्वरूप है...** है ? जैसे अग्नि का दाहकस्वभाव है, वैसे जीव का ज्ञानस्वरूप है। जैसे अग्नि सबको जलाती है, वैसे (ज्ञान) **समस्त ज्ञेय को जानता है।** उसमें जलाती हुई अग्नि अपने शुद्धस्वरूप है, वैसे जानता हुआ अपने शुद्धस्वरूप है। आहाहा! सर्वज्ञ और सर्वदर्शी शक्ति में भी लिया नहीं ? कि ***सर्वज्ञ है, वह आत्मज्ञपना है। सर्व है, ऐसा जानता है, ऐसा नहीं है; वह आत्मज्ञ है, वह सर्वज्ञपना है। आत्मज्ञ का ही सर्वज्ञस्वभाव है, वह स्वयं अपने को जानता है। सर्वज्ञ कहा, तथापि वह आत्मज्ञ है। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी शक्ति। आहाहा! सूक्ष्म है, भाई! क्या हो ?***

अनन्त काल जन्म-मरण कर-करके... उन्हें मिटाने का उपाय अलौकिक है। आहाहा! चैतन्यसत्ता अर्थात् कि जिसका अस्तित्व अकेला चैतन्य से है, जिसका अस्तित्व अकेला चैतन्य से है, उसे पकड़कर अनुभव करना... आहाहा! इसका नाम प्रथम धर्म की शुरुआत है। जिसका अस्तित्व, सत्ता अर्थात् ज्ञानरूप से जिसका अस्तित्व है, वह रागरूप या शरीररूप जिसका अस्तित्व नहीं है। इसलिए वह ज्ञान सबको जानता होने पर भी अपने ज्ञानस्वरूप से ही होकर रहा है। पर को जानते हुए परस्वरूप होकर रहा है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

ऐसा वस्तु का स्वभाव है। ज्ञेय के जानपना से जीव का अशुद्धपना मानता है, सो मत मानो,... आहाहा! परसम्बन्धी का ज्ञान होने पर मैं पर को स्पर्श कर गया हूँ अथवा पर मुझमें आ गया है, ऐसा मत मानो। आहाहा! अब ऐसी व्याख्या सूक्ष्म। है ? बहुत कठिन पड़े।

सम्प्रदाय में तो मानो यह व्रत, तप, भक्ति और यह पूजा, भक्ति, पूजा करे, यात्रा-वात्रा में धर्म (माने), वह और दया, और सामायिक और प्रौषध प्रतिक्रमण (में धर्म माने)। सब राग की क्रियाएँ हैं। आहाहा! कहते हैं कि उस समय भी राग हुआ परन्तु जीव का स्वभाव तो जानना ही है। उस राग के काल में भी जीव, राग को और अपने को जानता है, वह तो अपना स्वभाव है। वह तो शुद्ध जीव का स्वरूप ही है। आहाहा! पर का करना, वह तो नहीं होता परन्तु राग का करना, वह तो नहीं होता परन्तु राग को जानना, वह भी राग में जाकर जानता है, ऐसे भी नहीं होता। आहाहा! देवीलालजी! ऐसा मार्ग है। वीतराग परमेश्वर जिनेन्द्रदेव त्रिलोकनाथ का गणधरों और इन्द्रों के बीच का पुकार यह है। आहाहा! यह मार्ग है, भाई! तूने सुना न हो, इसलिए कहीं दूसरी चीज़ हो जायेगी? आहाहा!

श्रोता : ज्ञान, राग को स्पर्श कर न जाने, परन्तु ज्ञान, निर्मल पर्याय को स्पर्श करके तो जाने न?

पूज्य गुरुदेवश्री : उस पर्याय को अपने को जाने, उसमें क्या है? वह तो स्वज्ञेय है न! अपने को जानता है न! अपनी पर्याय को जानता है और अनन्त पर्याय को जानता है, परन्तु उस अनन्त पर्याय को स्पर्श कर नहीं जानता। बहुत सूक्ष्म, आहाहा! एक ही ज्ञान की पर्याय इतनी ताकतवाली है कि एक पर्याय में छह द्रव्य के गुण-पर्याय ज्ञात हों और अपने त्रिकाली द्रव्य-गुण-पर्याय ज्ञात हों, ऐसी एक समय की पर्याय की ताकत है। वह पर्याय, पर को तो स्पर्श नहीं करती... आहाहा! यहाँ इससे आगे नहीं कहना है... परन्तु वह पर्याय, द्रव्य को भी स्पर्श नहीं करती। यहाँ तो पर की अपेक्षा की बात है। आहाहा! पर्याय, द्रव्यरूप हो जाये तो पर्याय एक क्षण की है और वस्तु त्रिकाल है। आहाहा! त्रिकाल को स्पर्श कर पर्याय काम नहीं करती। आहाहा! क्योंकि दो के बीच भी अभाव है। अतद्भाव है। है प्रवचनसार (में)? अतद्भाव है। आहाहा! जो पर्याय भाव है, वह द्रव्य में अतद्भाव है। द्रव्यभाव है, वह पर्याय में अतद्भाव है। आहाहा!

पर्याय में स्व-पर जानने का स्वभाव स्वतः स्वतः है। उसमें राग को और शरीर को जानना, इससे मेरा ज्ञान भ्रष्ट हो गया या पर में चला गया, ऐसा नहीं है। यह भ्रमणा अज्ञानी अनादि से (कर रहा है)। आहाहा! जीव का ज्ञानस्वभाव वहाँ दया, दान के विकल्प का करना, वह उसका स्वरूप नहीं है। आहाहा! तथा उसे स्पर्श कर जानना, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। उससे भिन्न रहकर अपने को जानने पर वह ज्ञात हो जाता है, वह तो जीव के स्व-पर ज्ञानस्वभाव का उदय है। आहाहा! समझ में आया? वह तो स्व-पर प्रकाशित करना, वह ज्ञान का अस्तित्व है। वह ज्ञान का अस्तित्व है, वह राग का अस्तित्व नहीं। आहाहा! समझ में आया?

श्रोता : ज्ञान में पर का प्रतिभास होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रतिभास होता है, यह भाषा व्यवहार है।

श्रोता : ज्ञान के कारण या स्वच्छता के कारण।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, नहीं। प्रतिभास होता है, यह भाषा व्यवहार है। परन्तु जैसा स्वरूप वहाँ है, वैसा यहाँ ज्ञान का उस काल में स्वयं से जानना हो जाता है, ऐसा उसका स्वरूप है।

श्रोता : तब स्वच्छत्वशक्ति का किस प्रकार ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वही, स्वयं अपने को पूर्ण जाने। दृष्टान्त तो क्या करे ? स्वच्छ में तो यह कहा है, दर्पण का दृष्टान्त देकर (कहा है)। स्वच्छत्वशक्ति में है न ? परन्तु दर्पण में जो कुछ चीज़ ज्ञात होती है, वह कहीं दर्पण की हुई नहीं है। अग्नि है, यहाँ अग्नि, वह दर्पण में ज्ञात होती है। वह दर्पण में ज्ञात होती है, वह अग्नि है ? वह तो दर्पण की स्वच्छता है। अग्नि को ऐसे हाथ लगाओ तो गर्म लगेगा। यहाँ (दर्पण में) जो अग्नि ऐसे-ऐसे दिखती है, वह अग्नि है वहाँ ? दर्पण की अवस्था है। वहाँ हाथ लगाओगे तो गर्म लगेगा, वहाँ ? आहाहा ! ऐसा सूक्ष्म है, सेठ ! यह जानना पड़ेगा इसमें, हों ! नहीं तो यह सब घोदा, चौरासी के अवतार कर-करके मर गया है।

श्रोता : जानने में तो यह ए, बी, सी, डी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जानने की ए, बी, सी, डी, कक्का है यह तो। बात सत्य है। आहाहा ! ये क्या कहा देखा ?

जानता हुआ अपने स्वरूप है, ऐसा वस्तु का स्वभाव है। ज्ञेय के जानपना से जीव का अशुद्धपना मानता है, सो मत मानो; जीव शुद्ध है। आहाहा ! **और समाधान करते हैं। कारण कि... 'किमपि द्रव्यान्तरं एकद्रव्यगतं न चकास्ति'** आहाहा ! देखो ! **कोई ज्ञेयरूप पुद्गल द्रव्य अथवा धर्म, अधर्म, आकाश, कालद्रव्य शुद्ध जीव वस्तु में एक द्रव्यरूप से परिणमता है, ऐसा नहीं शोभता है।** आहाहा ! ये दूसरे छह द्रव्य शुद्ध जीव वस्तु में एक द्रव्यरूप से आते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा ! **जीव समस्त ज्ञेय को जानता है; ज्ञान, ज्ञानरूप है,...** आहाहा ! ज्ञान, ज्ञानरूप रहकर ज्ञान जानता है, ऐसा कहना है, वह तो ज्ञानरूप है इसका। आहाहा ! सबको जानता है परन्तु वह तो ज्ञान का रूप है, कहते हैं। वह तो जीव का स्वरूप है। आहाहा ! समझ में आया ? आज तो सब सूक्ष्म बहुत आया, हों ! ऐसा सुनना तो कभी मिले।

बापू! आहाहा! लोग मानें, न मानें परन्तु वस्तुस्थिति यह है। आहा! परमसत्य का पुकार प्रभु का तो यह है। आहाहा!

यहाँ तो वहाँ तक है कि राग के अस्तित्व में तेरा ज्ञान गया, इसलिए राग को जानता है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! अग्नि को जानता है, इसलिए तेरा अस्तित्व अग्नि में जाकर जानता है, (ऐसा नहीं है)। ***तेरे ज्ञान में रहकर, उस अग्नि का ऐसा स्वरूप है, वैसा ज्ञात हो, वह तेरे ज्ञान में रहकर; अपने अस्तित्व में रहकर ज्ञात होता है। आहाहा! पर का अस्तित्व तो यहाँ कभी आता नहीं। परसम्बन्धी का ज्ञान वह वास्तव में परसम्बन्धी का नहीं; वह ज्ञान अपना ही है। आहाहा! समझ में आया?*** बाद के श्लोक बहुत सूक्ष्म हैं। ऐसी साधारण भाषा है, परन्तु भाव बहुत गहरे हैं। आहाहा!

अब इसमें चर्चा किसके साथ करना? आया था न? चन्द्रशेखर। कहे, चर्चा करते हैं। श्वेताम्बर, जीवाप्रताप के भतीजे ने श्वेताम्बर दीक्षा ली है न? भाई! हम तो चर्चा करते नहीं, बापू! क्या कहें? तुम सिंह हो तो हम सिंह के बच्चे हैं, कहे। भाई! मैं तो सिंह हूँ, मैंने तो यह कहा नहीं। अन्त में खड़े होते कहे, देखो! इस चश्मे के बिना ज्ञात होता है? चर्चा हो गयी, बापू! इस चश्मे का अस्तित्व भिन्न है और जाननेवाला का अस्तित्व भिन्न है। वह चश्मे से जानता है, ऐसा नहीं है। वह तो ज्ञान के अस्तित्व से जानता है। जीवाप्रताप है, अभी गुजर गया। करोड़पति श्वेताम्बर, उसके भतीजे ने दीक्षा ली है। लींबड़ी आया था। तुम थे वहाँ, नहीं? चर्चा करने आया था।

रामविजय ने वहाँ जामनगर भेजा था, बहुतों को। इन लोगों की भूल होती है। व्रत, तप और भक्ति धर्म नहीं है, तो बड़ी गलती खड़ी होती है। भाई! मार्ग तो यह है, बापू! कहा। तुम्हें मिथ्या लगता हो तो ऐसा मानो, बाकी वस्तु तो यह है। बाकी इससे विरुद्ध मानते हैं, वे सब झूठे हैं, इसलिए हमें चर्चा किसके साथ करना? आहाहा!

यहाँ तो वहाँ तक ले गये... आहाहा! कि जिस काल में जिस प्रकार का... यह तो व्यवहार से जाना हुआ प्रयोजनवान आया है न? यह इसका अर्थ यह स्पष्ट करते हैं। उस काल में दया, दान, व्रतादि का जो राग आया, उतने प्रकार का, उस प्रकार का ही यहाँ ज्ञान अपने स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य के कारण (होता है), वह राग आया, उसके कारण नहीं। उस काल में इसका स्वभाव पर्याय में स्व-पर प्रकाशक, इसका और उसका दोनों का जितना स्वरूप है, वैसा जानने की पर्याय प्रगट होती है। आहाहा!

श्रोता : परसम्बन्धी का अपना ज्ञान...

पूज्य गुरुदेवश्री : परसम्बन्धी का कहना, वह व्यवहार है, वह भी नहीं। वह अपना है।

श्रोता : ज्ञान में और पर का सम्बन्ध कहाँ डालना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु सम्बन्ध कहा किसने ? पर है, उतने सम्बन्ध का स्वरूप अपने में जानपने की शक्ति है, इसलिए अपने में जानता है। लोकालोक को जानता है, वह लोकालोक के कारण नहीं। आहाहा! उस ज्ञान की पर्याय का उतना स्व-पर प्रकाशक सामर्थ्य है, वह स्व-स्वरूप ही है। स्वज्ञेय का उतना स्वरूप है उसका। आहाहा! समझ में आया ? आज सब सूक्ष्म पढ़ा एक घण्टा। यह अधिकार ऐसा है। गाथा ऐसी है। आहाहा!

श्रोता : ऐसे शुद्धस्वरूप का उदय त्रिकाल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : समय-समय की पर्याय इतनी है। त्रिकाल तो ध्रुव है, परन्तु यहाँ अपनी स्व-पर (प्रकाशक) पर्याय प्रगट होती है, उतना जितना ज्ञेय का प्रमाण है, उतने ही प्रमाण में ज्ञान की पर्याय स्वयं से स्वयं में प्रगट होती है। पूरी प्रगट है, अभी यह प्रश्न नहीं है। समझ में आया ? आहाहा! जिस समय में जो ज्ञेय सामने है, उतने प्रमाण में ज्ञान की पर्याय स्वयं से स्वयं में स्व-पर प्रकाशकरूप स्व से प्रकाशती है। ऐसा है। एक अक्षर बदले तो बदल जाये, ऐसा है सब यह तो। आहाहा! यह बात थी ही नहीं, इसलिए लोगों को नया लगता है। यह मानो सब नया धर्म निकाला। नया नहीं, बापू! अनादि का तू है ही। स्व-पर प्रकाशक का सामर्थ्य स्व से-अपने से अपने में अनादि का है। आहाहा! यह चेतन.. चेतन.. चेतन.. चेतन.. यह अचेतन को जाने, ऐसा कहना भी व्यवहार है। अचेतन में राग और शरीर सब अचेतन आ गया। आहाहा! और उसके सम्बन्धी का उतना ही ज्ञान, वह ज्ञेय उतना है; इसलिए उतना यहाँ ज्ञान स्व-पर प्रकाशक उसके कारण प्रगट हुआ, ऐसा भी नहीं है। उस समय का उसका स्व-पर प्रकाशक का जितना सामर्थ्य है, उससे वह प्रगट हुआ है, वह स्व है। आहाहा! पकड़ में आये, उतना पकड़ना, बापू! आहाहा! तेरी लीला तो अपार है। आहाहा! यह कोई पण्डिताई की चीज़ नहीं है। आहाहा! यह तो अन्तर के स्वभाव के नाद की चीज़ है। है ? आहाहा!

श्रोता : अलग प्रकार की पढ़ाई है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अलग प्रकार की है। बात सत्य है। आहाहा! इतनी बात कान में पड़ती है, वह भाग्यशाली है न! ऐसी बात, परमात्मा के श्रीमुख से निकली हुई बात है। आहा! समझ में आया ? देखो! धनपालजी! कहीं मुम्बई में भी नहीं था और कहीं (नहीं था)।

आहाहा! प्रभु! तू कौन है ? कहाँ है ? कितना है ? समय-समय में तू कितना है ? कि पर जो ज्ञेय है, उतना ही यहाँ ज्ञान हो और स्व का ज्ञान हो, उतना उस समय में उतनी तेरी पर्याय है, तुझसे है। आहाहा!

श्रोता : आज तत्त्व की बहुत छनावट की गुरुदेव!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह श्लोक ऐसा है। यहाँ तो अधिक तो चुम्बन में से आया। चुम्बन है न ? इन्होंने अर्थ कर दिया है अशुद्धपना। परन्तु चुम्बन का अर्थ स्पर्श करना है। जो तीसरी गाथा में कहा न ? कि अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को स्पर्श करता है परन्तु पर को स्पर्श नहीं करता। उसका यह सब विस्तार है। आहाहा!

यह तो ज्ञानस्वरूपी भगवान ज्ञान में स्थित हो, उसकी बातें हैं, बापू! आहाहा! जैसी जिसकी सत्ता अर्थात् अस्तित्वरूप है, उसका में वह स्थिर हो। आहाहा! समझ में आया ? वह वस्तु है। आहाहा! **जीव वस्तु में एक द्रव्यरूप से परिणमता है, ऐसा नहीं शोभता है।** रागरूप से आत्मा परिणमता है या आत्मा रागरूप होता है या ज्ञेय आत्मारूप होता है, ऐसा नहीं शोभता। आहाहा! **जीव समस्त ज्ञेय को जानता है, ज्ञान ज्ञानरूप है, ज्ञेय वस्तु ज्ञेयरूप है.. आहाहा! कोई द्रव्य अपने द्रव्यत्व को छोड़कर अन्य द्रव्यरूप तो नहीं हुआ ऐसा अनुभव जिसको है, सो कहते हैं...** आहाहा! '**शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेः**' **समस्त विकल्प से रहित शुद्ध चेतनामात्र जीववस्तु के... निरूपण...** अर्थात् **प्रत्यक्ष अनुभव...** आहाहा! देखा ? कथन है, उसका वाच्य है, उसे यहाँ लिया फिर। **निरूपण..** और वाच्य है उसे **निरूपण** शब्द से कहा। आहाहा! वह तो **प्रत्यक्ष अनुभव में स्थापित किया है बुद्धि का सर्वस्व जिसने ऐसे जीव के।** वह होता है। ऐसा अनुभव उसे होता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! जिसने भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी में बुद्धि को स्थापित करके ज्ञान का अनुभव किया, उसे यह बात होती है। आहाहा! अज्ञानी को यह बात नहीं होती। चाहे तो साधु हुआ हो, पंच महाव्रत पालता हो परन्तु अज्ञानी है, उसे यह बात नहीं शोभती, उसे नहीं होती। आहाहा!

सत्तामात्र शुद्ध जीववस्तु को प्रत्यक्ष आस्वादता है... देखा ? '**समुत्पश्यतः**' '**समुत्पश्यतः**' सम्यक् प्रकार से उग्ररूप से '**पश्यतः**' अर्थात् आस्वादता है। **ऐसे जीव को।** आहाहा! ऐसे जीव को यह होता है। वस्तु का स्वरूप है, वैसा उसे प्रगट है कि जो पर को जानने पर, पर से ज्ञान हुआ नहीं और ज्ञान पर में गया नहीं। आहाहा! **जीव समस्त ज्ञेय को जानता है, समस्त ज्ञेय से भिन्न है, ऐसा स्वभाव सम्यग्दृष्टि जीव जानता है।** लो, (विशेष कहेंगे..)

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

८ श्री समयसार, गाथा-६८, प्रवचन १३८
दिनांक १७-११-१९७८

समयसार, ४० श्लोक का भावार्थ है। आज तो गुजराती चलेगी, हिन्दी गये।

भावार्थ - घी से भरे हुए घड़े को व्यवहार से 'घी का घड़ा' कहा जाता है, तथापि निश्चय से घड़ा घी-स्वरूप नहीं है; घी, घीस्वरूप है, घड़ा मिट्टीस्वरूप है;... आहाहा! यह तो दृष्टान्त (कहा)। **इसी प्रकार वर्ण, पर्याप्ति, इन्द्रियों इत्यादि के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धवाले जीव को सूत्र में व्यवहार से 'पंचेन्द्रिय जीव, पर्याप्त जीव, बादर जीव, देव जीव, मनुष्य जीव' इत्यादि कहा गया है, तथापि निश्चय से जीव उस स्वरूप नहीं है;...** यह तो बाह्य की स्थिति की बात की। यह क्या कहा? वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, शरीर, संहनन तो बाह्य की चीज़ है; पर्याप्त, अपर्याप्त भी बाह्य की चीज़ है, वह अन्तर में है नहीं। व्यवहार से कहे गये हैं, इसलिए वस्तु-आत्मा की नहीं। आत्मा उसमय नहीं। **इत्यादि पुद्गलस्वरूप हैं, जीव ज्ञानस्वरूप है।** उसे कहा कि प्रभु! जीव ज्ञानस्वरूप है। जैसे घड़ा मिट्टीस्वरूप है, वैसे यह जीव ज्ञानस्वरूप है-ऐसा कहा।

अब इतना कहा, इसलिए उसे-समझनेवाले को ज्ञान हो गया - ऐसा नहीं है। उसे कहा कि ज्ञानस्वरूप है-ऐसे उसका लक्ष्य कराया। अब उसे अनुभव कब हो? वह तो अन्तरजीवद्रव्य का-ज्ञानमय वस्तु का आश्रय करे तो उसे ज्ञानमय है, ऐसा अनुभव हो। गुरु ने, भगवान ने या आचार्यों ने कहा कि घी का घड़ा नहीं, घड़ा मिट्टीमय है। यह तो ठीक है। इसी प्रकार पर्याप्त, अपर्याप्त आदि, संहनन, संस्थान आदि अजीव है, वे जीव नहीं; जीव तो ज्ञानमय है। आहा! इतना कहा, इसलिए उसे-शिष्य को ज्ञानमय जीव स्वभाव का अनुभव हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा इसमें से कहाँ निकलता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें यह निकलता है। वह तो बाह्य की बात है न? अभ्यन्तर की अब आयेगी। गुणस्थान, रागादि अभ्यन्तर भी जीवस्वरूप नहीं है। यह तो बाह्य की बात की। वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, रंग, राग - इसके पश्चात् आयेगा। यहाँ तो रंग, गंध, रस, स्पर्श, शरीर,

संहनन, संस्थान, पर्याप्त–अपर्याप्त, ये सब जीव नहीं हैं। जीव ज्ञानस्वरूप है —ऐसा इन सन्तों ने–आचार्यों ने कहा, तथापि उसे ज्ञानस्वरूप का ख्याल आया कि यह ज्ञानस्वरूप है इतना, परन्तु इससे उसे आत्मा का–ज्ञानस्वरूप का अनुभव हुआ – ऐसा नहीं है। यह तो उसे व्यवहार से समझाया कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, भाई!

आचार्यों ने भी व्यवहार विकल्प में आकर इसे समझाया और समझनेवाले के ख्याल में आया इतना कि यह ज्ञानस्वरूप है, ऐसा कहते हैं, बस! यह लक्ष्य में आया कि ज्ञानस्वरूप है परन्तु उसे ज्ञानस्वरूप का अनुभव कब हो? आहाहा! वह अन्तर में ज्ञायकस्वभाव का अवलम्बन करे, (तब अनुभव हो)। यहाँ त्रिकाली द्रव्यस्वभाव का वर्णन है न? द्रव्यवस्तु जो द्रव्य है, वह ये बाह्य रंग, गंध आदि तो नहीं। वह ज्ञानस्वरूप है, ऐसा कहा परन्तु वह ज्ञानस्वरूप इसके ख्याल में आया कि ज्ञानस्वरूप है इतना, परन्तु सुननेवाले को आत्मा–ज्ञानस्वरूप का अनुभव नहीं हुआ। आहाहा! कहा, इसलिए उसे ज्ञान हो गया और सुना, इसलिए उसे ज्ञान हो गया... आहाहा! ऐसा नहीं है। आहाहा!

ज्ञायकस्वभाव जो त्रिकाल ज्ञानस्वरूप द्रव्य, हों! उस द्रव्यस्वरूप की दृष्टि करने से (अनुभव होता है) यह तो सुना और ख्याल में आया कि वह तो ज्ञानमय है। अब शास्त्र दिशा दिखाकर अलग रहे, ऐसे गुरु भी दिशा दिखाकर अलग रहते हैं। ज्ञानमय है, ऐसा जब यह स्वयं अन्दर में जाये... आहाहा! पर्याय में ज्ञानमय है – ऐसा ख्याल में आया, वह तो व्यवहार हुआ, निश्चय नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

निश्चय तो ज्ञायकस्वरूप का अनुभव करे, तब यह ज्ञायकस्वरूप है, ऐसा इसे ख्याल आवे, तब सच्चा निर्णय (कहलाता है)। आहाहा! यह तो वह चला न, गौतमस्वामी का व्यवहार का... कहा हुआ, उस पर से यह अधिक आया। गौतमस्वामी ने व्यवहार का आश्रय लेकर शिष्यों की प्रवृत्ति व्यवहार से कराते हैं, लाभदायक है इसलिए। ऐसा है नहीं। आहाहा! गौतम गणधरों ने जीव को चौदह भेदस्थान द्वारा शिष्य को समझ में आये, इसलिए अनुग्रह करके कहा है परन्तु इससे उसे ख्याल में आया कि यह तो भेद से कहते हैं, परन्तु इस भेद का ज्ञान उसे कब होता है? कि अभेददृष्टि करे, तब इस भेद का ज्ञान अनेकान्त का (ज्ञान) होता है। ऐसी बात है। बहुत फेरफार, बड़ा फेरफार! ऐसा कर डाला, देखो न! व्यवहार से समझाया, इसलिए व्यवहार की प्रवृत्ति लाभदायक है, ऐसा (अज्ञानियों ने) सिद्ध किया।

मुमुक्षु : उसमें से कुछ लाभ होता हो तो समझाये न।

पूज्य गुरुदेवश्री : लाभ कुछ नहीं। उसे मात्र ख्याल में आवे, इतनी बात है। यहाँ जाना

है, इतना ख्याल में आवे, चलना है वह तो इसे फिर स्वयं को (चलना है)। आहाहा! सूक्ष्म बात है भाई!

यहाँ तो लिया बाह्य; अब ६८ में अभ्यन्तर की बात लेते हैं। क्या कहा? २९ बोल में कितने ही बाह्य हैं और कितने ही अभ्यन्तर हैं। जो वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान हैं, वे सब बाह्य हैं; वे तो आत्मा की पर्याय में भी नहीं, इसलिए उन्हें भिन्न कहा। अब इसे जीवद्रव्य वस्तु जो अखण्ड है, वह अभ्यन्तर के राग-द्वेष, गुणस्थान, मार्गणास्थान के भेद से रहित है, अभ्यन्तर के भेद से भी रहित है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! इसलिए अन्तिम गाथा (कहते हैं)।

अब कहते हैं कि (जैसे वर्णादिभाव जीव नहीं हैं, यह सिद्ध हुआ, उसी प्रकार) यह भी सिद्ध हुआ कि रागादिभाव भी जीव नहीं हैं— रागादि, गुणस्थान, मार्गणास्थान इत्यादि जीव नहीं है। सुन,

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता।।६८।।

मोहनकरम के उदय से, गुणस्थान जो ये वर्णये।
वे क्यों बने आत्मा, निरंतर जो अचेतन जिन कहे?॥६८॥

जैसे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन को अचेतन कहा, वैसे गुणस्थान, मार्गणास्थान के भेदों को भी अचेतन कहा। आहाहा! ये सब भेद जीव की पर्याय में होते हैं, तथापि जीवद्रव्य त्रिकाल है (वह) इनरूप नहीं, इसलिए इन्हें अचेतन कहा है। आहाहा!

मुमुक्षु : चेतन की पर्याय अचेतन।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ चैतन्य त्रिकाली है, उसका यह स्वरूप नहीं है। आहाहा! जो दृष्टि का विषय द्रव्यस्वभाव कहना है, वह द्रव्य है, वह तो किसी प्रकार इनरूप नहीं हुआ है। आहाहा! गुणस्थान, मार्गणास्थान के भेदरूप जीवद्रव्य नहीं हुआ है। आहाहा!

मुमुक्षु : उसकी पर्याय हुई है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय को यहाँ व्यवहार में डाल दिया है। वह पर्याय इसमें नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह तो अलौकिक बातें हैं, बापू! आहाहा! समयसार अर्थात्... आहाहा!

टीका - ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान... पहले लिया था वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शरीर,

संहनन, संस्थान आदि, वह तो बाह्य चीज़ थी। अब यह तो अभ्यन्तर में ही इसके भेद हैं। समझ में आया? आहाहा! **मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान पौद्गलिक मोहकर्म की प्रकृति के...** आहाहा! जयसेनाचार्य की टीका में है, भाई! '**मोहजोगभवा**' यह गाथा जयसेनाचार्य की टीका में है।

मुमुक्षु : गोम्मटसार में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : गोम्मटसार में है परन्तु वह तो यहाँ है यह। गोम्मटसार का शब्द है, वह यहाँ रखा है, जयसेनाचार्य ने। गोम्मटसार में है, बात सच्ची। '**मोहजोगभवा**' गुणस्थान है मोह और योग से भेदस्वरूप से हुए हैं, वस्तु में नहीं है। आहाहा!

मिथ्यात्वपना... ओहोहो! वह जीव द्रव्य में नहीं है। ऐसे तेरहवाँ गुणस्थान और चौदहवाँ गुणस्थान वह '**पौद्गलिक मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से,...**' आहाहा! भगवान चैतन्य द्रव्य है, ज्ञायक ध्रुवद्रव्य है, उसमें यह वस्तु-भेद नहीं है। ये सब भेद पड़े हैं मोहकर्म के उदय के निमित्त से भेद पड़े हैं। स्वभाव के प्रगट होने से भेद पड़े हैं - ऐसा नहीं। आहाहा! यहाँ एक ही लिया, उसमें योग लिया।

मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होते होने से,... प्रकृति का उदय अर्थात् जड़ है वह; उसके निमित्त से यहाँ भेद पड़ा, कहते हैं। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरति समकित, विरताविरति श्रावक, विरति प्रमत्त, अप्रमत्त इत्यादि भेद से ठेठ सयोगी और अयोगी (गुणस्थानपर्यन्त)। आहाहा! यह मोहकर्म की प्रकृति, मोहकर्म की प्रकृति के **उदयपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से,...** आहाहा! **कारण जैसा ही कार्य होता है...** कारण पुद्गल प्रकृति है, इसलिए उसका कार्य भी ये सब वैसे हैं-ऐसा कहते हैं। गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवस्थान, राग-द्वेष, पुण्य-पाप, लब्धिस्थान। आहाहा! यह कारण जैसे कार्य होते हैं। कारण मोहकर्म की प्रकृति है, उसके गुणस्थान उसके भेद हैं, वह उसका कार्य है, कहते हैं। आहाहा! भगवान कारणस्वभाव प्रभु का यह कार्य नहीं है। आहाहा! आहाहा! चैतन्यघन, विज्ञानघन ध्रुव का कार्य तो निर्मल कार्य हो, वह (उसका कार्य है)। ये सब भेद हैं, वह तो मलिन अचेतन कार्य है। आहाहा!

मुमुक्षु : .... कैसे होता है पर्याय में?

पूज्य गुरुदेवश्री : ***यह चेतन की पर्याय ही अचेतन है। इसमें ज्ञानस्वभाव आया नहीं। सयोगपने में, अयोगपने में कहीं ज्ञानस्वभाव तो आया नहीं। आहाहा! अविरति***

सम्यग्दर्शन, अविरतिभाव में ज्ञानस्वभाव आया नहीं। भगवान चैतन्य ज्योत है, आहाहा! क्या स्वरूप और क्या गाथा!!

कारण जैसा... मोहप्रकृति जो पुद्गल कारण हैं, उसके ये कार्य हैं; इसलिए पुद्गल हैं। आहाहा! कठिन बात है भाई! यहाँ तो त्रिकाली जीवद्रव्य है, उसमें उदयभाव तो नहीं, उपशम, क्षयोपशम भी उसमें नहीं। यहाँ तो अभी उदयभाव के प्रकार के भेद का वर्णन है। समझ में आया? आहाहा! भगवान अन्दर चैतन्य पिण्ड प्रभु ऐसे भिन्न अखण्ड चैतन्यज्योति, जलहल ज्योति, चन्द्र शीतल ध्रुव (विराजता है)। आहाहा! ऐसे भगवान / द्रव्य में ये नहीं हैं; इसलिए द्रव्य चैतन्यस्वरूप है तो ये अचेतनस्वरूप हैं – ऐसा (कहते) हैं। आहाहा!

अब यहाँ तो मुझे तो दूसरा कहना है कि ऐसा इसे गुरु ने कहा (तो) इसके ख्याल में आया कि ये गुरु और शास्त्र ऐसा कहते हैं कि इस प्रकृति के कारण से कार्य होता है, वह सब अचेतन है; ये चैतन्यद्रव्य के नहीं, ऐसा इसे ख्याल में आया, बस इतना! परन्तु ख्याल में आया, यह व्यवहार से आया है। गुरु ने कहा और इसे परलक्ष्य से (ज्ञान) हुआ, वह ख्याल में व्यवहार से आया है। आहाहा! सूक्ष्म बात बहुत, बापू! सूक्ष्म बात कहकर लोग उपहास करते हैं। सूक्ष्म... सूक्ष्म करके यह सब उड़ा देना है। अरे! भगवान! तू प्रभु है, भगवान! तुझे यह न जँचे तो क्या हो? आहाहा!

यहाँ तो भगवान अन्दर है, वह तो गुणस्थान में आता नहीं, ऐसा कहते हैं। भेद में आता नहीं। तू स्वयं प्रभु है न! प्रभु! आहाहा! तेरा द्रव्य, भेद में आता नहीं न प्रभु! ऐसा तुझे क्या लगता है? आहाहा! ओहो! गजब बात! सन्तों ने तो केवलज्ञान को खड़ा कर दिया है!! आहाहा!

दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, कहते हैं कि प्रकृति के कारण हुए हैं, इसलिए प्रकृति का कार्य है; जीव का नहीं। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, शास्त्र के पठन का विकल्प, नवतत्त्व की श्रद्धा का विकल्प... आहाहा! यह प्रकृति के कारण उत्पन्न हुआ कार्य पुद्गल का है, कहते हैं। व्यवहाररत्नत्रय की श्रद्धा का भाव, वह पुद्गल का है, कहते हैं। अरे रे! द्रव्य ज्ञायकस्वरूप प्रभु है, उसमें यह कहाँ है? आहाहा! निमित्त के आधीन हुआ भाव निमित्त का है; प्रकृति के आधीन हुआ भाव, प्रकृति का है; पुद्गल के आधीन हुआ भाव, पुद्गल का है; स्वाधीन आत्मा का भाव नहीं है। आहाहा! वीतरागी सन्तों के अतिरिक्त कौन कहे? भाई! आहाहा! जिसे जगत की दरकार नहीं, समाज संगठित रहेगा या नहीं (इसकी दरकार नहीं)। आहाहा! ये दिगम्बर सन्त! 'नागा बादशाह से

आघा।' जिन्हें समाज की कुछ पड़ी नहीं है। समाज को यह समझ में आयेगा या नहीं ? समाज संगठित रहेगा या नहीं ? उपहास तो नहीं करेगा न ? अरे ! सुन, प्रभु सुन, भाई !

इसकी पर्याय में होनेवाले दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव और इसकी पर्याय में होनेवाले गुणस्थान, मार्गणास्थान के भाव... आहाहा ! परन्तु यहाँ कहते हैं ये पर्याय में होते भाव, वे द्रव्य से हुए भाव नहीं हैं। आहाहा ! भगवान ज्ञायक चैतन्यमूर्ति प्रभु, वह प्रभु आत्मा तो वीतरागस्वभाव का बिम्ब है। वह वीतरागस्वभाव के कार्य ऐसे कहाँ होंगे ? आहाहा ! वे तो अचेतन प्रकृति जो पुद्गल, उसके कारण से हुए कार्य हैं, इसलिए वे पुद्गल हैं। आहाहा ! ऐसा स्वरूप है। अभी तो लक्ष्य में ऐसा आना कठिन (पड़ता है)। शास्त्र ऐसा कहते हैं, प्रभु ऐसा कहते हैं, उसे ख्याल में ले। ख्याल में आने पर भी, वह वस्तु का अनुभव नहीं, वह परलक्ष्यी ज्ञान हुआ। आहाहा ! चैतन्यद्रव्यस्वभाव, उस भेद का भी लक्ष्य छोड़कर जो ख्याल में आया, लक्ष्य में आया कि सन्त, आचार्य, मुनि, केवली ऐसा कहते हैं, तथापि उस लक्ष्य का भी लक्ष्य छोड़कर... आहाहा !

आठ वर्ष के राजकुमार बालक... आहाहा ! वे हीरा-माणिक के स्फटिकमणि के मकान हों, आहाहा ! उसमें यह भान हो। अरे ! हम तो आनन्दस्वरूप हैं, हम तो ज्ञायकस्वरूप प्रभु हैं। आहाहा ! आहाहा ! जिसे अन्तर के आनन्द का स्वाद आया, आहाहा ! वह उसका कार्य है। यह भेद उसका कार्य नहीं। आहाहा ! ये वन में बाघ और सिंह के बीच अकेले चले जाते हैं। कोई मुझे जाने या पहचाने, ऐसा कुछ रहा नहीं। आहाहा ! मेरा प्रभु पूर्णानन्द का नाथ है, उसे पर्याय में पूर्णानन्द प्रगट करने के लिये हम जंगल में, बाहर में नहीं परन्तु अन्दर में, जाते हैं। आहाहा ! भाई ! इसकी चमत्कारी दशा, वस्तु कैसी होगी ? आहाहा !

यह भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु ! गुरु इसके ख्याल में कहा (इसलिए) आया। इसलिए वहाँ अटके नहीं यह ! आहाहा ! उसे साधने को अन्तर में जाता है। आहाहा ! यह है तो अभ्यन्तरभाव, परन्तु वह पर्याय का अभ्यन्तरभाव है। संहनन, संस्थान, शरीर वह बाह्य-अत्यन्त बाह्य का भाव है और यह इसकी पर्याय के अभ्यन्तर भाव हैं। आहाहा ! वह भी तू नहीं। वह जीवद्रव्य नहीं, ऐसा जहाँ इसे लक्ष्य में-ख्याल में आया... आहाहा ! वहाँ यह अन्तर में उतर जाता है। अभ्यन्तर के भाव के भेद से छूटकर... आहाहा ! अभ्यन्तर भगवान पूर्णानन्द का नाथ जीवद्रव्य है, वहाँ चला जाता है। आहाहा ! ऐसी बातें हैं, प्रभु ! मार्ग तो ऐसा है, भाई ! अरे ! जगत सत्य को अभी आरोप देता है कि यह एकान्त हैं, महावीर के मार्ग से विरुद्ध कर दिया है। अरे ! प्रभु ! सुन न भाई ! महावीर और सन्त सब एक ही बात करते हैं। आहाहा ! इसे दया, दान, व्रत, तप, और भक्ति से धर्म मनाना है, (इसलिए यह बात) इसे खटकती है।

यहाँ तो ये (रागादिक) तो नहीं, परन्तु गुणस्थान के, मार्गणास्थान के भेद भी जीव के नहीं हैं, तो उनसे जीव को लाभ नहीं। इस गुणस्थान के भेद का आश्रय-लक्ष्य करे तो आत्मा को लाभ होता है-यह तीन काल में नहीं। जैसे राग से लाभ नहीं होता; संहनन, संस्थान से लाभ नहीं होता; वैसे यहाँ गुणस्थान के भेद करने से भी आत्मा को लाभ नहीं होता। आहाहा! ऐसी बात है। भगवान तीन लोक के नाथ... आहाहा! जिनेश्वरदेव, इन्द्र और गणधरों की उपस्थिति में, चक्रवर्ती छह खण्ड का धनी सुनने बैठा हो... आहाहा! उसे प्रभु ऐसा कहते हैं-भगवन्त! तेरा स्वरूप तो अखण्डानन्द प्रभु अन्दर है न! आहाहा! यह भेद तेरा स्वरूप नहीं; अचेतन है। अर र! आहाहा! यह राग-फाग और स्त्री-पुत्र तो कहीं रह गये! आहाहा! तीन लोक के नाथ सीमन्धर भगवान सभा में फरमाते हैं, वह यह बात है।

मुमुक्षु : मोक्षमार्ग से मोक्ष की प्राप्ति नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : मोक्षमार्ग से मोक्ष की प्राप्ति, यह भी व्यवहार है। मोक्ष की प्राप्ति द्रव्य के आश्रय से होती है। मोक्षमार्ग है, उसका तो व्यय होता है और भाव का उत्पाद होता है, वह त्रिकाली कोई भाव है, उसके आश्रय से होता है या गया उसके आश्रय से होता है? भाई! ऐसी बात है। आहाहा! कल एक बात की थी। ३४ वर्ष की उम्र का चार दिन पीलिया होकर मर गया। वींछिया अपने, भाई! वींछिया, हरिभाई हैं न? वींछिया है, उनका एक भाई 'जसदण' में है, एक मुम्बई में है, यह छोटा ३४ वर्ष का था। कोई रोग नहीं था, चार दिन में पीलिया हुआ। यह पीलिया, पीलिया। उसका हो गया पीलिया, देह उड़ गयी। आहाहा! वह तो परवस्तु है, उसकी बात हुई। आहाहा! वह तो तुझमें नहीं, तू वहाँ नहीं परन्तु यहाँ तो भेद पड़ा वह तुझमें नहीं और भेद में तू नहीं। आहाहा! देवीलालजी!

प्रभु! तू कहाँ है? आहाहा! इन गुणस्थान के और मार्गणास्थान के भेद में तू नहीं है। आहाहा! तेरी मौजूदगी / अस्तित्व तो उनसे भिन्न है। अरे! यह बात! अभी तो यह स्त्री-पुत्र और पैसे में से हटना कठिन लगता है। अर र! उसमें फिर संहनन, संस्थान की पर्याय मेरी नहीं। उसमें से आगे आने पर गुणस्थान और राग भी मुझमें नहीं, उनमें मैं नहीं, वे मुझमें नहीं। आहाहा! वीतराग जिनेश्वर के पंथ में यह मार्ग है। इस प्रकार अन्यत्र कहीं वीतराग के अतिरिक्त कहीं नहीं है, भाई!

इसे पूर्णस्वरूप है वह लक्ष्य में लेने के लिये बताते हैं। आहाहा! ऐसा लक्ष्य तो कर कि यह भेद है, उनमें तू नहीं और भेद है, वह अचेतन है। चेतनस्वरूप द्रव्यस्वभाव उनमें आया

नहीं और द्रव्यस्वभाव में वे हैं नहीं। आहाहा! ऐसा सन्त, गुरु, भगवान लक्ष्य कराते हैं, तथापि वह लक्ष्य गया; इसलिए वहाँ उसे अनुभव हो गया (ऐसा नहीं है)। आहाहा! ऐसा मार्ग है। जगत की बाहर की (चीज़) यह पैसा, लक्ष्मी, शरीर, वाणी, संहनन, संस्थान को तो यहाँ उड़ा दिया। तुझे बाहर की चमक दिखायी दे (परन्तु) प्रभु! वह तो सब अचेतन मिट्टी है। यह शरीर, वाणी, पैसा, मकान, संहनन, मजबूत हड्डियाँ और संस्थान – शरीर के आकार, ये सब चमक, प्रभु! यह तो जड़ की दशायें हैं। उनमें तू नहीं, तुझमें वे नहीं। आहाहा!

इसलिए यहाँ तो आगे लेकर ६८ (गाथा में बात करते हैं)। वह तो बाह्य की चमकृत का निषेध किया। आहाहा! अब अभ्यन्तर में जो त्रिकाली अभ्यन्तर है, उस स्वरूप में नहीं परन्तु पर्याय में अभ्यन्तर, अर्थात् यहाँ की अपेक्षा से अभ्यन्तर। बाकी उस पर्याय की अपेक्षा से अभ्यन्तर तो त्रिकाल है। आहाहा! कहते हैं कि यह बाहर की यह सब चमक-संहनन, संस्थान और वर्ण, गंध, रस और रूपवान, काला, हरा, और... आहाहा! मीठा रस और सुगन्धित श्वास आवे और... गंध मारे कितनों की ही श्वास गन्ध मारती है। हो जवान और श्वास गन्ध मारती हो। वे चीज़ें तो कहीं रह गयीं, कहते हैं। वह चीज तो तेरी नहीं और तुझमें नहीं और तू वहाँ नहीं। आहाहा! परन्तु तेरी पर्याय में जो गुणस्थान, मार्गणास्थान, राग, दया, दान, व्रतादि के विकल्प आते हैं, वह बाह्य की अपेक्षा से अभ्यन्तर है और इसकी अपेक्षा से तो त्रिकाली वस्तु वह अभ्यन्तर है, वे बाह्य हैं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग, इसलिए लोगों को-बेचारों को लगता है, हों! सोनगढ़वाले एकान्त हैं, ऐसा है। चन्द्रशेखर विरोध करता है, बापू! उसकी दृष्टि मिथ्यात्व है, उसमें यह भाग उसे सूझता ही है। आहाहा!

चैतन्य अद्भुतता अद्भुत चमत्कार के रत्नों से भरपूर भगवान है। आहाहा! उस अभेद में-प्रभु में ये भेद नहीं है। आहाहा! और ऐसे गुणस्थान आदि भेद में तू आता नहीं है। आहाहा! **कारण जैसा ही कार्य होता है...** इसकी इतनी व्याख्या चली। पुद्गलकर्म कारण है। आहाहा! पहले पुद्गल से, कर्म से आया हुआ संयोग, संयोग, संहनन, संस्थान, शरीर (आदि) कर्म के निमित्त से आये हुए संयोग हैं। उन संयोगों से भिन्न कहा। अब प्रकृति के निमित्त से होता पर्याय में भेद... वह तो प्रकृति के निमित्त से चीज़ें मिली थी। यह शरीर, वाणी, मन, संहनन, संस्थान... आहा! रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, कर्म के निमित्त से ये प्राप्त चीजें हैं। ये चीज़े तो तेरी नहीं परन्तु अब कर्म के निमित्त से प्राप्त अन्दर का भेद। आहाहा। ये संयोग मिला, ये मिला भेद। आहाहा! इस कारण पर कार्य की व्याख्या चलती है। समझ में आया? आहाहा! उसमें भगवान कारणपरमात्मा है और यह भेद का कार्य आया है, ऐसा नहीं है। आहाहा! क्या वाणी!

कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर मुनि! अमृतचन्द्राचार्य! आहाहा! अमृत बहाया है!! आहा! पंचमकाल के जगत का भाग्य!

कहते हैं कि कर्म प्रकृति निमित्त और बाह्यसंयोग-यह शरीर और ये सब प्राप्त हों, वे तो बाह्य चीज़ है। उनसे तो तू भिन्न है परन्तु अब इस प्रकृति से प्राप्त तो अन्दर भेद (वह भी तू नहीं है) ऐसा का ऐसा, ऐसा आया, ऐसा आया, उससे भिन्न। कर्म के कारण यह शरीर मिला, संहनन मिला, संस्थान मिला और यह पर्याप्तपना मिला, पंचेन्द्रियपना मिला, मनुष्यपना मिला, और देवपना मिला और... आहाहा! यह तो इतना तो पहले निकाल दिया। अब प्रकृति से अन्तर में भेद मिला, पहला बाह्य में था। आहाहा! मोहकर्म की प्रकृति जो अभ्यन्तर में है। उस चीज़ की अपेक्षा से अभ्यन्तर (कही) और उससे अभ्यन्तर में यह भेद पड़े वह। ऐसी बातें हैं। तुम्हारा पंकज और अमुक तो कहीं रह गये! आहाहा! वह तो कहीं पर के फलरूप से तो पर में संयोगरूप में रह गया। वह आत्मा में कहाँ आया? आहाहा! परन्तु वह मेरा है, ऐसा जो राग और मिथ्यात्व, वह भी प्रकृति-जड़ का कार्य है, प्रभु! तेरा नहीं। आहाहा! मिथ्यात्व आया न? पहले से है न? मिथ्यादृष्टि से लेकर। आहाहा!

यह सन्तों के ज्ञान और उनकी गर्जनायें, तीन लोक के नाथ की गर्जना। जैसे दिव्यध्वनि उठती है। आहाहा! बाघ और बिल्ली दोनों साथ बैठे (हों) शान्त... शान्त... चूहा और सर्प, काला नाग साथ खड़ा हो। दिव्यध्वनि का नाद-प्रभु का (नाद) सुनते हैं। आहाहा! बाहर का वातावरण शान्त हो जाता है। यह तो सुना कहते हैं। आहाहा! सुना जो है, यह जो ज्ञान हुआ है, यह लक्ष्य कराया है, भगवान ने कहा कि यह तू नहीं - ऐसा लक्ष्य कराया, परन्तु इससे तुझे कहीं अनुभव हो गया, ऐसा नहीं। आहाहा! यह तो व्यवहार से समझाया, इसलिए इसे आत्मा का लाभ हो गया और आत्मा के लाभ के लिये इससे कहा (ऐसा नहीं)। मात्र वह तो इसे वस्तु ख्याल में आवे, इतना कराया। सन्तों ने व्यवहार में आकर (कहा) क्योंकि यह पंचम काल की बात है न? इसलिए ऐसा लिया कि आचार्य ने कहा उन आचार्यों ने विकल्प में, व्यवहार में आकर कहा। केवली ने कहा, ऐसा नहीं आया। आहाहा! यह तो पंचम काल के सन्तों ने पंचम काल के जीव के लिये पंचम काल में शास्त्र बनाये। आहाहा! वहाँ केवली ने कहा कि तू आत्मा है और फिर आत्मा दर्शन-ज्ञान को प्राप्त हो वह आत्मा है और फिर कहते हैं कि आत्मा तो अभेद है, ऐसा ध्यान कराया। यहाँ भगवान ने कहा, ऐसा यहाँ नहीं कहा। क्या शैली प्रभु की! आहाहा!

मुमुक्षु : आचार्यों ने कहा, वह भगवान ने ही कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नहीं, नहीं, विकल्प है न यहाँ ? वह बताना है। व्यवहार में आया, वह विकल्प है। वह केवली को नहीं। भाई ! आहाहा ! यहाँ तो निश्चय और व्यवहार दो पक्षों में खड़ा है, यह लेना है। केवली को व्यवहार है नहीं। पंचम काल के सन्त कहते हैं, इसलिए अपनी जाति से कहते हैं। उन्हें स्वयं को विकल्प उठा है। आहाहा ! उस शैली की यहाँ बात है। केवली का कहना है, वह अलग बात, परन्तु अभी कहनेवाला जो है, वह विकल्प के व्यवहार के चक्र आया है, खड़ा है। यह बात करते हैं। आहाहा ! केवली ने कहा हुआ (कहते हैं) परन्तु फिर भी स्वयं ने ऐसा कहा न, कि मैं मेरे निज वैभव से कहूँगा ! आहाहा ! वह भी विकल्प में आये हैं, इसलिए कहूँगा। आहाहा ! निर्विकल्प में हो तो उसे कहना है, यह बात आती नहीं। आहाहा ! क्या कहा यह ?

यहाँ वर्तमान साधु-सन्त हैं, वे कहते हैं, यह यहाँ लेना है। केवली ने कहा हुआ कहा, परन्तु कहनेवाले वर्तमान कौन हैं ? आहाहा ! यह भी स्वयं स्पष्ट कर दिया है। यह कहनेवाला तो मैं वर्तमान विकल्प में-व्यवहार में आया हूँ, इसलिए कहता हूँ परन्तु यह व्यवहार आया है; इसलिए मुझे लाभदायक है और व्यवहार से दूसरे को कहूँगा; इसलिए उसे आत्मा के लाभ के लिये है, ऐसा नहीं है। उसके ख्याल में आने के लिये इतना है। आहाहा ! वह तो परलक्ष्यी है, इसलिए यहाँ तो यह बात है न ! लक्ष्य कराकर वे तो अलग रह जाते हैं। अब तू अन्दर में जा ! ऐसे जो अभ्यन्तर भेद हैं, वे भी अचेतन हैं, प्रभु ! आहाहा !

कारण जैसा ही कार्य... इसके ऊपर से यह सब बात चलती है। ऐसे मुनियों ने कहा। केवली ने कहा, वह अभी यहाँ नहीं। वे विकल्प में आये हैं, उन्होंने कहा। आहाहा ! इसलिए वह विकल्प उन्हें लाभदायक है और उसे—दूसरे को लाभदायक है; इसलिए व्यवहार कहते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा ! मात्र उसे ख्याल में आवे, इसलिए यह बात कहते हैं। आहाहा !

ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान पौद्गलिक मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होते होने से,... देखा ? यह प्रकृति सत्तारूप है, वहाँ तक का यहाँ कार्यभेद नहीं आता, कहते हैं। आहाहा ! उदयपूर्वक। आहाहा ! समझ में आया इसमें ? उदय हुआ, इसलिए यहाँ भेद पड़ा। उसमें जुड़ा है न ! आहाहा ! **उदयपूर्वक होते होने से,...** ये चौदह गुणस्थान उदयपूर्वक होते होने से। आहाहा ! **सदा ही अचेतन होने से,...** क्योंकि प्रकृति स्वयं उदय अचेतन है। **कारण जैसा ही कार्य होता है...** आहाहा ! क्या अमृतचन्द्राचार्य की टीका ! क्या भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के श्लोक ! ओहोहो ! उनकी क्षयोपशम की दशा !! आहाहा !

ऐसा समझकर (समझकर, निश्चय कर)... क्या करके ? कारण जैसे ही कार्य हैं।

पुद्गल कारण है, इसलिए गुणस्थान भेद उसके कार्य हैं, इसलिए वे अचेतन हैं। किसकी तरह? **जौ पूर्वक होनेवाले जो जौ,...** जौ बोअे और जौ होते हैं। गेहूँ बोअे तो जौं होंगे? आहाहा! जौपूर्वक ही जौ होते हैं। आहाहा! एकाक्षरी शब्द लिया है। गेहूँ है, वह एकाक्षरी नहीं न? बाजरा, गेहूँ, दाल, चावल, एकाक्षरी नहीं। जऊ एकाक्षरी है जऊ (जौ) आहाहा! जौपूर्वक, यह तो उसका कारण बतावे, परन्तु वस्तु **जौ पूर्वक होनेवाले जो जौ, वे जौ ही होते हैं...** जौ पूर्वक होता है, उसका फल जौ होता है। जौ पूर्वक उसका फल गेहूँ और बाजरा होता है? आहाहा!

जौ पूर्वक... पूर्वक **होनेवाले जो जौ, वे जौ ही होते हैं, इसी न्याय से, वे पुद्गल ही हैं...** पुद्गलपूर्वक होते होने से पुद्गल है। आहाहा! चौदह गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवस्थान, अरे! राग, दया, दान, व्रत का राग। प्रभु! यह तो क्या कहते हैं? भाई! आहाहा! अब इस राग से धर्म मनवाना! प्रभु... प्रभु! क्या करता है? भाई! आहाहा! भगवन्त! तुझे यह शोभा नहीं देता। आहाहा! जो राग पुद्गल प्रकृति के कारण हुआ है, इसलिए दया, दान के राग को भी पुद्गल कहा है। आहाहा! कहो, शान्तिभाई! यह तुम्हारे धूल के पैसे को, जवाहरात को तो पुद्गल कहा। आहाहा! परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि गुणस्थान के भेद पर्याय में पड़ें (वह भी पुद्गल है)। प्रभु तो अभेद चैतन्य द्रव्य है न? उस द्रव्य में ये कहाँ हैं? आहाहा! द्रव्य त्रिकाली तो चाहे जिस गुणस्थान में और चाहे जिस गति में हो, द्रव्य तो पूर्णानन्द का नाथ वहाँ पूरा विराजमान है। उसमें घिसावट... आ गयी है न? नहीं? दो बोल नहीं आये थे? हीन, हीन, हीनपना और घिसावट नहीं होती। नहीं आया था? उसमें आया था, देखो! हानि और घिसावट नहीं होती। यह ६३-६४ में आया, ६३-६४। आहाहा! जो वस्तु है... आहाहा! चाहे जो मिथ्यात्वादि में हो, नरक-निगोद में हो परन्तु वस्तु तो वस्तु है। उसमें हीनता और घिसावट कुछ नहीं है, वह तो अखण्डानन्द प्रभु है। आहाहा!

पुद्गल ही हैं-जीव नहीं... पुद्गल ही है। आहाहा। प्रकृति पुद्गल है तो उसके कार्यरूप से जो भेद है, वह पुद्गल ही है, कहते हैं। आहाहा! अरे! लब्धिस्थान भी, कहते हैं पुद्गल के निमित्त से यहाँ भेद हो गया न? यहाँ थोड़ा घटता हुआ ऐसा... आहाहा! यह भेद पुद्गल में डाल देते हैं। गुणस्थान का भेद, वह तो ठीक परन्तु संयम की पर्याय में भेद की प्राप्ति। शरीर जड़, गुणस्थान जड़, राग जड़ परन्तु यह लब्धि का भेद पड़ा है न इतना? वह जड़। ऐसी बातें बहुत कठिन, बापू! आहाहा!

और गुणस्थानों का सदा ही अचेतनत्व तो आगम से सिद्ध होता है,... लो! **मोहजोगभवा**

...आहाहा! आगम से सिद्ध होता है। भगवान ने आगम में ऐसा कहा है। **और गुणस्थानों का सदा ही अचेतनत्व तो आगम से सिद्ध होता है, तथा चैतन्यस्वभाव से व्याप्त जो आत्मा...** क्या कहा अब ? भेद है, वे व्याप्त हैं, वे पुद्गल का व्याप्य है। आहाहा! पुद्गल व्यापक है और भेद उनका व्याप्य है। आहाहा! एक ओर ऐसा कहते हैं कि आत्मा व्यापक है और विकारी पर्याय उसका व्याप्य है, अज्ञानदशा में। आहाहा! दूसरी बार कर्ता-कर्म में ऐसा कहते हैं कि कर्म व्यापक है और विकारी पर्याय उसका व्याप्य है। यहाँ यह कहते हैं। आहा! यह पुद्गलकर्म जो व्यापक है, उसका यह भेद, रागादि व्याप्य है।

और गुणस्थानों का सदा ही अचेतनत्व तो आगम से सिद्ध होता है, तथा चैतन्यस्वभाव से व्याप्त जो आत्मा... भगवान तो चैतन्यस्वभाव से व्याप्त है। आहाहा! ऐसे भेद स्वभाव से व्याप्त नहीं। आहाहा! उस भेद का व्याप्यपना, आत्मा व्यापक और भेद व्याप्य-ऐसा नहीं है, कहते हैं। आहाहा! वह तो पुद्गल का व्यापकपना और पुद्गल की पर्याय यह भेद आदि व्याप्य है। रागादि इनका व्याप्य है। आहाहा! भाषा तो सादी है परन्तु भाई! भाव जो है वह है। यह तो तीन लोक के नाथ तीर्थंकर... आहाहा!

एक वार्ता करनेवाला वारोठ हो तो भी गम्भीर वार्ता करे। वारोठ आता है न सबके ? पैसा ले। एक बार राणपुर में देखा था। उपाश्रय के साथ है न ? वह खत्री आता है न ? उसका वारोठ था, परन्तु बड़ा नागर जैसा। सफेद वस्त्र और गृहस्थ व्यक्ति परन्तु खत्री के वारोठरूप से (कहलाता है)। वह उसका क्या कहलाता है वह ? लोग साधारण बैठे हों और वह बड़ा राजा जैसा दिखे। उपाश्रय के साथ में। पोपटभाई खत्री नहीं आता ? अब तो यहाँ आ गया है न! उसके दो वारोठ है, पटिये पर बैठकर बात करते। आहाहा!

यहाँ भगवान कहते हैं, अभी तो मुनि कहते हैं न ? **चैतन्यस्वभाव से व्याप्त जो आत्मा...** आहाहा! इस भेद से व्याप्त आत्मा, आत्मा व्यापक और गुणस्थान के भेद व्याप्य - ऐसा नहीं है। वह पुद्गल व्यापक है और उसका यह व्याप्य है। आहाहा! १०८, १०९, ११० में तो वहाँ लिया है, नहीं ? १०८, १०९, ११०, १११, ११२। पुद्गलकर्म व्यापक है और नये कर्म उनका व्याप्य है। आता है ? १०८, १०९, ११०, १११। आहाहा! क्या इनकी शैली! आहाहा! अन्दर चैतन्य भगवान चिन्तामणि रत्न पूर्णानन्द के नाथ को प्रसिद्ध करने के लिये (ऐसी शैली की है)। आहाहा! आत्मख्याति है न ? आहाहा!

कहते हैं कि जो कर्म है, वह पूर्व का कर्म व्यापक होकर नये कर्म-रजकण नयी जाति है, दूसरी जाति है, तथापि उसकी जाति के हैं, इसलिये उसे कहते हैं कि व्यापक कर्म और

नये कर्म आवें, वे उसका व्याप्य हैं। ठीक! पुराने कर्म हैं, वे व्यापक; नये कर्म उनका व्याप्य। अब पर के साथ व्याप्य-व्यापक तो (कहाँ होगा) ? यहाँ तो कहते हैं कि कर्म व्यापक और भेद उसका व्याप्य। भगवान आत्मा व्यापक और चैतन्य उसका व्याप्य परन्तु यह (भेद) व्याप्य इसका नहीं। आहाहा!

चैतन्यस्वभाव से व्याप्त जो आत्मा... देखा ? आहाहा! क्रियाकाण्डियों का रस उड़ जाये, इसमें मुश्किल पड़े, बेचारे को दुःख हो। उसे-बेचारे को कठिन पड़े, इसलिये ऐसा कहे। उसकी दृष्टि में विपरीतता है, उसमें ऐसी बात जँचे नहीं। आहाहा!

चैतन्यस्वभाव से व्याप्त... ये भेद व्याप्य, व्यापक कर्म का है, **उससे भिन्नपने से वे गुणस्थान...** आहाहा! **भेदज्ञानियों के द्वारा...** क्योंकि भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद में जाता है। आहाहा! **भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान हैं, इसलिए भी उनका सदा ही अचेतनत्व सिद्ध होता है।** गुणस्थान आदि भेदज्ञान के अनुभव में नहीं आते, इसलिए उनका अचेतनपना सिद्ध होता है।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

९

श्री समयसार कलश टीका, श्लोक ६०, प्रवचन ७६
दिनांक २४-०८-१९७७

कलश टीका, 'कर्ता-कर्म अधिकार' ६० वाँ कलश चलता है। पहले दृष्टान्त दिया। पहले तो सिद्धान्त सिद्ध किया था कि रागादि जो विकल्प हैं, उनसे भगवान आत्मा को भिन्न करना। पहला बोल तो यह लिया। दो तो दृष्टान्त हैं। जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो, आत्म-अनुभूति प्रगट करनी हो तो किस प्रकार से होती है ? राग विकल्प है, चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का राग हो; उस राग से ज्ञायकस्वभाव का भिन्न विचार करना। यह आया था न ? **वस्तु का शुद्धस्वरूप विचारने पर...** आया था न ? आहाहा !

वस्तु जो भगवान आत्मा, वह त्रिकाली शुद्ध है। उसका विचार अर्थात् ज्ञान करने से जो अनादि से पर्याय और राग-द्वेष में ज्ञान झुक गया है, वह मिथ्यादृष्टिपना है। आहाहा ! उसे छोड़कर शुद्धस्वरूप का विचार करने पर... शुद्धस्वरूप का ज्ञान करने पर... उसमें सिद्धान्त तो पहले लिया था। उसके दो दृष्टान्त हैं। समझ में आया ? दृष्टि वहाँ तक बदलना कि चाहे तो स्त्री-कुटुम्ब हो या चाहे तो देव-शास्त्र-गुरु हो, उस ओर से भी लक्ष्य छोड़ना है और शुभराग जो भक्ति आदि देव-शास्त्र-गुरु के प्रति होता है, उस राग का भी लक्ष्य छोड़ना है। आहाहा !

यहाँ तो **शुद्धस्वरूप विचारने पर...** ऐसा आया न ? इसका अर्थ सूक्ष्म है। कल थोड़ी साधारण बात की थी। शुद्धस्वरूप जो निज द्रव्य है, शुद्ध अखण्डानन्द है, वह त्रिकाली द्रव्य है, वह चेतन वस्तु है। उसमें भेद करना कि यह आत्मा गुणी है और उसमें यह गुण है, ऐसा भेद करना, वह परद्रव्य है। समझ में आया ? परद्रव्य से भी लक्ष्य हटाना है। **शुद्धस्वरूप विचारने पर...** आया न ? आहाहा ! ***अपना द्रव्य जो वस्तु है, शुद्ध ध्रुव चैतन्य है, उसमें एक द्रव्य में ऐसा विकल्प उठाना कि मैं यह द्रव्य हूँ और गुण से मैं भेदरूप हूँ-यह विकल्प भी परद्रव्य है।*** आहाहा ! यह तो चतुर्थ बोल याद आ गया है।

असंख्यप्रदेशी एकरूप क्षेत्र है, असंख्य प्रदेशी एकरूप क्षेत्र है, वह स्वक्षेत्र है और उसमें भेद-विकल्प विचारना कि यह प्रदेश यह है और यह प्रदेश यह है, वह परक्षेत्र है। उस

परक्षेत्र से भी दृष्टि हटाना। त्रिकाली चीज़ है, वह स्वकाल है। त्रिकाली चीज़ शुद्धस्वरूप कहा न? ***अकेला त्रिकाली शुद्धस्वरूप, वह स्वकाल है और उसमें अवस्था / पर्याय होती है, वह परकाल है। चाहे तो निर्मल पर्याय हो तो भी वह परकाल है। आहाहा!*** त्रिकाली एक समय में चैतन्य भगवान पूर्ण आनन्द शुद्ध चैतन्य है; उसका विचार करने में, ज्ञान करने में वर्तमान एक समय की पर्याय भी परकाल में जाती है। परद्रव्य की पर्याय परकाल में जाती है। वह तो परकाल है, परन्तु अपना त्रिकाली शुद्ध चैतन्यस्वरूप विचारने पर एक समय की पर्याय भी परकाल में जाती है। और त्रिकाली ज्ञायकभाव, स्वकाल में आता है। यह २५२ (वें) श्लोक में आता है। कलश टीका २५२ (कलश) है न?

यह तो **शुद्धस्वरूप विचारने पर...** आया, उसके ऊपर से विचार आया। आहाहा! यह आया न? २५२ है? बीच में है। **उनका लक्षण** - उनका लक्षण। है? स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल और स्वभाव। परद्रव्य-परक्षेत्र-परकाल और परभाव। उनका लक्षण क्या? आहाहा! **उनका लक्षण-स्वद्रव्य...** है? भाई! भाई को मिला? वेणीप्रसादजी! यह बहियाँ तो तुम्हारी अपेक्षा दूसरे प्रकार की है। आहाहा! **स्वद्रव्य अर्थात् निर्विकल्प मात्र वस्तु,...** आहाहा! अभेद शुद्धस्वरूप निर्विकल्प वस्तु, वह स्वद्रव्य। आहाहा! समझ में आया? **स्वक्षेत्र अर्थात् आधारमात्र वस्तु का प्रदेश,...** असंख्य प्रदेश में भेद भी नहीं। एकरूप स्वक्षेत्र त्रिकाल। **स्वकाल अर्थात् वस्तुमात्र की मूल अवस्था, स्वभाव-वस्तु की मूल की सहज शक्ति।**

अब कहते हैं **परद्रव्य अर्थात् सविकल्प भेद-कल्पना,...** ***आहाहा! देव-गुरु-शास्त्र तो परद्रव्य है उनकी भक्ति का भाव भी परद्रव्य है परन्तु एक द्रव्य में निर्विकल्प (वस्तु में) भेदकल्पना (करना), वह भी परद्रव्य है)*** **परद्रव्य अर्थात् सविकल्प भेद-कल्पना,...** है? अपने द्रव्यस्वरूप में भेदकल्पना का विचार करना, वह परद्रव्य है। आहाहा! सूक्ष्म है। राजमलजी की टीका बहुत सूक्ष्म लिया है। आहा!

सम्यग्दर्शन-अनुभूति किस प्रकार होती है? कि अपना स्वद्रव्य निर्विकल्प चीज़ शुद्धस्वरूप है। यहाँ कहा न? शुद्धस्वरूप को विचारने पर। तो शुद्धस्वरूप तो त्रिकाली द्रव्यस्वभाव है, वह शुद्धस्वरूप है। उसमें भेद करना कि यह त्रिकाली है और गुण का भेद करके विकल्प करना, वह भी परद्रव्य है। आहाहा! है?

परद्रव्य, सविकल्प भेदकल्पना, वह परद्रव्य है। आहाहा! देव-शास्त्र-गुरु, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार आदि तो परद्रव्य है ही। भक्ति का रागभाव है, वह भी परद्रव्य है ही परन्तु यहाँ अन्दर एकरूप चीज़ में, द्रव्यस्वभाव में भेद विचारना... समझ में आया? कि यह ज्ञायक

एकरूप है, उसमें यह द्रव्य है और यह गुण है, ऐसा भेदविकल्प करना, उसका नाम परद्रव्य है। समझ में आया ? आहाहा ! अन्दर है या नहीं ? भाई ! यहाँ तो अपने शुद्धस्वरूप को विचारने पर, आया न ? उसमें ऐसा सूक्ष्म भरा है। आहाहा !

परक्षेत्र (क्या) ? परद्रव्य का क्षेत्र तो भिन्न है ही परन्तु यहाँ परक्षेत्र किसे कहते हैं ? **वस्तु का आधारभूत प्रदेश निर्विकल्प वस्तुमात्ररूप से कहा था, वही प्रदेश सविकल्प भेद कल्पना...** यह असंख्य प्रदेश हैं, ऐसा विकल्प उठाना, वह भी परक्षेत्र है। आहाहा ! समझ में आया ? अकेले अपने स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अस्ति और परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की नास्ति। यह तो एक स्थूल बात हुई।

अब यहाँ अपना द्रव्य जो अखण्ड अभेद शुद्धस्वरूप है, वह स्वद्रव्य है और उसमें यह आत्मा और यह गुण और यह पर्याय – ऐसा भेद उठाना, वह परद्रव्य है। असंख्य प्रदेशी स्वक्षेत्र एकरूप, निर्विकल्प असंख्य प्रदेशी एकरूप निर्विकल्प, वह स्वक्षेत्र है और उसमें ऐसा विचार करना कि यह असंख्य प्रदेश हैं, उसमें यह प्रदेश है और यह प्रदेश है, उसी-उसी (प्रदेश का विचार), हों ! वैसा भेद उठाना, वह परक्षेत्र है। नन्दकिशोरजी ! वहाँ कभी सुना नहीं। वकील स्वीकार तो करता है। आहाहा !

यहाँ तो अभी परदेव-शास्त्र-गुरु की भक्ति से सम्यक्त्व मिल जायेगा (ऐसा मानते हों)। आहाहा ! यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा एकरूप द्रव्य है, उसमें भेद कल्पना करना, उससे भी समकित प्राप्त नहीं होता।

श्रोता : समकित प्राप्त नहीं होता तो क्या प्राप्त होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह विकल्प उठता है और लाभ माने तो मिथ्यात्वभाव होता है। आहाहा ! ऐसा प्रभु का मार्ग है। ग्यारहवीं गाथा में भूतार्थ आया न ? भूतार्थ आश्रित सम्यग्दृष्टि। भूतार्थ यह। त्रिकाल एकरूप शुद्धस्वरूप, जिसमें द्रव्य का भेद नहीं, क्षेत्र का भेद नहीं। आया देखो !

बुद्धिगोचररूप से कहा जाता है। अब परकाल (क्या) ? द्रव्य की मूल की निर्विकल्प अवस्था वह स्वकाल है। क्या कहते हैं ? अवस्था शब्द से यहाँ पर्याय नहीं लेना। द्रव्य की मूल की अभेद अवस्थ। त्रिकालरूप जो काल है, उसका नाम स्वकाल कहने में आया है। समझ में आया ? बाह्य में तो एक समय की पर्याय को स्वकाल कहते हैं और पर की पर्याय को परकाल कहते हैं। यहाँ तो अब अन्दर में भेद करते हैं कि त्रिकाली चीज़ है, वह स्वकाल है।

अवस्था शब्द से पर्याय नहीं लेना। अवस्थ, ऐसा लेना। द्रव्य की मूलरूप निर्विकल्प त्रिकाली अवस्थ। **वही अवस्थान्तर भेदरूप...** पर्याय में लक्ष्य करना। अवस्थान्तर (अर्थात्) त्रिकाली द्रव्य से लक्ष्य छोड़कर अवस्था का लक्ष्य करना, वह परकाल है। समझ में आया? समझ में आये ऐसा है। भाषा तो सादी है बापू! भाषा कहीं ऐसी (कठिन) नहीं है। आहाहा!

भगवान! तू अन्दर कैसा है, उसकी बात चलती है और सम्यग्दर्शन का विषय क्या है, वह कहते हैं। समझ में आया? अनुभूति / सम्यग्दर्शन का विषय क्या है? कहते हैं कि एकरूप द्रव्य है, वह सम्यग्दर्शन का विषय है। यह द्रव्य है और यह भेद है, ऐसा विकल्प करना, वह परद्रव्य है। वह व्यवहारनय का विषय अभूतार्थ है। आहाहा! और भगवान असंख्यप्रदेशी क्षेत्र, एकरूप निर्विकल्प क्षेत्र है, उसे स्वक्षेत्र कहते हैं। उस स्वक्षेत्र में भेद से विचार करना कि यह प्रदेश है और यह प्रदेश है, ऐसा भेद करना, वह परक्षेत्र है। परक्षेत्र भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं।

तीसरी बात। त्रिकाली ज्ञायकभाव एक समय में ध्रुव है, वह स्वकाल है और वह अवस्थ वस्तु, उसमें अवस्थान्तर-पर्याय के अवस्थान्तर पर लक्ष्य जाना, वह परकाल है। आहाहा! डालचन्दजी! ऐसी बातें हैं। है? फिर चार में से निकालकर एकरूप लेना है। समझ में आया? **अवस्थान्तर भेदरूप कल्पना...** इस समय की पर्याय है, ऐसी कल्पना उठाना, वह परकाल है। स्वकाल तो त्रिकाली वस्तु को यहाँ स्वकाल कहने में आता है। आहाहा!

परभाव अर्थात् द्रव्य की सहज शक्ति के... वस्तु की सहज शक्ति,.. दोपहर को चलता है न? उस सहज शक्ति का पिण्ड है, वह स्वभाव है। सहज अनन्त शक्ति का पिण्ड, वह स्वभाव है और **पर्यायरूप अनेक अंश द्वारा भेदकल्पना,...** आहाहा! उन अनन्त शक्तियों में से एक शक्ति का भेदरूप विचार करना, वह परभाव है।

परभाव के कितने भेद? परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, परभाव! दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव, परभाव! यहाँ तो अनन्त शक्ति के पिण्डरूप वस्तु है, उसमें एक शक्ति को भिन्न करके विचार करना, वह परभाव है! आहाहा! ऐसा उत्तराधिकार भगवान छोड़ गये हैं, देखो न! आहाहा! परभाव। द्रव्य की सहज शक्ति जो त्रिकाली एकरूप शक्ति है, उसमें भेदरूप अनेक अंश द्वारा भेदकल्पना। 'यह ज्ञानशक्ति है और यह दर्शनशक्ति है' ऐसी भेदकल्पना करने का नाम परभाव है।

अब (कहते हैं) जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चार हैं, उनमें द्रव्य जो है वह द्रव्य है, क्षेत्र

भी वह, काल भी वह और भाव भी वह है। समझ में आया ? जो अखण्ड द्रव्य है, वही अखण्ड स्वक्षेत्र है, वही अखण्ड त्रिकाल है और वही अखण्ड शक्ति का पिण्ड स्वभाव है। इन चार का भेद पहले समझाया। समझ में आया ? परन्तु पीछे चार भी एक ही वस्तु है। स्वद्रव्य कहो, स्वक्षेत्र कहो, स्वकाल कहो, स्वभाव कहो। वह एकरूप चीज़ है। आहाहा! उसकी दृष्टि करना और उसका विचार करने पर, आया था न ? शुद्धस्वरूप को विचारने पर। उसका ध्यान करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। आहाहा! कहो, वेणीप्रसादजी! कभी सुना नहीं। मजदूरी (की है)। सब संसार की मजदूरी है न। आहाहा! आया ?

पर्यायरूप अनेक अंश... एक-एक शक्ति का भेदरूप विचार करना, वह परभाव है। उसे परभाव कहा जाता है। आहाहा! **'पशुः नश्यति' एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव जीवस्वरूप को नहीं साध सकता...** वह भेद को ही अपना मानता है, वह एकान्ती मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया ? यहाँ तो उसे पशु कहा। पशु क्यों कहा ? **'वध्यते इति पशु'** संस्कृत में ऐसा आता है। भाई! पण्डितजी! वह आता है न ? संस्कृत में आता है। पशु क्यों कहा ? पशु अर्थात् **'वध्यते इति पशु'** वह मिथ्यात्व से बँधता है, इसलिए उसे पशु कहा जाता है क्योंकि पशु का -मिथ्यात्व का फल तो निगोद है। आहाहा! मिथ्यात्व का फल तो निगोद है। निगोद है, वह पशु है, तिर्यंच है। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, वह तिर्यंच का भेद है न ?

कहते हैं कि उस भेद का विचार करने पर वहाँ ही मानकर रुक गया तो वह एकान्ती मिथ्यादृष्टि पशु है। चार का भेद भी छोड़कर—परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव का भी लक्ष्य छोड़कर... स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव, वह एक ही वस्तु है। उसे द्रव्य से कहो तो स्वद्रव्य है, क्षेत्र से कहो तो असंख्यप्रदेशी स्वक्षेत्र, काल से कहो तो त्रिकाली, भाव से कहो तो अनन्त शक्ति का एकरूप। ज्ञानचन्दजी! आहाहा!

यहाँ अपने यह चलता है। यह दृष्टान्त आया है, उससे पहले सिद्धान्त कहा, उसका यह दृष्टान्त है। सिद्धान्त यह कहा **वस्तु का शुद्धस्वरूप विचारने पर भिन्नपनेरूप स्वाद आता है।** आहाहा! समझ में आया ? थोड़ा कठिन पड़े परन्तु प्रभु! मार्ग ऐसा है। आहाहा! उसके ज्ञान में, परलक्ष्यी ज्ञान में भी ऐसे सत्य का निर्धार न हो तो उसे स्वलक्ष्यी ज्ञान नहीं होता। समझ में आया ? यशपालजी! ऐसी बात है।

तीन लोक का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु एकरूप अभेद विराजता है। द्रव्य कहो तो वह; क्षेत्र कहो तो वह; काल कहो तो वह; भाव कहो तो वह है। आहाहा! उसका आश्रय करना,

उसका विचार करने पर–उसका ज्ञान करने पर आत्मा का स्वाद आता है। उसका शब्दार्थ यह है। समझ में आया ? तब अनुभूति होती है। आहाहा ! यहाँ तो लोग अभी बाहर से कोई गुरु की कृपा हो जाये, गुरु से मिल जाये और शास्त्र से मिल जाये, (इसमें पड़े हैं) ऐई ! बलुभाई ! इसने वर्षीतप किया था... वर्षीतप किया था। वर्षीतप समझते हो ? एक दिन भोजन करना और एक दिन उपवास करे, उसे वर्षीतप कहा जाता है। श्वेताम्बर में चलता है। ऋषभदेव भगवान को बारह महीने आहार नहीं मिलता था न ? उसका वे लोग अनुकरण करते हैं। बारह महीने–वर्षीतप अर्थात् ? एक दिन भोजन, दूसरे दिन उपवास, तीसरे दिन भोजन, ऐसे बारह महीने (करना)। आहा ! वह तो कदाचित् राग की मन्दता हो तो पुण्यबन्ध का कारण है और उसे धर्म माने तो मिथ्यात्व साथ में है। आहाहा !

यहाँ तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चार जो परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उन पर दृष्टि रखे तो भी वह मिथ्यात्वभाव है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? भगवान परद्रव्य तो कहीं रह गये। देव–शास्त्र–गुरु परद्रव्य तो कहीं रह गये। है या नहीं भाई ! शिवलालभाई बोटादवाले नहीं ? (संवत्) २०१० के वर्ष में उनके पिताजी ने प्रश्न किया था। २२ वर्ष हुए। प्रश्न किया कि महाराज ! यह देव, गुरु और शास्त्र पर ? वे तो शुद्ध हैं। वे शुद्ध पर हैं ? अगास में बहुत जाते थे। उन्हें ऐसा (लगा कि) देव–गुरु–शास्त्र, सर्वज्ञदेव परमेश्वर, गुरु निर्ग्रन्थ वीतरागी सन्त, सर्वज्ञ भगवान के कथित शास्त्र पर ? भाई ! वह तो लाख बार पर, अनन्त बार पर है। समझ में आया ?

यहाँ तो (कहते हैं) एकरूप वस्तु में भेदकल्पना करना, वह परद्रव्य है। ऐसी बात है। अपूर्व बात है न, भगवान ! आहाहा ! अनन्त काल में पूर्णानन्द के नाथ को दृष्टि में लिया ही नहीं। समझ में आया ? परमात्मस्वरूप पूर्णानन्द अभेद एकरूप निर्विकल्प वस्तु है। आहाहा ! दरबार ! यह सब वहाँ कहाँ था ? द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चार भेद किये। पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तो भिन्न हैं ही। अनन्त द्रव्य तो सिद्ध किये। अनन्त द्रव्य हैं; एक ही द्रव्य है–ऐसा नहीं। परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है, उनकी इसमें नास्ति है। उनके परद्रव्य, क्षेत्र, काल में उनकी अस्ति है, तो अनन्त द्रव्य सिद्ध हो गये। एक ही द्रव्य है, यह बात अत्यन्त झूठ है। सर्व व्यापक एक ही आत्मा है, वेदान्त ऐसा कहता है न ? बिल्कुल पाखण्डदृष्टि है। अलिंगग्रहण में आया है। अलिंगग्रहण है न ? उसमें आया है। अमेहनाकार ऐसा पाठ है। अमेहनाकार। पाखण्डियों को प्रसिद्ध साधनरूप एक ही आत्मा, उसे पाखण्डियों का साधन कहा है। अलिंगग्रहण। मेहनाकार, अमेहनाकार। मेहनाकार यह चौदहवाँ बोल है, अमेहनाकार यह पन्द्रहवाँ बोल है। बीस बोल है न ? अलिंगग्रहण के बीस बोल हैं। वहाँ ऐसा कहा है। (प्रवचनसार) है यहाँ ?

लिंग का अर्थात् मेहनाकार का (पुरुषादि की इन्द्रिय के आकार का) ग्रहण जिसे नहीं... पुरुष की और स्त्री की जो इन्द्रिय है, उससे तो वह (आत्मा) भिन्न है। वह तो जड़ की पर्याय है, उस लिंग से भगवान भिन्न है। पुरुषाकार जो इन्द्रिय है, उससे भगवान भिन्न है। वह तो जड़ की पर्याय है। आहाहा! मेहनाकार-मैथुन की इन्द्रिय से भगवान भिन्न है। ऐसी बात है, भाई! प्रवचनसार-भगवान की दिव्यध्वनि का सार। १७२ गाथा में १४वाँ बोल है। समझ में आया? आहाहा! **इस प्रकार आत्मा शुक्र और आर्तव...** वीर्य और माता का रज, उससे अनुसरणकर नहीं होता। वह तो जड़ की पर्याय है। आत्मा उससे होगा? आहाहा!

अमेहनाकार द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात् लोक में व्यापकपना नहीं, वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार आत्मा पाखण्डियों के प्रसिद्ध साधनरूप आकारवाला-लोकव्याप्तिवाला नहीं है, ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। समस्त आत्मा एक ही हैं, सर्व व्यापक हैं, यह पाखण्डियों ने साधन खड़ा किया है। आहाहा! समझ में आया? शास्त्र में तो सब बात (आयी है)। यह १५वाँ बोल है। है न? 'अमेहनाकार' लोक में व्यापकपना-लोकव्यापक आत्मा पाखण्डियों के प्रसिद्ध साधन के आकारवाला लोकव्याप्तिवाला नहीं है। लोक में व्याप्त होनेवाला आत्मा नहीं है। इसका नाम अलिंगग्रहण कहने में आता है। आहाहा! अरे! शास्त्र का अभ्यास नहीं होता। क्या कहते हैं और क्या है, (उसका अभ्यास नहीं)। अनुभव तो बाद में, परन्तु शास्त्र का अभ्यास तो पहले करना चाहिए न? कि क्या कहते हैं? और क्या सत्य है?

मुमुक्षु : अकेले पढ़ें तो समझ में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु पढ़े तो सही। विद्यालय में हमारे मास्टर थे। उन्हें स्त्री नहीं थी। अभी याद नहीं। स्त्री नहीं थी, (इसलिए) स्वयं पकाते थे। रांधे, समझे? (रसोई बनावे)। उस समय जो होशियार लड़के हों, उनमें से दो-तीन को बुलावे। हम तो विद्यालय में होशियार में गिने जाते थे। दो-तीन लड़कों को बुलावे। काम करे, रोटी बनावे और लड़कों को समझावे। परन्तु इतना कहे कि भाई! तुम पढ़कर आना। यहाँ मैं जो समझाऊँगा, वह पढ़कर आना। समझ में आया? पढ़कर आना। क्योंकि तुम पढ़कर आओगे तो तुम क्या समझे और हम क्या अर्थ करते हैं, उसका भेद तुम्हें समझ में आयेगा। तुम्हारे ख्याल में आयेगा कि मैंने तो ऐसा अर्थ किया था और मास्टर तो इसका दूसरा अर्थ करते हैं तो तुम्हें उसका भेद ख्याल में आयेगा। समझ में आया? वांचन करे, पश्चात उसकी दृष्टि में भले उल्टा बैठे, फिर उसे समझ में आये कि मैं तो इस शब्द का ऐसा अर्थ समझता था और तुम तो दूसरा अर्थ करते हो। समझ में आया? नरोत्तम मास्टर थे, ब्राह्मण थे। यह तो ७५ वर्ष पहले की बात है। नरोत्तम मास्टर थे,

वे हमें बुलाते थे। कणवीवार है, उसमें कमरे में रहते थे। मेढ़ी समझे? ऊपर की मंजिल में रहते थे। वहाँ पकाते थे। हम दो-तीन लड़के जावें। वे पूछें, तुम पढ़कर आये? हाँ। बोलो! इसमें क्या समझे? फिर हम कहें तो वे कहें, अरे! इसका ऐसा अर्थ नहीं है। यह तो ७५ वर्ष पहले की बात है।

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि तुम पहले शास्त्र पढ़ो। तुम्हारी दृष्टि से उसका क्या अर्थ लगता है, बाद में गुरुगम से उसका अर्थ कैसा समझ में आता है। समझ में आया? परन्तु शास्त्र पढ़े ही नहीं तो उसे उल्टी दृष्टि क्या है और सुल्टी दृष्टि क्या है, उसकी कुछ खबर ही नहीं पड़ेगी।

यहाँ कहते हैं, अपने यहाँ आया न? **वस्तु का शुद्धस्वरूप विचारने पर भिन्नपनेरूप स्वाद आता है।** सिद्धान्त तो यह सिद्ध करना है। फिर पीछे दृष्टान्त दिया कि पानी अग्नि से उष्ण होता है और पानी का स्वभाव ठण्डा है। उसका ज्ञान किसे होता है? कि निजस्वरूपग्राही ज्ञानी को। जिसे निजस्वरूप शुद्ध चैतन्यमूर्ति अभेद का ज्ञान हुआ हो, उसे यह पानी ठण्डा है और अग्निपने से गर्म है, ऐसा उसे व्यवहार का ज्ञान सच्चा होता है। आहाहा! समझ में आया?

जिसे अभेद चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का ज्ञान हुआ हो... यह कहा न? निजस्वरूप -ग्राही ज्ञान... उसे ही पानी ठण्डा और उष्णता अग्नि की है, ऐसा भेद (ज्ञात होता है)। जिसे निजस्वरूप का ज्ञान हो, उसे व्यवहार का ज्ञान सच्चा होता है। अब अपने यहाँ सब्जी का दृष्टान्त आया है। तुम्हारे में तरकारी कहते हैं? '**एव लवणस्वादभेदव्युदासः ज्ञानात् उल्लसति**' है? चौथी लाईन है। कल यहाँ तक चला था। क्या कहते हैं? '**एव लवणस्वादभेदव्युदासः ज्ञानात् उल्लसति' जैसे खारा रस...** सब्जी में नमक खारा होता है न? **उसका व्यंजन से भिन्नपने के द्वारा...** व्यंजन अर्थात् सब्जी। व्यंजन समझे? लौकी की, तोरई की, घिसोड़ा की सब्जी, उसे व्यंजन कहा जाता है। उसमें खारापन है, वह नमक का-लवण का है। व्यंजन में **भिन्नपने के द्वारा खारा लवण का स्वभाव ऐसा जानपना...** यह खारापन है, वह लवण का स्वरूप है, सब्जी का स्वरूप खारा नहीं है। लौकी, घिसोड़ा, भिण्डी। यह भिण्डी की सब्जी... भिण्डो कहते हैं न? भिण्डो आता है न? भिण्डी। उस सब्जी का स्वाद भिन्न है और लवण का स्वाद भिन्न है। इन दोनों का स्वाद भिन्न है। सब्जी खारी नहीं, लवण खारा है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

कल श्रीमद् का कहा था न? श्रीमद् राजचन्द्र। यहाँ राणपुर है। प्रेमचन्दभाई आते थे न?

नाराणभाई और प्रेमचन्दभाई दोनों गुजर गये। राणपुर के पास छोटा गाँव है, नाम भूल गये। छोटा गाँव है। वहाँ सब एकत्रित हुए थे। हडमताला, हडमताला नाम का एक गाँव है। वहाँ सब मुमुक्षु इकट्ठे हुए थे, श्रीमद् भी आये थे। बहुत वर्ष पहले की बात है। ५७ वर्ष हुए तो गुजर गये हैं। संवत् १९५७ के पहले की बात है।

(भोजन करने में) सब्जी जहाँ कटोरी में आयी... बाटका (कटोरी का गुजराती शब्द) समझते हो ? कटोरा। कटोरी में सब्जी आयी (तो सब्जी देखकर कहा), भाई ! इसमें नमक अधिक है। देखकर कहा, खाकर नहीं। क्यों ? कि लौकी की सब्जी के टुकड़े पानी में बफते हैं और फिर नमक अधिक पड़ जाये तो उसके रेशा टूट जाते हैं। रेशा टूटे हुए देखकर कहा कि इसमें नमक अधिक है। समझ में आया ? गृद्धि मनुष्य हो, उसे कुछ ख्याल नहीं आवे कि खारापन क्या, उसका ख्याल नहीं आवे। ख्याल आया कि देखो भाई ! इसमें नमक अधिक है। जहाँ चखा वहाँ... अरे ! तुमने चखे बिना किस प्रकार कहा ? परन्तु देखो न ! लौकी टुकड़े पानी में बफते हैं, वहाँ रेशा नहीं टूटते। रेशा समझे ? अन्दर रग (होती है वह) । नमक अधिक पड़ जाये तो रेशा टूट जाते हैं। ऐसे टुकड़े-टुकड़े जैसा लगे। नमक अधिक पड़ा है। आहाहा !

यह खारापना और सब्जी का स्वाद भिन्न है, ऐसी खबर किसे पड़ती है ? आया ? **निज स्वरूप का जानपना उसके द्वारा...** आहा ! पहले उसमें निजस्वरूपग्राही कहा था। यहाँ यह लिया। बात तो एक ही करनी है। **निज स्वरूप का जानपना उसके द्वारा प्रगट होता है।** आहाहा ! यह खारापन है, वह लवण का है। सब्जी खारी नहीं है। समझ में आया ? ऐसे चूरमा है न ? चूरमे में जो मिठास है, वह तो गुड़ की है और आटा है, वह मीठा नहीं है। आटे की (मिठास) नहीं है। मिठास है, वह तो गुड़ की है। ऐसा भिन्नपने के स्वाद का ज्ञान यथार्थ निजस्वरूपी ज्ञान हो, उसे यथार्थ होता है। आहाहा ! बात तो ऊँची है, परन्तु बात तो सत्य है। समझ में आया ?

निज स्वरूप के... 'ज्ञानात्' है न ? **'ज्ञानात्'** ज्ञान किसे कहते हैं ? कि निजस्वरूप के ज्ञान को ज्ञान कहते हैं। शास्त्रज्ञान और पर का ज्ञान, वह ज्ञान नहीं है; वह सब तो अज्ञान है। आहाहा ! समझ में आया ? ज्ञानस्वरूप भगवान का ज्ञान, ज्ञान का ज्ञान। जो स्वरूप भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी है, उसका ज्ञान। स्व आश्रय करके स्वसन्मुख होकर अपनी ज्ञान की परिणति ज्ञानगुण में से आयी, उसे यहाँ **'ज्ञानात्'** कहने में आता है। समझ में आया ? पर्याय में उसके ज्ञान का भेद हुआ, उसका नाम ज्ञान कहते हैं। वस्तु तो वस्तु है। चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा तो वस्तु है, ज्ञान का पिण्ड है, ध्रुव है। उसका आश्रय करने से पर का लक्ष्य

और पर का आश्रय छोड़कर त्रिकाली भगवान ज्ञानस्वरूप का आश्रय करने से अथवा उसके सन्मुख होने से (उसका यथार्थ ज्ञान होता है)। निमित्त, राग, पर्याय, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के चार भेद, इन सबका लक्ष्य छोड़कर... आहाहा! अपनी अखण्ड चीज़ पर दृष्टि करने से जो ज्ञान होता है, उसे यहाँ '**ज्ञानात्**' कहते हैं। समझ में आया ? प्रभु! मार्ग बहुत अलग है। लोगों को बाहर का मिला, उसमें पूरी जिन्दगी चली जाती है।

अरे! मनुष्यपने का एक-एक समय, श्रीमद् कहते हैं... आहाहा! स्फटिकमणि.. क्या कहा यह ? कौस्तुभमणि, कौस्तुभमणि होती है न ? बहुत ऊँची चीज़ होती है। श्रीकृष्ण का जब जंगल में देह छूट गया न ? क्या नाम कहा ? वन का नाम भूल जाते हैं। कौशाम्बी वन। कौशाम्बी वन में श्रीकृष्ण को बहुत प्यास लगी थी, क्योंकि द्वारिका सुलगी। सोने के गढ़ और रत्न के कंगूरों से बनी हुई। देव सहायता करते थे, वे सब चले गये। द्वारिका सुलगी, सोने के गढ़ सुलगे। लकड़ियाँ जले वैसे सोने के गढ़ सुलगे। आहाहा! बलभद्र बड़े भाई और श्रीकृष्ण छोटे भाई। भाई! हम कहाँ जायेंगे ? माता-पिता को तो निकाल (सके नहीं)। बारह योजन लम्बी, नौ योजन चौड़ी द्वारिका सुलगती है। माता-पिता अन्दर हैं। दोनों ने माता-पिता को रथ में बैठाया और दोनों भाईयों ने रथ को जोता। बाहर जहाँ निकलते हैं, वहाँ गढ़ के दरवाजे गिरे। देव का हुक्म हुआ, निकल जाओ, छोड़ दो। तुम्हारे माता-पिता नहीं बचेंगे। छोड़ दो। आहाहा! पीछे दोनों भाई बाहर निकले। माता-पिता मर गये।

अरे! कृष्ण, बलदेव को कहते हैं, भाई! हम अब कहाँ जायेंगे ? स्थान जल गया, कुटुम्ब जल गया, लाखों लोग, कुँवर, कुँवरों की स्त्रियाँ सब जल गये, मकान जल गये। जाना कहाँ ? बलदेव कहते हैं, भाई! हम पाण्डवों के पास जायेंगे। भाई! पाण्डवों को तो हमने देश निष्कासन किया है। श्रीकृष्ण कहते हैं, पाण्डवों को तो हमने देश निष्कासित किया है न! भाई! पाण्डव खानदानी हैं, अपने को मदद करेंगे। भले हमने निकाल दिये हैं, चलो! आहाहा! चलते-चलते कौशाम्बी वन आया। ऐसी प्यास लगी, प्यास लगी... 'तरसे तडफड़े त्रिकमो,' एक सज्झाय आती है। पहले सज्झाय बहुत की थी न! 'तरसे तडफड़े त्रिकमो,' तीनों त। 'तरसे तडफड़े त्रिकमो,' तीन खण्ड का वासुदेव 'तरसे तडफडे।' भाई! मुझे प्यास लगी है। मैं एक कदम नहीं चल सकता। आहाहा! बलदेव कहते हैं, भाई! आहाहा! भाई! तुम यहाँ बैठो, मैं पानी लेकर आता हूँ। पानी या पानी का लोटा कुछ साथ नहीं था, वृक्ष के पत्ते थे, उनका लोटा बनाया। बलदेव बुद्धिवाले होते हैं। लोटा जैसा बनाया और पानी लेने गये।

वहाँ पीछे से जरतकुमार (आया), उसे खबर नहीं कि यह कृष्ण है। कृष्ण तो

महापुण्यवन्त प्राणी थे। वासुदेव थे न! तो उनके पैर में पद्ममणि थी। पद्म.. पद्म.. ऐसे पैर ऊँचा रखकर सो रहे थे। जरतकुमार को लगा कि यह हिरण है। पैर पर पैर रखकर सो रहे थे। पैर में पद्म था, उसमें आँख जैसा लगता था। जरतकुमार को उसे देखकर हिरण जैसा लगा। बाण चलाया। बाण चलाकर जहाँ नजदीक आते हैं, वहाँ कृष्ण ने पुकार किया कि निरपराधी को मारनेवाला कौन है? देह छूटने से पहले इतनी आवाज आयी। आहाहा! वहाँ जरतकुमार आया। अरे रे! प्रभु! तुम यहाँ? मैं बारह-बारह वर्ष से आपके कारण (जंगल में रहा)। भगवान ने कहा था, इसलिए मैं बारह वर्ष से जंगल में रहता हूँ और प्रभु! तुम यहाँ कहाँ आये? आँसू की धारा बहती जाती है। अभी जीवित हैं, मरने की-देह छूटने की तैयारी है।

जरतकुमार को कहते हैं, भाई! तू यहाँ से चला जा। पाण्डवों के पास जा। मुझे तो उस कौस्तुभमणि का कहना है। कृष्ण के पास कौस्तुभमणि था। वह वासुदेव को होती है, दूसरे के पास नहीं होती। अरबों रुपये की कीमत होती है। कौस्तुभमणि होती है। वह जरतकुमार को दिया और कहा, जा भाई! पाण्डवों को बताना कि यह वासुदेव का कौस्तुभमणि है तो तेरी रक्षा करेंगे। उन्हें पहिचान होगी। आहाहा!

इसी प्रकार यहाँ मनुष्य देह का कौस्तुभमणि जैसा एक-एक समय है। आहाहा! आत्मा का धर्म करने के लिये कौस्तुभमणि है। पाण्डवों के पास वह कौस्तुभमणि लेकर जाने का है। इसी प्रकार इस मनुष्यपने में अपने आनन्दकन्द प्रभु के पास जाना हो तो यह कौस्तुभमणि कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ कहते हैं, आहाहा! **निजस्वरूप का जानपना उसके द्वारा प्रगट होता है।** क्या प्रगट होता है? सब्जी और खारापन - दो की भिन्नता। जिसे आत्मा का ज्ञान हुआ है, उसे इन दो की भिन्नता का भास होता है। जिसे राग की एकताबुद्धि-मिथ्यात्व है, उसे तो लवण खारा है और सब्जी भिन्न है, ऐसा भेद यथार्थ भासित नहीं हो सकता। आहाहा! देखो! परमात्मा का पन्थ तो देखो! ओहोहो! है? राजमलजी ने यह टीका की, **'ज्ञानात्'** का अर्थ किया। गृहस्थ थे। कमाल किया है! आहाहा!

मुमुक्षु : अभी तो (रहस्य) आप खोल रहे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें है न, भगवान! आहाहा!

निजस्वरूप का जानपना। यह निजस्वरूप शब्द (अर्थात्) अभेद त्रिकाली। यह चार भेद भी निकाल दिये। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद नहीं। अभेद निजस्वरूप भगवान आत्मा

का जिसे ज्ञान है, उस निजस्वरूप के जानपनेवाले को... क्या कहा? साग; सब्जी को क्या कहते हैं? तरकारी। तरकारी और खारेपन की भिन्नता का उसे भान होता है। गृद्धि है, उसे भान नहीं होता। समझ में आया? यह सब्जी की खिचड़ी करते हैं न? खिचड़ी में नमक डालते हैं। दूसरे देश (प्रदेश) में तो चावल में भी नमक डालते हैं। चोखा समझे? चावल में भी नमक डालते हैं। अपने यहाँ खिचड़ी में डालते हैं, वहाँ चावल में भी नमक डालते हैं। सुना है, अपन ने कहाँ (देखा है)? मुसलमान भी चावल में नमक डालते हैं। आहाहा!

एक बार ऐसा बना कि थाली में खिचड़ी आयी। ऐसा देखा तो बहुत खारी लगी और सत्ता प्रिय मेहमान आये थे। लड़की के ससुर आये थे। सत्ता प्रिय समझे? सेठ ने खिचड़ी में जहाँ खारापन देखा वहाँ... अरे रे! अभी इस सेठ को बहुत खराब लगेगा। इसलिए पूछा, किसने इसमें नमक डाला है? तो दो-चार महिलाएँ कहें, अभी बोलना नहीं। ख्याल आ गया कि मैंने एक बार नमक डाला था, पीछे दूसरी बहिन ने बाद में नमक डाला। दो की खिचड़ी पकाते हों, उसमें एक बार तो डाला हो, दूसरी बहिन आयी, उसे लगा कि नहीं डाला होगा, ऐसा सोचकर डाला। इसलिए महिलाएँ तो बेचारी कहे, बोलना नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, जो खारापन है, वह खिचड़ी का नहीं, वह तो नमक का है। उस नमक के और खिचड़ी के भेद का ज्ञान, निजस्वरूप का ज्ञान होता है, उसे परप्रकाशक ज्ञान यथार्थ होता है, ऐसा कहते हैं। बलुभाई! यह सब तुम्हारी दवा में नहीं आता। सब व्यर्थ। आहाहा! है?

भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार लवण के संयोग से व्यंजन संभारते हैं... संभार करते हैं न नमक डालकर? संभार करते हैं। **तो खारा व्यंजन ऐसा कहा जाता है,...** बोलने में ऐसा आता है कि सब्जी खारी, खिचड़ी खारी, रोटी खारी। रोटी में भी नमक डालते हैं। बाजरे की रोटियाँ बनावे न? उसमें नमक डालते हैं, तो वह नमक खारा है, वह भिन्न चीज़ है और बाजरे का आटा है, वह भिन्न चीज़ है। आहाहा!

कहते हैं कि **लवण के संयोग से व्यंजन...** व्यंजन अर्थात् सब्जी। संभारते हैं न? सब्जी में तेल डालकर संभार* करते हैं। क्या कहा? हमारे काठियावाड़ में संभार कहते हैं। वह संभार शब्द लिया है, हिन्दी में लिया है। **तो खारा व्यंजन ऐसा कहा जाता है, जाना भी जाता है,...** आहाहा! **स्वरूप विचारने पर खारा लवण, व्यंजन जैसा है वैसा ही है।** सब्जी खारी हुई ही नहीं। इसी प्रकार भगवान आत्मा पुण्य-पाप के भाव के भेदभावरूप आत्मा हुआ

* बघारना, छोंक देना।

ही नहीं। समझ में आया ? जैसे वह सब्जी खारी हुई नहीं; वैसे भगवान आत्मा दया, दान, व्रतादि के विकल्प अथवा भेद, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेदरूप अभेद आत्मा हुआ ही नहीं। अज्ञानी को भेद और रागरूप भासित होता है, वह दृष्टि मिथ्यात्व है। आहाहा! धर्मी को तो आत्मा अभेद भासित होता है। आहाहा!

विचारने पर... कहा न ? ज्ञान करने पर, द्रव्य का ज्ञान करने पर, वस्तु का ज्ञान करने पर, अखण्डानन्द नाथ प्रभु का ज्ञान करने पर... आहाहा! आनन्द का स्वाद (आता है)। अनादि से राग का स्वाद था, वह छूटकर आनन्द का स्वाद आता है, उसका नाम अनुभूति और उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! समझ में आया ? यह कोई गुरु की कृपा या भगवान की कृपा से मिल जाये, ऐसी वह चीज़ नहीं है।

श्रोता : गुरु की कृपा से क्या मिले ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उनकी कृपा होती नहीं, वह तो अन्दर में प्रगट हुआ हो, तब कृपा कहने में आती है। आहाहा! यह ६० श्लोक हुआ। ६० में बहुत सरस बात की! निजस्वरूपग्राही। ऐसा अर्थ तो... आहाहा! राजमलजी ने किया है। जिसे निजस्वरूप का ज्ञान नहीं, उसे शास्त्र का ज्ञान भी यथार्थ नहीं। समझ में आया ? वह शास्त्र का अर्थ भी विपरीत करेगा। व्यवहार से निश्चय होता है, निमित्त से उपादान में होता है, (ऐसा अर्थ करेगा)। क्या हो ?

श्रोता : बहुत प्रयोजनभूत बात आयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रयोजनभूत आयी, हमारा सेठ प्रसन्न हुआ, लो! सत्य बात है, भाई! परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को पर में डाल दिया। आहाहा! निजस्वरूप का अर्थ अभेद। आहाहा! अभेद का ज्ञान होने से पर का यथार्थ ज्ञान उसे होता है, बाकी पर का यथार्थ ज्ञान भी नहीं होता। शास्त्र के अर्थ भी वह तो उल्टे करेगा। अज्ञानी को स्वरूप का ज्ञान नहीं तो शास्त्र का अर्थ भी उल्टा करेगा। व्यवहार से होता है, निमित्त से होता है, क्रमबद्ध नहीं है, (ऐसे अर्थ करेगा)। आहाहा! समझ में आया ? यह निजस्वरूप के ज्ञान के अभाव में विपरीतता है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

(१०) श्री इष्टोपदेश, गाथा २१-२२, प्रवचन २०
दिनांक ०६-०४-१९६६

'इष्टोपदेश' हितकारी उपदेश। मुनि दिगम्बर पूज्यपाद स्वामी हैं, उन्होंने कहा है। पहले ऐसा हुआ, उसका अर्थ कि यह आत्मा पहले शास्त्र से जानना चाहिए कि इस लोकालोक को जाननेवाला यह आत्मा है। लोकालोक अस्ति है न? वस्तु, वस्तु है - ऐसा जाननेवाले के बिना यह वस्तु है - ऐसा किसने कहा? समझ में आया? यह लोक और यह अलोक है। उसे जाननेवाला ज्ञान है। ज्ञानस्वभाव आत्मा है, वह लोकालोक का जाननेवाला है - ऐसा इसे पहले निर्णय करना चाहिए। वह शरीरप्रमाण है, अपने शरीरप्रमाण है। वह ऐसे सर्वत्र व्यापक नहीं है। ऐसे नित्य है, कायम वह की वह चीज़ नित्य रहती है और अनन्त आनन्दमय है, सुखवाला तत्त्व है और स्वसंवेदनस्वरूप है, वह स्वयं अपने से जाना जा सके, ऐसा ही वह आत्मा है। उस आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि वह स्वसंवेदन आत्मा आनन्दमय और ज्ञानमय स्वयं से स्वयं वेदकर जाना जा सकता है, ऐसा उसका तत्त्व है। कोई निमित्त से या राग की मन्दता के भाव से वह ज्ञात हो, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। समझ में आया? उपदेशक के उपदेश से ज्ञात हो, ऐसा वह आत्मा नहीं है।

श्रोता : सबका खण्डन हो जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सबका खण्डन है, परन्तु यह तो वापस अपने अज्ञान के खण्डन की अन्तिम बात है। ऐसा कि दूसरे बहुतों को हम समझावें तो अपने को कुछ लाभ हो, ऐसा स्वरूप में नहीं है। समझ में आया? दूसरों को समझाने का विकल्प है, वह तो पुण्यबन्ध का कारण है; आत्मा को लाभ का कारण नहीं, क्योंकि स्वयं उससे ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

श्रोता : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं, उसके कारण बिल्कुल है नहीं। क्या कहना है तुम्हारे? अपना ज्ञान और आनन्द स्वयं स्वत: स्वरूप है, अर्थात् स्वत: स्वभावी स्वत: से ही वेदनकर अनुभव किया जा सकता है। बिल्कुल किसी की अपेक्षा है नहीं, ऐसा यह आत्मा है। समझ में आया?

यहाँ पर किसी की यह शंका है कि प्रमाणसिद्ध वस्तु का ही गुणगान करना उचित है। देखो ! शिष्य का प्रश्न है कि जो वस्तु प्रमाण से साबित हो, प्रमाण से सिद्ध हुई हो, प्रमाण से उस वस्तु की सिद्धि ज्ञान में आयी हो, उसका गुणगान करना चाहिए। जो चीज़ प्रमाण से ख्याल में नहीं आयी, उसका गुणगान क्या ? समझ में आया ? **प्रमाणसिद्ध वस्तु का...** प्रमाण से, ज्ञान से ऐसे सिद्ध / साबित सत्ता (हुई हो), यह है – ऐसा यदि सिद्ध हुआ हो, तो **गुणगान करना उचित है।**

परन्तु आत्मा में प्रमाणसिद्धता ही नहीं है... शिष्य का प्रश्न है। आत्मा में प्रमाण की सिद्धता ही नहीं है। प्रमाण से वह आत्मा किस प्रकार सिद्ध होगा ? **वह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है।** किसी प्रमाण से आत्मा का भान हो सके, ऐसा वह है नहीं – ऐसा हमें लगता है। वह तो अरूपी ज्ञानघन है। वह किस प्रकार अपने को किसी प्रमाण में आवे ? – ऐसी शिष्य की शंका है।

तब ऊपर कहे हुए विशेषणों से किसका... शिष्य प्रश्न करता है, तुमने ऊपर कहा कि ऐसा लोकालोक का जाननेवाला, अनन्त सुखस्वरूप, शरीरप्रमाण, नित्य और ऐसा-ऐसा (आत्मा है), ऐसे गुणगान (किये) परन्तु किसके ? प्रमाण में आये बिना किसके गुणगान ? **विशेषणों से किसका और कैसा गुणवाद ?** ये विशेषण जो कहे, वे किसके ? और किसके विशेषण ? प्रमाण में आये बिना किसके ? समझ में आया ? और किसके गुणवाद ? **ऐसी शंका होने पर आचार्य कहते हैं कि वह आत्मा 'स्वसंवेदन-सुव्यक्त है,'...** देखो ! पहला शब्द आया। इस श्लोक में जो था न मूल ? **'स्वसंवेदन-सुव्यक्त है,'...** यह आत्मा स्वयं से वेदन किया जा सकता है, जाना जा सकता है, ऐसा ही उसका स्वभाव है। सुव्यक्त ऐसा ही उसका प्रगट स्वभाव है। समझ में आया ?

स्वसंवेदन नामक प्रमाण के द्वारा... प्रमाण यह है, यह प्रमाण है। अपने आत्मा को जानने का स्वसंवेदन स्वयं यह आत्मा है। ऐसे ज्ञान द्वारा ज्ञेय करके ज्ञाता आत्मा और ज्ञेय स्वयं-ऐसे अन्दर जानकर प्रमाण से सिद्ध होने योग्य तो इस प्रकार से है। समझ में आया ? **स्वसंवेदन नामक प्रमाण के द्वारा अच्छी तरह प्रगट है। अच्छी तरह प्रगट है।** बराबर प्रगट है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप चैतन्यज्योति है। चौदह ब्रह्माण्ड में अपना भिन्न तत्त्व, लोकालोक को जाननेवाले स्वभाववाला तत्त्व अपने ज्ञान से ज्ञात हो, ऐसा वह प्रगट आत्मा है। कहो, समझ में आया इसमें ?

उसका आधार देते हैं। **'वेद्यत्वं वेदकत्वं च।' 'जो योगी को खुद का वेद्यत्व व खुद**

के द्वारा वेदकत्व होता है, बस, वही स्वसंवेदन कहलाता है। क्या कहते हैं? जो धर्मी जीव को.. योगी अर्थात् आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध, लोकालोक का जाननेवाला, अनन्त सुखस्वरूप, शरीरप्रमाण, नित्य है। ऐसे आत्मा के अन्तर में एकाग्र होनेवाले। योगी अर्थात् उसमें जुड़ान करनेवाले। पुण्य और पाप के राग तथा संयोगों का लक्ष्य का जुड़ान छोड़कर और स्वरूप शुद्ध चैतन्यधाम अनाकुल आनन्दकन्दस्वरूप है, उसमें जिसने जुड़ान—अन्तरयोग जोड़ा है, ऐसे धर्मी को खुद का वेदत्व खुद / स्वयं ही ज्ञेय है और **खुद के द्वारा वेदकत्व...** स्वयं के द्वारा ज्ञाता भी स्वयं और **खुद के द्वारा वेदकत्व...** अर्थात् ज्ञेय और खुद के द्वारा वेदकत्व अर्थात् ज्ञाता। वह जाननेवाला भी स्वयं और ज्ञेय-ज्ञात होने योग्य भी स्वयं। सूक्ष्म बात है यह।

स्वयं, स्वयं से ही ज्ञात होने योग्य है। यह ज्ञेय भी स्वयं और ज्ञाता भी स्वयं। जाननेवाला ज्ञाता और ज्ञेय स्वयं। स्वयं को स्वयं ज्ञेय और स्वयं अपना ज्ञाता। आहाहा! समझ में आया? राग ज्ञेय और आत्मा ज्ञाता-ऐसा भी नहीं और राग जनवानेवाला और आत्मा जाने, ज्ञेय, वह जनवानेवाला ज्ञाता को वह ज्ञेय हो, ऐसा भी नहीं। क्या कहा? जरा समझ में आया? भगवान आत्मा... ऐसे राग भाग है, वह आत्मा को जनाने में सहायता करे, ऐसा नहीं तथा राग उसे जान सके या राग का आत्मा ही ज्ञेय करे तो आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं।

श्रोता : तो राग गया कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : ***राग, आत्मा में है ही नहीं। ज्ञेय-ज्ञायक में राग है ही नहीं। समझ में आया? आहा! जानने में आने योग्य भी आत्मा और जाननेवाला भी आत्मा। यहाँ तो जाननेयोग्य रागादि ज्ञेय, ऐसा भी नहीं, भाई!*** ऐसा इतना सिद्ध करना है। रागादि जाननेयोग्य, ऐसा भी नहीं, शरीर आदि जनाने (योग्य), वह नहीं, वह वस्तु नहीं।

भगवान आत्मा स्वयं का स्वरूप ही इतना है कि स्वयं ही अपना ज्ञाता हो और स्वयं ही अपना ज्ञेय हो। लोकालोक का जो ज्ञेय है, वह तो दूसरी अपेक्षा से बात की है। उस लोकालोक को जानने जितना यहाँ स्वभाव है, ऐसी की बात है। समझ में आया? लोकालोक ऐसे नहीं। लोक और अलोक जितना अस्तित्व है, उस अस्तित्व की मौजूदगी के ज्ञानवाली मौजूदगी उसे जाने। उसके बिना यह अस्तित्व है-ऐसा जाना किसने? समझ में आया? वह अपना ज्ञान इतना है, ऐसा। लोकालोक के कारण से नहीं। ज्ञानस्वभाव, जिसका 'ज्ञ' स्वभाव-जानकस्वभाव, वह स्वभाव ही स्वयं लोकालोक को जानने जितना वह अपना स्वयं का स्वरूप है। समझ में आया? आहा!

शिष्य कहता है, परन्तु जो वस्तु प्रमाण में आये बिना किसके गुणगान? किसके

विशेषण ? किसके (विशेषण) दिये तुमने ये सब ऐसे ? इतना बड़ा, इतना बड़ा और ऐसे गुण, इतना बड़ा और ऐसे गुण। ऐई ! परन्तु किसके ? कोई प्रमाणसिद्ध वस्तु हुई हो, उसके या उसके बिना ? सुन न ! स्वयं से प्रमाणसिद्ध होने के योग्य आत्मा है। धर्मी जीव को.. योगी अर्थात् धर्मी। योगी अर्थात् वे बाबा-बाबा घूमते हैं, वे योगी नहीं।

भगवान आत्मा एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में लोकालोक जानने का जितना ज्ञान धराता है, अपने में, हों ! अनन्त आनन्द है, शरीरप्रमाण है, नित्य है। वह स्वसंवेदन से अपने ही प्रमाणज्ञान से प्रमेय हो सके; अपने ही प्रमाणज्ञान से अर्थात् ज्ञान कहो या प्रमाण कहो और ज्ञेय कहो या प्रमेय कहो। अपने ही प्रमाण से स्वयं प्रमेय अर्थात् ज्ञेय हो सकता है। आहाहा ! समझ में आया ?

वस्तु है या नहीं ? वस्तु। वस्तु है, उसमें तो ज्ञानस्वभाव है। लोकालोक को जाने, इतना ज्ञानस्वभाव है और उसमें आनन्दस्वभाव है। जो स्वभाव है, वह स्वयं ज्ञाता होकर अपना ज्ञेय करके जानने के योग्य स्वभाव है। दूसरे को ज्ञेय करे और ज्ञात हो या दूसरे का ज्ञाता तो दूसरा हो सकता नहीं, परन्तु दूसरे को ज्ञेय करे और इसका ज्ञाता हो, ऐसा नहीं है। स्व का ज्ञेय और ज्ञाता होने का उसका (आत्मा का) वास्तविक यथार्थ स्वभाव है। आहाहा !

बात यह है कि ये सब हड्डियाँ-बड्डिया-चमड़ा यह तो सब जड़ है, मिट्टी, धूल है। उनका जाननेवाला है। उनका जाननेवाला अर्थात् ? उनका जो स्वरूप है, वैसा जानने का स्वरूप अपने ज्ञान में है। उनके कारण नहीं। इसका ज्ञानस्वभाव ऐसा है। जगत में लोकालोक है, उसमें एक जाननेवाला ज्ञान अपने स्वभाव के सामर्थ्यवाला न होवे तो 'यह है'-ऐसा किसने कहा ? इसलिए इसके कारण (हैं, ऐसा) नहीं। यह जो सत्तावाला है-अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणु हैं, उनके कारण नहीं, परन्तु वह सत्ता है, ऐसी यह एक सत्ता लोकालोक के जानने के स्वतः स्वभाववाला पूरा ज्ञान और आनन्दस्वरूप स्व सत्ता है। आहाहा ! समझ में आया ? ***पर को ज्ञेय करना नहीं और पर का जाननेवाला होना नहीं, यहाँ तो ऐसा कहते हैं।*** आहाहा ! गजब बात, भाई ! यहाँ तो कहे परन्तु कितनी क्रियाएँ बाहर की ! पोपटभाई ! यह कौन करे क्रिया ? वह तो उसके कारण बाहर का (होता है)। यह तो स्वयं अपना ज्ञाता और स्वयं अपना ज्ञेय, यह समा जाए, ऐसा इसका स्वभाव है। आहाहा !

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ख्याल भी कहाँ लिया है ? हीरा तो बहुत ऊँचा (कीमती) परन्तु

इसने नजर कहा की है ? कहो, नजर किये बिना आँखें बन्द करके ? बहुत (ऊँचा) हीरा, बहुत ऊँचा, बहुत ऊँचा अरे ! उसका तेज और इसका तेज !! परन्तु किसका तेज !

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कहाँ करता है ? कहता ही नहीं वास्तव में तो। यही कहते हैं कि यहाँ प्रमाण से सिद्ध होनेयोग्य वस्तु इस प्रमाण से सिद्ध होती है, दूसरे किसी प्रकार से साबित हो, वह वस्तु नहीं है। इसने प्रमाण कब किया है ? ऐसा कहते हैं। आहाहा ! समझ में आया ?

बाहर की प्रवृत्ति की क्रियाएँ तो स्वतन्त्र जड़ की (होती है), उन्हें जानना, वे ज्ञेय है- ऐसा भी यहाँ तो नहीं है। आहाहा ! यह तो जो जगत का लोक और अलोक महासत्तास्वरूप हो, परन्तु उसे जाननेवाली सत्ता स्वभाव मेरा ज्ञान ही इतना है। लोकालोक को अर्थात् 'ज्ञ' स्वभाव है। 'ज्ञ' स्वभाव है, उसका सत्व ही इतना है कि जितना जगत में सत्व है, उसे स्पर्श किये बिना, उसका लक्ष्य किये बिना, उस सत्ता की उपस्थिति है, इसलिए नहीं। समझ में आया ? उस सत्ता की मौजूदगी इतनी है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? भगवान ज्ञान अन्तर ज्ञान वस्तु के प्रमाण से वह स्वयं ही प्रमेय होता है। वह प्रमेय होता है, वह ज्ञेय होता है और वह ज्ञाता (होता है)। वह स्वयं ज्ञेय और ज्ञाता है। पर, ज्ञेय और आत्मा, ज्ञाता-यह सब व्यवहार की बातें हैं। समझ में आया ? आहाहा !

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : एक ही पक्षी। बराबर सत्य का एक पक्षी चुकादा होवे न ? दो का चुकादा अच्छा होगा ? तू भी सच्चा और तू भी सच्चा - ऐसा होगा वहाँ ? एक सत्य पक्षी चुकादा है। आहाहा !

कहते हैं कि धर्मी जीव को... धर्मी ने स्वयं ज्ञान को ज्ञेय बनाकर अथवा ज्ञान से ज्ञेय बनाकर अपना प्रमाण सिद्ध किया है। प्रमाण सिद्ध किया है कि यह आत्मा। किसी के प्रमाण से नहीं, किसी के आश्रय से नहीं, किसी के सहारे नहीं, किसी के द्वारा नहीं, किसी ने कहा कि ऐसा (आत्मा), इसलिए (प्रमाण किया है)-ऐसा नहीं। समझ में आया ? आहाहा ! ऐसा ही उसका स्वभाव है। अभी कहेंगे, समझ में आता है ?

स्वसंवेदन नामक प्रमाण के द्वारा अच्छी तरह प्रगट है। अनुमान भी नहीं। समझ में आया ? परोक्ष नहीं। ओहोहो ! भगवान आत्मा चैतन्य का सूर्य प्रभु, लोकालोक जितना है, उसे स्पर्श किये बिना, लक्ष्य किये बिना, उसका लक्ष्य किये (बिना) इसका स्वभाव ही लोकालोक को जानने का स्वभाव है। उस स्वभाव को जाननेवाले को किसी की अपेक्षा है नहीं। समझ

में आया ? गजब बात लगे ! बाहर की बात समझ में आये, लो ! सामायिक करो, प्रौषध करो। ए.. भगवानभाई ! समझ में आये अज्ञान, अज्ञान, हों ! वहाँ कहाँ भान था कुछ ? ए.. मूलचन्दभाई ! प्रौषध कर डाले। स्थूल शरीर हो और रात्रिभोजन न करे उसमें क्या वहाँ व्यवधान ? जरा इतना सूखे तो और तीन लड्डू चढ़ा जाये वापस। चना पोचा हुआ हो तो वापस पानी में डाला थोड़ा। उसमें कुछ है ? वह भी धर्म कब था। सुन न ! ऐ.. देवशीभाई ! तब इतना अलग नहीं था, ऐसा (ये) कहते हैं। तब इकट्ठा हो गया। अरे ! विद्यमान को अविद्यमान करे। अनुभव प्रकाश में नहीं आया ?

श्रोता : ऐसा सुना हुआ नहीं था।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं था। बात सत्य, बात सत्य। एक पिता हो, बाजार में बाहर निकला और लड़के घर में रहे। उसे पूछे कि तुम्हारे लड़के हैं ? तो इनकार करेगा ? साथ में नहीं न ? साथ में नहीं न ? साथ में नहीं अर्थात् घर में पड़े हैं या बैठे हैं या नहीं ? विद्यमान को अविद्यमान करे ? अनुभव प्रकाश में ऐसा दृष्टान्त दिया है। समझ में आया ? विद्यमान को अविद्यमान करे ? इसी प्रकार भगवान विद्यमान ज्ञानस्वभाव पूर्ण लोकालोक की अपेक्षा रखे बिना लोकालोक को जानने के स्वभाव का सत्व है। ऐसा भगवान अन्दर है, उस विद्यमान को अविद्यमान कौन करे ? समझ में आया ? वयोवृद्ध अकेला सब्जी लेने बाहर निकला हो। घर में यहाँ काम न हो। बापू ! तुम्हारे कोई लड़का नहीं ? तो वह इनकार करेगा ? लड़का नहीं, ऐसा कहेगा ? बापू ! लड़के तो आठ हैं, बड़े लोहे जैसे, परन्तु काम करते हैं अभी। लड़की का ससुर सब लेकर आया है और वह है जरा सत्ता प्रिय। इसलिए उसको सामने सम्हालने के लिये वहाँ रुके हैं। पोपटभाई ! सत्ता प्रिय हो, जरा कड़क हो और वह सामने ठीक से न सम्हाले तो... हो जाये। यह दुनिया कोई पागल है न परन्तु...

यहाँ कहते हैं कि भगवान विद्यमान को अविद्यमान कहे कौन ? घर में लड़के पड़े हैं, और साथ में नहीं हैं, इसलिए नहीं हैं, ऐसा कहे वह ? इसी प्रकार भगवान आत्मा एक समय में अखण्डानन्द लोकालोक को जाननेवाला तत्त्व और पूर्णानन्दवाला तत्त्व है। वह नहीं है – ऐसा कौन कहे ? कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा !

श्रोता : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : यही प्रमाण हुआ। यह प्रमाण तब ही प्रमाण कहलाया। यह अपना ही प्रमाण है, ऐसा कहते हैं। किसी के प्रमाण की इसे आवश्यकता नहीं है। यह अपने गुण को गाया, ऐसे गुण और ऐसे गुण और ऐसा है, यह ज्ञान द्वारा जाना, यही उसका प्रमाण है, दूसरा

कोई प्रमाण है नहीं। धर्मी को वह अपना ही प्रमाण है, दूसरे का प्रमाण उसे है नहीं। भगवान कहते हैं, इसलिए माना, ऐसा भी नहीं है – यहाँ तो ऐसा कहते हैं। सर्वज्ञ ने कहा, इसलिए यह माना है, ऐसा नहीं है। भाई! अपने से वेदन किया है, जाना है कि यह आत्मा ऐसा है। ओहो! अकेला चैतन्य का पुंज और वह ज्ञेय तथा ज्ञान दोनों मैं ही हूँ। दूसरी चीज़ मेरी अपेक्षा से जगत में नहीं है। ऐसा है।

श्रोता : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : वह होवे (तो) उसके घर में। उसके कारण मैं नहीं, उसके कारण मेरा ज्ञान नहीं। उसके कारण मेरी सत्ता तो नहीं परन्तु उसकी सत्ता है इसलिए मेरा इतना ज्ञान है, ऐसा नहीं – ऐसा यहाँ कहते हैं। १९ गाथा लेने के बाद यहाँ से कैसी गाथा ली, देखो!

भाई! प्रभु ऐसे विद्यमान है न बड़ा! आहाहा! छह-छह लड़के बड़े गोरे (अंग्रेज) जैसे छह-छह हाथ के लम्बे और निरोगी शरीर (हो), रोग आया न हो, रोग आने की तैयारी न हो, ऐसे घर में बैठे हों और इनकार करे कि मेरे लड़के नहीं हैं। मूर्ख है न वह ? कहे कोई ? इसी प्रकार भगवान पूरी दुनिया के छह द्रव्य लोक में पड़े हैं, उन्हें लक्ष्य किये बिना, उन्हें स्पर्श किये बिना, उनकी अस्ति है, इसलिए इसकी अस्ति है, ऐसा नहीं-ऐसा भगवान अन्तर एक समय में पूर्ण जानने के स्वभाववाला पूरा तत्त्व है। वह स्वयं ही अपने प्रमाण से ज्ञेय करके स्वयंसिद्ध हो सकता है। उसे दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। समझ में आया ? आहाहा!

बस, वही स्वसंवेदन कहलाता है। अर्थात् उसी को आत्मा का अनुभव व दर्शन कहते हैं। लो! उसे आत्मा का अनुभव अथवा दर्शन कहने में आता है। यह स्वसंवेदन कहो, अनुभव कहो, सम्यग्दर्शन कहो या जो कहो वह यह है। समझ में आया ? बाद में कहेंगे, हों! ये सब व्यवहार के विकल्प और साधन-फाधन वहाँ बिल्कुल काम नहीं आते। यह बाद में कहेंगे। विकल्प आदि भले हो, वहाँ आत्मा के साधन में वे जरा भी काम नहीं आते। आहाहा! समझ में आया ? ज्ञानचन्दजी! स्वयं कैसा ज्ञानचन्द्र है, कहते हैं देखो! आहाहा!

जिसका स्वभाव, जिसका स्वरूप, स्व-रूप, स्व-रूप, अरूप-स्वरूप, जिसका सत्व, जिसका स्वभाव इतना है, उसे दूसरे के प्रमाण से माननेयोग्य कहाँ रहा ? वह तो अपने ज्ञान के वेदन से ज्ञान, ज्ञाता से ज्ञेय हो सकने के (योग्य), स्वयं ज्ञेय होने के योग्य और स्वयं ज्ञान, ज्ञाता होने के योग्य, ऐसा उसका स्वभाव है, कहते हैं। आहाहा! व्यवहारवाले को भारी कठिन लगे, हों! यह व्यवहार भगवान का यह करे तो हो, यह करे तो हो, मन्दिर बनावे, पूजा

करे, भक्ति करे, यात्रा करे.. धूल भी नहीं होता, सुन! कहते हैं। ऐई! अभी इन्हें मन्दिर बनाना है न बाकी ? पाँच-दस लाख का मन्दिर बनाकर यात्राएँ निकालीं, उससे आत्मा बिल्कुल ज्ञात नहीं होता, ले! ऐसा कहते हैं। आहाहा! गले उतारना भारी। और वापस निकाले... हिम्मतभाई भी वे साथ में थे या नहीं वहाँ ? आहाहा!

उस विकल्प के काल में भी विकल्प के कारण ज्ञान नहीं और ज्ञाता नहीं। विकल्प के कारण ज्ञाता और ज्ञेय नहीं। विकल्प के सहारे ज्ञाता और ज्ञेय नहीं। तब ही उसको-अवस्तु को व्यवहार कहा जाता है न ? उसमें कहाँ वह वस्तु थी ? वह तो ज्ञाता और ज्ञेय स्वयं वह वस्तु। रागादि अवस्तु। वह है, इसलिए इतना ज्ञान है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! समझ में आया ?

इसके स्वभाव का माहात्म्य ही इसे नहीं आया। समझ में आया? भले भाषा में कदाचित कहे कि ऐसा आत्मा। परन्तु यह वस्तु.. ओहोहो! साक्षात् परमेश्वर स्वयं! स्वयं ही परमेश्वर स्थाप आत्मा को। स्थापित किये बिना तेरी ज्ञानदशा हाथ नहीं आयेगी। मैं ही परमेश्वर हूँ। ओहोहो! समझ में आया ? अनुभवप्रकाश में कहते हैं न ? स्वयं को प्रभु स्थाप! यदि कहीं प्रभुता दी तो ऐसे जा नहीं सकेगा, ऐसा कहते हैं। यदि कहीं महत्ता दी राग को और पुण्य को, व्यवहार को और निमित्त को तथा संयोग को (तो) अन्दर नहीं आयेगा। अन्दर आत्मा में नहीं आ सकेगा, आत्मा ऐसा है नहीं। आहाहा! ऐ.. पोपटभाई! कहते हैं, सम्मेदशिखर की पाँच यात्रा करें तो एकावतारी हो जायेंगे। तूने पर को महिमा दी है। तेरा यह आत्मा हाथ नहीं आयेगा। ऐसा है नहीं वह। आहाहा!

भाई! वस्तु ही स्वयं अलौकिक है। लौकिक पूरे जगत को जाननेवाला लौकिक का आश्रय लिये बिना जाननेवाला ऐसा ही स्वयं तत्त्व है। स्वत:सिद्ध तत्त्व है। वस्तु है, उसे उसके स्वभाव की क्या बात करनी! उसके स्वभाव की हद क्या ? उसे मर्यादा क्या ? उसे पराश्रयता क्या ? समझ में आया ? जो स्वभावभाव है, उस स्वभावभाव को पराश्रय का क्या ? अपूर्णता क्या ? उस स्वभाव की अचिन्त्यता में अपूर्णता क्या ? आहाहा! अब (लोग) शोर मचाते हैं। भगवान को, भगवान को... तुमने नहीं पढ़ा होगा, पढ़ा ? पण्डित हमारे हैं तो कभी तर्क दे। भगवान को तुमने सिद्ध कर दिया, भगवान महावीर को भगवान सिद्ध कर दिया, मानव को भगवान सिद्ध कर दिया। जैन सन्देश में ऐसे लेख आते हैं। अरे! वह तत्त्व का अनादर करनेवाला है। एक-एक चैतन्यतत्त्व का खून करनेवाला है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा साक्षात् स्वयं परमेश्वर का रूप ही आत्मा है। शक्ति और भगवान की व्यक्ति में कुछ अन्तर नहीं है। ऐसे प्रभु आत्मा को जब तक दृष्टि में स्थापित न करे, तब तक

उसका स्वसंवेदन प्रमाण नहीं हो सकता। समझ में आया? कहीं भी यदि जरा लार (लान्तरे), कहीं माहात्म्य दे दिया तो इस माहात्म्य में खण्ड होता है। माहात्म्यवाला तत्त्व हाथ नहीं आयेगा, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! भाई! ऐसा कहते हैं कि उतर जाये ऐसा है। चक्कर उतर जाये ऐसा है। तुम ऐसे बोले और वह ऐसे बोले। आहाहा!

तू कितना है, कैसा है, यह तुझे खबर नहीं? यह लगायी सबकी धूल की और शरीर की और वाणी की और यह भगवान ऐसे और भगवान ऐसे! परन्तु तू कितना, यह खबर है तुझे? भाई! भगवान की क्या बात करना! सुन न अब! उन भगवान को जिसने ज्ञान में लिया, उस ज्ञान की महिमा तेरे कारण है या उनके कारण है? जिसने केवलज्ञान और केवलदर्शन ऐसा.. ऐसा.. ऐसा.. ऐसा.. आहाहा! जो पर्याय ख्याल में ली, उस पर्याय की महिमा कितनी और उस पर्याय की अपेक्षा पूर्ण द्रव्य की महिमा कितनी? आहाहा! है (महिमा) ऐसे (और) देता है ऐसे; इसलिए दृष्टि में अन्तर है। ज्ञानचन्दजी! शोर मचाते हैं। वे कहें, अरर र! व्यवहार का लोप होगा। व्यवहार का लोप ही है। आत्मा में कब व्यवहार था? सुन न! ऐ.. बसन्तलालजी! ये सब निकले हैं न, देखो! शिक्षणवर्ग के लिये और अमुक के लिये। यहाँ कहते हैं कि कुछ नहीं मिले आत्मा में। पर से समझे, ऐसा आत्मा नहीं और पर को समझावे, ऐसा वह आत्मा नहीं। ऐई!

श्रोता : यह साधन-साध्य कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : साधन, यही साध्य यह का यही। यह का यही साधन और यह का यही साध्य। दूसरा था कब? दूसरा कहे उसे सुनावे न जब.. आहाहा! समझ में आया इसमें?

जिस प्रकार यह वस्तु स्व, स्वस्वभाव से जिस प्रकार स्वत: है और स्वत: स्वभाव के प्रमाण से ही जानी जा सके ऐसी है। ऐसा जब तक इसके ख्याल में, रुचि में, श्रद्धा में न बैठे, वहाँ तक इसका वीर्य स्वसंवेदन अन्तर में झुकेगा नहीं। समझ में आया? इतना यह नहीं, इस प्रकार से मानकर इसे निर्णय करने जाये (तो) वेदन किसी प्रकार नहीं हो सकेगा? समझ में आया इसमें? इसका नाम आत्म अनुभवदर्शन है।

अर्थात् जहाँ आत्मा ही ज्ञेय और आत्मा ही ज्ञायक होता है,... देखो! जहाँ **आत्मा ही ज्ञेय...** स्वयं ही ज्ञेय, स्वयं ही ज्ञेय। परज्ञेय तो व्यवहार हो गया। वह नहीं। निश्चय स्वयं ज्ञेय और **आत्मा ही ज्ञायक होता है,...** देखो! **चैतन्य की उस परिणति को स्वसंवेदन प्रमाण कहते हैं।** यह प्रमाण। चैतन्य की उस परिणति अर्थात् पर्याय को स्वसंवेदन प्रमाण कहते हैं। पर्याय की बात ली न? भगवान आत्मा ज्ञेय, ज्ञात होनेयोग्य और स्वयं जाननेवाला। जाननेवाला और जनानेयोग्य स्वयं का स्वयं है।

बहिर्मुख की वृत्ति में बहिर्बुद्धि में जितना माहात्म्य पर का रह जाता है, उसे बहिर्बुद्धि कहते हैं। समझ में आया ? और अन्तरज्ञेय तथा ज्ञायक परिपूर्ण प्रभु मैं ही इस स्वभाव के वेदन को करनेवाला वेदन, दूसरा किसी को ज्ञात होनेयोग्य भी मैं और जाननेवाला भी मैं, ऐसी परिणति को स्वसंवेदन प्रमाण कहते हैं, इसका नाम प्रमाण है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि **'जदि दाएज्ज पमाणं'**। यदि कहूँ तो प्रमाण करना। वह यह प्रमाण। (समयसार) पाँचवीं गाथा में आता है न ? **'तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण। जदि दाएज्ज'** दिखाऊँगा तो प्रमाण करना। तेरे स्वसंवेदन प्रमाण से प्रमाण करना। यह महाराज भगवान कुन्दकुन्द कहते हैं, (इसलिए प्रमाण है) ऐसा नहीं है। ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **'जदि दाएज्ज'** यदि मैं दिखाऊँ तो प्रमाण करना, हों! अर्थात् ? तेरे अनुभव से उसका स्वीकार (करना)। चैतन्य ऐसा है, ऐसे स्वसंवेदन से स्वीकार करना। आहाहा! समझ में आया ? चिमनभाई! क्या करना इसमें ? मकान बनाना, मन्त्रीपना करना ? यह सब कितने काम सिर पर ? चूने का व्यापार करना। थैलियाँ (भरना) दूसरे का चूना देखकर इसका चूना देखकर विचारे। यहाँ चूने का ट्रक आता है और इसकी चूने की थैलियाँ देखी। यह गये थे न ? कल-परसों नहीं ? थैलियाँ, थैलियाँ.. परन्तु उसका धन्धा करे तो अच्छी ही थैलियाँ लावे न यह तो। ऐसा कुछ नाम दिया था। वे थैलियाँ पड़ी थीं। यहाँ थैलियाँ नहीं रहतीं। यहाँ कहाँ थैलियाँ थीं ? यहाँ तो... साधारण, साधारण वापस। घर का माल बेचे वह अच्छा-अच्छा ले या नहीं ? इसी प्रकार इस घर का माल आत्मा आनन्दकन्द है, कहते हैं। आहाहा! थैलियाँ पड़ी हैं। मैंने कहा, किसकी थैलियाँ हैं ? यह सब चिमनभाई की हैं। पत्थर और .... मकान के लिये लो न, ऐसा करके।

घर का व्यापार, इसलिए चूना दूसरे प्रकार का लाये। यह घर का व्यापार आत्मा का, यह कहते हैं यहाँ। भगवान तेरे अन्तर के प्रमाण के लिये, किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है। घर का माल पड़ा है और घर में माल पड़ा है और उसे तू प्रयोग नहीं करेगा ? ऐसा कहते हैं। आहाहा! दुनिया में ऐसा नहीं कहते ? अपने घर में है और अपने किसलिए लेने जाना ? पोपटभाई! ऐसा है या नहीं ? इतना तो अपने घर में माल पड़ा है, वह तो पहले प्रयोग करो और फिर घटे तो अपने लायेंगे। ऐसा कहे ? परन्तु यह तो घटे, ऐसा नहीं है। आहाहा!

भगवान! तेरा माल तो अन्दर ज्ञान आनन्दस्वभाव... स्वभाव.. स्वभाव.. स्वभाव है। नास्तिक को भी, इस क्षेत्र का माप कहाँ है, उसे तर्क से ख्याल नहीं कर सकता। आहाहा! कहाँ अलोक ? इस लोक-अलोक का ज्ञान कहा न यहाँ ? अलोक अर्थात् कहाँ क्या है, यह वह वस्तु ? यह उस ईश्वर की कला या लीला या वह तो कोई जगत के स्वभाव ? इस क्षेत्र के बाद

क्या होगा? अनन्त योजन। अनन्त के अनन्त वर्ग करके चला जाये ऐसे का ऐसा। लक्ष्य, लक्ष्य लग जाये, हों! बाद में क्या होगा? फिर ऐसे गोल होगा?

श्रोता : .....अपनी सत्ता को स्वयं अनुभव करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इस क्षेत्र की, इस सत्ता की अमाप की उसे खबर नहीं है, ऐसा मेरा कहना है। उसे खबर है? परन्तु है कैसा? कोई अचित्त्य क्षेत्र स्वभाव है! उसका भगवान जाननेवाला, उसके ज्ञान का अचिन्त्य बेहद स्वभाव है। उसकी अस्ति को स्वीकार किसने किया? परन्तु जाना किसने? उसकी तो उसे खबर भी नहीं। समझ में आया? नास्तिक भी क्या है, ऐसा कहे। इसके बाद... बाद.. बाद.. बाद.. कहे क्या है? इसके बाद कहीं आड़ी आती है? क्या है? फिर क्षेत्र आया अमुक पटेल का या अमुक। फिर कुछ नहीं है, लो! ऐसा होगा? क्या है यह? ओहोहो!

क्षेत्र। यह क्षेत्रज्ञ। उसका तो यह जाननेवाला है। वह क्षेत्र है, इसलिए नहीं। इतने क्षेत्र को जाननेवाला अचिन्त्यक्षेत्र! क्या पीछे क्या? पीछे क्या? 'नहीं' कहीं भी नहीं आवे। अस्ति ही ऐसी की ऐसी आयेगी। अस्ति ही आयेगी 'नहीं' कहीं नहीं आयेगी। ऐसे काल में कहाँ नास्ति आयेगी? ऐसे भूतकाल, भूतकाल... बाद में.. बाद में.. बाद में.. बाद में.. कहीं 'नहीं है'-ऐसा नहीं आता। है.. है.. है.. है.. है.. है। ऐसे काल में.. है.. है.. है ही चला आयेगा। यह इसके जाननेवाले के ज्ञान में है.. है.. है.. है.. ही चला जाता है। स्वभाव ऐसा भाव है, कहीं अभाव है नहीं। शक्ति का पर के कारण अभाव, वह अलग वस्तु है। समझ में आया? यह ज्ञान का भाव, यह आनन्द का भाव, यह स्वच्छता का भाव, यह शुद्धता का भाव, यह शान्ति-चारित्र का भाव, यह वीर्य का भाव कितना? कैसा? भाव में इतना ऐसा अमाप, तथापि स्वयं ज्ञेय और ज्ञान स्वयं से हो सके ऐसा है। समझ में आया? आहाहा!

परिणति को स्वसंवेदन प्रमाण कहते हैं। देखो! पर्याय ली, पर्याय। प्रमाण की परिणति से ही यह प्रत्यक्ष है, दूसरे प्रकार से है नहीं। **उसी को आत्मानुभव व आत्मदर्शन भी कहते हैं।** ऊपर आ गया बहुत। **इस प्रकार के स्वरूपवाले स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष (जो कि सब प्रमाणों में मुख्य या अग्रणी प्रमाण है)...** देखो! सब प्रमाण में यही (मुख्य) प्रमाण है। अब छोड़ न! प्रमाण तो अपना प्रमाण अपने को हुआ, वह प्रमाण है। समझ में आया? भगवान ज्ञान की ज्योति सूर्य प्रभु, आनन्द का बेहद सागर, वह स्वयं ज्ञेय और अपना ज्ञान से प्रमाण हुआ, वही मुख्य प्रमाण है। समझ में आया? भगवान को पूछकर प्रमाण करना, ऐसा यह नहीं है, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? अरे! प्रभु! इतना तू है, यह तुझे भान में नहीं आवे और तुझे धर्म

हो, कहाँ से हो ? धूल में से धर्म (होगा) ? अपने से ही प्रमाण है, ऐसा उसका स्वरूप है। उस स्वरूप से कम, विपरीत, अधिक माने तो वह तत्त्व के स्वरूप से विपरीत इसकी दृष्टि है। समझ में आया ?

राजा हो, वहाँ ऊँचा (मूल्यवान) खाजा तला जाता हो। पाँच सौ-पाँच सौ, दस-दस सेर का खाजा। गरीब बाघर बेचार आवे तो ऐसे देखता रहे, हों! आहाहा! अपने को मिलेगा या नहीं इसमें से ? वह दरबार गुजर गये न ? गुजर गये और पूरा गाँव खाजा का जीमाया था। रणवीर सिंह गुजर गये न! जामनगर। पूरा गाँव जीमाया। कीमती खाजा। उसे पाँच-दस लाख खर्च करना हो, उसे क्या हो ? बेचारे गरीब व्यक्ति को (ऐसा लगे कि) हमको कब मिलेगा ? भाई! पूरे गाँव को जीमना है परन्तु उसका मुँह.. गरीब व्यक्ति बाहर हो और ऐसे ये ऊँचे के थाल को ऐसे तलाते हों न अन्दर! आहाहा! बापू! गाँव का जीमन है। तुम्हें भी आयेगा परन्तु थोड़ी देर लगेगी किन्तु उसे भरोसा नहीं आता।

इसी प्रकार यह भगवान आत्मा ऐसा गाया जाता है, वह मैं होऊँगा या नहीं ? मैं होऊँगा या नहीं ? बापू! तू होयेगा, यह यहाँ बात चलती है। कोई भी अच्छे घर में जीमन हो और बेचारा गरीब व्यक्ति आवे तो उसे ऐसा लगता है कि यह चीज़ मुझे देंगे या नहीं ? बढ़ी-घटी में से (देंगे या नहीं) ? यह तो पूरा गाँव जीमे। अच्छी-अच्छी चीज़ अमुक जानते हों या यह बड़ा अच्छा हो तो दस दिन से साठा (गुजराती मिष्ठान्न) बनते हों। दूसरे व्यक्ति को कुछ जीमने का न हो परन्तु बढ़े-घटे में थोड़ा माल मिलेगा या नहीं ? बेचारा इच्छा किया करता है। यहाँ ऐसा नहीं कहते हैं। यह तो माल तला जाता है, वह सबके भाग में आवे, ऐसा वह माल है। आहाहा! भाई! तू ऐसा है न, प्रभु! आहाहा! देखो न! यह प्रमाण का मुख्य प्रमाण स्वयं है। इस प्रमाण में प्रमाण स्वयं है।

तथा कहे हुए गुणों से... दो बातें करनी हैं न ? एक प्रमाण से भी अग्रणी प्रमाण स्वसंवेदन से स्वयं है और वह **कहे हुए गुणों से सम्पूर्णतया प्रकट..** शिष्य ने दो बातें ली थी न ? कि इन विशेषण से तुमने बात की परन्तु कैसा गुणवाद ? ऐसा कहा था न ? यह तुमने बात की। कैसा गुणवाद ? ऐसा कहा था न ? **ऊपर कहे हुए विशेषणों से किसका और कैसा गुणवाद ?** प्रमाण सिद्ध हुए बिना (किसका गुणवाद ?) वह ऐसा है कहते हैं, सुन न! अभी ऐसा है। **कहे हुए गुणों से...** ऐसे प्रमाण से और जितने गुण कहे (उनसे)। लोकालोक जाननेवाला गुण तेरा यहाँ है, इतना यहाँ है, हों! अनन्त आनन्द इतना यहाँ। जो कहा है, उस प्रकार से। **कहे हुए गुणों से सम्पूर्णतया प्रकट वह आत्मा योगिजनों को एकदेश विशदरूप**

से अनुभव में आता है।' धर्मी जीव को एकदेश विशद स्पष्टरूप से अनुभव में आता है। केवली को तो पूर्ण है। यहाँ तो निचले साधक की बात है। समझ में आया? आहाहा!

कहे हुए गुणों से सम्पूर्णतया प्रकट वह आत्मा योगिजनों को एकदेश विशद... स्पष्ट। देखा! विशद (अर्थात्) स्पष्ट प्रत्यक्ष **अनुभव में आता है।** इसमें कहीं ऐसी कठिन भाषा नहीं है। यह तो सादी भाषा है। चार पुस्तकें सीखी हों, ऐसी समझे ऐसी भाषा है। समझ में आया?

श्रोता : समझना चाहे तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : चाहे तो की बात है न!

इसे इनकार करे कि नहीं, इतना मैं नहीं। यह भी कहेंगे अब। इसे कारणान्तर की आवश्यकता नहीं है, कहते हैं। तू कारणान्तर, कारणान्तर पुकार कर रहा है। कुछ चाहिए... कुछ चाहिए.. कुछ चाहिए.. कुछ नहीं चाहिए, सुन! तू सम्पूर्ण पूरा है। तेरे लिए पर की कोई बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। भगवान का मार्ग तो सापेक्ष है न? निश्चय से तो निरपेक्ष ही है। यहाँ तो निश्चय से बात करते हैं। निश्चय से निरपेक्ष वस्तु है। व्यवहार से हो वह जानने के लिए बात है, उसकी बात यहाँ गौण है। समझ में आया?

दोहा - निज अनुभव से प्रगट है, नित्य शरीर-प्रमान।
लोकालोक निहारता, आतम अति सुखवान।।२१।।

इसका वान ही, इसका रूप ही सुखवाला, आनन्दवाला है। इसका वान ही आनन्द का है। आहा! ऐई! अतीन्द्रिय आनन्द इसका रूप है। आहाहा! अकेला अतीन्द्रिय आनन्द का रस का कन्द! और **लोकालोक निहारता,...** लोकालोक को जानना, यह तो इसका स्वरूप ही है। इतना इसका स्वभाव है, इतना प्रमाणवाला इसका स्वभाव है। अर र! भगवान के नाम से कितना कर दिया अभी। अरे! प्रभु! क्या करे? ऐसा करते हैं? यह द्वेष का अंश अन्दर आता है। ऐसा भगवान आत्मा, उसे ऐसा कहते हैं। स्वभाव में तो कुछ है नहीं। ऐसा कैसे कहते हैं? ऐसा विकल्प स्वभाव में तो है ही नहीं। समझ में आया?

निज अनुभव से प्रगट है,... देखो! अपने अनुभव से प्रगट है। **नित्य शरीर-प्रमान..** वह इतने प्रमाण में है। लोकालोक को जाननेवाला परन्तु रहनेवाला शरीर प्रमाण, लोकालोक को जाननेवाला परन्तु रहनेवाला शरीर के प्रदेश (आकार) प्रमाण। बहुत खुलासा किया इसमें से, हों! वह वेदान्ती व्यापक कहें और अमुक कहें और अमुक कहें (वह) सब निकाल डाला। यह है, वह इस प्रकार से वस्तु है। यह अनुभव से ही प्रमाण हो सके ऐसी है। स्वानुभूत्या चकासते।

यहाँ पर शिष्य कहता है कि यदि इस तरह का आत्मा है तो उसकी उपासना कैसे की जानी चाहिये? तो उसकी सेवा किस प्रकार करना? कोई साधन-वाधन दूसरा होगा या नहीं? भगवान की सेवा करना, परमात्मा की पूजा, दर्शन (करना), हमेशा दो-चार घण्टे भगवान के पास बैठना, दो-चार घण्टे बैठना, दो-चार-पाँच घण्टे शास्त्र-वास्त्र पढ़ना, ऐसा कुछ साधन-फाधन है या नहीं? भाई! वीतराग का मार्ग ऐसा है कि जगत को तो खबर नहीं, सुना नहीं। उसे जरा बाहर का (माहात्म्य) होवे न! आहाहा! भक्ति, नाच होवे तो आहा! वाह! वाह! लोगों को ऐसा लगे, लो! धर्म करे न! गजब धर्म कराते लगते हैं! सब भ्रम है। ऐई! 'पूजा करने का मेरा भाव जागा' वहाँ लोगों को (लगे कि) आहा! क्या आता है पहला शब्द? 'महावीर तारो रंग लाग्यो रे... रंग लाग्यो महावीर तारो।' लोगों को ऐसा लगे कि आहाहा! यह कितना धर्म करता है और कितना कराता है! भ्रमणा भारी, भाई! ऐई!

यहाँ तो दूसरा कहना है कि उसमें यदि माहात्म्य आ जाता है तो स्वभाव का माहात्म्य नहीं रहता। ऐसे माहात्म्य से धर्म प्राप्त करते होंगे और ऐसे माहात्म्य से धर्म होता होगा? और कहनेवाले को ऐसे भाव से उसे धर्म होता होगा? वह तो विकल्प है, वाणी तो जड़ है। ऐई! 'महावीर तारो रंग लाग्यो...' तो (ऐसा हो जाये) आहाहा!

श्रोता : हजारों लोग बोल जायें।

पूज्य गुरुदेवश्री : बोल जाये। बात ही यह है कि इसे मूल माहात्म्य की खबर नहीं और कहाँ लिप्त हो जाता है, उसकी इसे खबर नहीं। आहाहा!

श्रोता : नाम तो महावीर का आवे न।

पूज्य गुरुदेवश्री : महावीर का (आवे)। परन्तु महावीर कौन सा? महावीर यह या दूसरा? आहाहा!

श्रोता : अपने को अपना माहात्म्य घटाना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भई! यहाँ तो जैसा है वैसी बात है। जिसका हिस्सा जितना हो, उतना हो। उसमें कोई ऐसा मान ले कि अपने आहा! ...भारी धर्म किया और बहुत धर्म कराया! पाँच लाख खर्च किये और यह अधिक खर्च करनेवाले हैं अभी? अहमदाबाद का कुछ पंचकल्याणक है या नहीं? हाथी निकालेंगे... ऐ.. हिम्मतभाई! आहा! भाई!

जिसे विकल्प और वाणी और पर का माहात्म्य आया, उसे स्व का माहात्म्य अन्दर नहीं आता। ओहो! माहात्म्य स्वयं का है, वह पर का माहात्म्य है नहीं। लोगों को कठिन लगता है।

भाई! क्या हो? समझ में आया? कहो, अब क्या कहना होगा? दो बातें की। आहाहा! देखो! यह कहते हैं।

इसमें आत्मध्यान या आत्मभावना करने के उपायों को पूछा गया है। शिष्य पूछता है। समझ में आया? हमें ध्यान कैसे करना और आत्मा की एकाग्रता कैसे करना?

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतस:।
आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम्।।२२।।

ओहोहो! **अर्थ – मन की एकाग्रता से इन्द्रियों को वश में कर...** एकाग्रता शब्द से स्वसन्मुख की एकाग्रता। इन्द्रियों को वश अर्थात् इन्द्रियों की ओर का लक्ष्य छोड़कर। **ध्वस्त–नष्ट कर दी है, स्वच्छन्द वृत्ति...** ध्वस्त-नष्ट की है स्वच्छन्द वृत्ति। स्वच्छन्द वृत्ति अर्थात् परसन्मुख के विकल्प की स्वच्छन्द वृत्ति। **ऐसा पुरुष अपने में ही...** भगवान ज्ञान-आनन्दस्वरूप प्रभु अपने में.. पहले नास्ति की बात की। एकाग्रता से इन्द्रियों को, स्वच्छन्द वृत्तियों को वश करे। अब अस्ति से (बात करते हैं)। **ऐसा पुरुष अपने में ही स्थित आत्मा को...** अपने में स्थित ज्ञान, आनन्द परिपूर्ण ऐसे आत्मस्वभाव को **अपने ही द्वारा...** स्वरूप की शुद्धि की निर्विकल्प धारा से ध्यावे।

अपने ही द्वारा... आत्मा द्वारा। आत्मा अर्थात्? शुद्धभाव की पर्याय द्वारा आत्मा को ध्यावे, वह इसका उपाय है। यह तो इष्टोपदेश है। ऐसे उपदेश को इष्ट कहते हैं। कोई ऐसा कहे कि बाहर से मिलेगा, निमित्त से मिलेगा, वह उपदेश इष्ट नहीं है, भाई! भगवान का वह हितकर उपदेश है ही नहीं। ऐसा पूज्यपादस्वामी सिद्ध करते हैं। व्यवहार के विकल्प से, निमित्त से, इससे, इससे आत्मा की श्रद्धा, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और अनुभव होगा, यह उपदेश इष्ट उपदेश है ही नहीं। समझ में आया? फिर बेचारे शोर मचावे न? इन्दौर में और तुम्हारे दिल्ली में। कोई दिक्कत नहीं। यह तो होने दो न। यह तो... आहाहा!

कहते हैं, भाषा क्या है? देखा? **अपने में ही...** अर्थात् स्वरूप में **स्थित आत्मा को अपने ही द्वारा ध्यावे।** निर्विकल्प द्वारा, अपने द्वारा ध्यावे। यह एक साधन, उसका अन्तर में है। बाहर में कोई विकल्प-फिकल्प साधन-फाधन आत्मा के ध्यान के लिये, मोक्ष के मार्ग के लिये है ही नहीं। आहाहा! निश्चय परम निरपेक्ष ही है। व्यवहार से ज्ञान करने के लिये बात अभी नहीं है। समझ में आया? इसकी व्याख्या विशेष आयेगी।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

११

श्री समयसार, गाथा १, प्रवचन ६
दिनांक १२-०६-१९७८

समयसार, पहली गाथा चलती है। टीका फिर से लेते हैं।

टीका - यहाँ (संस्कृत टीका में) अथ शब्द मंगल के अर्थ को सूचित करता है। पहला **अथ** शब्द पड़ा है। **अथ प्रथमत** - ऐसा संस्कृत शब्द पड़ा है। **शब्द मंगल के अर्थ को...** अर्थात्? साधक धर्म की शुरुआत होती है। आहाहा! **अथ** अर्थात् अब। अनन्त काल से जो साधक स्वरूप, उसका स्थान नहीं था, ऐसा चैतन्यस्वभाव, उसकी अब साधकरूप से शुरुआत होती है। यही **अथ** अर्थात् नयी शुरुआत है। इसका नाम **अथ,** यही मांगलिक है। आहाहा! यह तो **अथ** संस्कृत टीका के शब्द का अर्थ हुआ।

अब, **ग्रन्थ के आदि में...** पाठ में, गाथा में ऐसा आया न? **ध्रुव, अचल और अनुपम...** परन्तु यहाँ अर्थ में मुख्य **वंदित्तु सव्व सिद्धे** - ऐसा जो शब्द पड़ा है, उसमें से **वंदित्तु** का अर्थ निकालकर और सर्व सिद्धों को मेरी पर्याय में स्थापित करता हूँ और श्रोता की पर्याय में अनन्त सिद्धों को स्थापित करता हूँ। आहाहा! अनन्त-अनन्त सिद्धों को (स्थापित करता हूँ - ऐसा कहकर) एक तो अस्तित्व सिद्ध किया। भले संसारी प्राणी अनन्तगुणे हों, परन्तु सिद्ध भी अनन्त हैं और वे भी आदिरहित हैं, अनादि के हैं। ऐसा नहीं है कि पहले संसार था और फिर सिद्ध हुए! आहा! ऐसी वस्तुस्थिति! सिद्ध होते हैं, वे तो संसार में से होते हैं, इसलिए पहला संसार और पीछे सिद्ध - ऐसा नहीं है।

एक व्यक्ति की अपेक्षा से पहला, परन्तु सामान्य अपेक्षा से तो सिद्ध अनन्त अनादि से हैं। आहाहा! जैसे आकाश के अन्त का क्या है माप? आहा! क्या वह कहलाये? क्षेत्र, क्षेत्र, क्षेत्र की बेहदता क्या है? यह जैसे स्वभाव के क्षेत्र की बात है; वैसे यह संसारी और सिद्ध दोनों स्वभाव अनादि के हैं। आहा! कितने ही पण्डित कहते हैं, सिद्ध की अपेक्षा संसार आठ वर्ष बड़ा। आठ वर्ष के बाद सिद्ध होते हैं न! वह तो एक व्यक्ति की अपेक्षा से। समुच्चय अनादि-अनन्त सिद्ध भी हैं और संसारी भी हैं। बापू! आहाहा!

जैसे क्षेत्र के अमाप का माप ही मस्तिष्क में न आवे, वहाँ अलोक.. अलोक.. अलोक.. अलोक.. अलोक.. अलोक.. अलोक.. अलोक.. अलोक.. अलोक.. अलोक.. अलोक.. तो चला ही जाता है। अलोक के बाद क्या? बाद.. बाद यह। आहाहा! ऐसे क्षेत्र की जैसे अमाप की अस्ति की सिद्धि है; वैसे सिद्ध भी अनादि के सिद्ध हैं। आहाहा!

वे कैसे हैं सिद्ध? **सर्व सिद्धों को...** एक शब्द नहीं। एक सिद्ध नहीं, अनन्त सिद्ध हैं। अनन्त, यह शब्द प्रयोग नहीं किया; 'सर्व सिद्ध' प्रयोग किया है। आहा! जो अनन्त काल (हुआ), छह महीने आठ समय में छह सौ आठ (जीव) मुक्ति प्राप्त करें, वे इस अनन्त काल में, तो कितना आँकड़ा (अंक) हुआ? आहाहा! यह सर्व.... आहाहा!

यहाँ तो दूसरा कहना है, इतने सब सर्व सिद्धों को मैं **वंदित्तु** शब्द ऐसा कहा है। वंदित्तु में से सर्व सिद्धों को मैंने मेरी पर्याय में स्थापित किया है, ऐसा निकाला। आदर किया है। मेरी ज्ञान की (पर्याय में आदर किया)। राग पर्याय भिन्न रह गयी। मेरी ज्ञान की पर्याय भले अल्पज्ञ है और श्रोता की भी ज्ञान की पर्याय अल्पज्ञ है। दोनों का ख्याल है, तथापि उस अल्पज्ञ पर्याय में अनन्त सिद्धों को जानने की उसकी ताकत है। आहाहा! भले मति-श्रुतज्ञान की पर्याय हो तो भी अनन्त सिद्धों को जानने की ताकत है। अनन्त सिद्ध हैं, उनका ज्ञान की पर्याय आदर करती है अर्थात् वन्दन करती है अर्थात् अपनी पर्याय में उन्हें स्थापित करती है। इसका नाम वन्दन करते हैं, ऐसा कहा। आहाहा!

सर्व सिद्धों को मेरी पर्याय में भावस्तुति से और द्रव्यस्तुति से स्थापित करता हूँ, ऐसा आया न? है न? **भाव-द्रव्यस्तुति से...** अर्थात् मेरी पर्याय में मैं मेरा आत्मा पूर्ण शुद्ध है, वह आराधक और मैं आराध्य। मैं आराध्य वस्तु और आराधक मेरी पर्याय। निर्विकल्प समाधि, निर्विकल्प शान्ति, वह आराधक और त्रिकाली वस्तु आराधने के योग्य। ऐसी निर्विकल्प समाधि का नाम यहाँ भावस्तुति कहने में आता है। आहाहा! पर्याय में अनन्त सर्व सिद्ध (स्थापित किये) भाई! यह संसार भूल जाते हैं। आहाहा! राग भी भूल जाते हैं।

मेरी ज्ञानपर्याय में मैं कुन्दकुन्दाचार्य ने **वंदित्तु** कहा उसमें से अमृतचन्द्राचार्य ने एक हजार वर्ष पश्चात् यह भाव इसमें है, ऐसा निकाला। आहा! **वंदित्तु सव्वसिद्धे** में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहना चाहते हैं, वह मैं अर्थ करता हूँ। हजार वर्ष पहले से कहते हैं। क्योंकि जहाँ सम्यग्दर्शन और ज्ञान खिला है, वह कला सबको जान लेती है। आहाहा! यहाँ सिद्ध (कहकर) एक तो सर्व सिद्ध (सिद्ध / साबित) किये अर्थात् कोई एक ही आत्मा

माननेवाला (ऐसा मानता है कि) पवित्र हो, इसलिए सब एक ही हो जाते हैं, उसका निषेध किया है। पवित्र हो गये, परमात्मा होने के बाद भिन्न क्या रहे ? ऐसा कहनेवाले का निषेध किया। बापू! प्रत्येक परमात्मा अनन्त हैं। उनकी सत्ता भिन्न है, सर्व है; एक है, ऐसा नहीं। आहाहा!

सर्व सिद्धों को... संख्यातीत अनन्त उन सब सिद्धों को। आहाहा! मेरी अल्पज्ञ पर्याय में उन्हें रखता हूँ। आहाहा! मेरी पर्याय की पेटी में अनन्त सिद्धों को बैठाता हूँ, पधराता हूँ, आहाहा! मेरी अल्पज्ञ पर्याय में अनन्त सर्व सिद्धों को बैठाता हूँ। आमन्त्रण करके (कहता हूँ कि) प्रभु! यहाँ पधारो। आहाहा! मेरी पर्याय आपको यहाँ रखने जैसी योग्यता (रखती) है। आहाहा! गजब काम किया है।

श्रोता : अमृत ही भर दिया साक्षात्!

पूज्य गुरुदेवश्री : भर दिया है।

वंदित्तु सव्व सिद्धे गजब काम! प्रभु! एक तो अनन्त सिद्धों की सिद्धि की। मेरे पहले अनन्त सिद्ध हो गये हैं। ऐसे सिद्धों को सिद्ध करके, मेरी पर्याय अल्पज्ञ होने पर भी उसमें अनन्त सिद्धों को स्थापित करूँ, इतनी ताकत है। मेरी पर्याय की इतनी ताकत है कि अनन्त सिद्धों को रख सके। अनन्त सिद्ध हैं, ऐसे पर्याय रख सकती है। आहाहा!

सर्व सिद्धों को भावस्तुति से... सिद्ध परद्रव्य हैं, इसलिए उन्हें अकेला द्रव्य नमस्कार होता है, ऐसा नहीं-ऐसा कहते हैं। आहाहा! मेरा भाव नमस्कार शामिल है। मैं एक पूर्णानन्द प्रभु, इस आराधने के योग्य वह मैं और निर्विकल्प पर्याय वह आराधक भी मैं, ऐसी भावस्तुति से मेरी पर्याय में सिद्ध को स्थापित करता हूँ। आहाहा! वन्दन करता हूँ। गजब टीका है! आहाहा! अभी तो ऐसी टीका कहीं (है नहीं)। आत्मख्याति टीका गजब है!

श्रोता : स्पष्टीकरण भी साहेब गजब है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें है। इसमें कितना है न इसमें! आहाहा!

ऐसे अनन्त सिद्धों को मेरी अल्पज्ञ पर्याय में, ऐसा मैं कौन, ऐसे नहीं परन्तु मेरी पर्याय अनन्त सिद्ध को सम्हाल सकती है। अनन्त सिद्ध अर्थात् अनन्त केवलज्ञानी, अनन्त सर्वज्ञ; एक सर्वज्ञ को स्वीकार करे, (ऐसा नहीं), यहाँ तो अनन्त सर्वज्ञ को स्वीकार करे, ऐसी मेरी अल्पज्ञ पर्याय की ताकत है। आहाहा! गजब काम किया है न! मैं भावस्तुति से तो स्थापित करता हूँ परन्तु विकल्प द्वारा भी सिद्ध को स्थापित करता हूँ। व्यवहार। मेरी पर्याय में स्थापित करता हूँ। आहाहा! ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य जो पाठ में कहते हैं, उसे अमृतचन्द्राचार्य इसमें यह

भाव भरा है, ऐसा खोलते हैं। आहाहा! जैसे भैंस के थन में दूध भरा हो और होशियार महिला निकाले, वैसे इस पाठ में भाव भरे हैं, वे अमृतचन्द्राचार्य तर्क से, स्पष्ट तर्क से उस भाव को बाहर खोलते हैं। आहाहा! उनकी बलिहारी है, बापू! आहाहा!

भावस्तुति से आदर करता हूँ अर्थात् भावस्तुति से भी मेरी पर्याय में निर्विकल्पदशा में उन्हें स्थापित करता हूँ। आहाहा! और विकल्प की दशा में भी उन अनन्त सिद्धों को वन्दन (करता हूँ)। पररूप से हैं, इसलिए वन्दन करता हूँ तो विकल्प है, परन्तु उस विकल्प में भी अनन्त सिद्धों को मैं स्थापित करता हूँ। आहाहा! ऐसी बात। एक बात (हुई)।

भाव-द्रव्यस्तुति से **अपने आत्मा में...** मेरे आत्मा में। आहाहा! देखो तो सही! मांगलिक किया। हम अल्प काल में सिद्ध होनेवाले हैं, हों! ऐसा कहते हैं। हमने अनन्त सिद्धों का प्रस्थाना पर्याय में रखा है। आहाहा! हम भी भविष्य में सिद्ध होनेवाले हैं। आहाहा! तो अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. सिद्धों को निर्विकल्पदशा द्वारा और विकल्प द्वारा मेरी अल्पज्ञ पर्याय में और राग में उन्हें स्थापित करता हूँ। आहाहा! ज्ञान में तो जानकर स्थापित करता हूँ और राग में, विकल्प में बहुमान आकर स्थापित करता हूँ क्योंकि राग कुछ जानता नहीं है। आहाहा!

ऐसे अनन्त सिद्ध भगवान को **भाव-द्रव्यस्तुति से अपने आत्मा में...** एक बात। **तथा पर के आत्मा में...** आहाहा! समयसार में तो गजब किया प्रभु! आहाहा! श्रोता की पर्याय में, श्रोता भले अप्रतिबुद्ध हो, अभी अज्ञानी है, तथापि प्रभु! तू श्रोतारूप से आया है। हम सुनाने जाते नहीं, श्रोतारूप से सुनने आया है। आहाहा! इस स्थिति को सुनने आया है तो तेरी पर्याय में भी इतनी योग्यता हमें लगती है कि उस पर्याय में अनन्त सिद्धों को हम स्थापित करते हैं। आहाहा! और तुम्हारे विकल्प द्वारा भी अनन्त सिद्धों को तुम्हारी पर्याय में स्थापित करते हैं। आहाहा! भाव-द्रव्य दोनों से है न? स्व और पर में दोनों में (स्थापित करते हैं)। आहाहा!

ओहो! सिद्ध को नीचे उतारा है। सिद्ध तो वहाँ है। प्रभु! हमसे दूर नहीं रह सकोगे। आहाहा! हमारी पर्याय में हम प्रस्थाना रखते हैं न! उसका काल आयेगा, इसलिए पूर्ण सिद्ध हो जाऊँगा। ऐसा यहाँ तो श्रोता के लिये भी इतना जोर देते हैं। ऐसे ही श्रोताओं को श्रोतारूप से गिनने में आया है, आहाहा! कि जिनकी अल्पज्ञ पर्याय में भी सुनने के लिये आये हैं। सिद्ध का स्वरूप और आत्मा का स्वरूप सुनने के लिये आये हैं तो उनकी पर्याय में भी हम तो अनन्त सिद्धों को स्थापित करते (हैं) और वे स्थापित कर सकते हैं, ऐसी हम योग्यता देखते हैं। आहाहा!

पर के आत्मा में स्थापित करके... प्रभु! परन्तु पर आत्मा है न, तुम्हारे क्या? बापू! विकल्प उठा है न, **वोच्छामि** ऐसा कहते हैं न? कहूँगा, ऐसा हुआ न? **वोच्छामि** शब्द पड़ा

है। कहूँगा, ऐसा है। तब कहूँगा किसे ? श्रोता को। आहाहा! मैं उन्हें कहूँगा। **वोच्छामि** इसका अर्थ भावार्थ में करेंगे। यथास्थान जो शब्द चाहिए, उस स्थान में वे शब्द आये हैं, इसका नाम परिभाषण सूत्र कहने में आता है। भावार्थ में आयेगा। आहाहा!

आत्मा में स्थापित करके, पर के आत्मा की पर्याय में स्थापित करके... ऐसे ही श्रोताओं को लिया है... आहाहा! कि जिनकी पर्याय में अनन्त सिद्ध सम्हाले जा सकेंगे। आहाहा! उनकी पर्याय अनन्त सिद्धों को स्वीकार करेगी और आदर करेगी। उनका आदर करेगी। ऐसे श्रोताओं को श्रोतारूप से गिना है। आहाहा! और वे श्रोता भी... आहाहा! जब अनन्त सिद्धों को स्थापित करते हैं, प्रभु! जैसे हम सिद्धपने को प्राप्त करेंगे परन्तु वह टोली भी सिद्धपने को प्राप्त करेगी। आहाहा! नहीं प्राप्त करे, यह सवाल हमारे पास नहीं है। आहाहा! श्लोक में नहीं आया कि देह को, आत्मा को भिन्न बताया। कौन नहीं मानेगा ? मानेगा ही। आहाहा!

ऐसे अस्तित्व का पूर्ण सर्वज्ञ पर्याय का अस्तित्व जहाँ हम सिद्ध करके स्थापित करते हैं... शक्ति में तो वह पूर्ण है और तू भी शक्ति में पूर्ण है, परन्तु प्रगट हुई पर्याय को, तेरी शक्ति में है परन्तु पर्याय में नहीं, इससे पर्याय में हम स्थापित कर तुझे पर्याय में सिद्ध का लक्ष्य (रखकर) अब हमें सुनना। आहाहा! सिद्ध का लक्ष्य करके यह सुनना। आहाहा! जरूर सिद्ध होगा। आहाहा!

श्रोता : वर्तमान पर्याय तो अल्पज्ञ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अल्पज्ञ है परन्तु इतनी ताकत है कि तू श्रोतारूप से आया है और हमें सुनने के लिये तू (आया है) तो हम ऐसा कहते हैं कि तेरी पर्याय में अनन्त सिद्धों को रखने की ताकत है। आहाहा! मैं पर की पर्याय में स्थापित करता हूँ, इसका अर्थ क्या ? तेरी पर्याय की इतनी ताकत मैं देखता हूँ। मेरे ज्ञान में ऐसा आया (कि) तेरी पर्याय की इतनी ताकत है और तू भी तद्नुसार मानेगा। आहा! गजब काम किया है न!

यह **वंदित्तु सव्व सिद्धे।** आहाहा! विकल्प है, द्रव्य से तो बात की परन्तु निर्विकल्पसहित का विकल्प है। आहाहा! ऐसा तुझे—सुननेवाले की पर्याय में भी अनन्त सिद्धों को हम स्थापित करते हैं। प्रभु! तू नहीं रख सकेगा, यह प्रश्न ही नहीं है। आहाहा! अनन्त सिद्धों को पर्याय में स्थापित करते हैं, इसलिए तेरा लक्ष्य अल्पज्ञरूप से नहीं रह सकेगा। आहाहा! अनन्त सर्वज्ञों को पर्याय में स्थापित किया तो तेरा लक्ष्य सर्वज्ञ पर जायेगा और लक्ष्य रखकर अब हमारा सुनना। आहाहा! कनुभाई! ऐसी बातें हैं। आहाहा! भाग्य!

ये अमृतचन्द्राचार्य हजार वर्ष पहले **वंदित्तु सव्व सिद्धे** का अर्थ करते हैं। कहाँ

(अमृतचन्द्राचाय से) हजार वर्ष पहले कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्य वे भी स्वयं छद्मस्थ हैं। बापू! छद्मस्थपना मत देख। आहाहा! हमारा प्रभु सर्वज्ञस्वभावी और हमारी पर्याय में अनन्त सर्वज्ञों को हमने स्थापित कर रखा है। वह अब बाहर नहीं जा सकेगी। आहाहा! हमारा आत्मा अब सिद्ध से बाहर नहीं रह सकेगा। आहाहा! कौन जाने क्या भरा है इसमें!! इतनी भरी है अन्दर शक्ति और उसका संग्रह, ओहोहो!

ऐसे पर के आत्मा को स्थापित कर। आहाहा! यहाँ तक तो अभी आत्मा कहनेवाले और सुननेवाले दो के आत्मा में स्थापित कर, यहाँ तक बात की। अब कहना क्या है? समय नाम का प्राभृत। कहना है समय नाम का प्राभृत। पश्चात् समय का अर्थ पदार्थ भी होता है। मूल अर्थ आत्मा होता है। आत्मा के बाद सब पदार्थ आ (जाते हैं)। आत्मा का ज्ञान होने पर, स्व का ज्ञान होने पर, पर का ज्ञान उसमें आ जाता है। क्योंकि एक समय की पर्याय में छह द्रव्य का जानना ऐसी पर्याय की ताकत है। जीव की एक समय की पर्याय में, छह द्रव्य, छह द्रव्य में अनन्त सिद्ध। एक समय की पर्याय में अनन्त सिद्ध और अनन्त निगोद, और अनन्त परमाणु, अनन्त स्कन्ध एक समय में पर्याय में जानने की शक्ति है। आहा! ऐसी एक समय की पर्याय की ऐसी ताकत है, ऐसी अनन्त पर्याय का धारक गुण का धारक प्रभु... आहाहा! उसके लक्ष्य में रहकर अब हमारी बात सुन! आहाहा! समझ में आया?

इस समय नामक प्राभृत का भाववचन... मेरे क्षयोपशम में जो ज्ञान की दशा उघड़ी है, उस उघड़ी (दशा) द्वारा मैं कहूँगा। निमित्त है न? वाणी और विकल्प। उस भाववचन द्वारा... भाववचन अर्थात् यहाँ विकल्प नहीं। भाववचन अर्थात् ज्ञान का विकास जो पर्याय में है, जो मैं समयसार को कहना चाहता हूँ, उसका मुझे ज्ञान विकास में है, उस विकास को हम भाववचन कहते हैं। आहाहा! जो समयसार कहा जायेगा, उसका मुझे यहाँ ज्ञान है तो कहूँगा, तो उस उघड़े हुए ज्ञान को भाववचन कहा जाता है। समझ में आया? कल तो वे डॉक्टर थे न, इसलिए विशेष स्पष्टीकरण समझे नहीं, इसलिए नहीं आया। यह तो बाहर में फँस गये हों। यह बातें... बापू! यह तो अत्यन्त निवृत्ति की बात है। आहाहा!

उसके साथ ऐसा कहा कि द्रव्यवचन अर्थात् विकल्प आदि। उसमें से जो पुण्य बँधेगा, उसमें भविष्य के भव में सब संयोग हमको धर्म का ही मिलेगा। द्रव्यस्तुति हुई न? आहा! हम भगवान के पास, गणधरों, सन्तों के पास या वाणी (होगी), उस स्थान में हम भविष्य में जानेवाले हैं। हमारा पूरा करने के लिये। आहाहा! भाव से तो वर्तमान हम निर्विकल्प समाधि से स्तुति करते हैं परन्तु विकल्प से भी करते हैं। क्योंकि हमें खबर है कि अभी इस भव में

सर्वज्ञ नहीं हैं। आहाहा! स्थापित करते हैं परन्तु पर्याय में सर्वज्ञपना इस भव में नहीं होगा, ऐसी हमें खबर है। आहाहा! इसलिए विकल्प में से ऐसा पुण्य बँधेगा कि जहाँ सर्वज्ञ परमात्मा होंगे, समवसरण होगा, गणधर होंगे। उस विकल्प के फल में पुण्य बँधकर ऐसा संयोग मिलेगा। आहाहा! स्वभाव की धारा से स्वभाव पूर्ण होगा और विकल्प की धारा से पूर्ण को समझानेवाले का संयोग प्राप्त होगा। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग है, बापू!

अरे! परमात्मा सन्तों का पेट (रहस्य) बहुत बड़ा!! आहाहा! उनकी ज्ञानकला, समकित कला, चारित्रकला की क्या बातें करना!! आहाहा! वे मुनिराज स्वयं ऐसा कहते हैं, हों! अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं, हजार वर्ष बाद हुए। प्रभु! परन्तु तुम तो प्रभु के पास गये नहीं थे न? कुन्दकुन्दाचार्य तो गये थे और जिससे समकित की दशा भले क्षायिक न हो परन्तु वहाँ गये थे, इसलिए अप्रतिहत दशा तो हो, परन्तु तुम गये नहीं थे न? हम भाव भगवान के पास गये हैं। आहाहा! और उसमें से ज्ञान की धारा आती है, उसके द्वारा कहूँगा। आहाहा! मेरे वैभव से कहूँगा, ऐसा कहते हैं। पीछे कहेंगे कि मुझे केवली ने और श्रुतकेवली ने सुनाया है। निमित्त से कहेंगे, भगवान ने हमें सुनाया है। श्रुतकेवलियों के साथ चर्चा होकर सुना है, प्रभु! आहाहा! हम ऐसे अकेले प्राणी पंचम काल के नहीं कि... परन्तु हमने भगवान के पास सुना है। आहाहा! और सन्तों के पास-श्रुतकेवलियों के पास मैंने चर्चाएँ की हैं, प्रभु! मेरा आत्मा पंचम काल में भले हो, परन्तु ऐसी स्थिति में था, वहाँ से आया हुआ है। आहाहा! गजब टीका है। आहाहा!

भाव और द्रव्य को स्थापित करके। समय नाम (प्राभृत का) **भाववचन और द्रव्यवचन से परिभाषण...** परिभाषण का अर्थ करेंगे। जहाँ-जहाँ चाहिए वहाँ-वहाँ वह स्थापन करना, शास्त्र का रचना, इसका नाम परिभाषण। परि (अर्थात्) समस्त प्रकार से कहना। अर्थात् जिस शैली से, जिस प्रकार से जिस काल में, जिस क्षेत्र से उसके योग्य शब्द हों उन्हें रचना, उसका नाम परिभाषण। पंचम काल के प्राणी के लिये कहते हैं और हम पंचम काल में हैं तो उसके योग्य भी परिभाषण होगा। आहाहा! समझ में आया?

शुरु करते हैं... भाषा 'परिभाषण करते हैं', ऐसा नहीं लिया। शुरु करते हैं। ज्ञान के विकास में से कहने के लिये शुरु करते हैं। आहाहा! हम छद्मस्थ हैं और शुरु करते हैं। आहाहा! परन्तु शुरु किया, ऐसा उनका पूर्ण हो गया। पूर्ण समयसार हो गया। आहाहा! समझ में आया? कहते समय ऐसा कहें, शुरु करते हैं, शुरु करते हैं। आहाहा! पूर्ण होना, उसके लिये काल (चाहिए) परन्तु यहाँ पूर्ण तो हो गया उन्हें, ४१५ श्लोक और टीका पूर्ण हो गयी। पूर्ण हो जायेगा, पूर्ण हो जायेगा। आहाहा!

परिभाषण शुरु करते हैं... ज्ञान की धारा में हमें जो कहना है, वह हमने भगवान के पास सुना है, श्रुतकेवली के पास चर्चा की है और हमें अन्दर में से स्वयं से भी भासित हो गया है। उसमें से शुरु करते हैं। आहा! गजब करते हैं! कहूँगा, ऐसा नहीं कहा। परिभाषण करूँगा, (ऐसा नहीं कहा) भाई! पण्डितजी! शुरु करते हैं। गजब बात करते हैं। क्या कहते हैं, प्रभु!! आहाहा! '**तं एयत्तविहत्तं दाएहं**' इतना तो कहा परन्तु वापस कहा '**जदि दाएज्ज**' यदि दिखाने में आवे... मैं छद्मस्थ हूँ। आहाहा! मेरा नाथ और तेरा नाथ, ऐसे आत्मा को मैं कहने के लिये शुरु करता हूँ, परन्तु यदि दिखाऊँ न, '**तं एयत्तविहत्तं दाएहं**' दिखाता हूँ, दिखाता हूँ परन्तु दिखाऊँ तो... आहाहा! प्रभु! तू श्रोतारूप से आया है, सिद्ध को स्थापित किया है। आहाहा! अनुभव से प्रमाण करना। आहाहा!

शुरु करते हैं परन्तु शुरु किया, यह इन्हें तो पूर्ण हो गया। टोडरमलजी ने शुरु किया परन्तु पूर्ण नहीं हुआ। मोक्षमार्गप्रकाशक शुरु किया, परन्तु पूर्ण नहीं हुआ। यह सन्त कहते हैं कि मैं शुरु करता हूँ। अभी भी पूर्ण हो जायेगा। आहा! **शुरु करते हैं - ऐसा श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं।** आहा! ऐसा श्री कुन्दकुन्दाचार्य... आहाहा! सन्त आचार्य ऐसे वाणी द्वारा यह कहते हैं। है तो सब वस्तु निर्विकल्प और निर्विकल्पदशा में सिद्ध रहे हैं परन्तु मैं इस प्रकार वाणी द्वारा उस वस्तु की स्थिति का वर्णन शुरु करता हूँ, शुरु करता हूँ। आहाहा!

'**वोच्छामि**' ऐसा कहा न? भाई! उसमें से यह निकाला है। शुरु करते हैं। '**वंदित्तु सर्व सिद्धे**' सर्व सिद्धों को स्थापित कर मेरे और तेरे आत्मा में भाव और द्रव्यस्तुति से, भाव और द्रव्यवचन से... आहाहा! शुरु करते हैं। आहा! मैं कहता हूँ, ऐसा न लेकर, शुरु करते हैं-ऐसे शब्द हैं। पाठ में '**वोच्छामि**' शब्द पड़ा है। '**मैं**' कहता हूँ। इसका अर्थ अमृतचन्द्राचार्य ने यह निकाला। आहाहा! यह भाव है, वही निकाला है, हों! यह '**वोच्छामि**' कहा भले, परन्तु उसमें अर्थ यह है। आहाहा! शुरु करता हूँ, कहने का शुरु करता हूँ। आहाहा!

श्रोता : गाथा में तो भाव-द्रव्यवचन नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : विकल्प उठता है, वह द्रव्यवचन है। विकल्प है, वही द्रव्यवचन है। वाणी, वाणी तो असद्भूतव्यवहार से द्रव्यवचन है। विकल्प उठता है, वह अन्तर्जल्प है। निर्विकल्पता है, वह तो अन्तर शान्ति समाधि है। भावनमस्कार और भावस्तुति है। आहाहा!

कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। ऐसा **श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं...** अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य टीकाकार यह कहते हैं न!

थोड़ा परन्तु सत्य अन्दर हो वह होना चाहिए न ? आहाहा ! हम शुरु करते हैं, ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं । ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैं समयसार कहूँगा, ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, ऐसा न लेकर 'शुरु करता हूँ' ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं । आहाहा ! शब्द-शब्द की कीमत है यहाँ तो ! यह तो सन्तों की वाणी है, यह केवली के रहस्य जिसने खोले हैं !! आहाहा !

प्रभु ! तू भी बड़ा है । तेरी बात की महिमा है, बापू ! आहाहा ! तेरी पर्याय में अनन्त सिद्धों को स्थापित किया, अब तेरी पर्याय की महिमा (कैसी) ! द्रव्य की तो क्या बात करना ! आहाहा ! परन्तु तेरी पर्याय में... आहाहा ! अनन्त सिद्धों को जहाँ स्थापित किया, अब उसे राग का आदर रहेगा नहीं । अल्पज्ञता में उन सिद्धों को स्थापित किया, वह अल्पज्ञरूप से रह नहीं सकेगा । आहाहा ! वह सर्वज्ञस्वभावी भगवान की बात करेगा प्रभु ! तो सर्वज्ञस्वभाव में ही तू जायेगा और सर्वज्ञ होगा । आहाहा ! नि:शंक, नि:सन्देह ऐसा तू जान । आहाहा !

यहाँ भव्य होऊँगा या अभव्य होऊँगा ? रहने दे ऐसी बात । किसने कही है तुझे ऐसी ? आहाहा ! भव्य-अभव्य की मार्गणा का निषेध किया है । मार्गणा में भव्य, अभव्य नहीं-आत्मा में भव्य नहीं और अभव्य नहीं । भव्य होवे तो सिद्ध में भी भव्यपना रहना चाहिए । सिद्ध में भव्यपना रहता नहीं । सिद्धपने में भव्य का अभाव है, क्योंकि भव्य की योग्यता थी, वह प्रगट हो गयी । अब भव्यपना सिद्ध में नहीं । अभव्य में तो है ही नहीं परन्तु सिद्ध में तो भव्य और अभव्य दोनों नहीं । आहाहा !

यह कहते हैं, हम बात करते हैं, वहाँ तू भव्य-अभव्य का प्रश्न ही रखना नहीं, परन्तु मुझे सिद्ध होने में अनन्त काल होगा, यह भी रखना नहीं । आहाहा ! जैसे सिद्ध होने को, समकित के बाद असंख्य समय ही चाहिए, अनन्त समय नहीं चाहिए । आहाहा ! वैसे यहाँ हम स्थापित करते हैं तो प्रभु ! विश्वास करके देख, अन्दर विश्वास करना कि यह आत्मा की ऐसी बात सुनने को मिलती और हम जब सुनने के योग्य हैं, उसमें यह अनन्त सिद्धों को प्रभु ने हमारे में स्थापित किया और हमारी योग्यता देखकर उन्हें स्थापित किया है । आहाहा !

श्रोताओं को सामूहिक निमन्त्रण दिया है । सागमटे (सबको सामूहिक) नोतूरू अर्थात् समझे ? सब, सब आना, ऐसा । हमारे काठियावाड़ में सामूहिक निमन्त्रण उसे कहते हैं कि पूरा घर जीमने आना, उसे सामूहिक निमन्त्रण कहा जाता है । कन्दोरबन्ध जीमन कहे तो युवक आवे, कन्या का कहे तो कन्या आवे । ऐसे तीन प्रकार हैं । जीमन की विधि के तीन प्रकार हैं । है न तीन है न ? टोलिया ! यहाँ सामूहिक निमन्त्रण है । आहाहा ! प्रभु ! सब श्रोताओं... आहाहा !

सिद्धपद के होने के योग्य तुम हो, हों! इसलिए तुम्हें हम सिद्ध स्थापित करते हैं, प्रभु! आहाहा! और इस बात को शुरु करते हैं अर्थात् तुझे भी तब तक सुनने की तैयारी रखनी पड़ेगी। शुरु करते हैं, इसलिए फिर होगा, तब तक तुझे ध्यान रखना पड़ेगा। आहाहा! आहाहा!

वे सिद्ध भगवन्त... अब जो सिद्ध स्थापित किये। अपनी पर्याय में और आत्मा की-सामनेवाले की पर्याय, श्रोता की पर्याय में जो सिद्ध को स्थापित किये, **वे सिद्ध भगवन्त, सिद्धत्व के कारण साध्य जो आत्मा...** अपना आत्मा साध्य है, उसके स्थान में सिद्ध हैं। सिद्ध भी साध्य है, जैसे आत्मा साध्य है वैसे। सिद्धपना साधना है। इस प्रकार यहाँ आत्मा साधना है, वह आत्मा, सिद्ध को साधना है। आहाहा! **सिद्धत्व के कारण साध्य जो आत्मा...** उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर है... आहाहा! सिद्धपने के कारण, साध्य आत्मा के प्रतिच्छन्द। प्रभु! तुम पूर्ण हो तो सामने (प्रतिध्वनि आयी) प्रभु! तुम पूर्ण हो। प्रतिच्छन्द (अर्थात्) सामने आवाज, ध्वनि सामने धड़ाका मारती है (प्रतिध्वनि आती है)। आहा! तुम पूर्ण आनन्द के नाथ हो, (ऐसा कहा)। तो आवाज सामने प्रतिच्छन्द आती है-पूर्ण अनन्त आनन्द के नाथ तुम हो। आहाहा! जितने विशेषण सिद्ध के लिये कहे जाते हैं, उनका सामने आवाज ध्वनि-प्रतिध्वनि उठती है कि तू ऐसा है। आहाहा! समझ में आया?

सिद्ध भगवन्त सिद्धत्व के कारण... सिद्धपने के कारण। पूर्ण सिद्ध हो गये हैं न, उसके कारण। **साध्य जो आत्मा, उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर हैं।** आत्मा साध्य है, उसके प्रतिछन्द में सिद्ध हैं। **जिनका स्वरूप संसारी भव्य जीव...** जिनके स्वरूप का संसारी भव्य जीव। अभव्य निकाल दिये। आहाहा! **चिन्तवन करके...** अन्दर का ध्यान करके। आहाहा! **संसारी भव्य जीव जिनके स्वरूप का चिन्तन करके...** सिद्ध जैसे हैं, वैसा ही मैं हूँ। आहाहा! मेरी जाति में और प्रभु की जाति में अन्तर नहीं है। आहाहा! ऐसा चिन्तवन करके सिद्ध के स्वरूप में (और) अपने सिद्ध आत्मा में चिन्तवन करके... **उस समान अपने स्वरूप को ध्याकर...** सिद्धसमान अपने स्वरूप का ध्यान करके। देखा? मूल तो यहाँ ले जाना है। चिन्तवन भले उनके (स्वरूप का करे) परन्तु यहाँ तो ऐसे ले जाना है। आहाहा!

उन समान अपने स्वरूप को ध्याकर... आहाहा! जैसे बालक उसकी माँ को धाता है, वैसे आनन्द का ध्यान करके-ध्याकर... आहाहा! है? **अपने स्वरूप को ध्याकर...** अपने स्वरूप को ध्याकर, आहाहा! स्वरूप को ध्यान में ध्येय बनाकर, ध्यान में ध्याकर, स्वरूप को ध्यान में ध्येय बनाकर-ध्यान में ध्याकर (अर्थात्) उसका रस लेकर... आहाहा! **उनके जैसे हो जाते हैं...** उनके जैसे हो जाते हैं। यहाँ न हो, उसका प्रश्न इसमें है ही नहीं। आहाहा!

सिद्ध का ध्यान। आत्मा साध्य, उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर हैं। जैसे तुम सिद्ध को कहोगे, वैसा ही तुम्हारा आत्मा है। ऐसे आत्मा को सिद्ध के स्वरूप का चिन्तवन करके, पहले चिन्तवन (करके), फिर अन्दर ध्यान करके... अन्तर के पूर्ण स्वभाव को ध्याकर... आहाहा! ध्याकर अर्थात् ध्यान में उसके आनन्द को लेकर। आहाहा! जैसे बालक माता के आँचल में से दूध पीता है, वैसे आत्मा के अन्दर आनन्द में से उसे ध्याकर, आनन्द को पी न...! आहाहा! एक व्यक्ति कहता है कि यह समयसार मैं पन्द्रह दिन में पढ़ गया। तुम बहुत महिमा करते हो। बापू! परन्तु वह पन्द्रह दिन में पढ़ गया। भाई! इसकी एक-एक लाईन... बापू!

श्रोता : पढ़ गया था, समझा नहीं था।

पूज्य गुरुदेवश्री : समझे क्या? धूल समझे। ऐसा कहे, तुम समयसार की बहुत महिमा करते हो परन्तु मैं पढ़ गया। बापू! अंग्रेजी के शब्द ए-बी, ए-बी, ए-बी ऐसा करके पढ़ गया परन्तु उसका... आहाहा! बापू! इसकी एक-एक लाईन, एक-एक गाथा... बापू! यह तो सन्तों की अमरवाणी है, अमरवाणी, अमर होने की वाणी है। आहाहा! यह वाणी अफर है। ऐसा तुझे अफरपना, सिद्धपना हो, वह अफर बात है। आहाहा! श्रोताओं को ऐसा कहते हैं। आहाहा!

उन समान अपने स्वरूप को... देखा! सिद्धसमान **अपने स्वरूप को ध्याकर...** आहाहा! **उनके जैसे हो जाते हैं।** सिद्ध जैसे हो जाते हैं। आहाहा! जो सिद्ध का चिन्तवन करे, उन्हें वन्दन हमने क्यों किया? आदर क्यों किया? - कि उनका ध्यान-चिन्तवन करके, इसके आत्मा का ध्यान करके उनके जैसे हो जाते हैं। इसलिए **'वंदित्तु सव्व सिद्धे'** सिद्धों को आत्मा में स्थापित किया, उन्हें वन्दन किया ऐसा कहने में आता है। आहाहा! गजब व्याख्या है!

चारों गतियों से विलक्षण... आहाहा! चारों गति दुःखरूप है, भाई! मनुष्यगति, स्वर्गगति भी दुःखरूप है, पराधीन है। जिन सिद्ध के स्वरूप को तेरी पर्याय में स्थापित किया, हमारी पर्याय में स्थापित किया, उनका-सिद्ध का चिन्तवन करके... मेरा स्वरूप ऐसा है-ऐसा अन्तर आत्मा का ध्यान करके सिद्धगति को पायेगा ही! आहाहा! **चार गतियों से विलक्षण...** चार गति में इसका कोई लक्षण मिले, ऐसा चार गति में नहीं है, उनसे विलक्षण है। सिद्ध की गति, वह तो कोई विलक्षण है। आहाहा! विपरीत लक्षण, ऐसा नहीं, परन्तु कोई अलग प्रकार का उसका वि-लक्षण है। आहाहा! अरे रे!

यह बात केवली परमात्मा जिनेन्द्रदेव त्रिलोकनाथ... कहेंगे, हम उनके पास से सुनकर यहाँ आये हैं। आहा! प्रभु विराजते हैं। आहा! उनके पास से हमने सुना है। कुछ शंका आदि

हो तो श्रुतकेवलियों से चर्चा करके हमने समाधान किया है। आहाहा! वे हम यह त्रिलोकनाथ का सन्देशा सुनाते हैं। आहाहा! सुननेवालों को कहते हैं, सिद्ध को मैंने क्यों स्थापित किया और क्यों वन्दन किया? भाव-द्रव्यस्तुति क्यों की?—कि उनका चिन्तवन करके और उनके स्वरूप जैसा मेरा स्वरूप है, ऐसा अन्तर में ध्यान करके ध्याकर सिद्ध जैसे हो जाते हैं। आहाहा! और वह सिद्ध चार गति से विलक्षण है। है?

पंचम गति मोक्ष को प्राप्त करते हैं। चारों गतियों से विलक्षण। आहाहा! (सिद्ध) भी एक गति है, पर्याय है; द्रव्य-गुण नहीं; द्रव्य-गुण तो त्रिकाल है। यहाँ तो पंचम गति को पाते हैं न? पर्याय को-पूर्ण मोक्षदशा को पाते हैं। आहाहा! पंचम गति ऐसा जो मोक्ष, उसे प्राप्त करते हैं अर्थात् सिद्धपर्याय को प्राप्त करते हैं। स्वरूप सिद्ध जैसा तेरा है, वह तुझे पर्याय में स्थापित किया, उसका चिन्तवन करके, स्वरूप का ध्यान करके, पंचम गति मोक्ष को (प्राप्त करते हैं)। वह भी एक गति-पर्याय है, (उसे) प्राप्त करते हैं। मोक्षगति की पर्याय को वे (जीव प्राप्त करते हैं)। मोक्ष कोई गुण नहीं। गुण और द्रव्य तो त्रिकाल है, प्राप्त करते हैं, वह पर्याय होती है। आहाहा!

पंचम गति मोक्ष को प्राप्त करते हैं। अब पहले जो अन्दर विशेषण दिये थे... गाथा के अर्थ में, गाथा के अर्थ में विशेषण पहले दिये थे, उन्हें अब देते हैं कि यह मोक्षगति है कैसी? जो मोक्षपर्याय प्राप्त करते हैं, नयी प्राप्त करते हैं, थी नहीं, नहीं थी। शक्तिरूप से सिद्ध था, परन्तु मोक्ष की पर्यायरूप कभी नहीं था। अभूतपूर्व-पूर्व में नहीं प्राप्त हुई, ऐसी मोक्षपर्याय को पायेगा, पायेगा। आहाहा! वह मोक्षगति कैसी है?-आहाहा! इसकी विशेष बात करेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

(१२) श्री नियमसार, गाथा १४४, प्रवचन १४४
दिनांक ०४-०८-१९६६

आत्मा ज्ञान-दर्शन आदि स्वभाव से सम्पन्न स्वरूप है। उसके आश्रयसे रागरहित स्वभाव की एकाग्रता की आवश्यक अर्थात् जरूरतवाली जो क्रिया—सामायिक, तीर्थंकर आदि की स्तुति इत्यादि, वह आत्मा के शुद्धस्वरूप की एकाग्रता रागरहित की दशा को यहाँ सच्चा आवश्यक, सच्ची धार्मिक जरूरवाली क्रिया कहा जाता है। समझ में आया? इससे विरुद्ध अशुभभाव के वश हुए जीव साधु नाम धराते हों या गृहस्थ नाम धराता हो; अशुभभाव के आधीन पड़ा हुआ, वह परवश पराधीन क्रियावाले हैं, उन्हें धार्मिक क्रिया नहीं होती।

अब, (गाथा) १४४ में (कहते हैं), शुभभाव के आधीन हुए, वे भी परवश हैं, मिथ्यादृष्टि हैं। उन्हें शुद्ध स्वभाव भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुई शुद्ध धार्मिक क्रिया का उन्हें भान नहीं है, ऐसा इस १४४ में कहेंगे।

जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे॥१४४॥

संयत चरे शुभभाव में वह श्रमण है वश अन्य के।
अतएव आवश्यक-स्वरूप न कर्म होता है उसे॥१४४॥

यह अभी बड़ा झगड़ा चलता है। अनादि का है। यह तो कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है, भाई! **यहाँ भी (इस गाथा में भी), अन्यवश...** अर्थात् भगवान आत्मा पवित्र सच्चिदानन्द शुद्धस्वरूप के आधीन-वश नहीं हुए और मात्र क्रियाकाण्ड के शुभ परिणाम में वश हुए है, उन्हें अन्यवश और उन्हें अशुद्ध-अन्तरात्मा कहते हैं। अशुद्ध आत्मा अर्थात् मिथ्यादृष्टि। समझ में आया? अशुद्ध-अन्तरात्मा शब्द प्रयोग किया है। अन्दर में शुभभाव है परन्तु आत्मा के आश्रय से जो दृष्टि-श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति चाहिए, वह एक क्रिया, वह आवश्यक क्रिया है। जरूरतवाली वह क्रिया धार्मिक है। उस धार्मिक क्रिया को न जानकर **जो (श्रमण)...** साधु नाम धराकर, ऐसे गृहस्थ नाम धराकर इकट्ठा ले लेना।

वास्तव में जिनेन्द्र के... देखो! भाषा यहाँ है। अन्यमती की बात (नहीं)। यहाँ तो **जिनेन्द्र के मुखारविन्द से निकले हुए...** वदन अर्थात् मुख और अरविन्द अर्थात् कमल। सर्वज्ञ परमेश्वर के मुखकमल में से **निकले हुए परम-आचारशास्त्र के क्रम से...** व्यवहार शास्त्र जो हैं, उनमें कहा हुआ। सर्वज्ञ कथित, जिनेन्द्र कथित शुभक्रिया, व्यवहार से। इस **(रीति से) सदा संयत रहता हुआ...** सदा उसके शुभभाव में संयत रहता हुआ। शुभभाव। शुभभाव है न ? सब परम ही है यहाँ तो। आचार्य भी परम, आत्मा भी परम, क्रिया भी परम, अशुद्धता भी परम! यहाँ सब परम ही है।

शुभोपयोग में चरता-प्रवर्तता है;.... जो कोई साधु और धर्मी गृहस्थ नाम धराकर शुभ परिणाम में, राग की मन्दता में, कषाय की मन्दता के पुण्य परिणाम में, शुभराग में वर्तता है। **व्यावहारिक धर्मध्यान में परिणत रहता है...** देखो! भाषा प्रयोग की। राग की शुभवृत्ति, शुभभाव, पुण्यभाव को व्यवहार धर्मध्यान कहते हैं, परन्तु व्यवहार धर्मध्यान में परिणत रहता है। शुभभाव से परिणमित है। मात्र देहादि की क्रिया (करता है)-ऐसा नहीं। समझ में आया ? जिसे अन्दर में राग, कषाय की मन्दता का शुभभाव है, ऐसे से परिणत है। व्यवहार धर्मध्यान कहा। है मिथ्यादृष्टि। आगे कहेंगे, निश्चयधर्मध्यान, शुक्लध्यान को वह नहीं जानता। समझ में आया ?

व्यावहारिक धर्मध्यान में परिणत रहता है... किस प्रकार—इसका विस्तार करेंगे। इसलिए **चरणकरणप्रधान है।** इसलिए उसे शुभ आचरण के परिणाम जिसे प्रधान अर्थात् मुख्य है। राग की मन्दता के शुभराग, पुण्यभाव जिसे हैं। आचरण के परिणाम, जिसे शुभ आचरण के परिणाम की मुख्यता है। शुभ आचरण-शुभभाव, दया, दान, भक्ति, व्रत, तप, पूजा - ऐसा जो राग, मन्दता का शुभभाव, उसके वश हुआ है, वह मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया ?

चरणकरणप्रधान है। जो साधु हुआ है, द्रव्यलिंग नग्न धारण किया है और शास्त्र में-व्यवहारशास्त्र में कहे गये... देखो! जिनेन्द्र के मुख में से निकले हुए, (ऐसा कहा है)। अज्ञानी के कहे हुए की बात भी यहाँ नहीं है। ऐसे आचारशास्त्र की रीति से **सदा संयत रहता हुआ...** सदा शुभभाव में रहता हुआ, अशुभभाव जो होने नहीं देता। कहो, निहालभाई! भारी आकर्षण, भाई! ३०, ३५ वर्ष से हरितकाय का त्याग करता है, कहते हैं। रस नहीं खाता, ऐसा कहते हैं।

श्रोता : कौन ?

पूज्य गुरुदेवश्री : साधु। रस नहीं खाता, दूध, दही, खांड, शक्कर (नहीं खाता)। कहते हैं, शुभभाव में संयत रहता है, शुभभाव में। **व्यावहारिक धर्मध्यान में परिणत रहता है...**

वापस परिणत, हों! शुभभाव परिणमता है। ऐसा कि यह क्रिया करता है और अन्दर राग की मन्दता नहीं है, ऐसा नहीं है। शरीर क्रिया की बात नहीं है। राग की, लोभ के मन्द परिणाम हैं, शुभराग में वर्तता है, शुभधर्मध्यान में परिणमता है परन्तु उसके वश हुआ, वह मिथ्यादृष्टि है। भारी कठिन बात, भाई! यह व्यवहार कुछ व्यवहार करते हुए कुछ-कुछ करे, उसका कुछ लाभ होगा या नहीं ? यह सब दुकान का धन्धा छोड़कर बैठे, ऐई! नटु! दुकान का धन्धा छोड़े, यह करे, और दया पाले, व्रत पाले, अपवास करे, महिलाएँ सब वर्षीतप करे, लो! लाखोंपति की लड़कियाँ और बहू और वह भी उसमें राग की मन्दता हो, उसे शुभभाव हो, तो भी वह विकार है और उसके वश हुआ है। वह चिदानन्दस्वभाव के वश नहीं है; इसलिए उसे मिथ्यादृष्टि कहा गया है। आहाहा! कहो, नेमिदासभाई! गजब कठिन। क्या कलकत्ता में किया होगा ? पलटायी, खून की पलटायी कहते हैं न ? ऐसी। आहाहा!

भाई! आत्मा वस्तु है महासच्चिदानन्द प्रभु है। जिसमें शाश्वत आनन्द और ज्ञान शुद्धभाव से भरा है। ऐसा भगवान आत्मा का आश्रय करके आधीन न हो और आधीन हो तो उसे शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति प्रगट हुए बिना रहे नहीं। ऐसी दशा स्व के वश से होती है। ऐसी (दशा) नहीं करके मात्र परवश के शुभभाव में आधीन होकर ऐसा मानता है कि हम कुछ धर्म करते हैं, सच्चा धर्म करते हैं। है शुभभाव खोटा धर्म। कहो, समझ में आया ?

कहते हैं कि **चरणकरणप्रधान...** जिसे शुभक्रियाकाण्ड के परिणाम ही मुख्य वर्तते हैं। शुद्ध चिदानन्द आत्मा जिसकी दृष्टि में मुख्य वर्तना चाहिए, (वह वर्तता नहीं)। ज्ञायक आनन्द प्रभु पूर्णानन्द का नाथ चैतन्य है। वह सच्चिदानन्द सत्शाश्वत आनन्द का, अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द आत्मा है। उसके वश होकर शान्ति प्रगट करना और उसे मुख्य रखना चाहिए, ऐसा न रखकर; जिसकी क्रिया के शुभपरिणाम जिसे मुख्य हो गये हैं, ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया ? वह क्या करता है ?

स्वाध्याय काल का अवलोकन करता हुआ.... स्वाध्याय का कैसा काल है, शास्त्र-स्वाध्याय बराबर करना, काल में विनय से... समझ में आया ? सबेरे शाम जब... सन्ध्या हो तब नहीं, कोई ऐसी प्रतिकूलता हो तो नहीं। ऐसे स्वाध्याय काल को अवलोकता है। ऐसा अच्छा स्वाध्याय काल हो, तब स्वाध्याय करना। यह शुभभाव है। इसके आधीन हुआ है, परन्तु भगवान आत्मा शुद्ध है, उसके वश नहीं हुआ। मास्टर! यह कठिन बात है, शोर मचाये ऐसा है ? अब तुम्हारे अब क्या है ? पहले (संवत्) १९९९ में चिल्लाये ऐसा था। कहो, समझ में आया ? आहाहा!

भगवान आत्मा ऐसा ज्ञानानन्द प्रभु शुद्ध चैतन्य आत्मतत्त्व है। उसमें तीन प्रकार के भाव होते हैं। एक हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, वासना, काम, यह कमाने का काम, यह सब पापभाव; यह जो दया, दान, शास्त्र को खोजकर वाँचना, स्वाध्याय बराबर करना, वह सब शुभभाव है; और आत्मा आनन्दकन्द शुद्ध चैतन्य को अन्तर में एकाकार होकर शुद्धता प्रगट करना; शुभ और अशुभरहित शुद्धता, वह धर्म है। समझ में आया? तेरे भतीजे ने कलकत्ता में सुना भी नहीं होगा। उसके बड़े बापू ने सुना नहीं था तो यह कहाँ से लावे? आहाहा! उस सम्प्रदाय में एक ही घोंटा जाता है। न्यालभाई!

भाई! यह शुभभाव हो। वह पुण्यबन्ध का कारण है। जहाँ आगे परलक्ष्यी क्रिया के भाव होते हैं, वे सब शुभ हैं, पुण्य हैं, पराधीन हुई वृत्ति है, वह आत्मा को बन्धन का कारण है। ऐसे भाव के आधीन होना, वह मिथ्यादृष्टि है। सत्यस्वरूप भगवान आत्मा ज्ञानानन्द की ज्योति शुद्ध चैतन्यमूर्ति के आधीन होना, वह सम्यग्दर्शन है, क्योंकि सत्यस्वभाव के वश होना, वह सत्य भाव है। ऐसे शुभभाव के आधीन होना और मानना कि हम कुछ धर्म करते हैं, वह मिथ्यादृष्टि, दुःखदृष्टि, पापदृष्टि है। यह कठिन लगता है, भाई! लो! यह सोनगढ़ का है? लोग कहते हैं, यह सोनगढ़ का है। परन्तु यह किसका है? समझ में आया? सोनगढ़वाले ऐसा कहते हैं, सोनगढ़वाले ऐसा कहते हैं, सोनगढ़ के नेता ऐसा कहते हैं और ऐसे कितने ही ऐसे डालते हैं। डाल न तुझे डालना हो उतना।

भगवान तीन लोक के नाथ ऐसा कहते हैं कि मेरे मुखारविन्द से निकली हुई व्यवहार क्रियाकाण्ड की जो व्याख्या, उसे जो करे और उसके आधीन होता है, (उससे) हम कहते हैं कि वह मिथ्यादृष्टि है। गजब बात! कठिन लगे ऐसा है, लो! कहते हैं परन्तु तब कुछ आचरण इतना.. इतना.. आचरण करें, पचास-पचास वर्ष तक हरितकाय न खाये, आम न खाये, शरीर से ब्रह्मचर्य पाले, समझे न?.... कहो, ज्ञानचन्दजी! कुछ इसका फल होगा या नहीं? कुछ-कुछ आत्मा को मदद करने में यह साधन नहीं? फिर एकान्त लगे, हों! ऐ.. नेमिदासभाई! एकान्त है, एकान्त। कुछ अनेकान्त दूसरा होना चाहिए। उससे भी कुछ लाभ हो, वह अनेकान्त। यहाँ कहते हैं कि इससे लाभ हो, वह मिथ्या अनेकान्त है। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं। **स्वाध्याय काल का अवलोकन करता हुआ...** वापस, हों! बराबर ध्यान रखे। सबेरे ऐसे हो, दोपहर को ऐसे हो, तब स्वाध्याय नहीं करना, कोई व्यक्ति मर गया हो, तो शास्त्र का स्वाध्याय खोजकर, विचारकर करे, वह शुभभाव है, धर्म नहीं। **स्वाध्याय क्रिया करता है, प्रतिदिन भोजन करके चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान करता है,...** साधु की

मुख्य बात है न! गृहस्थ को लेना। शाम को रात्रिभोजन त्याग करे, चार प्रकार का आहार करना नहीं, प्रतिदिन पचास-पचास वर्ष से, दस वर्ष की उम्र से (करते हों), लो! कहे, वे नहीं थे अपने ? भाई! मनसुख ताराचन्द डॉक्टर। सर डॉक्टर अपने आये थे न यहाँ ? आँख के डॉक्टर। करोड़पति, मनसुख ताराचन्द। आँख का था, तब नहीं आये थे ? पन्द्रह, पन्द्रह दिन यहाँ रहे हैं। अफ्रीका में गुजर गये न ? करोड़पति। लड़कों के पास आठ-आठ, दस लाख की आमदनी। यहाँ बेचारे साधारण (रीति से) बैठे। पन्द्रह दिन यहाँ रहे। रात्रि में जगे। आपरेशन किया न ? उन्होंने नहीं किया, बड़े डॉक्टर को बुलाया, उनके गुरु, वे स्वयं सर है। क्या कहलाते हैं वे ? सर्जन। नरम व्यक्ति, हों! (वह कहे) मैं तो छोटी उम्र से रात्रिभोजन नहीं करता हूँ। बहुत छोटी उम्र से (रात्रि में) आहार-पानी बिल्कुल नहीं। एक महीने के चार उपवास हमेशा, हों! इतनी उम्र में, एक महीने के चार उपवास। सबेरे हमेशा यह मानी हुई सामायिक (करे), मनसुख ताराचन्द थे। आँख का था, तब पन्द्रह दिन रहे थे। पलंग डालकर सोते। आहार करते समय मेरे साथ नीचे बैठते। रोटी... बहुत नरम व्यक्ति, हों! यह बात सुनी तो कहे, हाय.. हाय..! यह तो सब खोटा निकला परन्तु नरम व्यक्ति। मैंने बेचारे को बहुत कहा, अब छोड़ो.. छोड़ो.. वहाँ और अभी परोपकार करने निकले।

यहाँ अठारह लाख का डाला है न ? सुरेन्द्रनगर। आँख का बड़ा दवाखाना। पचास हजार स्वयं ने निकाले थे और ऐसा कहे अठारह लाख का बनाया, स्वयं इकट्ठा करके। अब कहा, वह छोड़ दो न। एक लप में से निकाला तो दूसरी लप में पड़े वापस। मानों परोपकार किया। धूल में भी नहीं परोपकार। सुन तो सही! परन्तु रस जाता नहीं अन्दर से। फिर काम करने का रहा नहीं, कमाने के लिये कुछ रहा नहीं। दो हजार रुपये महीने लड़के से खर्च करने के लें। बड़ा गृहस्थ। आँख (का मोतिया) उतारने आये थे। बहुत नरम व्यक्ति। बड़ा डॉक्टर वह चिटणिस मुम्बई में, इनका गुरु कहलाता है। बहुत कहा। यह करने जैसा है, ऐसा कहे। मर गया। एक में से निकलकर धन्धा छोड़कर वापस यह धन्धा लगाया। किसी का करें। धूल भी कर सकता नहीं, व्यर्थ का किसका लगाया ?

अठारह लाख का बड़ा किया... क्या कहलाता है ? अस्पताल। उद्घाटन में किसी बड़े को बुलाया था। उद्घाटन किया। लोग कितनी महिमा करे! क्या परोपकारी मनसुखभाई! और आँख का यज्ञ.. क्या कहलाता है वह ? नेत्रयज्ञ... नेत्रयज्ञ करे, तब हजारों के स्वयं उतारे, हों! फट.. फट.. फट.. फट.. फट.. ओहो! कितने अन्धों को सूझता किया, कितने गरीब लोगों को आँखें देकर हलुवा खिलवाया। वे तो आशीर्वाद दें। आहा! परन्तु इसमें तेरा क्या हुआ ? यहाँ

मर गया बेचारा, आता था। पत्र लिखे, अब आता हूँ। आहा! जिन्दगी ऐसी चली जाती है, बापू! उसी-उसी में बेचारा, हों! शास्त्र वाँचन और सामायिक करना और यह करना, रात्रिभोजन नहीं (करे), उपवास एक महीने के चार उपवास इतनी उम्र में करे, वह तो शुभराग है, बापू! वह भगवान आत्मा निष्क्रिय रागरहित का चैतन्य प्रभु है, उसके अन्तर में आश्रय और श्रद्धा-ज्ञान किये बिना धर्म-वर्म किंचित नहीं होता। समझ में आया?

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म यह कहा न! व्यवहार धर्म कहा, व्यवहार धर्म है? यह शब्द प्रयोग किया है-व्यवहार धर्म अर्थात् सच्चा धर्म नहीं। यह व्यवहार धर्म कहा न? व्यवहार धर्म अर्थात् सच्चा धर्म नहीं। आगे कहेंगे, उसे निश्चय धर्मध्यान का ज्ञान नहीं, ऐसा कहेंगे, देखो! बाद में कहेंगे।

उसे **निश्चय से परमात्मतत्त्व में विश्रान्तिरूप निश्चयधर्मध्यान को तथा शुक्लध्यान को—नहीं जानता;...** सच्चा धर्मध्यान तो उसे कहते हैं-भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध आनन्द में विश्रान्ति लेना। अन्तर में एकाकार होना, उसे सच्चा धर्मध्यान कहते हैं। वह शुभभाव भी सच्चा धर्मध्यान नहीं, कल्पित-कल्पित (धर्मध्यान है)। बिलाव को सिंह कहे वैसा। मींदड़ी समझे? बिलाणी... पुरुषार्थसिद्धिउपाय। समझ में आया?

भाई! तेरा आत्मा अखण्डानन्द; एक विकल्प राग है, उससे भिन्न चैतन्य प्रभु पड़ा है न! ऐसे आनन्द की तुझे रुचि नहीं, आनन्द में स्थिर होना, उसका विश्राम नहीं। वहाँ थकान उतरे, ऐसा तो वह स्थान है। पुण्य-पाप के भाव तो वह के वही भटकने के भाव हैं। यह पुण्यभाव भटकने का संसारभाव है। आहाहा! इससे कहीं वह शुभभाव छोड़कर पाप करना, ऐसा यहाँ नहीं कहते परन्तु उस शुभभाव के वश होना, वह मिथ्यादृष्टि है। उसके वश होने से चिदानन्द स्वरूप अनन्त गुण का पिण्ड आत्मा का अनादर हो जाता है। इसलिए इस दृष्टि को मिथ्या श्रद्धा मिथ्या दृष्टि अज्ञानी कहा जाता है। जिन के-वीतराग के मुख से कथित आचारशास्त्र प्रमाण शुभभाव उसके परलक्ष्य से करे तो भी उसे वीतराग कहते हैं कि निश्चय धर्मध्यान नहीं है, मिथ्या धर्मध्यान है, व्यवहार धर्मध्यान है। ओहोहो! समझ में आया?

प्रतिदिन चार (प्रकार के) आहार का त्याग करे, लो! एक बार खाये फिर... आहार-पानी, औषध, क्या कहलाता है वह? ....वह शुभभाव है, धर्म नहीं। पुराने लोगों को जरा (कठिन पड़ता है)। देखो! **प्रतिदिन भोजन करके चतुर्विध आहार का...** चारों ही आहार,

हों! आहार-पानी, दूध और पानी नहीं। भोजन करके तुरन्त पानी का त्याग। समझ में आया? हमारे 'समढियाला' के नागरभाई करते थे। कितने वर्ष से, हों! एक बार वहीं का वहीं खावे और वहीं का वहीं पानी। चौबीस घण्टे। 'समढियाला' के नागरभाई! यहाँ बहुत बार आते थे। गृहस्थ व्यक्ति हैं। एक ब्रह्मचर्य पालने का भाव बहुत, स्त्री छोटी उम्र में गुजर गयी। एक बार ही, हों! वहीं का वहीं। पानी वहाँ और आहार भी वहाँ। गृहस्थ व्यक्ति थे। मकान, पैसा (सब था)। दो बार पानी नहीं। प्यास लगे (परन्तु ले नहीं) मेद बड़े किसका? हमारे हीराभाई जैसा शरीर। मेद जरा भी नहीं। फिर उसने ऐसा जब सुना तब कहे, यह तो सब (खोटा है)। वह तो स्नान भी करे नहीं, हों! स्नान भी छह महीने, बारह महीने में करते हों तो... वे तो स्थानकवासीरूप से थे न, बापू! यह मार्ग नहीं है। राग की मन्दता होवे (तो पुण्यबन्ध होता है)। वाडीदासभाई! तुमने देखा था या नहीं? तुम्हारे गाँव के। कितने वर्ष, हों! तीस-तीस, पैंतीस-पैंतीस वर्ष तक। ठाम चौविहार समझे? पण्डितजी! ठाम चौविहार अर्थात् एक बार खाना, बस! यह ठाम अर्थात् वहीं का वहीं आहार। एक आधे घण्टे में जो खावे-पीवे (पश्चात्) चौबीस घण्टे (कुछ नहीं)। एक ठाणा, एक ठाणा। हमारे ठाम चौविहार कहते हैं। ऐसा, हों! यहाँ आते थे खूब रहते थे। इस कमरे में रहे, सुने! अरे भाई! कहा, यह तो सब बापू! नहीं नहाना और ऐसा कि मानो मलिन कपड़े और मलिन वस्त्र और खाना नहीं, प्रतिदिन चौविहार, हों! कितने वर्ष से चौविहार करे। रात्रि में आहार नहीं और एक बार के बाद पानी नहीं। भाई! यह तो... शुभभाव है। राग की मन्दता का परलक्ष्यी शुभ (भाव) है और उसके आधीन हो गया है, वह चैतन्य की आधीनता का अनादर करता है। भारी कठिन बात। अभी लोगों को यही धर्म हो गया है। समझ में आया?

प्रतिदिन, हों! प्रतिदिन भोजन करके चार (प्रकार के) आहार का त्याग करे। यह खाया, खाया, वहाँ पानी (ले) बाद में नहीं। यहाँ तो सब दृष्टान्त तैयार हैं न? नागरभाई थे तुमने नहीं देखे। बोटाद से दो... बहुत खानदानी व्यक्ति, व्रत-तप करे। 'समढियाला' दो कोस है। खेत, पादर घर में है, गृहस्थ व्यक्ति, बड़े-बड़े अमलदार-अधिकारी आवें। कोई भी व्यक्ति निकला हो, दस बजे बारात निकली हो न बारात, भाई! जीमने न दे उसे। बारात को जीमने दे। जान समझे? विवाह के लिये निकले हों न? बारात, बारात कहीं जाने को निकली हो, गाड़ी निकली हो, देखा, बाहर खड़े देखे कि यह गाड़ियाँ बारात की है। यहाँ से नहीं निकला जायेगा, जीमकर जाओ। यहाँ से तुम्हारे जाया नहीं जायेगा। हम यहाँ खायेंगे हमारा, तुम्हारा नहीं खाया जायेगा। बाहर का सब भभका। यहाँ कहते हैं कि ऐसी चार त्याग की क्रिया करे (तो)

शुभभाव है, राग की मन्दता है, वह कहीं धर्म नहीं है। आहाहा! उसका कुछ प्रतिशत तो रखो! आत्मा के साथ कुछ लाभ हो ऐसा। छगनभाई!

तीन संध्याओं के समय (–प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल) भगवान अरहन्त परमेश्वर की लाखों स्तुति... भगवान परमेश्वर की स्तुति, हों! अरिहन्त परमेश्वर की। क्या कहलाते हैं वे ? क्षेत्रपाल और अमुकपाल, नहीं! देखो न! मन्दिर में बड़ा क्षेत्रपाल (रखे)। अब यह तो कोई बात है! जैन की क्या वस्तु है, (इसकी खबर नहीं होती) क्षेत्रपाल के चरण लगते हैं, जय महाराज! बड़ा लाल.. ऐसा पत्थर हो। पहले चावल उसे चढ़ावे, फिर भगवान के पास जाये। दक्षिण में ऐसा रिवाज है, हों! कहाँ गये ? धन्यकुमारजी! उनने देखा है या नहीं वहाँ ? तुम्हारे यहाँ ऐसी सब गप्प है।

यहाँ तो अरिहन्त परमेश्वर की लाखों स्तुति (करें)। वापस लाखों स्तुति। भाषा तो देखो! ऐसी भाषा से ऐसी स्तुति करे, परन्तु वे भगवान तो परद्रव्य हैं। उनकी स्तुति का भाव तो शुभभाव है। समझ में आया ? आहा! लो! भगवान की भक्ति भी आ गयी, वह क्रिया आ गयी। **मुखकमल से बोलता है,...** स्वयं बोलता है, ऐसा। दूसरा बोले और सुने, ऐसा नहीं। ऐसी स्वाध्याय करे, भगवान की स्तुति करे।

तीनों काल नियमपरायण रहता है... सबेरे, दोपहर और शाम। जितनी क्रिया नियमसार करने की हो न, ऐसे नियमों में तत्पर रहे। लो! सबेरे प्रतिक्रमण, शाम को प्रतिक्रमण, दोपहर में भी स्वाध्याय आदि। सामायिक सबेरे, दोपहर और शाम, तीन समय सामायिक होती है। **तीनों काल नियमपरायण रहता है इस प्रकार अहर्निश (दिन-रात मिलकर) ग्यारह...** क्रियाएँ हुईं। एक स्वाध्याय की क्रिया, चार आहार के त्याग की क्रिया=पाँच, तीन—सबेरे, दोपहर, शाम स्तुति की और तीन काल के नियमपरायण, इसके अतिरिक्त शास्त्र में जो नियम हो, सबेरे, दोपहर के (वे भी करे)। **ग्यारह क्रियाओं में तत्पर रहता है;...** भाषा क्या है ? तत्पर रहता है। ज्ञानी को ऐसा भाव आ जाता है (परन्तु) वह उसमें तत्पर नहीं है। ये सब शब्द पंचास्तिकाय के अमृतचन्द्राचार्य के हैं। अमृतचन्द्राचार्य में यह आता है। व्यवहाराभास में सब (आता है) वह ऐसा करता है, वह तप करता है, अमुक (करता है) ऐसा करके पर में ही एकाकार है। अमृतचन्द्राचार्य ने ऐसी सब भाषा प्रयोग की है, हों! समझ में आया ? (ऐसे) **ग्यारह क्रियाओं में तत्पर रहता है;...** इससे विशेष...

पाक्षिक,... प्रतिक्रमण करे, पन्द्रह दिन में आता है न ? **मासिक,...** प्रतिक्रमण करे, एक महीने में प्रतिक्रमण करे। **चातुर्मासिक...** चार महीने का प्रतिक्रमण **तथा सांवत्सरिक...** बारह

महीने का सांवत्सरिक का प्रतिक्रमण **सुनने से...** वह प्रतिक्रमण सुने। व्यवहार। **उत्पन्न हुए सन्तोष से जिसका धर्मशरीर रोमांच से छा जाता है;...** देखो! यह व्यवहारधर्म का शरीर। प्रसन्न.. प्रसन्न (होता है)। प्रतिक्रमण सुने, फिर मिच्छामि दुक्कडम् दे। न्यालभाई! इसमें सब लिखा हुआ है। धर्म शरीर अर्थात् वे शुभभाव के परिणाम हैं न, उनके साथ में यह शरीर भी ऐसा रोमांच हो गया है। आहाहा! रोमांच से छा जाता है, ऐसे रोमांच खड़े हो जाते हैं परन्तु वह तो परद्रव्य के अनुसार होते भाव की बात है। उसमें आत्मा कहाँ आया? आहाहा! समझ में आया?

तदुपरान्त **अनशन...** करता है। यह अपवास करे। एक अपवास से लेकर छह महीने के अपवास। वह तो शुभभाव है, अपवास है; उपवास नहीं। यह भारी कठिन पड़े, हों! सुनना कठिन पड़ता है, ऐई! शुरुआत में तो ये सब भड़के नेमिदासभाई और सब। आहाहा!

अवमौदर्य,... हमेशा ऊनोदर (भूख से कम) खाये। बत्तीस ग्रास हो, उसमें से पाँच कम ले। यह सब शुभभाव है। **रसपरित्याग,...** दूध, दही, खांड, शक्कर नहीं। रोटी और छाछ, रोटी और मट्ठा, बस! अपने को दूसरा कुछ नहीं चलता। उसमें क्या हुआ परन्तु अब? आत्मा चलता है या नहीं? यह तो ले न पहले! समझ में आया? आहाहा! रसपरित्याग करे, दूध, दही, खांड-शक्कर न खाये। लोगों को ऐसा हो... आहाहा! यह रस का त्याग (किया है)। क्या चलता है? किसी का आया था अभी द्राक्ष, भाई! द्राक्ष ऐसा आया था। एक साधु को... द्राक्ष चले, द्राक्ष का रस (चले) अब उसके लिये द्राक्ष का रस बनाना। उसकी अपेक्षा रोटी, दाल मिलता हो, वह तो ले।

एक व्यक्ति को सिंघाड़े की रोटी चलती है, गेहूँ की नहीं, त्याग है। सिंघाड़े आते हैं न, उनकी रोटी ले। परन्तु वह तो तेरे लिये बनानी पड़ेगी। उसकी अपेक्षा उनके लिये बनाया (हो वे ले)। अब उसका ऐसा चला है न कोई... आहाहा! भगवान का विरह पड़ा और जगत को तत्त्व की रुचि के... तत्त्व की रुचि (रही नहीं)। जिसे ठीक लगा, वैसा मानकर चल निकले, हम धर्म करते हैं। साधु होकर वापस कहे, हमारे यह रोटी गेहूँ की नहीं चलती। यह तो बाहर प्रसिद्ध करे। तब वे समझे कि इन्हें चलती नहीं, दूसरी बनाओ। परन्तु वह तो तेरे लिये बनाते हैं और लेता है, उसमें तेरे व्यवहार का भी ठिकाना कहाँ है? आहाहा!

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : तब पूछो उसे जाकर।

वृत्तिपरिसंख्यान,... नियम करे—पाँच घर का ही चलेगा, इतना ही चलेगा, इतना

विशेष नहीं। वह सब शुभभाव है। परद्रव्य के आश्रय से हुआ शुभविकल्प है। **विविक्त शय्यासन...** अकेला जंगल में रहे। स्त्री, पुरुष, नपुंसक का परिचय (नहीं)। नपुंसक ऐसे हल्के मनुष्य का परिचय (नहीं करे)। एकान्त विविक्त है। **कायक्लेश...** बराबर मोर के आसन से ऐसा करके बैठे। गौआसन, यह गाय को दूहे न ? इस (प्रकार से) बैठे, हों ! छह-छह घण्टे, आठ-आठ घण्टे (बैठे वह) शुभभाव है।

इन **छह बाह्य तप में जो सतत उत्साहपरायण रहता है;...** देखो, भाषा। निरन्तर। क्योंकि दृष्टि तो स्वभाव की मुख्यता तो कुछ है नहीं। सतत् निरन्तर उत्साहपरायण रहता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? उत्साह अवश्य, हों ! वापस उत्साह। बराबर उत्साह (रहे) ऐसा नहीं कि शिथिलपना हो। उत्साहपरायण है परन्तु वह है शुभभाव। **स्वाध्याय,...** शास्त्र की करे। लो ! वह कहे, स्वाध्याय करे तो असंख्यगुनी निर्जरा (होती है)। यहाँ कहते हैं, इस स्वाध्याय के आधीन हो-शुभभाव के आधीन हो, वह धर्म माने तो मिथ्यादृष्टि है। आहा ! धवल में आता अवश्य है न ? असंख्यगुनी निर्जरा। भाई ! वह दूसरी बात है, बापू ! वह तो आत्मा के दर्शन, प्रतीति, अनुभव हुआ है, और स्वभाव के आश्रय से वहाँ घोटन चलता है। उसमें वह स्व-अध्याय में, अपने आत्मा में अध्याय-एकाकार होता है, वह स्वाध्याय है। उस स्वाध्याय से कर्म को खिरावे और निर्जरा, शुद्धता हो। यह स्वाध्याय अर्थात् शास्त्र के परलक्ष्य से स्वाध्याय लाख करता हो, सबेरे-शाम तक किया करे (तो भी) शुभभाव है। समझ में आया ? **ध्यान,...** करे। लो ! इस प्रकार का ध्यान, हों ! ऐसे एकाग्र होने को मन्थन करे, परन्तु वह तो सब विकल्प है।

श्रोता : प्राथमिक तैयारी तो होती है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं चलता। ऐसा कहते हैं। आहा ! ऐसा तो अनन्त बार हो गया तो प्राथमिकपना तो आया नहीं इसमें कहीं। 'वह साधन बार अनन्त कियो, तदपि कछु हाथ हजू न परयो' श्रीमद् में नहीं कहा ? समझ में आया ?

शुभ आचरण से च्युत होने पर पुनः उनमें स्थापनस्वरूप प्रायश्चित्त,... ले। शुभभाव में प्रतिज्ञा हो, उसमें से कुछ दोष लगे तो प्रायश्चित्त ले। हमको इस उपवास में... परन्तु वह प्रायश्चित्त शुभभाव है। उसके वश होना, वह भी मिथ्यादृष्टिपना है। भगवान ज्ञायकस्वभाव के मुख्यपने की दृष्टि न देकर इसे मुख्य किया है, वह तो दृष्टि मिथ्यात्व है। वह तो ऐसी क्रिया तो अभव्य ने भी अनन्त बार की है।

विनय,... करे देव-गुरु-शास्त्र का। देव का विनय, गुरु का विनय, शास्त्र का विनय शुभभाव है। **वैयावृत्त्य...** सेवा करे, लो! देव-गुरु-शास्त्र की सेवा करे, टहल करे, मन्दिर को सम्हालने की उसकी, अमुक की, बाग-बगीचा करना, पूजा-बूजा करनी, करानी, ऐसी बराबर वैयावृत्त्य करे। शुभभाव हैं। **व्युत्सर्ग...** करे। आत्मा के अन्तर अनुभव की दृष्टि बिना यह सब व्युत्सर्ग भी तेरा शुभभाव है। भगवान के पास ऐसा ध्यान करके खड़ा रहे। आत्मा ज्ञानानन्द, रागरहित है, उसके अनुभव बिना यह कायोत्सर्ग भी शुभभाव है।

अभ्यन्तर तपों के अनुष्ठान में (आचरण में) जो कुशलबुद्धिवाला है;... देखा? बाह्य तप में सतत उत्साह परायण रहता है, ऐसा कहा। इसमें कहते हैं, कुशलबुद्धिवाला है, ऐसा कहा। कुशलबुद्धि, उसमें कुशल-चतुर है। यह सब भाषा पंचास्तिकाय में व्यवहार प्रधान का (कथन) बहुत आती है, (उसमें से है)।

परन्तु वह निरपेक्ष तपोधन साक्षात् मोक्ष के कारणभूत... निरपेक्ष (कहा), परन्तु निरपेक्ष जो तपोधनपना, जो निरपेक्षपना राग की अपेक्षारहित ऐसा तो है नहीं। **साक्षात् मोक्ष के कारणभूत स्वात्माश्रित आवश्यक-कर्म को...** देखो! साक्षात् मोक्ष का कारण। साक्षात् कहा, इसलिए यह परम्पराकारण है या नहीं? नहीं, नहीं। उसे साक्षात् होवे तो उस राग की मन्दता को परम्पराकारण का आरोप दिया जाता है। इतना अनन्त बार किया, इसमें कुछ भला हुआ नहीं।

स्वात्माश्रित आवश्यक... देखो, भगवान आत्मा ज्ञान की मूर्ति, ज्ञान सूर्य, आनन्द की मूर्ति आत्मा है, अतीन्द्रिय आनन्द का दलस्वरूप ही आत्मा है। ऐसे आत्मा के आश्रय से... समझ में आया? आवश्यक कर्म को स्व आत्मा के आश्रय से आवश्यक ऐसे कार्य को... आत्मा के आश्रय से वही आवश्यक कर्म है। **निश्चय से परमात्मतत्त्व में विश्रान्तिरूप...** वास्तव में परमात्मतत्त्व में, परमात्मतत्त्व। शुभराग में आत्मतत्त्व कहाँ आया? वह तो अनात्मा-राग आया। निश्चय से परमात्मतत्त्व स्वयं का। आत्मा अर्थात् परमस्वरूप तत्त्व। ज्ञानानन्दस्वरूप, शुद्ध चैतन्यस्वरूप, ऐसे परमात्मतत्त्व में विश्रान्तिरूप का नाम धर्मध्यान है। उसमें स्थित होना-परमात्मचिदानन्द भगवान में स्थिर होना, वह विश्रान्तिरूप धर्मध्यान है। वह विश्रान्तिरूप धर्मध्यान और शुक्लध्यान को जानता भी नहीं-ऐसा लेंगे। समझ में आया? कहो, इसमें चिल्लावें या नहीं? छगनभाई! इसमें सम्प्रदायवाले तो बेचारे विरोध.. विरोध करे। इसका। ऐसे लेख नग्न लेख हैं, ऐसा कहते हैं। यह तो खुला तत्त्व है। भगवान आत्मा परमात्मस्वरूप विराजमान

है, उसकी तुझे खबर नहीं, उसकी तुझे श्रद्धा नहीं, उसका तुझे आश्रय नहीं और पर के आश्रय के ऐसे भाव तू धर्म मानकर करता है, (तो तू) मूढ़ है। जानता नहीं, ऐसा कहते हैं यहाँ तो, हों!

श्रोता : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : ....व्यवहार है न वह ? व्यवहार है न अन्दर ? समझ में आया ?

ऐसा **विश्रान्तिरूप निश्चयधर्मध्यान...** देखो! सच्चा धर्मध्यान। वह व्यवहारधर्मध्यान था पहले ऊपर। ऐसे निश्चय अर्थात् सच्चे धर्मध्यान को ज्ञानसूर्य भगवान पूर्णानन्द से भरपूर की एकाग्रता अन्तर में होना, उसे निश्चयधर्मध्यान, सच्चा धर्मध्यान कहते हैं। समझ में आया इसमें ?

तथा शुक्लध्यान को — नहीं जानता;... इन्होंने वहाँ शब्द प्रयोग किया है-शुक्लध्यान। क्योंकि एक ही है न। धर्मध्यान के दो प्रकार पड़ते हैं। **शुक्लध्यान को — नहीं जानता;...** स्वात्माश्रित निश्चयधर्मध्यान और शुक्लध्यान, ऐसी भाषा ली है। धर्मध्यान के दो भेद करने को। शुक्लध्यान में दो भेद नहीं हैं। वह जानता नहीं, यहाँ तो लिया। मिथ्यादृष्टि लिया है। समझ में आया ? परन्तु ऐसा कुछ करता होगा तो करते-करते कुछ निवेडा आयेगा परन्तु करेगा नहीं, (तो) क्या आयेगा ? ऐसा कोई कहता था। एक व्यक्ति ऐसा कहता था, लो! महीने-महीने के अपवास करे, लो! भाई! यह श्रद्धा बिना कुछ करते हैं ? परन्तु कौन सी श्रद्धा ? यह महीने-महीने के अपवास करे, यहाँ सुनने आवे, वीतराग के नाम से कितना त्याग करे, पैसे का कितना भोग (दान) दे, शरीर को कमजोर कर दे। समझ में आया ? यह तो कुछ समकित दर्शन की श्रद्धा बिना करते होंगे ? परन्तु कौन सी श्रद्धा ? वह तो शुभराग की श्रद्धा है, आत्मा की श्रद्धा कहाँ आयी वहाँ ? वहाँ सम्यग्दर्शन लगा दे। वह सब ऐसा करे, वे श्रद्धा बिना करते होंगे ? कौन सी श्रद्धा ? व्यवहार श्रद्धा पर के आश्रयवाली या स्व निश्चय की श्रद्धा ? समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं कि देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, पंच महाव्रत की श्रद्धा, वह सब शुभराग है। कहो, कच्चा पारा है। सच्ची बात कच्चे पारे जैसी पचे नहीं। हाजमा तैयार कर। आत्मा वस्तु तेरे पास पूर्णानन्द भरपूर है। ऐसे महान प्रभु का तू आदर करता नहीं। आदर करना या नहीं करना, वह तेरे अधिकार की बात है। समझ में आया ?

इसलिए परद्रव्य में परिणत होने से... देखो! वह तो परद्रव्य में परिणत होने से। परिणत कहा तो कहाँ परद्रव्य से परिणत होता है ? परन्तु वह परद्रव्य में ही परिणत है, उसका लक्ष्य

ही परद्रव्य पर है अर्थात् शुभभाव, वह परद्रव्य परिणत है। वास्तव में शुभभाव राग की मन्दता, यह क्रिया के काण्ड कहे, वे सब परद्रव्य परिणत हैं, स्वद्रव्य नहीं। भगवान ज्ञानानन्दस्वरूप उनमें आया ही नहीं, वह तो सब परद्रव्यरूप है। भाषा देखो। **परद्रव्य में परिणत होने से...** देखो! अभी कल सबेरे आयेगा न? '**पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं**' वह पुद्‌गल जड़ के प्रदेश में स्थित है, इसका अर्थ कि उसका लक्ष्य ही पर के ऊपर है अर्थात् शुभाशुभभाव में लीन है, वह परद्रव्य में ही परिणत है। ओहो!

उसे अन्यवश कहा गया है। लो! यह पाठ में है वह। समझ में आया? '**अण्णवसो**' '**जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो।**' वह पराधीन है, पराधीन है, वह स्वाधीन नहीं। आहाहा! कितनी व्याख्या (की है)! यह तो लोग कहे, पराधीन सपने सुखी नहीं। यह नौकरी करना, पराधीन रहना, यह किया, वह सब पराधीन। यहाँ तो कहते हैं शुभराग के आधीन होना, वह पराधीन है। समझ में आया? भगवान आत्मस्वभाव तो अरागी चिदानन्दस्वरूप है। शुद्ध.. शुद्ध.. शुद्ध.. है। उसमें राग कैसा? ऐसे परमात्म निजस्वरूप का प्रेम नहीं, रुचि नहीं, आश्रय नहीं। ऐसे जो परद्रव्य परिणत राग, विकार, संयोगीभाव (होवें) उन्हें परद्रव्य परिणत कहा गया है। उसे **अन्यवश कहा गया है।**

जिसका चित्त तपश्चरण में लीन है... मुनिपना, यह व्यवहार मुनिपना, हों! तपश्चरण अर्थात् मुनिपना, व्यवहार मुनिपना। पंच महाव्रत आदि में **लीन है, ऐसा यह अन्यवश श्रमण...** पराधीन हुआ साधु। ऐसे गृहस्थ भी उसके प्रमाण में लेना। **देवलोकादि के क्लेश की परम्परा...** वह तो देवलोक के क्लेश की परम्परा में सिंकेगा। वहाँ शान्ति कहाँ है? पुण्य के भाव में स्वर्ग में जायेगा, फिर उस धूल की सेठाई प्राप्त करेगा। वहाँ क्लेश से अंगारों में सिंकेगा, कहो, समझ में आया इसमें? कहाँ गये? मोहनभाई गये तुम्हारे? समझ में आया? ऐसे शुभभाववाले मुनि अथवा गृहस्थ हों, जिनका शुभभावरूपी मुनिपना, पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण, श्रावक के बारह व्रत आदि में जिनका भाव लीन है, ऐसा वह अन्यवश साधु या श्रावक। देवलोकादि, देवलोक और आदि अर्थात् वहाँ से निकलकर कदाचित् पुण्य के फल में सेठ हो इस धूल के दो-पाँच करोड़, पचास करोड़ (मिले)। अभी तो पचास करोड़ का कहाँ... धूल बहुत बढ़ गयी। वह **देवलोकादि के क्लेश की परम्परा...** यह तो भारी, भाई! नग्न-मुनि, नागा बादशाह से आघा। ये सब अमृतचन्द्राचार्य की यह शैली है, हों! पंचास्तिकाय में लिया है। वह शुभभाव से अंगारों में सिंकेगा।

श्रोता : सम्यग्दर्शन.....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सम्यग्दृष्टि (सिकेगा)। शुभभाव है, उतना वहाँ स्वर्ग में अंगारों में सिकेगा। वहाँ कहाँ सुख था? शुभभाव ऐसा है या नहीं? सम्यग्दृष्टि भी, मुनि भी शुभभाव में जहाँ है, उससे स्वर्ग में जायेंगे और वासना में सिकेंगे। आहाहा! सिकते हैं, वह पुण्य के फल में अन्दर भोगने जाते हैं, (उसमें) वृत्ति सिकती है, जलती है। आहाहा! समझ में आया इसमें? वह **परम्परा प्राप्त होने से शुभोपयोग के फलस्वरूप प्रशस्त रागरूपी अंगारों से सिकता हुआ,...**

श्रोता : यहाँ तो जरा..... तो चिल्लाने लगते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : चिल्लाता ही नहीं, उसे भान नहीं और उसे दु:ख ही नहीं लगता। राग, वह दु:ख है, अंगारा है, अग्नि है। भगवान आत्मा राग की रहित की शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। शान्त अकषायस्वभाव की पुतली है। अकषाय अर्थात् शान्त.. शान्त.. शान्त.. निर्विकल्प तत्त्व है। ऐसे शान्त का सागर है, शान्ति का सागर है। उसमें एकाग्र होने से जैसे फव्वारे में पानी निकले, वैसे शान्ति में एकाग्र होने से अन्दर शान्ति प्रगट होती है। वह स्व-आश्रय से शान्ति प्रगट नहीं करता। समझ में आया? बाहर में पाँचवें गुणस्थान की व्यवहार क्रिया, छठे गुण (स्थान) की व्यवहार क्रिया में शान्ति माने। धूल में भी शान्ति नहीं है।

शुभोपयोग के फलस्वरूप प्रशस्त रागरूपी अंगारा... देखो! ऐई! भाषा यह प्रयोग की है। शुभोपयोग का फल वहाँ तो... परन्तु यह तो **शुभोपयोग के फलस्वरूप प्रशस्त रागरूपी अंगारों से सिकता हुआ,...** वहाँ जायेगा तो उस प्रकार का भले वहाँ शुभभाव कोई करे देवलोक में, वह सब मन्द कषाय है, तो भी अंगारों में सिकता है, ऐसा कहते हैं। फलस्वरूप में तो बाह्य साधन मिले, उसमें लक्ष्य जाता है, वह अशुभभाव है परन्तु बहुत सामग्री में, अनुकूलता में... देव की भक्ति करे, भगवान आदि की हो, अग्नि में सिके। बस, पाठ की यह बात यहाँ रखी।

अब जरा मुनि इसमें से सुलटी बात निकालते हैं। '**तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे।**' यहाँ तक तो इस गाथा का अर्थ है। अब इसमें से कोई जीव... * परन्तु वह पराधीन है,... आसन्न भव्यता-बहुत नजदीक जिसकी भव्यता—मोक्ष को प्राप्त करने की योग्यता, ऐसे **गुण का उदय होने पर...** ऐसे अन्तर में आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि उदय होने पर, प्रगट होने पर **परमगुरु के प्रसाद से...** भगवान आत्मा विकल्प अर्थात् रागरहित चीज़ है, उसे समझ। ऐसे **परमगुरु के प्रसाद से...** देखो! **प्राप्त परमतत्त्व के श्रद्धान...** यह परमगुरु का

---

* आवाज की अस्पष्टता के कारण कुछ अंश छोड़ा गया है। -अनुवादक

प्रसाद और परमगुरु ने यही कहा है। क्या कहा ? – कि परमतत्त्व का श्रद्धान। भाई ! यह शुभभाव है, वह आस्रवतत्त्व है। तेरा परमतत्त्व उस आस्रव के राग से भिन्न तत्त्व है। समझ में आया ?

उसका श्रद्धान, परमतत्त्व का श्रद्धान, देखो ! चैतन्यस्वरूप अनाकुल आनन्द तत्त्व आत्मा अन्तर उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान। परमतत्त्व का ज्ञान और परमतत्त्व के अनुष्ठान स्वरूप **शुद्ध-निश्चय-रत्नत्रयपरिणति द्वारा...** लो ! जब यह जीव इस प्रकार प्रगट करेगा, तब मुनि निर्वाण को पायेंगे। ऐसे भाव से (पायेंगे)। शुभभाव से तो अंगारों में सिकेंगे, ऐसा कहते हैं। उसके सामने निर्वाण लिया है। वह जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा गुरु के प्रसाद द्वारा। उन्होंने कहा कि भाई ! आत्मा शुद्धचैतन्य है, अनाकुल आनन्द का तत्त्व है। उसके सन्मुख श्रद्धा कर, उसके सन्मुख का उसका ज्ञान कर, उसके सन्मुख में अनुष्ठान उस पर कर। समझ में आया ? ऐसा कहकर यह कहा (कि) परमगुरु तो ऐसा उपदेश देते हैं, भाई ! अज्ञानी शुभ से धर्म होता है, ऐसा (उपदेश) देनेवाले, वे गुरु नहीं हैं।

परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त अर्थात् उसे जब मिला है, वह गुरु ने ऐसा कहा है। भाई ! तेरा आत्मा है न, प्रभु ! पूर्ण अकषाय रस के स्वभाव से भरपूर प्रभु है। अब तेरी पर्याय को, वर्तमान दशा को भगवान का आधार दे। वह पूर्ण प्रभु विराजता है तेरा आत्मा, भाई ! उसकी श्रद्धा, स्व की श्रद्धा कर, उसका ज्ञान कर और उसका अनुष्ठान (कर), ऐसा कहा था, वैसा इसने किया-ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

यहाँ तो ऐसा कहते हैं, गुरु तो निश्चय का ही उपदेश देते हैं, ऐसा कहते हैं। बीच में व्यवहार हो, वह तो निश्चय का ज्ञान करने पर व्यवहार का ज्ञान नया करना नहीं पड़ता, उसमें वह ज्ञान समाहित हो जाता है। स्व का भान होने पर बाकी रहे, उसका ज्ञान उसमें आ जाता है। ऐसा सन्तों का, गुरुओं का, वीतरागी मुनियों का यह उपदेश है। समझ में आया ? आया न ? पाठ में ऐसा आया न ? ऐसे कार्य को '**आवासयलक्खणं ण हवे।**' उससे आत्मा के आश्रय से जो काम हो वह '**आवासयलक्खणं हवे।**' उसमें से ऐसा निकाला। उससे विरुद्ध। मुखारबिन्द कहा था... वह तो कहा था व्यवहार से जाननेयोग्य की चीज़, वहाँ उसे आदरनेयोग्य मानकर वहाँ रहा।

जब गुरु ने ऐसा कहा कि भाई ! तेरे आत्मा का आश्रय कर, प्रभु ! महाप्रभु विराजता है न अन्दर। उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान, उसका आश्रय, उसका अनुष्ठान (कर), ऐसा कहकर, देखो ! जैसा कहा था, वैसा करके **शुद्ध-निश्चय-रत्नत्रयपरिणति द्वारा...** देखो ! ये तीनों

होकर शुद्धनिश्चयरत्नत्रयपरिणति हुई। देखो! परिणति पर्याय हुई। शुद्ध सच्चा रत्नत्रय जिसे मोल लेना है–मोक्ष! जिसे मोल–मोल अर्थात् पैसा (कीमत) देकर लेना है मोक्ष। वह निश्चयरत्नत्रय कीमत देकर लेता है। **निर्वाण को प्राप्त होता है (अर्थात् कभी शुद्ध-निश्चयरत्नत्रयपरिणति को प्राप्त कर ले तो ही और तभी निर्वाण को प्राप्त करता है)।** स्पष्टीकरण किया। नहीं तो वे ऐसा ले लें, ऐसा होवे और उसमें से ऐसे पा जाये, ऐसा ले लें। समझ में आया? ऐसा स्व का आश्रय करेगा, श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र (होंगे), तब वह मुक्ति को पायेगा, पर के आश्रय से कभी मुक्ति होगी नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

(१३) श्री समयसार, गाथा ३०४ से ३०७, प्रवचन नं. ३७४
दिनांक २१-१२-१९७९

(समयसार, गाथा) ३०४ और ३०५ है न? उसका भावार्थ है।

भावार्थ-संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित और आराधित-इन शब्दों का एक ही अर्थ है,... सब पर्यायवाचक है। पर्यायवाचक अर्थात् भिन्न-भिन्न अक्षर, परन्तु अर्थ एक ही है। **इन शब्दों का एक ही अर्थ है, यहाँ शुद्ध आत्मा की सिद्धि...** शुद्ध आत्मा की सिद्धि अर्थात् साधकपना **अथवा साधन का नाम 'राध' है।** यहाँ साधन की बात है। पूर्ण हो गया, उसकी बात नहीं। अन्तर आत्मा के अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप की एकाग्रता का सेवन अथवा आश्रय, उसे यहाँ साधन कहा जाता है। यह साधन है। **जिसके वह राध नहीं है, वह आत्मा सापराध है...** जिसे वह राध नहीं, अर्थात् सेवना नहीं, आत्मा का आश्रय नहीं, आत्मा का अवलम्बन नहीं और विकल्प आदि का अवलम्बन और आश्रय है, वे सब सापराधी / गुनहगार हैं। आहाहा!

शुद्ध आत्मा की सिद्धि, **जिसके वह राध नहीं है, वह आत्मा सापराध है...** आहाहा! विकल्पमात्र कर्मकृत भाव है, वह धर्मकृत भाव नहीं। वे सर्व भाव सापराध हैं, वे अपराध में जाते हैं (समाहित हैं), गुनाह में जाते हैं। **जिसके वह राध है...** राध अर्थात् सेवन, आश्रय। आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्द का जहाँ आश्रय है, वह आत्मा निरपराध है। जिसका द्रव्यस्वभाव... कल आ गया कि त्रिकाली निरुपाधि स्वभाव है; इसलिए वह निरावरण दर्शन-ज्ञान द्वारा ही वह सेवना, ज्ञात हो, ऐसा है। यह क्या कहा? आत्मा त्रिकाल निरुपाधिस्वरूप है; इसलिए उसका लक्ष्य अथवा सेवन आश्रय निरावरण ज्ञान और दर्शन द्वारा उसका सेवन-आश्रय किया जा सकता है। आहाहा! कल आया था, नहीं? आया था न कल?

आत्मा त्रिकाली निरुपाधि स्वभाव है। वह निरावरण ज्ञान-दर्शन की पर्याय से ही आश्रय और सेवन करनेयोग्य है। समझ में आया? आहाहा! विकल्प, जितना राग उठे, वह सब परद्रव्य और बन्ध का कारण है, जहर है। अमृतस्वरूप, अमृतस्वरूप आत्मा उसमें है, उस भाव से ज्ञात हो, वैसा है; उसमें नहीं, उनसे ज्ञात हो, वैसा नहीं है। समझ में आया? उसमें ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति, वीतरागता भरी हुई है, तो वह उस स्वभाव द्वारा ज्ञात हो, ऐसा है।

उसमें है, उन द्वारा ज्ञात हो, ऐसा है; उसमें नहीं, उन द्वारा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म, सूक्ष्म पड़ता है। अपूर्व बात तो यह है।

यह यहाँ कहा, **वह आत्मा सापराध है और जिसके वह राध है...** अर्थात् स्वभाव का आराधन है, अर्थात् कि वह वीतराग त्रिकाली स्वभाव है। ऐसा ही पर्याय में स्वभाव होने से उसका सेवन, आराधन होता है। आहाहा! वह आत्मा निरपराधी है। स्वयं निरुपाधिस्वभाव अखण्डानन्द ज्ञानस्वरूप प्रभु; वह अखण्ड ज्ञान की पर्याय जो स्वाभाविक है, उससे वह ज्ञात हो, ऐसा है। है उसमें, उसमें जो है, उससे ज्ञात हो, ऐसा है। उसमें नहीं, उनसे ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। यह संक्षिप्त भाषा। समझ में आया? आहाहा! जो उसमें स्वभाव है, उस स्वभाव की पर्याय द्वारा ही स्वभाव ज्ञात हो, ऐसा है। क्योंकि उसमें है, उस भाव से वह ज्ञात होता है। उसमें नहीं है, उस भाव से वह ज्ञात नहीं होता। आहाहा!

कल तो यहाँ तक आया था कि निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार है ही नहीं, क्योंकि निश्चय में व्यवहार नहीं है। स्वद्रव्य की अपेक्षा से परद्रव्य, अद्रव्य है। स्वद्रव्य की अपेक्षा से परद्रव्य, अद्रव्य है। तीर्थंकर का आत्मा भी इस स्वद्रव्य की अपेक्षा से अद्रव्य है। आहाहा! इसी तरह निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार भी है ही नहीं। निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार नहीं; व्यवहार की अपेक्षा से व्यवहार है। इस प्रकार से, इस प्रकार से। स्व की अपेक्षा से व्यवहार है ही नहीं, इसमें है नहीं। जैसे परद्रव्य स्व की अपेक्षा से अद्रव्य है; वैसे स्व-निश्चय की अपेक्षा से राग-व्यवहार, वह अद्रव्य है अथवा अनिश्चय अथवा वह भाव नहीं है, परन्तु उसकी अपेक्षा से वह भाव है, व्यवहार की अपेक्षा से व्यवहार है, परन्तु व्यवहार की अपेक्षा से लाभ हो-ऐसा नहीं है। व्यवहार है सही, पर्याय स्वयं व्यवहार है और द्रव्य में पर्याय नहीं, तथापि यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि स्वभाव जो है, उस स्वभाव की निरावरण पर्याय द्वारा वह स्वभाव लक्षित हो सकता है कि जो पर्याय उसमें नहीं है। आहाहा!

फिर से, जो वस्तु है, वह त्रिकाल निरावरण निरुपाधिस्वरूप ही है, वीतरागस्वरूप ही है। उसमें जो पर्याय है, वह द्रव्य में नहीं। आहाहा! तो उसमें नहीं तो उसके द्वारा ज्ञात अवश्य हो वापस। आहाहा! अपेक्षा तो कितनी! उसमें पर्याय, द्रव्य में नहीं, परन्तु ज्ञात हो तो उस पर्याय द्वारा ही ज्ञात हो। आहाहा! पर्याय बिना द्रव्य होता नहीं कहीं कभी तीन काल में। इसलिए ज्ञात हो, तब उस पर्याय द्वारा ज्ञात होता है; पर्याय में द्रव्य का स्वरूप जैसा है, जितना है, उतना ज्ञात होता है, तथापि वह द्रव्य, पर्याय में नहीं आता, तथापि उस द्रव्य में पर्याय की नास्ति है और पर्याय में द्रव्य की नास्ति है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है।

मुमुक्षु : इन्द्रजाल जैसा लगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : इन्द्रजाल है। कहा है न, वहाँ कहा है। प्रभु! एक ओर आप कारक नहीं, ऐसा कहो, आहाहा! और धर्म नहीं, गुण नहीं-ऐसा कहो। धर्म नहीं अर्थात्? नित्य-अनित्य, एक-अनेक—ऐसे अपेक्षित धर्म है, परन्तु वस्तु में नहीं। ***कारक पर्याय में हैं, कारक-षट्कारकरूप से पर्याय परिणमती है, अस्तिरूप से स्वयं ही स्वयं से, हों! द्रव्य की अपेक्षा नहीं। निमित्त की अपेक्षा तो नहीं; द्रव्य की अपेक्षा नहीं। वह पर्याय षट्कारकरूप से परिणमती है, तथापि वे पर्याय के षट्कारक हैं, वे द्रव्य में नहीं। द्रव्य के षट्कारक ध्रुव हैं, वे अलग है। आहाहा!*** यह तो षट्कारक का पर्याय का परिणमन जो है, वह द्रव्य में नहीं, तथापि षट्कारक का परिणमन है, उसमें द्रव्य का जितना और जैसा सामर्थ्य है, उतना पर्याय में ज्ञात होता है और श्रद्धा में आ जाता है। आहाहा! ऐसा कठिन है। मार्ग-अन्तर चीज़ तो अलौकिक बात है, भाई! तीन लोक में उसके जैसी बड़ी कोई चीज़ ही नहीं है। एक आत्मा, एक आत्मा तीन लोक में उसके जैसी बड़ी कोई चीज़ नहीं है। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, उसका जो राध; राध अर्थात् सेवन; सेवन अर्थात् उसका आश्रय। आहाहा! तथापि वह सेवन की पर्याय और आश्रय द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। आहाहा!

मुमुक्षु : स्पर्श किये बिना सेवन हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय से होता है, ***परन्तु पर्याय में द्रव्य नहीं आता और द्रव्य को पर्याय स्पर्श नहीं करती। पर्याय का अस्तित्व, द्रव्य के अस्तित्व में जाता नहीं; द्रव्य का अस्तित्व-सत्ता, पर्याय की सत्ता में आता नहीं।***

मुमुक्षु : कथंचित्?

पूज्य गुरुदेवश्री : कथंचित् नहीं, सर्वथा। कथंचित् तो यह कि पर्याय, पर्याय में है; पर्याय, द्रव्य में नहीं, ऐसा। परन्तु कथंचित् पर्याय, द्रव्य में है और कथंचित् द्रव्य में पर्याय नहीं - ऐसा नहीं है। आहाहा! मार्ग बहुत सूक्ष्म, बापू!

यहाँ यह कहते हैं राध। जिसने आत्मा का सेवन किया। सेवन अर्थात् आश्रय लिया। **आश्रय लिया अर्थात्? पर्याय ने स्वतन्त्र कर्ता होकर लक्ष्य किया, बस!** यह आश्रय। पर्याय ने स्वतन्त्रकर्ता होकर लक्ष्य किया, इतना आश्रय। आहाहा!

मुमुक्षु : यह स्व का लक्ष्य किया या पर का?

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य का लक्ष्य किया, द्रव्य का। पर्याय ने लक्ष्य किया द्रव्य का, परन्तु पर्याय ने पर्याय में रहकर, कर्तारूप से स्वतन्त्ररूप से रहकर लक्ष्य किया। द्रव्य में घुसे बिना।

मुमुक्षु : पर्याय और द्रव्य तो एक-दूसरे से पर हैं न ? इसलिए पर का लक्ष्य किया ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, लक्ष्य, लक्ष्य नहीं होता ? वह पर आवे नहीं। इस ज्ञान में वह ज्ञात होती है, वह चीज़ ज्ञात नहीं होती, ज्ञान ज्ञात होता है, ज्ञान की पर्याय ज्ञात होती है। वह (पर) ज्ञात कहाँ होता है ? उसके साथ यह ज्ञान कहाँ तन्मय है ? ज्ञान की पर्याय उस पर के साथ तन्मय कहाँ है ? स्वयं पर्याय तन्मय स्वयं के साथ है और पर के साथ तो अतन्मय है, अभाव है।

मुमुक्षु : अपने साथ तन्मय नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय तो पर्याय में तन्मय है।

मुमुक्षु : द्रव्य में तन्मय है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं; पर्याय, पर्याय में तन्मय है, ऐसा कहा; द्रव्य में कहा नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : द्रव्य का स्वांग धारण किया, ऐसा कहा जाए साहेग (?)

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो उसमें क्या ? प्रत्येक पर्याय का स्वांग ही है। समयसार में जगह-जगह आया है। एक-एक लेख में कि यह पुण्य स्वांग पहिनकर आया, मोक्ष स्वांग लेकर आया। वह तो स्वांग तो प्रत्येक पर्याय है। स्वांग अर्थात् पर्याय। आहाहा!

यहाँ राध हे, वह आत्मा निरपराध है। इस पर्याय से-जिसने आत्मा के लक्ष्य से उसका ज्ञान किया अथवा उसका आश्रय किया। उसकी सेवा की, इसका अर्थ यह कि उसका आश्रय किया। **भूवत्थमस्सिदो** आता है न ? (समयसार) ११वीं गाथा। भाषा के प्रकार बहुत प्रकार, परन्तु उसका मूल हेतु क्या है ?-कि यह ऐसे जो लक्ष्य है, वह लक्ष्य ऐसे किया, वह पर्याय ने आत्मा का सेवन किया-ऐसा कहा जाता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! बाहर के इस क्रियाकाण्ड में रुक गये; रुककर बेचारे वहीं के वहीं पड़े हैं। जिन्दगी चली जाती है। आहाहा! सत्य जिस प्रकार से है, जिस प्रकार से सत्य है, उस प्रकार से हाथ में न आवे और उल्टे-सीधे क्रियाकाण्ड में से (प्राप्त करना चाहे)। यह तो अपने कल आ गया था (कि) भगवान तो क्रिया-सर्व क्रियाकाण्ड के आलम्बन से रहित है। सर्व क्रियाकाण्ड के राग और दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा और गजरथ निकालना-सब क्रियाकाण्ड से प्रभु रहित है। आहाहा!

मुमुक्षु : शुद्धरूप से परिणमना, वह क्रियाकाण्ड ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह क्रियाकाण्ड नहीं, वह एक क्रिया है; परन्तु वह क्रियाकाण्ड नहीं। पर्याय है, वह क्रिया है। द्रव्य है, वह निष्क्रिय है; पर्याय है, वह सक्रिय है परिणमन की

अपेक्षा से। राग की अपेक्षा से निर्मलपर्याय निष्क्रिय है। अरे! कितनी बात करना! ***राग की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन की निर्मलपर्याय निष्क्रिय है, परन्तु द्रव्य की अपेक्षा से वह सक्रिय है, बदलती है, ऐसा है। आहाहा! समझ में आया? धीरे से समझना, भाई! मार्ग ऐसा है। आहाहा! अरे! ऐसा अवसर कब मिले? भाई! यह तो मुश्किल से मनुष्यभव (मिला), उसमें वीतराग की मूल वाणी... आहाहा! कान में पड़ना, सुनना, भाग्यवान को पड़े, ऐसा है। आहाहा!***

सत्—उत्पाद-व्यय और ध्रुव तीन सत् है। तीन सत्। एक द्रव्य के तीन सत् होने पर भी, एक सत् दूसरे सत् की अपेक्षा नहीं रखता। यह तो बहुत बार कहा जा चुका है। प्रवचनसार, १०१ गाथा। १०१ गाथा। उत्पाद को व्यय और ध्रुव की अपेक्षा नहीं। आहाहा! पूरी पर्याय को तो नहीं, पूरी पर्याय उत्पाद-व्यय दो, परन्तु एक-एक भाग उत्पाद को, व्यय और आश्रय द्रव्य की अपेक्षा नहीं। उसे सत् सिद्ध करना है। सत् है। है, उसे हेतु नहीं हो सकता। है, उसे सिद्ध करने के लिये हेतु नहीं हो सकता। है, वह है; निरपेक्ष—अपेक्षा बिना है।

यहाँ जो राध का कहा, वह सेवन अर्थात् उसका अर्थ आश्रय, बस! राध है, वह आत्मा निरपराध है। अर्थात् आत्मा जो है, उसने पर्याय में जिसने द्रव्य का आश्रय किया है, वह निरपराध है। यह सेवना कहो या आश्रय कहो। आहाहा! **जो सापराध है, उसे बन्ध की शंका होती है...** आहाहा! जो राग का सेवन करता है; रागरहित अबन्धस्वरूप भगवान को भूल जाता है, उसे बन्ध की शंका होती है। क्यों? कि जो वस्तु है, वह अबन्धस्वरूप है और राग है, वह बन्धस्वरूप है। इसलिए जिसने राग को अपना माना, उसे बन्ध की शंका होती है। आहाहा! जो राग, आत्मा का नहीं है, (उसे अपना मानता है।)

कहा नहीं? कल कहा था—व्यवहार, निश्चय में नहीं है। निश्चय में व्यवहार है ही नहीं। निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार है ही नहीं। व्यवहार की अपेक्षा से व्यवहार है। आहाहा! स्वद्रव्य की अपेक्षा से परद्रव्य है ही नहीं; परद्रव्य की अपेक्षा से परद्रव्य है। निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार है ही नहीं; व्यवहार की अपेक्षा से व्यवहार है। आहाहा! ऐसा स्वरूप अब! यह चीज़ ही ऐसी है।

तीन अंश होने पर भी प्रत्येक अंश निरालम्बन है। उत्पाद-व्यय और ध्रुवयुक्तं सत्। द्रव्य सत्, गुण सत्, पर्याय सत्, सत् का विस्तार। (प्रवचनसार) १०७ गाथा। यह सत् का विस्तार है, तथापि वह एक-एक पर्याय या एक गुण, द्रव्य किसी की अपेक्षा नहीं रखते। आहाहा! अपेक्षा रखे (तो) उस सत् की सिद्धि ही नहीं हो सकती। आहाहा!

श्रोता : पर्याय, गुण की होने पर भी गुण की अपेक्षा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; सूक्ष्म बातें पड़े, भाई! ***पर्याय के षट्कारक हैं, वे स्वतन्त्र षट्कारक द्रव्य और गुण की अपेक्षा बिना काम करते हैं,*** तथापि प्रश्न तो मस्तिष्क में बहुत उठे हों, कि षट्कारक हैं, उनमें एक कारक दूसरे की अपेक्षा रखता है या नहीं? वह तो इकट्ठे हैं न? इकट्ठे हैं। एक ही समय में इकट्ठे है न? प्रश्न उठे हों न बहुत। आते-आते आया हो, वह आवे। ***आहा! षट्कारक पर्याय में हैं, वह एक-एक कारक वास्तव में तो है, वह है। एक पर्याय में अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं, वह एक-एक अविभागी प्रतिच्छेद भी पर अविभागी प्रतिच्छेद की अपेक्षा नहीं रखता। ऐसा इस सत् का स्वरूप है। आहाहा!***

यहाँ यह कहते हैं, जिसे वह आत्म-आश्रय नहीं है, पर्याय को आत्मा का आश्रय नहीं है, अर्थात् पर्याय में आत्मा का सेवन नहीं है, पर्याय में आत्मा का आराधन नहीं है, उस पर्याय में आत्मा का साधन नहीं है... है? (वह) **सापराध है, उसे बन्ध की शंका होती है...** वह अपराधी जीव है, उसे शंका होती है। निरपराधी को (बन्ध की शंका नहीं होती)। **इसलिए वह स्वयं अशुद्ध होने से...** क्यों? कहते हैं, बन्ध की शंका क्यों? कि राग को ही लक्ष्य में लिया है और राग को सेवन करता है। आहाहा! वह अशुद्ध होने से चाहे तो शुभराग हो, परन्तु शुभराग का लक्षण वहाँ ही पड़ा है, इसलिए **अशुद्ध होने से अनाराधक है।** आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। इसे समझना पड़ेगा या नहीं? भाई! चाहे जैसा सूक्ष्म है, वह है न? सूक्ष्म, परन्तु है न? है, उसे जानना है, उसमें है न, प्रश्न (क्या)? ***आहाहा! और जाननेवाला, जाननेवाले को जानता है। आहाहा! जाननेवाला, जाननेवाले को जानता है। जाननेवाला जनाता है, उसे नहीं जानता। आहाहा! उसकी अपनी पर्याय की सत्ता है, उसे वह जानता है। आहाहा!***

अशुद्ध होने से अनाराधक है। क्या कहा यह? यह राग का विकल्प चाहे तो दया, दान और व्रत, भक्ति आदि का हो या भगवान के स्मरण का (हो), वह अशुद्ध है; और अशुद्ध मेरा है-ऐसा सेवन किया है, वह अनाराधक है; वह आत्मा का आराधक नहीं है, वह आत्मा का आश्रय नहीं है, आत्मा का सेवन नहीं है। आहाहा! है या नहीं? घीया? वहाँ नहीं, तुम्हारे घी में नहीं। यहाँ है, यहाँ दूसरी जाति में है। घी कहाँ, इसकी घीया तो पहिचान है। लकड़ी है न? क्या है? चद्दर-लोहे का व्यापार। आहाहा!

अशुद्ध होने से अनाराधक है। पर को अपना मानता है वह मान्यता पर के कारण नहीं, अशुद्ध होने से सापराधी है। अनाराध देखा? वह पर को, परवस्तु को मानता है, वह तो स्वयं अपने कारण से अशुद्ध है, परवस्तु के कारण से अशुद्ध नहीं है। आहाहा! समझ में आया? **और जो निरपराध है, वह निःशंक होता हुआ अपने उपयोग में लीन होता है,...** देखा? उपयोग

में लीन है, पर्याय में एकाग्र है, द्रव्यसन्मुख पर्याय की एकाग्रता है। उस राग-सन्मुख झुकाव है नहीं। आहाहा! राग का सेवन नहीं, राग का आश्रय नहीं। आहाहा! जहाँ स्वभाव की सत्ता का सेवन है, वहाँ राग की सत्ता ही नहीं। निरालम्बन ऐसी आत्मदशा, वह निरागी आत्मा के आश्रय से-स्वयं से निरागी हुई है, मात्र ऐसे लक्ष्य किया है, आश्रय किया है इतना। इसलिए वह निराली दशा वह स्वतन्त्र निरपराधी है। आहाहा!

इसलिए 'जो शुद्ध आत्मा है, वही मैं हूँ'... है ? राग नहीं, पुण्य नहीं, दया, दान, भगवान का स्मरण, भगवान को याद करना... आहाहा! तो अपनी याद को भूल जाता है, कहते हैं। भले स्वरूप के भानसहित हो परन्तु फिर भी उतनी अस्थिरता है। आहाहा! (अपने को) भूलकर भगवान को याद करे, वह तो मिथ्यात्व का अपराध है, परन्तु भूले बिना याद करे तो भी राग का अपराध है। कहो, चन्दुभाई! ऐसी बात है। आहाहा! मार्ग बहुत अलौकिक है।

'शुद्ध आत्मा है, वही मैं हूँ'... यह कौन कहता है ? पर्याय मानती है। मानती है पर्याय न ? **'शुद्ध आत्मा है वही मैं हूँ' ऐसे निश्चयपूर्वक वर्तता...** पर्याय देखो! **हुआ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के एक भावरूप निश्चय आराधना का आराधक ही है।** लो! इन तीन की एक निर्विकल्पदशा। **'शुद्ध आत्मा है, वही मैं हूँ' ऐसे निश्चयपूर्वक वर्तता हुआ...** आहाहा! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर्याय, पर्याय में स्वतन्त्र काम करती है। उस पर्याय ने स्वयं द्रव्य का ऐसा लक्ष्य किया है, परन्तु फिर भी पर्याय उसमें मिल नहीं गयी है तथा द्रव्य, पर्याय में मिलकर आ नहीं गया है।

यह तो ४९ गाथा में आया था। अव्यक्त जो है, वह व्यक्त को स्पर्श नहीं करता, (द्रव्य) पर्याय को स्पर्श नहीं करता, ऐसा कहते हैं। ४९ गाथा, अव्यक्त के बोल, छह बोल। व्यक्त-अव्यक्त का एकसाथ में ज्ञान होने पर भी व्यक्त को वह स्पर्श नहीं करता। व्यक्त अर्थात् प्रगट पर्याय। अरे! वहाँ तक कहा... आहाहा! द्रव्य को स्पर्श किये बिना, स्पर्श किये बिना शुद्धपर्याय, वही आत्मा है। कहा है ? बीसवाँ बोल है। वह शुद्धपर्याय है, वही आत्मा है। वेदन में जो निर्मल शुद्धपर्याय आयी, वही आत्मा है। वह पर्याय, द्रव्य को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! अलिंगग्रहण बीसवाँ बोल है। आहाहा!

जिस पर्याय ने द्रव्य का आश्रय करके वीतरागता प्रगट की, वही वीतरागता ही आत्मा है, वही आत्मा है। प्रगट पर्याय जो है, वही आत्मा है। आहाहा! सब जगह द्रव्य आत्मा... द्रव्य आत्मा.. द्रव्य आत्मा (कहते हैं)। यहाँ (कहते हैं) पर्याय आत्मा। वेदन में हमारे तो आया, (वह आत्मा)। ध्रुव वेदन में आता नहीं; वेदन में तो पर्याय आती है। आहाहा! इसलिए पर्याय का वेदन है, वही आत्मा है और वह पर्याय, सामान्य द्रव्य को स्पर्श नहीं करती। प्रत्यभिज्ञान

का कारण ऐसा जो द्रव्य; प्रत्यभिज्ञान का कारण अर्थात् यह है, वह था, वह है और है, वह रहेगा—ऐसा जो प्रत्यभिज्ञान का कारण, ऐसा जो सामान्य द्रव्य, उसे स्पर्श किये बिना, उसे छुए बिना शुद्ध वेदन पर्याय आनन्द की है, वह आत्मा है। आहाहा!

श्रोता : तादात्म्यसम्बन्ध भी कहते हो और उसे स्पर्श नहीं करता, दोनों बातें कैसे बनें?

पूज्य गुरुदेवश्री : ***तादात्म्यसम्बन्ध किसके साथ? वह तो पर की अपेक्षा से, पर से पृथक् करने की अपेक्षा से। स्व से तो तादात्म्य है नहीं। पर्याय, पर्याय में है, द्रव्य, द्रव्य में है। आहाहा!*** कठिन बात है। वहाँ तो वहाँ तक कहा कि पर्याय, द्रव्य को स्पर्श नहीं करती ऐसी जो शुद्धपर्याय प्रगट है, प्रगट पर्याय है, द्रव्य तो अप्रगट है, अव्यक्त है। आहाहा! वह पर्याय स्वयं ही आत्मा है बस! यही कहते हैं, मैं आत्मा हूँ। आहाहा! कठिन काम है, भाई! सत्य को समझना और सत्य को निस्पृहरूप से मात्र लक्ष्य में बात लेना, वह कठिन है। आहा! एक ओर द्रव्य.. द्रव्य.. द्रव्य.. द्रव्य.. करे और एक ओर कहे कि शुद्धपर्याय, वह द्रव्य है। मुझे सेवन में तो आनन्द आया और जो कुछ परिणति प्रगट वेदन में आयी, वह आत्मा है, बस! आहाहा! बीसवाँ बोल।

श्रोता : ३२०वीं (गाथा में) बोल में वह पर्याय...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पर्याय ऐसा कहती है कि मैं तो त्रिकाल निरावरण अण्डानन्द एक अविनश्वर प्रत्यक्ष प्रतिभासमय शुद्ध पारिणामिक परमभावलक्षण निज परमात्मद्रव्य वह मैं हूँ, पर्याय ऐसा कहती है। लक्ष्य करती है। वह पर्याय ऐसा कहती है कि यह मैं हूँ। अन्दर पर्याय में श्रद्धा और ज्ञान आ गया है न उसका? द्रव्य का सामर्थ्य जितना है, उतना पर्याय में आ गया है, इसलिए पर्याय कहती है कि यह मैं हूँ। प्रगट पर्याय! आहाहा! बात तो कठिन बहुत, भाई! जगत को समझने में कठिन (पड़ती है)। आहाहा!

श्रोता : एक ओर कहे द्रव्य ही आत्मा एक ओर कहे पर्याय ही आत्मा।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय आत्मा। आहाहा! इसलिए '**शुद्ध आत्मा है, वही मैं हूँ' ऐसे निश्चयपूर्वक वर्तता हुआ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के एक भावरूप निश्चय आराधना का आराधक ही है।** लो!

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं..

अनवरतमनंतबध्यते सापराधः
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु।

नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो
भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥१८७॥

सापराध आत्मा निरन्तर... 'अनन्तैः' अनन्त पुद्‌गलपरमाणुरूप कर्मों से बँधता है... आहाहा! जिसकी गिनती हो सकना कठिन, कहते हैं। वह राग को अपना माननेवाला, विकल्प को अपना अनुभव करनेवाला, भगवान एक ओर पड़ा रहा, उस जीव को, **निरन्तर अनन्त पुद्‌गलपरमाणुरूप कर्मों से बँधता है...** कहो, वापस निरन्तर और अनन्त। राग का विकल्प है, वह मेरा है, ऐसा जो सेवन और आश्रय करता है, वह निरन्तर अनन्त परमाणुओं से (बँधता है)। आहाहा! एक समय का अपराध और परमाणु अनन्त बन्धरूप से होते हैं। समझ में आया?

स्वस्वरूप को भूलकर, और राग ही विकल्प है वह मैं, ऐसा जो सापराधी प्राणी निरन्तर-अन्तर बिना-प्रतिसमय अनन्त पुद्‌गलपरमाणुरूप कर्मों से, गिनती नहीं इतने परमाणुओं की संख्या से बँधता है। आहाहा! कठिन है, भाई! समयसार (लो), चाहे जो लो, नियमसार लो, वस्तुस्थिति कोई अलौकिक है। आहाहा!

अन्दर समझने के लिये द्रव्य और पर्याय दो। आहाहा! द्रव्य ऐसा एक वज्र किला है कि पर्याय उससे ऊपर तैरती है। आता है? कलश में, पहले कलश में शुरुआत में (आता है)। द्रव्य के ऊपर पर्याय तैरती है, ऊपर तैरती है। आहाहा! आता है न, पहले शुरुआत में? आहाहा! पर्याय का प्रवेश द्रव्य में है ही नहीं, तथापि पर्याय द्रव्य को पूरा जाने बिना रहती नहीं। आहाहा! ऐसी चीज़ साधारण लोगों को तो कठिन पड़े, ऐसा कठिन लगे।

बँधता है; निरपराध आत्मा बन्धन को कदापि स्पर्श नहीं करता। स्पर्शे तो कोई छूता नहीं, स्पर्शता नहीं। बँधता नहीं और नहीं स्पर्शता ऐसा कहने में आता है। यों तो आत्मा कहीं बन्धन-जड़ को स्पर्शता नहीं। परमाणु को आत्मा कहीं स्पर्शता नहीं, छूता नहीं। यह तीसरी गाथा में आ गया है। प्रत्येक द्रव्य अपने धर्म अर्थात् गुण-पर्याय को स्पर्श करता है, चुम्बन करता है परन्तु पर को चुम्बन नहीं करता। आहाहा! यहाँ स्पर्श का अर्थ यह (कि) बन्धन में नहीं आता, बन्धन को कदापि प्राप्त नहीं होता, ऐसा। स्पर्श नहीं करता, इसका अर्थ यह। निरपराधी आत्मा राधरहित चीज़ निर्मलानन्द प्रभु ऐसा पर्याय में भान हुआ, ऐसा निरपराधी आत्मा। आहाहा! वह कर्म से नहीं बँधता, ऐसा। स्पर्श नहीं करता का अर्थ यह है।

जो सापराध आत्मा है, वह तो नियम से अपने को अशुद्ध सेवन करता हुआ... आहाहा! अशुद्ध सेवन करता हुआ अर्थात् आत्मा को अशुद्ध सेवन करता हुआ, पर्याय अशुद्ध है, उसे सेवन करता हुआ, वह सेवन करता हुआ, ऐसा कहते हैं। पर्याय में राग है, विकल्प

है, उसे सेवन करता हुआ, वह अशुद्ध आत्मा को सेवन करता हुआ—ऐसा कहने में आता है। आहाहा! स्वयं को अशुद्ध सेवन करता हुआ—ऐसा कहने में आता है। अपने को अर्थात् द्रव्य को नहीं। पर्याय में राग को सेवन करता है, वह अपनी पर्याय में सेवन करता है, इसलिए अपना-अशुद्धता का आश्रय लेता है, वह सापराधी है, वह अपराधी, गुनहगार है। आहाहा!

निरपराध आत्मा तो भलीभाँति.. '**साधु**' का अर्थ किया है। **निरपराध आत्मा तो...** '**साधु**' अर्थात् **भलीभाँति..** '**शुद्धात्मसेवी भवति**' **शुद्ध आत्मा का सेवन करनेवाला होता है।** आहाहा! सेवन करनेवाले का अर्थ आश्रय, सेवन करनेवाले की व्याख्या ही आश्रय है। आहाहा! उसे सेवन करनेवाला कहते हैं, अनुभव करनेवाला कहते हैं, अनेक भाषा आती है। आहाहा! नियम से निरपराधी आत्मा भलीभाँति, ऐसा। शुद्ध आत्मा को सेवन करनेवाला होता है। शुद्ध आत्मा को ही अपना जानता है। राग के विकल्प को अपना नहीं जानता। आहाहा! शुद्धपर्याय है, उसे अपनी जानता है। वह शुद्धपर्याय, वही मैं हूँ, आत्मा वही है परन्तु अशुद्ध है, वह मैं नहीं और जो अशुद्ध है, वह मैं हूँ - ऐसा मानता है, वह अपराधी, गुनहगार है। आहाहा! ऐसी बात जगत को कठिन पड़ती है। मूल बात तो यह है। अब विषय बदलता है।

(यहाँ व्यवहारनयावलम्बी अर्थात् व्यवहारनय को अवलम्बन करनेवाला तर्क करता है कि-) 'शुद्ध आत्मा की उपासना का प्रयास (मेहनत) करने का क्या काम है ?'... पहले प्रतिक्रमण करे नहीं! यह व्यवहार का प्रतिक्रमण, व्यवहार, व्यवहार से शुद्ध होगा, सीधे शुद्ध.. शुद्ध.. शुद्ध.. करने, कहने लगते हो। ऐसा कहता है। '**शुद्ध आत्मा की उपासना का प्रयास करने का क्या काम है ? क्योंकि प्रतिक्रमण आदि से ही आत्मा निरपराध होता है;'...** प्रतिक्रमण (अर्थात्) यह व्यवहार प्रतिक्रमण, हों! व्यवहार प्रतिक्रमण, व्यवहार प्रतिमा आदि, वन्दन, इनसे आत्मा शुद्ध होगा, निरपराध होगा।

क्योंकि सापराध के, जो अप्रतिक्रमण आदि हैं वे, अपराध को दूर करनेवाले न होने से,... अपराधी जीव को अप्रतिक्रमण अर्थात् अभी शुभ में आता नहीं, अशुभ में है, ऐसे जीव को **अपराध को दूर करनेवाले न होने से, विषकुम्भ हैं,...** उसे तो विषकुम्भ जहर है। शुभभाव में नहीं आता और अशुभ में रहता है, उसे तो जहर का, जहर का घड़ा है। अशुभ, अशुभ, हों! यह तो व्यवहारनय को अवलम्बन करनेवाला कहता है। आहाहा! इसलिए जो सूत्र में **व्यवहार का कथन करनेवाले आचारसूत्र में भी कहा है कि...** प्रतिक्रमण आदि अमृत है, ऐसा कहा है। व्यवहार प्रतिक्रमण, हों! व्यवहारसूत्र में व्यवहार प्रतिक्रमण को अमृत कहा है, इसलिए हमें पहले सेवन करने दो न। अब तुमने सीधे शुद्ध शुद्ध की कहाँ लगायी है, ऐसा कहते हैं। अपने व्यवहारसूत्र में कहा है। चरणानुयोग में व्यवहार प्रतिक्रमण, व्यवहार प्रतिमा,

वन्दन, पूजा को सबको अमृत कहा है। वह तो करने दो पहले, बाद में शुद्ध हो जायेगा। आहाहा!

इसलिए जो प्रतिक्रमणादि हैं वे; अपराध को दूर करनेवाले होने से... कौन? व्यवहार प्रतिक्रमण। व्यवहार प्रतिक्रमण आदि आठ बोल हैं न नीचे? वे आठों ही बोल अपराध को दूर करनेवाले अर्थात् अशुभ को दूर करनेवाले हैं। व्यवहारालम्बी का पक्ष है। **अमृतकुम्भ है।** वे शुभभाव, अमृतकुम्भ है और शास्त्र में भी है, यह रहा शास्त्र में, देखो! चरणानुयोग में इस जगह है, इस जगह है। सर्वत्र है, अब सुन न! **व्यवहार का कथन करनेवाले आचारसूत्र में भी कहा है कि—**

अप्पडिकमणमपडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही य विसकुम्भो॥१॥

यह निश्चय का अप्रतिक्रमण है व्यवहार अनादि का, अनादि का। अब व्यवहार प्रतिक्रमण यह।

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो अमयकुम्भी दु॥२॥

व्यवहारशास्त्र में, शुभभाव बिना का अशुभभाव है, उसे अप्रतिक्रमण कहा है और शुभभाव को व्यवहारशास्त्र में प्रतिक्रमण कहा है और शुभभाव को व्यवहारशास्त्र में अमृतकुम्भ कहा है। आहाहा! तो वह पहले करने दो न! सीधे शुभ-(अशुभ) दोनों ऐसे हैं, ऐसे हैं, ऐसा करके... अरे! सुन तो सही! आहाहा! लो है न? **अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि - यह (आठ प्रकार का) विषकुम्भ है।** व्यवहारशास्त्र में अशुभभाव है, वह जहर का घड़ा है और शुभभाव १. प्रतिक्रमण-कृत दोषों का निराकरण। शुभभाव। २. प्रतिसरण-सम्यक्त्वादि गुणों में प्रेरणा। शुभभाव। ३. परिहार - मिथ्यात्वादि दोषों का निवारणा-गृहित मिथ्यात्वादि। ४. धारणा-पंचनमस्कारादि मन्त्र, प्रतिमा इत्यादि बाह्यद्रव्यों के आलम्बन द्वारा चित्त को स्थिर करना। व्यवहार धारणा, वह अमृत है। ५. निवृत्ति-बाह्य विषयकषायादि इच्छा में प्रवर्तमान चित्त को हटा लेना। वह अमृत है शुभभाव। ६. निन्दा-आत्मसाक्षी पूर्वक दोषों का प्रगट करना। वह शुभभाव अमृत है। शिष्य का प्रश्न है, हों! ७. गर्हा-गुरुसाक्षी से दोषों का प्रगट करना। यह शुभभाव। ८. शुद्धि-दोष होने पर प्रायश्चित्त लेकर विशुद्धि करना। शुभभाव। शास्त्र में यह अमृत कहा है, कहते हैं और तुमने सीधे शुद्धता.. शुद्धता.. शुद्धता (की बात) लगायी है।

श्रोता : पुण्य-पाप को धो डाले, वह बात तो सरल लगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य और पाप दोनों एक जाति है। प्रवचनसार में कहा है न, एक गाथा में? दोनों विशेष माने वह गम्भीर संसार में गहरा उतरेगा। गहन, गहन संसार में गहरा उतरेगा। प्रवचनसार ७७ गाथा। ***पुण्य और पाप दो में विशेष मानेगा, विशेष अर्थात् अन्तर है - ऐसा मानेगा, शुभ और अशुभ दो में अन्तर है, ऐसा मानेगा, (वह) घोर संसार में हिडंती (भटकेगा)*** यह पाठ है। ऐसा है। वस्तुस्थिति ही ऐसी है, वहाँ वस्तु ही ऐसी है, अत्यन्त निर्मलानन्द प्रभु, जिसमें राग की गन्ध नहीं। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव भी राग है, वह भी जहर है, वह भी अधर्म है। आहाहा! वस्तुस्थिति ऐसी है।

व्यवहार शास्त्र में कहा हो, निश्चयसहित होता है। निश्चयसहित होता है, ऐसे व्यवहारवाले को इस निश्चय का आरोप करके अमृत कहा होता है। निश्चयसहित व्यवहार जिसका है, उसका निश्चय का अमृत का आरोप करके व्यवहार को अमृत कहा है और वह व्यवहारवाला पकड़ता है, देखो! इसमें कहा है या नहीं? परन्तु वह तो आरोपित करके अमृत कहा है। निश्चय का आरोप करके (कहा है)। आहा! अकेले सम्यक्त्व बिना के और शुद्ध बिना के शुभ की तो यहाँ बात ही नहीं है, वह तो अकेला संसार है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। यह आया न?

ऊपर आठ बोल हैं। **निन्दा, गर्हा और शुद्धि-यह आठ प्रकार का अमृतकुम्भ है।**

उपरोक्त तर्क का समाधान करते हुए आचार्यदेव (निश्चयनय की प्रधानता से) गाथा द्वारा करते हैं... पहले उसने व्यवहारनय के शास्त्र का आधार दिया। व्यवहारनय के शास्त्र में कथन बहुत हैं। यह तो कहा नहीं, ग्यारहवीं गाथा में? - कि हस्तावलम्ब जानकर व्यवहार का (उपदेश) शास्त्र में जिनवर की आज्ञा में भी व्यवहार बहुत कहा है, परन्तु उसका फल संसार है। आता है न? आहाहा! क्या हो? वाद-विवाद से पार (पड़े ऐसा नहीं है) व्यवहार के कथन (आवें, इसलिए) यह (कहते हैं), इनने कहा यह बात सत्य है। व्यवहार के सूत्र में शुभभाव को अमृत कहा है। परन्तु किसे? जिसे निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, ऐसा सच्चा अमृत है, उसे शुभभाव को व्यवहार अमृत का आरोप दिया है। आहा! जिसे अज्ञान का भान ही नहीं, जिसे अभी धर्म क्या है (उसकी खबर नहीं), ऐसे अज्ञानी को शुभभाव तो अकेला जहर और जहर का घड़ा कहा है। आहाहा! ऐसा अब मानना... ऐसा जैनधर्म होगा ऐसा? बापू! जैनधर्म कोई अलौकिक है। जैनधर्म कोई वाड़ा नहीं, कोई पक्ष नहीं, वह तो वस्तु का पन्थ है, वस्तु का पन्थ है। आहाहा! उसके उत्तर की गाथा।

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होदि विसकुंभो ॥३०६॥

वह जो विषकुम्भ कहता था, वह शुभभाव बिना के अशुभभाववाले के मिथ्यादृष्टि जीव के कहता था। यहाँ सम्यग्दृष्टि जीववाले शुभभाव को विषकुम्भ कहा है। और

अप्पडिकमणमप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही अमयकुंभो ॥३०७॥

शुद्ध निश्चय के आश्रय की पवित्रता पर्याय में प्रगटी है। शुद्धपर्याय, उसे जहाँ आत्मा कहा था कि शुद्धपर्याय जो है, वही आत्मा है; उस शुद्धपर्याय को यहाँ अमृतकुम्भ कहा है और उस अमृत की अपेक्षा से शुभ वहाँ हो, उसे अमृत का आरोप देकर अमृत कहा है परन्तु जहाँ सम्यग्दर्शन और ज्ञान नहीं और मात्र शुभभाव में है, वह तो अकेला जहर है। आहाहा! अब ऐसा मार्ग। यह तो उग कर खड़े हुए हो वहाँ... यह करो.. यह करो.. यह करो.. यह करो.. ऐसी बातें (करे)। ***यहाँ तो कहते हैं, करना वहाँ मरना है। यह करूँ, यह करूँ, ऐसा जो विकल्प का कर्ता... आहाहा! वह तो ज्ञानस्वरूप भगवान (आत्मा) है, उसे कर्तापना सौंपना वह मिथ्यात्व है। चक्रवर्ती को महल में से, झाड़ू से गन्दगी साफ कर देना, (ऐसा कहने जैसा) है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!***

प्रतिक्रमण अरु प्रतिसरण त्यों परिहरण, निवृत्ति धारणा।
अरु शुद्धि, निंदा, गर्हणा, ये अष्टविध विषकुम्भ है ॥३०६॥
अनप्रतिक्रमण अनप्रतिसरण, अनपरिहरण अनधारणा।
अनिवृत्ति, अनगर्हा, अनिंद, अशुद्धि अमृतकुम्भ है ॥३०७॥

टीका - प्रथम तो जो अज्ञानी जनसाधारण (-अज्ञानी लोगों को साधारण ऐसे) अप्रतिक्रमणादि हैं... जिसे अभी मिथ्यादृष्टिपना है, अज्ञान है, जो राग को, पुण्य को धर्म मान बैठे हैं, ऐसे लोगों के तो **अप्रतिक्रमणादि हैं, वे तो शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभावरूप स्वभाववाले हैं, इसलिए स्वयमेव अपराधरूप होने से विषकुम्भ ही हैं...** वे तो जहर है ही। मिथ्यादृष्टि शुभभाव करते हों और मिथ्यादृष्टिपना तो पड़ा है अन्दर, उसके शुभभाव को तो हम विषकुम्भ कहते हैं, वह तो जहर का घड़ा ही है, उसकी बात हम नहीं करते अब। आहाहा! ऐसी बात है। **उनका विचार करने का क्या प्रयोजन है ?** अनादि से मिथ्यात्व में शुभभाव-शुभभाव करता है, वह तो अनादि भटकता है।

(***श्रोता :*** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

(१४) श्री अष्टपाहुड़, बोधपाहुड़, गाथा २३-२४, प्रवचन नं. - ५८
दिनांक ०९-०८-१९७०

क्या चलता है? ज्ञान किसे कहते हैं? ज्ञान-सम्यग्ज्ञान जो कि मोक्ष का मार्ग है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणिमोक्षमार्गः। सम्यग्दर्शन भी मोक्षमार्ग है, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी (मोक्षमार्ग है)। उसमें सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं-यह बात अभी चलती है। **धनुष की सब सामग्री यथावत मिले, तब निशाना नहीं चूकता है...** अपने पहले अन्दर आ गया है। ज्ञान किसे कहते हैं?

पहले मतिज्ञान। जिस मतिज्ञान में, जो ध्रुव ज्ञायक आत्मा है, उसमें अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा हुई है। समझ में आया? मतिज्ञान जो पहले हुआ, उस ज्ञान में आत्मा चिदानन्द अखण्ड, अभेद, ध्रुव है, ऐसा.. अवग्रह होकर, विचारणा होकर, निर्णय होकर धारणा हुई है। उस मतिज्ञान को यहाँ धनुष कहते हैं और श्रुतज्ञान को डोरी कहते हैं। धनुष में डोरी होती है न? डोरी कहते हैं न? डोरी वह श्रुतज्ञान है, क्योंकि श्रुतज्ञान है, वह स्वरूप को पकड़ता है, उसमें समाधि में आनन्द आता है तो उस श्रुतज्ञान को यहाँ डोरी कहा गया है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, वे बाण हैं और उस बाण का निशाना ध्रुव चैतन्य है। चन्दुभाई! वापस यहाँ यह आया। आहाहा!

जिस ज्ञान में, मतिज्ञान में अपना चैतन्य ध्रुव (स्वरूप) पकड़कर.. अवग्रह अर्थात् पकड़कर, विचारणा करके, निर्णय करके धारणा हो गयी कि यह शुद्ध चैतन्य भगवान है। पश्चात् श्रुतज्ञान द्वारा उस ओर का झुकाव करके, यह डोरी है। बाण खींचते हैं न? डोरी की... होता है न? ज्ञान-श्रुतज्ञान-भावश्रुतज्ञान उसे कहते हैं कि जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो मोक्ष का मार्ग है, उसका निशाना ध्रुव है, वहाँ बाण मारना है। समझ में आया? इतनी सामग्री हो तो वहाँ बाण लगे, नहीं तो बाण वहाँ नहीं लगता। समझ में आया?

मुमुक्षु : बाण तो कर्म पर मारना है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, नहीं। कर्म-फर्म की यहाँ बात नहीं है। यहाँ परद्रव्य की बात नहीं, भाई! यहाँ तो स्वद्रव्य चैतन्य ज्ञानानन्दस्वरूप, एक समय में सामान्य अभेद ध्रुव,

आदि-अन्त रहित चीज़ है, वह बाण का निशाना है। बाण मारते हैं न ऐसे ? अन्दर सोपारी है, उसे लगाना चाहिए। ऐसे, सम्यग्दर्शन-सम्यक्श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र में सम्यग्ज्ञान है, वह बाण है न ? दर्शन का ज्ञान, ज्ञान का ज्ञान, चारित्र का ज्ञान। उस ज्ञान का निशाना ध्रुव है। उस ज्ञान का निशाना निमित्त तो नहीं, राग तो नहीं, एक समय की पर्याय भी नहीं। देखो न ! कैसा डाला है ! आहा ! कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्तों ने तो मार्ग को स्थिर रखा है कि मार्ग ऐसा है। ओहो ! यहाँ तो परद्रव्य की बात ही नहीं है।

भगवान आत्मा.. ! जिसे हित करना हो और जिसे जन्म-मरण के दु:ख (मिटाना हो); जन्म-मरण के दु:ख अर्थात् ? निगोद और नारकी के दु:ख - ऐसा नहीं। स्वर्ग और सेठाई में भी दु:खी है, अकेला दु:खी प्राणी है, क्योंकि पर के ओर के लक्ष्य से आकुलता होती है, वह सब दु:ख ही है। करोड़पति, चक्रवर्ती, और देव; अपना निधान आनन्द है, उसके ध्येय बिना जो बाहर का ध्येय बनाकर आकुलता करते हैं, वे विकल्प तो दु:ख हैं। धन्नालालजी ! सत्य है ? ये सब तुम्हें पैसेवाला कहते हैं न ? लोग कहते हैं। समझ में आया ? वह सुखी नहीं है।

सुख का रास्ता जो ज्ञान-आनन्दमूर्ति भगवान आत्मा है, जिसमें सत् शाश्वत् ध्रुव आनन्द भरा है, उस ओर ज्ञान का लक्ष्य जाता है तो उसने ध्रुव में बाण मारा और तत्काल शान्ति और आनन्द आता है। समझ में आया ? फड़ाक को हिन्दी में क्या कहते हैं ? तत्काल। हमारे यह तो गुजराती भाषा.. समझ में आया ?

कहते हैं, **धनुष की सर्व सामग्री यथावत् मिले...** यह यथावत सामग्री। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ध्येय, यह सब सामग्री। **तब निशाना नहीं चूकता है...** तब अपने आनन्द के धाम भगवान का ध्येय नहीं चूकता। समझ में आया ? आहाहा ! **वैसे ही मुनि के...** मुनि अर्थात् धर्मात्मा के **मोक्षमार्ग की यथावत् सामग्री मिले, तब मोक्षमार्ग से भ्रष्ट नहीं होता है।** अन्तर ध्येय को पकड़ लिया। जहाँ बाण मारना है, वह तो ध्रुव वस्तु है। निशाना लगाना है, वह वस्तु ध्रुव है। ऐसी दृष्टि जहाँ हुई तो वह मोक्षमार्ग से भ्रष्ट नहीं होता। समझ में आया ? आहाहा ! **उसके साधन से मोक्ष को प्राप्त होता है।** उसके अन्तर में ज्ञायकभाव में एकाग्र होकर पूर्णानन्द की प्राप्तिरूपी मुक्ति, इस साधन से प्राप्त करता है। दूसरा कोई साधन नहीं है। धन्नालालजी ! क्या है ?

मुमुक्षु : कथंचित् साधन...

पूज्य गुरुदेवश्री : कथंचित्-फथंचित नहीं; सर्वथा एकान्त साधन यही है; दूसरा साधन

है ही नहीं। व्यवहार से कहे, परन्तु व्यवहार झूठा है। समझ में आया? सूक्ष्म बत है, भगवान! यह अपूर्व मार्ग है। अनन्त काल से जन्म-मरण के दु:ख में पिलता है, उनसे मुक्त होना, ऐसी धर्म की चीज़ कोई अपूर्व है। ऐसे लोग दया, दान, व्रत और भक्ति, पूजा, यात्रा को धर्म मान ले, वह धर्म-बर्म नहीं है, वह तो विकल्प-पुण्य है। धर्मी का निशाना पुण्य नहीं है। आहाहा!

भगवान आत्मा..! यह ऊपर आ गया, देखो! है न? **परमार्थस्वरूप निजशुद्धात्मस्वरूप का सम्बन्धरूप लक्ष्य हो,...** ऊपर कहा। निज परमार्थ भगवान आत्मा पर जिसने लक्ष्य दिया है, वह मोक्षमार्ग को चूकता नहीं है, ऐसा कहते हैं। जिसका लक्ष्य / ध्येय चिदानन्द भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उसमें जिसने लक्ष्य दिया, वह मोक्षमार्ग को चूकता नहीं है। समझ में आया? ध्रुव चैतन्य आनन्दधाम अतीन्द्रियरस का पिण्ड, उस पर जहाँ दृष्टि पड़ी, बस! वह मोक्षमार्ग में लग गया है, वह मोक्षमार्ग से च्युत नहीं होता; और यदि कोई राग, निमित्त और पर्याय में चिपट गया, तो मोक्षमार्ग से छूट जाता है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : बलग्या का अर्थ क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : तुम्हारी हिन्दी भाषा कहो। बलग्या का अर्थ वहाँ चिपट जाए, चिपक जाए। यहाँ से छिटक जाए और वहाँ लग जाए। समझ में आया?

जिसका ध्येय ज्ञान का पूर्णानन्द प्रभु है, उसके ध्येय से कभी चूकता नहीं, वह मोक्षमार्ग में चलता है, परन्तु उसमें से छूटकर, निशाना लगाया है, वहाँ से छूटकर पर्याय, राग और निमित्त पर यदि रुचि गयी तो मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। समझ में आया? देखो! एक लाईन में कितना डाला है! ओ..हो..!

यह ज्ञान का माहात्म्य है,... देखो! यह ज्ञान का माहात्म्य है कि जो ज्ञान, जो ज्ञान की दशा, जो ज्ञान की वर्तमान अवस्था इस ध्येय को पकड़ ले, न्याय को पकड़ ले, वह मोक्षमार्ग में चला; वह मोक्षमार्ग से कभी छूटता नहीं। समझ में आया? समझ में आता है या नहीं? भाषा तो सादी है, भाव भले ऊँचे (गम्भीर) हों! आहा..! आहाहा! भगवान! तू तो इतना ऊँचा (उत्कृष्ट) है, परन्तु तुझे खबर नहीं। एक साधारण विषय की वासना या पैसे का मिलना, उसमें पूरा बिक जाता है। अरे! भगवान! तेरी अर्पणता तो प्रभु पूर्णानन्द का नाथ तू है, वहाँ अर्पणता होनी चाहिए, अन्यत्र अर्पणता नहीं होनी चाहिए। आहाहा! भगवान! तेरे गीत केवली भी पूर्ण नहीं गा सकते।

जो पद झलके श्री जिनवर के ज्ञान में,
कह न सके पर वह भी श्री भगवान जब।

उस स्वरूप को अन्य वचन से क्या कहूँ,
अनुभवगोचार मात्र रहा वह ज्ञान जब॥

श्रीमद् राजचन्द्र हुए हैं। सुना है ? श्रीमद् राजचन्द्र का यह काव्य है – अपूर्व अवसर। (उसमें) २१ पद बनाये हैं। (उनकी) ३३ वर्ष में देह छूट गयी थी। एकावतारी हो गये हैं, एक भव है। स्वर्ग में गये हैं (वहाँ से आकर) मुक्ति होगी। आत्मा में मुक्ति ही है। दृष्टि जहाँ मुक्त हुई, वहाँ मुक्ति ही है। समझ में आया ? गृहस्थाश्रम में थे, स्त्री-पुत्र थे, लाखों रुपयों का मोती व्यापार मुम्बई में करते थे, ऐसा लोग देखते थे।

मुमुक्षु : वे व्यापार करते थे या नहीं करते थे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं करते थे। आत्मा का व्यापार करते थे। ऐई ! समझ में आया ? सम्यग्दर्शन में तो आत्मा का ध्येय पकड़ा है, वहाँ परिणति है। वह परिणति राग में जाती नहीं और राग की परिणति पर्याय में आती नहीं; तो फिर बाहर के व्यापार की परिणति आ जाए और उसमें आत्मा जाए-ऐसा है नहीं। आहाहा ! समझ में आया ?

कहते हैं **इसलिए जिनागम के अनुसार...** देखो, इसलिए जिनागम अनुसार... मुनिपना है न ? जिनागम अनुसार। सर्वज्ञ परमात्मा जैसा कहते हैं, तद्नुसार **सत्यार्थ ज्ञानियों का विनय करके...** ऐसे सच्चे ज्ञानी धर्मात्मा हों, उनका विनय करके **ज्ञान का साधन करना।** पहले ज्ञेय की बात आ गयी है। समझ में आया ? सर्वज्ञ परमात्मा या सच्चे सन्त-ज्ञानी जो हैं, जिनागम अनुसार सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो वाणी कही, उस वाणी के अनुसार आत्मा का ज्ञान जिसे हुआ है, ऐसे ज्ञानी की विनय करके। ज्ञानी तो परद्रव्य है। विनय करके, ऐसा यहाँ पाठ में आया है। कुन्दकुन्दाचार्य के पाठ में है न ? देखो ! २२ गाथा '**णाणं पुरिसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो**' विनयसहित हो, वह ज्ञान को पाता है, परन्तु इसका अर्थ क्या ? विकल्प हो, परन्तु अन्दर ज्ञान में बहुमान वर्तता है। वह अपने ज्ञान में बहुमान वर्तता है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा अकेला चैतन्य रस का पिण्ड प्रभु ध्रुव का ज्ञान में माहात्म्य वर्तता है तो उसने अपना विनय किया तो उसने ज्ञानी का विनय किया, ऐसा कहने में आता है। आहाहा ! बात यह है, भगवान ! आहाहा ! अरे ! भगवान होने पर (भी) पामर होकर घूमता है, कलंक है न ! ऐसा कहते हैं। तीन लोक का नाथ तीन काल-तीन लोक को तो एक समय की पर्याय में सोढ में समा दे। सोढ समझते हो ? यह सोते हैं तो... होती है न ? कपड़ा ओढ़ते हैं न ? वैसे आत्मा की एक समय की ज्ञान की पर्याय तीन काल-तीन लोक को एक समय की पर्याय में

समा देती है। ऐसी इसकी ताकत है। आहाहा! ऐसी अनन्त पर्याय का पिण्ड भगवान चिदानन्द, उसका जिसने विनय करके...

यह तो कल कहा था, विनय करके लिया था, उसमें दो बात है। विनय करके तो, जिसका विनय किया, उन्होंने यह कहा। जिनके पास से ज्ञान लिया तो उसमें ऐसा कहा था कि ध्येय को पकड़ ले। समझ में आया? उन्होंने ऐसा कहा था, उसे विनय से अंगीकार कर लिया। ओहो! त्रिकाली भगवान ज्ञायकमूर्ति प्रभु, उन्होंने कहा था, उसका विनय किया, गुरु ने ऐसा कहा था। भगवान! हमारी ओर से लक्ष्य छोड़ दे और हमारी ओर के विनय के विकल्प से भी लक्ष्य छोड़ दे और विकल्प के ज्ञान की पर्याय होती है, उस परलक्ष्यी ज्ञान की पर्याय का भी लक्ष्य छोड़ दे। ऐसा गुरु ने कहा था। ऐई! आहाहा! जैसा गुरु ने कहा, वैसे प्राप्त किया। भाई! आता है न? भाई! न्यालभाई में आता है, एक बोल आता है। जैसा हमें मिला था, वैसा हम पाये हैं। समझ में आया? बात जरा सूक्ष्म है। यह बात तो अमुक-अमुक समय निकले, कोई हरेक समय निकलती है? साधारण सभा हो, वहाँ एकदम सूक्ष्म बात जरा सूक्ष्म पड़े, आवे तब तो उसका स्पष्टीकरण होना चाहिए न! समझ में आया? आहाहा!

रात्रि में ऐसी बात चली थी, थोड़ी हिन्दी में लें। लोग गुजराती नहीं समझते। रात्रि को गुजराती में पूछा तो उसमें गुजराती भाषा ही आती है। हिन्दी पूछे तो हिन्दी आवे। रात्रि में ऐसा प्रश्न हुआ था कि प्रमाणज्ञान किसे कहते हैं? देखो, इसमें आयेगा? प्रमाणज्ञान स्व और पर को जानना, उसका नाम प्रमाण। समझ में आया? प्रमाण में दो भाग आ गये - स्व और पर। शास्त्र तो प्रमाणज्ञान को ही व्यवहार कहता है। आहाहा! प्रमाणज्ञान स्वद्रव्य का और पर्याय का, दो होकर प्रमाण है और एकरूप त्रिकाल जो यहाँ बात चलती है, ध्रुव ज्ञायक का ज्ञान, वह निश्चय। प्रमाणज्ञान ने निश्चय का ज्ञान रखकर, उपरान्त पर्याय का ज्ञान किया तो दोनों मिलकर प्रमाण कहने में आते हैं। ऐसा होने पर भी प्रमाणज्ञान सद्भूत उपचार व्यवहारनय का विषय है। वह निश्चय का विषय नहीं। नवनीतभाई! समझ में आया? रात्रि में यह बात चली थी, परन्तु थोड़ी सूक्ष्म पड़े। ऐ.. कहाँ गये अमुलखजी!

'स्व-पर प्रकाशक शक्ति हमारी तातैं वचन भेद भ्रम भारी।' अपना स्वभाव, द्रव्य को जाने, पर्याय को जाने। पर को एक ओर रखो। अशुद्धता दो से, उसे जानना, वह तो असद्भूत व्यवहारनय हुआ। समझ में आया? झूठा नय हुआ और दोष को जानने का ज्ञान हुआ, वह दोष का ज्ञान कहना, यह भी उपचार हुआ। यहाँ बात गुलांट खाती है कि ***दोष को जानना, वह तो असद्भूतव्यवहारनय है और दोष का अपने में ज्ञान हुआ, अपने में दोष सम्बन्धी अपना***

ज्ञान अपने से पर्याय में हुआ, उसे दोष का ज्ञान कहना, वह भी उपचार है। है तो अपना ज्ञान। अब पर्याय का ज्ञान हुआ और त्रिकाली द्रव्य का, दोनों का ज्ञान हुआ, उस स्व-पर प्रकाशक ज्ञान को प्रमाणज्ञान कहते हैं। वह प्रमाणज्ञान सद्‌भूतव्यवहारनय का विषय है, क्योंकि प्रमाणज्ञान में व्यवहार का निषेध नहीं आया और निश्चय है, वह व्यवहार का निषेध करता है, पर्याय का निषेध करता है। समझ में आया ?

ऐसी वस्तु भगवान आत्मा ज्ञायक, जो यहाँ निशान ध्रुव बाण कहा, उस पर्याय का निषेध करते हैं कि पर्याय मुझमें नहीं है। उसमें ज्ञान हो जाता है, पर्याय का ज्ञान हो जाता है। यहाँ का ज्ञान हुआ तो अपने में भी पर्याय है ऐसा, पर्याय का अस्तित्व है तो ज्ञान होता है, ऐसा भी नहीं, भाई! सूक्ष्म पड़े परन्तु यह वस्तु ऐसी है, जरा सूक्ष्म है। ज्ञान की पर्याय हुई, अपने को जाना और पर्याय को जाना दो को जाना, वह भी व्यवहार हुआ। सद्‌भूतव्यवहार हुआ तो ग्यारहवीं गाथा की अपेक्षा से सब व्यवहार अभूतार्थ है – ऐसी भाषा! ऐई! चन्दुभाई! गजब बात है। पण्डितजी! कल रात्रि में बात चली थी। आधे घण्टे चली थी। कहा, शान्ति से सुनना! पण्डितजी को बुलाया था। समझ में आया? ऐ... धन्नालालजी! यह तो केवलज्ञान का व्यायाम है। केवलज्ञानी में केवलज्ञान होने की कसरत करने की बात है। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं, यहाँ यह कहा न? द्रव्य निशाना। ऐसा ज्ञान हुआ तो उस ज्ञान में पर्याय का ज्ञान भी हुआ परन्तु वह पर्याय का ज्ञान और यह द्रव्य का ज्ञान, दोनों को मिलावे, तब प्रमाण होता है तो एक न्याय से पर्याय है, वह परद्रव्य हो गयी। स्वद्रव्य की अपेक्षा से स्व का-द्रव्य का ज्ञान, पर्याय का ज्ञान, वह परद्रव्य का ज्ञान हुआ क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा से पर्याय अवस्तु है। उसकी अपेक्षा से तो वस्तु है, स्वयं की अपेक्षा से वस्तु है; द्रव्य की अपेक्षा से पर्याय अवस्तु है। समझ में आया? वस्तु का ज्ञान... रात्रि में आधे घण्टे चला था। भाई को बुलाया था। हमारे... होवे तब पण्डितजी को बुलाना पड़े। हमारे पण्डितजी बड़े हैं, थोड़ा बोलते हैं, शान्त हैं। ऐई! वजुभाई! ये उनके बड़े भाई हैं, परन्तु ज्ञान में छोटे हैं। आहाहा!

कहते हैं, भगवान आत्मा...! इसमें पुनरुक्ति नहीं लगती। द्रव्यस्वभाव ज्ञायक का बाण, भगवान कुन्दकुन्दाचार्य यह कहते हैं। ज्ञान वहाँ लगा दे। पर्याय का क्या हुआ? दोष तो कहीं उनके घर में रहे। दोष का जो ज्ञान हुआ तो वह दोष है तो ज्ञान हुआ – ऐसा नहीं है। दोष है तो ज्ञान हुआ – ऐसा नहीं है, परन्तु ज्ञान की पर्याय में अपना ज्ञान हुआ और उसका ज्ञान हुआ, उस पर्याय का ज्ञान करना और द्रव्य का ज्ञान करना, वह प्रमाणज्ञान हुआ। ***स्व और परद्रव्य का ज्ञान हुआ, वह प्रमाण पूजनीय नहीं है। जिसमें व्यवहार का निषेध नहीं आता, ऐसा प्रमाण पूजनीय नहीं है। निश्चय है, उसमें व्यवहार का निषेध आता है; इसलिए निश्चय पूजनीय***

है। ऐई! आहाहा! डालचन्दजी! थोड़ी सूक्ष्म बात आवे, भाई! ये तो वीतराग का मार्ग है।

केवलज्ञानी (पर्याय) तीन काल तीन लोक, एक समय में तीन काल तीन लोक नहीं जानते, पर्याय को जानते हैं। एक बार यह कहा था, सरोबर में जल होता है, पानी की बड़ी नदी नहीं चलती हो, रात्रि का समय हो ऊपर चन्द्र, तारे आदि हों। उस नदी में उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है। जल को देखने से वे दिख जाते हैं। अन्यत्र देखो तो दिखते हैं, ऐसा नहीं है। न्याय समझ में आता है? ***जल को देखते हैं, उसमें जो छियासठ हजार नौ सौ पिचहत्तर कोड़ाकोड़ी तारे हैं, वे सब तारे नहीं दिखते, चन्द्र नहीं दिखता। वह जल की पर्याय को देखने पर उसमें जल की पर्याय और वे तारे, सब अपनी पर्याय में पर्याय के ज्ञात हो जाते हैं।*** ज्ञानचन्दजी! सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो वीतराग का मार्ग है। आहाहा!

कहते हैं, ऐसे ***अपनी ज्ञान की पर्याय में पर्याय को जाना, उसे लोकालोक जानना नहीं पड़ता। ऐई! क्योंकि लोकालोक सम्बन्धी अस्तित्व है, ऐसे पर्याय में स्वयं से स्वयं का और पर का ज्ञान, स्वयं से, स्वयं के कारण, पर की अपेक्षा बिना, वह है तो ज्ञान हुआ- ऐसा भी नहीं। आहाहा!*** धन्नालालजी! ऐसा कहा कि जल है न? जल। जो चन्द्र और तारे अन्दर तालाब में दिखायी देते हैं न? वे तारे अन्दर नहीं हैं। वह तो जल की स्वच्छता का प्रतिबिम्ब है। जल की स्वच्छता की अवस्था है। कहीं तेरे अन्दर घुस नहीं गये। दर्पण होता है न, दर्पण? अग्नि और बर्फ यहाँ हों। यहाँ अग्नि और बर्फ दिखायी दे तो अग्नि और बर्फ वहाँ है? अग्नि, बर्फ तो यहाँ है। दिखायी देते हैं, वह तो दर्पण की अवस्था है, दर्पण की एक दशा है। वह दशा एक समय की अवस्था है। इनकी अवस्था नहीं और इनके कारण से नहीं। इसी प्रकार ***लोकालोक का अस्तित्व है तो केवलज्ञान की पर्याय हुई, ऐसा नहीं है। अपनी पर्याय की सामर्थ्य इतनी है कि जहाँ पर्याय को देखता है तो लोकालोक-ज्ञेय सम्बन्धी ज्ञान तो स्वयं के कारण अन्दर आ गया, उसके (लोकालोक के) कारण नहीं।*** धन्नालालजी! सूक्ष्म बात है, भगवान!

इसी प्रकार श्रुतज्ञान की पर्याय। श्रुतज्ञान भी एक समय की पर्याय में लोकालोक जानता है। इतनी पर्याय में ताकत है। ऐसी-ऐसी तो अनन्त-अनन्त पर्यायों का पिण्ड द्रव्य है। द्रव्य का जहाँ ज्ञान हुआ, उसमें पर्याय का निषेध हो गया कि मुझमें पर्याय है ही नहीं। मैं तो अकेला ध्रुव हूँ। ऐई! अब ऐसा ज्ञान होकर जो पर्याय का ज्ञान हुआ, उसे परद्रव्य का ज्ञान हुआ। उसे सद्भूत व्यवहार उपचार कहने में आता है।

नोट—यह प्रवचन ३० मिनिट का ही प्राप्त है। —अनुवादक

१५ श्री पंचास्तिकाय, गाथा-१७२, प्रवचन-८१
दिनांक २५-५-१९७०

पंचास्तिकाय, १७२ गाथा। इस **पारमेश्वर शास्त्र का, परमार्थ से वीतरागपना ही तात्पर्य है।** यह आया न, यहाँ ? आगे का पेराग्राफ बाकी है। क्या कहा ? यह भागवत् शास्त्र, परमेश्वर शास्त्र, दिव्यशास्त्र या दैवी शास्त्र; इसका तात्पर्य वीतरागता है। उसका अर्थ यह, पूर्ण स्वभाव-अपना चैतन्य वीतरागस्वभाव है, उसके सन्मुख होना, और पर्याय, राग तथा निमित्त से विमुख होना, यह सम्पूर्ण चारों अनुयोगों का वीतरागता, यह तात्पर्य है। वह वीतरागता तब प्रगट होती है। समझ में आया ?

सो इस वीतरागपने का... अब, ऐसी जो दशा-वीतरागदशा, स्व-सन्मुख की दशा और पर से विमुख, ऐसी दशा प्राप्त हो, तब उसे वीतरागभाव प्रगट होता है, तथापि **सो इस वीतरागपने का व्यवहार-निश्चय के अविरोध द्वारा ही अनुसरण किया जाए तो इष्टसिद्धि होती है,...** व्यवहार और निश्चय को सुसंगत मेलवाला हो। निश्चय कुछ हो और व्यवहार दूसरे प्रकार का हो, उसकी भूमिका से (दूसरे प्रकार का हो)-ऐसा नहीं होता। नीचे स्पष्टीकरण है। **व्यवहार-निश्चय के अविरोध द्वारा ही अनुसरण किया जाए तो इष्टसिद्धि होती है, परन्तु अन्यथा नहीं...** ऐसा अनेकान्त कहा। **(अर्थात् व्यवहार और निश्चय की सुसंगतता रहे...)** सुसंगतता अर्थात् दोनों का मेल। निश्चय हो, वहाँ व्यवहार ऐसा हो-ऐसा मेल रहे तो **(इस प्रकार वीतरागपने का अनुसरण किया जाये, तभी इच्छित की सिद्धि होती है, अन्य प्रकार से नहीं होती)**। इसका स्पष्टीकरण नीचे।

(२) **छठवें गुणस्थान में मुनियोग्य शुद्धपरिणति निरन्तर होना...** मुनि का दृष्टान्त दिया। मुनि के योग्य तीन कषाय के अभाववाली शुद्ध वीतरागी परिणति निरन्तर स्वसन्मुख के आश्रय से होना। **तथा महाव्रतादिसम्बन्धी शुभभाव...** पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण इत्यादि-इत्यादि। **यथायोग्यरूप से होना...** एक तो, उसके योग्य है, ऐसा ही उसका विकल्प हो। उससे आगे बढ़कर मन्दराग हो, ऐसा नहीं; पहला तीव्र हो, ऐसा नहीं। समझ में आया ? उस गुणस्थान के योग्य अट्ठाईस मूलगुण, महाव्रत आदि का विकल्प हो, उसे निश्चय तीन कषाय

के अभाव की वीतराग परिणति हो और वस्त्र-पात्र लेने का विकल्प हो या अध:कर्म-उसके लिये बनाया हुआ आहार का विकल्प हो, यह व्यवहार उसे योग्य है नहीं। यह निश्चय के साथ व्यवहार के सुसंगतपने का मेल नहीं है।

इसलिए कहते हैं, **वह निश्चयव्यवहार के अविरोध का (सुमेल का) उदाहरण है।** यह दृष्टान्त दिया; यह तो पण्डितजी ने। **पाँचवें गुणस्थान में उस गुणस्थान के योग्य शुद्धपरिणति निरन्तर होना...** श्रावक को भी स्वभाव के आश्रय से दो कषाय के अभाववाली शुद्धपरिणति निरन्तर होती है, निरन्तर होती है। **तथा देशव्रतादिसम्बन्धी शुभभाव...** उसे बारह व्रत आदि के विकल्प भी उसके योग्य ऐसे शुभभाव **यथायोग्यरूप से होना...** उसके योग्य हों, उस प्रकार से होते हैं। **वह भी निश्चय-व्यवहार के अविरोध का उदाहरण है।** समझ में आया?

पाँचवें गुणस्थान में शुद्धपरिणति हों, और ऐसे विकल्प तीव्र हों—कुदेव-कुगुरु को मानना—ऐसा भाव, उसे व्यवहार उसे सुसंगत नहीं है। समझ में आया? चाहे जिस देव को मानना, चाहे जिस गुरु को मानना, चाहे जिस शास्त्र को मानना-ऐसा पंचम गुणस्थान का विकल्प, ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता। उसके योग्य देव-शास्त्र-गुरु का विकल्प और बारह व्रत का विकल्प हो, परन्तु वह निश्चय हो तो उसके साथ ऐसा व्यवहार होता है। जिसे निश्चय नहीं है, उसे व्यवहार नहीं हो सकता। कहो, समझ में आया? **उदाहरण है।**

अविरोध द्वारा ही अनुसरण किया जाए तो इष्टसिद्धि होती है, अब उसे निश्चय-व्यवहार का न्याय देने को बात जरा लम्बाते हैं। **अनादि काल से भेदवासित बुद्धि होने के कारण...** अनादि काल से राग की एकताबुद्धि अथवा राग के साथ सम्बन्ध (होने के कारण) **अनादि काल से भेदवासित बुद्धि होने के कारण प्राथमिक जीव...** शुरुआत के जीव **व्यवहारनय से भिन्न साध्यसाधनभाव का अवलम्बन लेकर...** उसका-भिन्न साध्य का स्पष्टीकरण। **मोक्षमार्ग प्राप्त ज्ञानी जीवों को...** सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और आंशिक स्थिरता—ऐसी तो दशा द्रव्यस्वभाव के आश्रय से सम्यक्त्वी को-मोक्षमार्गी को हुई होती है। उस **भूमिका में, साध्य तो परिपूर्ण शुद्धतारूप से परिणत आत्मा है...** उसे साध्य तो परिपूर्ण शुद्धता से परिणत आत्मा (है), **उसका साधन व्यवहारनय से...** उसका साधन व्यवहारनय से वापस **(आंशिक शुद्धि के साथ-साथ रहनेवाले) भेदरत्नत्रयरूप परावलम्बी विकल्प कहे जाते हैं।** वह साधन व्यवहार से कहने में आता है।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा ही नहीं।... साधन नहीं, इसलिए व्यवहार साधन कहा। व्यवहारनय से व्यवहार साधन। वास्तव में साधन है नहीं। है नहीं, उसे कहना, इसका नाम व्यवहार (है)।

इस प्रकार उन जीवों को व्यवहारनय से साध्य और साधन भिन्न प्रकार के कहे गये हैं। व्यवहारनय से, साध्य है शुद्ध-परिणति और साधन है विकल्प। साध्य है शुद्ध-निर्मल अवस्था और साधन है स्व-पर प्रत्यय विकल्प, राग-उसे व्यवहार से साधन कहा; निश्चय से शुद्धपरिणति को साध्य कहा। इसमें बड़ी गड़बड़ उठे। ऐ.. दीपचन्दजी! देखो! यह साधन लिखा है या नहीं इसमें? इसीलिए तो स्पष्टीकरण किया है। **व्यवहारनय से साध्य और साधन भिन्न प्रकार के कहे गये हैं। (निश्चयनय से साध्य और साधन अभिन्न होते हैं।)** पूर्ण शुद्धि की परिणति, वह साध्य है और अधूरी शुद्ध परिणति, वह साधन है, परन्तु है तो शुद्धदशा, वीतरागी दशा, स्वद्रव्य के आश्रय से (हुई) दशा वह निर्मल साधन (और) पूर्ण निर्मल (दशा), वह साध्य - यह निश्चय है। जहाँ ऐसा निश्चय हो, वहाँ व्यवहार के ऐसे विकल्प, पूर्ण निश्चय जहाँ हुआ नहीं तो ऐसा व्यवहार हो, उसे व्यवहारनय से साधन, उपचार से साधन, आरोप से साधन कहा गया है।

भिन्न साध्यसाधनभाव का अवलम्बन लेकर सुख से तीर्थ का प्रारम्भ करते हैं... इस भाषा में विवाद। निश्चय स्वद्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान, वह तो निर्मलपर्याय (है), परन्तु अनादिवासित राग सब गया नहीं, ऐसा। अनादि अर्थात् अज्ञानी है, उसका यहाँ प्रश्न नहीं है, परन्तु राग अभी गया नहीं, इसलिए उसे राग की दशा में ऐसे भाव / विकल्प आते हैं। जिससे **सुख से तीर्थ का प्रारम्भ करते हैं...** नीचे है। **सुगमता से, सहजरूप से, कठिनाई बिना। जिन्होंने द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत शुद्धात्मस्वरूप के श्रद्धानादि किये है...** शुद्ध चैतन्य ज्ञायक आनन्दस्वरूप की स्वसन्मुख की श्रद्धा-ज्ञान और लीनता किये हैं। **ऐसे सम्यग्ज्ञानी जीवों को...** अनादिवासित है अर्थात् सीधे पहले व्यवहार आता है-ऐसा नहीं। समझ में आया? इसमें से ऐसा निकालते हैं, देखो! पहले व्यवहार आता है और फिर निश्चय आता है। अनादिवासित है न? परन्तु यह व्यवहार भी अनादिवासित है। अनादि के राग से पृथक् पड़ा, अस्थिरता से। यहाँ तो भले राग से पृथक् पड़ा, परन्तु वह राग है, उसकी अस्थिरता का, अनादि की उस राग की गन्ध है। ज्ञानी को भी उस राग की अनादि की गन्ध है। समझ में आया? कभी रागरहित हो गया है और फिर राग आया है - ऐसा नहीं। समझ में आया?

शुद्धस्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान और लीनता **किये हैं, ऐसे सम्यग्ज्ञानी जीवों को तीर्थसेवन**

की प्राथमिक दशा में (-मोक्षमार्ग सेवन की प्रारम्भिक भूमिका में) आंशिक शुद्धि के साथ-साथ श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र सम्बन्धी... श्रद्धान सम्बन्धी, ज्ञानसम्बन्धी, चारित्रसम्बन्धी **परावलम्बी विकल्प (भेदरत्नत्रय) होते हैं,...** भेदरत्नत्रय के विकल्प की जाति, सम्यग्दृष्टि को स्वावलम्बी होने पर भी, पूर्ण स्वावलम्बी नहीं हुआ; इसलिए परालम्बी ऐसे विकल्पों की जाति व्यवहार से अनुकूल है-ऐसा करके साधन कहा जाता है। नहीं समझ में आया ? व्यवहार कहो या अनुकूल कहो या निमित्त कहो। वह विकल्पों की जाति छठवें, पाँचवें (गुणस्थान) में हो, इससे विशेष राग भी न हो और अत्यन्त मन्दता ऊपर होवे, ऐसी जाति न हो। इस प्रकार वहाँ राग को भेद साधन कहने में आया है।

क्योंकि अनादि काल से जीवों को जो भेदवासना से वासित परिणति... सम्यग्दृष्टि की भी यहाँ बात है। **अनादि काल से जीवों को जो भेदवासना से वासित...** पर्यायबुद्धि है, रागबुद्धि है, निमित्त के प्रति लक्ष्यवाली बुद्धि है। यहाँ राग की एकता टूटी है, परन्तु अभी परावलम्बी का अवलम्बन जो अनादि का है, उसमें का एक अंश बाकी रहा है, ऐसा कहना है। समझ में आया ? ऐसा नहीं कि अनादि का अवलम्बन है, इसलिए उसे मिथ्यात्व... पहले व्यवहार आता है ऐसा नहीं।

अनादि काल से जीवों को जो भेदवासना से वासित परिणति चली आ रही है, उसका तुरन्त ही सर्वथा नाश होना कठिन है। लो ! ऐसा कहते हैं। राग और विकल्प से चैतन्यस्वभाव को भिन्न जाना, श्रद्धा की, अनुभव किया, तथापि अभी राग की विकल्पदशा अनादि वासित गन्ध है, वह रह गयी है, ऐसा कहते हैं। एकताबुद्धि रही नहीं। समझ में आया ? परन्तु अनादि का जो राग का भाग है, वह व्यवहार भाग अनादि का रह गया है। अत्यन्त शुद्ध हो गया है और नया राग हुआ है, ऐसा नहीं है। पण्डितजी ! यहाँ तो व्यवहार साधन कहते हैं और यहाँ ऐसा अर्थ किया वापस। ऐसा अर्थ न करे तो कुछ मेल खाये, ऐसा नहीं है।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वीतरागभाव तो प्रगट हुआ है, परन्तु अभी राग से बिल्कुल अस्थिरता में से छूट गया है परन्तु ऐसा नहीं है। यह अनादि की बात है। राग से भिन्न पड़ने पर भी राग बाकी रहा है, वह अनादि का प्रकार है, वह कोई नया राग हुआ है, ऐसा नहीं है। इसलिए इसका अर्थ ऐसा करते हैं कि अनादि वासित हो, उसे पहला व्यवहार आवे और व्यवहार से फिर निश्चय आवे। ऐसा अर्थ करते हैं, लो ! भीखाभाई ! मिथ्या है वह ? लिखा है

न, इस प्रकार। देखो न! **सुख से तीर्थ का प्रारम्भ करते हैं...** व्यवहार की सुख से, पहले अनादि वासित बुद्धिवाले व्यवहार की पहले शुरुआत करते हैं। ऐई! हमारे पण्डितजी ने तो इसमें स्पष्टता की है। ऐ.. देवानुप्रिया! कहा है न, अनादि काल से भेदवासित, वह बात बराबर है, क्योंकि राग का भाग है, वह नया हुआ है, ऐसा नहीं है। सम्यग्दृष्टि को भी, ज्ञानी को भी स्वभाव का अवलम्बन लेकर राग की एकता टूटने पर भी, अस्थिरता का राग अनादि का है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? यह नया हुआ, शुद्धता पूर्ण प्रगटी थी और फिर नया हुआ, ऐसा नहीं है। वह शुद्धता प्रगटी ही नहीं—पर्याय में शुद्धता पूर्ण अनादि से प्रगटी ही नहीं; इसलिए समकिती को भी राग की अस्थिरता का भाग अनादि की जाति का वह अस्थिरता का भाग है। समझ में आया ?

सुख से तीर्थ का प्रारम्भ करते हैं... इसका अर्थ, उस भूमिका में वैसे ही भाव होते हैं, उन्हें व्यवहार से ऐसा कहा जाता है। उनके द्वारा सुख से पार पाते हैं अथवा सुख से मार्ग का प्रारम्भ करते हैं। यह वास्तव में ऐसा नहीं है। यह तो व्यवहारनय का वचन है। सुख से कब वहाँ था? सुख का अर्थ अपने यहाँ किया है न! सुगमरूप से। देखो न! सुगमरूप से, सहजरूप से, कठिनता बिना - ऐसा किया है। है तो वह रागभाव दुःख है।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सुख से, परन्तु व्याख्या ऐसी की इसकी। सुख से अर्थात् राग की उस प्रकार की भूमिका में वैसी मन्दता होती है कि जिससे उसे कठिन न पड़े अर्थात् आगे जाने में जो आगे बढ़ा है और ऐसा राग है, इसलिए उसे ऐसी भूमिका में सहज शुद्ध की दशा न रहे, ऐसा नहीं है। चन्दुभाई! सब ऐसे अर्थ है। क्या कहा, समझ में आया ?

सुगमरूप से, सहजरूप से अर्थात् उसकी स्वरूप की आश्रित दशा होने पर भी, उसकी भूमिका को योग्य ऐसा ही राग हो तो वहाँ उसे मेलवाला होता है। अर्थात् उसकी भूमिका का विरोध नहीं करता। आगे जाने का भले विरोध करे, परन्तु वर्तमान भूमिका का विरोध नहीं करता। वह वर्तमान भूमिका न रहे, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? सुगमरूप से, सहजरूप से अर्थात् वे विकल्प सहजरूप से इस प्रकार के ही आते हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, उस ओर के झुकान के विकल्प ही आवें और उससे उसे अन्दर आगे जाने में कठिन पड़े, ऐसा नहीं है। वह वस्तु के स्वभाव की दशा में प्राप्त है कि ऐसा राग होता है, इससे सुख से अर्थात् सहजरूप से ऐसे विकल्प आवें और सहजरूप से परिणति है, इसलिए सहजरूप से आगे बढ़ता है। पर से बढ़ता है, ऐसा कहना है, वह व्यवहार है।

श्रोता : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ कहा और पर से कहा, बढ़ता है वह व्यवहार। कहो, रतिभाई, कहो, राग से बढ़ता है, यहाँ पाठ तो ऐसा है, हों ! भिन्न साधनभाव को अवलम्बन करके सुख से तीर्थ की वर्तमान परिणति की शुरआत करता है, ऐसा शब्द है, उसका यह अर्थ है। समझ में आया?

(अर्थात् सुगमरूप से मोक्षमार्ग की प्रारम्भभूमिका का सेवन करते हैं)। वह शुद्धपरिणति भी है और उस प्रकार के उस योग्य प्रमाण विकल्प की मर्यादा, यह अब स्पष्टीकरण करते हैं। उसका सुगमरूप से कैसे हो, उसका यहाँ स्पष्टीकरण करते हैं। समझ में आया? व्यवहार है, वह विश्राम है और फिर निश्चय में जाया जा सकता है, ऐसा नहीं - ऐसा कहते हैं। विश्राम नहीं, विश्राम नहीं। परन्तु उस भूमिका के योग्य निमित्त है, अर्थात् व्यवहार से अनुकूलता है। उसकी पर्याय का नाश, यह होने पर भी होता नहीं, बस! इतनी बात है। गजब बात, भाई! शान्तिभाई! ऐसा मुनिपना....

श्रोता : यह तो समझ में आये ऐसा नहीं, इसमें ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह समझ में आये ऐसा ही है, न समझ में आये ऐसा कहाँ है? व्यवहार हेय है, अभूतार्थ है, पहला यह सिद्धान्त। अब अभूतार्थ है, उसे साधन कहा,... अभूतार्थ है, उसे साधन कहा वह व्यवहार से अर्थात् अभूतार्थ से, असत्यार्थ से साधन कहा है, झूठे से साधन कहा है लो! इसका अर्थ यह। कारण... ऐसा निमित्त वहाँ होता है, ऐसा निमित्त वहाँ होता है। ऊपर की भूमिकानुसार राग की मन्दता इतनी न हो, निचली भूमिका की (योग्य) तीव्र राग ऐसा न हो, उसकी योग्यतावाला राग होता है, इसलिए अनुकूल से व्यवहारसाधन का आरोप आता है। कहो, सेठी! इसमें घर में पढ़े तो कुछ... चक्कर क्या कहा? चक्कर खाये।

श्रोता : इसमें तो स्पष्ट व्यवहार से लाभ होता है, ऐसा लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्यवहार से लाभ होता है, किसने कहा। कैसे कहा? व्यवहार अर्थात् क्या? व्यवहार अर्थात् अभूतार्थ, निश्चय अर्थात् भूतार्थ। यह सिद्धान्त रखकर इसका अर्थ करना पड़ेगा या नहीं? तो अभूतार्थ को अर्थात् सत्यार्थ को अर्थात् झूठे भाव को सुगमरूप से साधन कहा, उसका अर्थ कि झूठे नय से उसे आरोप से कथन किया है। कहो, शशीभाई! आहाहा!

अनादि काल से, यह अपने पहले आ गया है। २३७ पृष्ठ पर आया, लिखा था, २३७ पृष्ठ पर आ गया है। **अनादि अविद्या के नाश द्वारा...** देखो, **अविद्या के नाश द्वारा व्यवहार -मोक्षमार्ग को प्राप्त करता हुआ...** देखा, २३७ पृष्ठ, दूसरी लाईन। **यह आत्मा वास्तव में कथंचित् (किसी प्रकार से, निज उद्यम से) अनादि अविद्या के नाश द्वारा...** ऐसा है। **व्यवहार मोक्षमार्ग को प्राप्त करता हुआ, धर्मादि सम्बन्धी तत्त्वार्थ अश्रद्धान के...** अश्रद्धान का श्रद्धान करे, अश्रद्धान को छोड़ता है, अंग पूर्वगत अज्ञान को छोड़ता है, अतप में चेष्ठा के त्याग को छोड़ता है और धर्मादि में श्रद्धा को अंगीकार करता है। वह विकल्प अमुक प्रकार का छोडता है और अमुक प्रकार का ग्रहण-त्याग होता है, वह व्यवहारनय का विषय है। निश्चय में ग्रहण-त्याग है नहीं। आहाहा! बात तो... परन्तु अब क्या हो। समझ में आया?

अनादि काल से अनन्त चैतन्य वीर्य मुँद गया है। यह है न अन्दर? अनादि काल से, वहाँ लिया, देखो! २२१ है, बीच में चौथी लाईन है। **जिसे अनादि काल से अनन्त चैतन्य और (अनन्त) वीर्य मुँद गया है, ऐसा वह ज्ञानी...** देखो! है तो ज्ञानी, तथापि मुँद गया है। समझ में आया? अनादि का मुँदा हुआ है, ऐसी अनादि की यह वासना है। भान हुआ होने पर भी। २२१ और २२७ है कहीं। उसमें लिखा है तब, २२७ है। **अनादि मोहनीय के उदय को अनुसरकर...** वह भी यह है, देखो! है न? १५५ (गाथा) **अनादि मोहनीय के उदय का अनुसरण करके परिणति करने के कारण उपरक्त उपयोगवाला (-अशुद्ध उपयोगवाला) होता है, तब (स्वयं) भावों का विश्वरूपपना (अनेकरूपपना) ग्रहण किया होने के कारण उसे जो अनियतगुणपर्यायपना होता है, वह परसमय...** है इतना लो! परसमय-इतना विभावभाव है अनादि का, इससे उसे परसमय कहा जाता है। समझ में आया? सामने पुस्तक है या नहीं? इस मेल से ये दो, तीन जगह बताया। उसमें अविद्या का नाश करके, (ऐसी) बात की। ज्ञानी भी अभी अनादि के मोह को अनुसरता है, अस्थिरता का भाग है, उतना परसमय है, स्वसमय को अनुसरणता है, वह स्वसमय। समझ में आया? व्यवहार अर्थात् अभूतार्थ-एक सिद्धान्त पहला। व्यवहार अर्थात् असत्यार्थ, व्यवहार अर्थात् वास्तव में निश्चय की अपेक्षा से अविद्यमान, तथापि व्यवहार की अपेक्षा से विद्यमान। उस अविद्यमान को विद्यमान व्यवहार से कहा जाता है। इसी प्रकार साधन नहीं है, उसे व्यवहार से साधन कहा जाता है। गजब बात। सोनगढ़ की बात निश्चय की उपादान की आवे तो कहे, ऐ... सोनगढ़ की। अब भाई! भगवान के घर की है, ऐसा मान न।

श्रोता : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : ....ऐसी बात तुम्हारी सोनगढ़ की यहाँ नहीं चले, ऐसा।...धन्यकुमार कारंजा के है, यहाँ आ गये हैं न अभी, नहीं? भावनगर। गाँव में यह बराबर चलाते हैं। दो हजार लोग हैं,... दो हजार लोग। दो हजार की सभा भरती है। भाई! यह तो अब सर्वत्र चले ऐसा है, यही (चलेगा)। पूरे महाराष्ट्र में घूमे, परन्तु कहीं किसी ने निषेध नहीं किया। सब ऐसा कहते हैं,... मार्ग तो यह है, बापू! व्यवहार हो, वहाँ साधन कहे, साधन दो प्रकार के नहीं होते, साधन का निरूपण दो प्रकार का है। साधन का निरूपण दो प्रकार का है। एक अभूतार्थ साधन, एक भूतार्थ साधन। कहो, समझ में आया?

श्रोता : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अभूतार्थ, यही कहा न! अभूतार्थ साधन को अभूतार्थ साधन हो, उसका अर्थ अभूतार्थ से कहा है, व्यवहार से कहा है। इसके लिए तो स्पष्टीकरण करना पड़ा। ऐई! सेठ! यह तीन तो दृष्टान्त दिये। २२१, २२७ और यह २३७ (पृष्ठ)। तीनों के साथ यह चौथा बोल मिलता है। ऐ... बजुभाई! ये तो वहाँ के सब लोग हाँ.. हाँ.. ही करते हैं, मूर्ख हैं। अरे! भगवान! क्या करता है? प्रभु किस अपेक्षा से, किस नय का किस अपेक्षा से कैसे है और यहाँ कैसे आया है, ऐसा उसे अर्थ समझना चाहिए न!

श्रोता : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसे अभूतार्थ वस्तु ही नहीं? वस्तु है या नहीं? निमित्त का ज्ञान कराने को कहा है। निमित्त, निमित्त, व्यवहार व्यवहाररूप से नहीं? व्यवहारनय का विषय नहीं? विषय है, उसका ज्ञान कराने के लिए कहा है।....ऐसा स्वभाव है उसका। आत्मा स्व का ज्ञान करता है, तब बाकी रहा हुआ राग का भी ज्ञान उसे स्वतः स्व-परप्रकाशक उत्पन्न होता है। इसके अलिए काम है। समझ में आया?

आत्मा अपने स्वरूप के साधन में आता है, इसलिए उसे स्व-पर की ज्ञान की पर्याय ही उस समय में प्रगट होती है। वह स्व-पर का ज्ञान, वह अपना, आत्म-अपना ज्ञान है, पर का ज्ञान, वह पर का नहीं। यह व्यवहार का ज्ञान, वह व्यवहार का नहीं, ज्ञान अपना है। स्व का ज्ञान और व्यवहार का ज्ञान, वह दो होकर अपना ज्ञान है, दो होकर अपनी पर्याय है, उसे वह जानता है। समझ में आया? क्या हो परन्तु अब? इस बारहवीं गाथा में कहा, व्यवहार से जाना हुआ प्रयोजनवान है। वह तो एक निश्चय का ग्यारहवीं में कहा कि **भूदत्थमस्सिदो खलु...** अकेला भगवान त्रिकाल ध्रुव के आश्रय से सम्यक्त्व होता है और ध्रुव

को हम शुद्धनय कहते हैं। नय और नय का विषय भिन्न नहीं है। तब इतना... ***कोई पर्याय, राग-बुद्धि के अंश बढ़े, राग अंश घटे, ऐसी कोई दशा है या नहीं? वह दशा है, तो उस दशा का ज्ञान वहाँ स्वतः स्व का ज्ञान होने पर उस प्रकार का ज्ञान वहाँ स्वयं के कारण से (होता है)। उसका लक्ष्य करे और जानता है, ऐसा भी नहीं है। उस प्रकार की ज्ञान की पर्याय स्व-पर प्रकाशक जो उसका स्वभाव है, उसी प्रकार की स्व-परप्रकाशक ज्ञान की पर्याय खड़ी होती है, इससे व्यवहार को जानता है, ऐसा कहा जाता है। वास्तव में तो व्यवहार सम्बन्धी का अपना अधूरा ज्ञान है और स्व का पूरा, यह दो होकर अपनी पर्याय है।*** चन्दुभाई!

केवलज्ञानी, केवलज्ञान में केवल पर्याय है, वह लोकालोक है, इसलिए ज्ञान है? और लोकालोक का वह ज्ञान है? वह तो अपनी पर्याय का ज्ञान है। अपनी पर्याय में अपना द्रव्य, अपना गुण और अपनी पर्याय का पूर्णता का ज्ञान है। छह द्रव्य का है, ऐसा कहना वह व्यवहार है। ऐसी ही ज्ञान की पर्याय छह द्रव्य और लोकालोक होने पर भी, अपनी पर्याय में स्व-पर प्रकाशक आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञ पर्याय प्रगट होती है। उन्हें पूर्ण, साधक को अपूर्ण है, बस! इतना अन्तर है। समझ में आया? साधक को पूर्ण ज्ञान का विषय हुआ नहीं। अभी राग है, साधक है, बाधक है। सब है न? इससे उसे वस्तु के स्वभावसन्मुख ढलने पर जो स्व का ज्ञान हुआ, वह अकेला नहीं हुआ उसके साथ, ऐसा कहते हैं। स्व का ज्ञान, ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है कि स्व का ज्ञान होने पर, स्व-परप्रकाशक की सामर्थ्य पर्याय में प्रगट सहज होती है। इसलिए उसे ऐसा कहा कि इस व्यवहार को जानता है और व्यवहार साधन है, ऐसा उपचार से कथन किया है। आहाहा! समझ में आया? व्यवहार को जानता नहीं, तथापि व्यवहार को जाने, कहा लो! भाई! व्यवहार को जानता है? उस लोकालोक को जानते हैं वहाँ? व्यवहार को जानते हैं। व्यवहार तो राग है, राग से तो ज्ञान निर्लेप भिन्न है। धन्नालालजी!

भगवानस्वरूप चैतन्यबिम्ब वह ज्ञानमूर्ति, ऐसा जहाँ स्पर्श हुआ, इतनी पर्याय ने ही स्व-परप्रकाशक स्वतः अपना स्वभाव, उस प्रकार का ज्ञान ही वहाँ अधूरा स्व-पर को जानता हुआ प्रगट होता है। अन्य चीज़ है, इसलिए प्रगट होता है; लोकालोक है, इसलिए केवलज्ञान प्रगट होता है या है- ऐसा नहीं है। जेठाभाई! आहाहा!

इसी प्रकार यहाँ व्यवहार साधन जो कहा, वह तो व्यवहारनय से कहा। निश्चय में वह साधन नहीं और उसे वह जानता नहीं। वह अपनी पर्याय का सामर्थ्य ही इतना और ऐसा है कि जिस प्रकार के विकल्प होने हैं, उसी प्रकार का ज्ञान उनके लक्ष्य बिना, वे आयेंगे इसलिए

ज्ञान करता है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? यह प्रश्न उठा है न? भाई! नहीं? प्रवचनसार में न? प्रवचनसार में। ऐसा कि ज्ञान, ज्ञान को उत्पन्न हो और उस समय जाने, ऐसा कैसे बने? नट अपने पैर यहाँ रखे और नाचे, ऐसा कैसे बने? प्रवचनसार। इस प्रकार ज्ञान, जिस समय में उत्पन्न हो, उस समय में उसे जाने, ऐसे कैसे होगा? भाई! उस समय में उत्पन्न होता है और उस समय में जाने, ऐसा उसका स्वभाव है। सुन न! और वह उत्पन्न हुआ और उसे जाने अर्थात् क्या कहा इसका अर्थ? लो! भाई! कि जिस समय का ज्ञान साधक में हुआ, उस समय में उसे जानता है अर्थात् क्या हुआ? कि वह राग है, उसे जानता है कहना, यह व्यवहार है। केवलज्ञान लोकालोक को जानता है, यह व्यवहार है। अपनी पर्याय पूर्ण हुई, उसे जानता है। इसी प्रकार साधक में जो ज्ञान की पर्याय उस प्रकार की अपूर्ण को जाने और यहाँ सम्पूर्ण को जाने, ऐसी ही ज्ञान की पर्याय प्रगट होती है। उसे ऐसा कहना कि पर को जानना, वह व्यवहार है। ऐसे यह साधन व्यवहार है, उससे सुगमरूप से होता है, यह व्यवहार है। आहाहा! व्यवहार राग है, इसलिए ज्ञान नहीं होता तो फिर व्यवहार साधन होकर आगे साध्य बढ़े, यह बात है ही नहीं। बात तो यह है... रतिभाई! न्याय से जरा मध्यस्थ से अन्दर भाव बैठना चाहिए न! बैठे तो काम आवे। ऐसे अध्धर के अध्धर बातें करे कि ऐसा है और वैसा है, परन्तु ऐसा कैसे हो?

भगवान आत्मा अकेला ज्ञान और आनन्द का सागर वस्तु शुद्ध है। अब, शुद्ध का अवलम्बन हुआ, इसलिए पर्याय शुद्ध को जानने की प्रगट हुई, इतनी ही प्रगटी है? केवलज्ञान प्रगट हुआ, इसलिए अपने द्रव्य-गुण-पर्याय जाने। इतना ही प्रगटा है? लोकालोक है, उसे जानता हुआ अर्थात् कि उस प्रकार का ज्ञान अपना, अपने से उत्पन्न होकर स्वयं को स्वयं जानता है। सेठी! यह जरा विस्तार है। ....विस्तार तो किया है भाई ने। आहाहा!

कहते हैं कि जैसे पर को जाना हुआ प्रयोजनवान कहा, केवलज्ञानी लोकालोक को जानते हैं, यह प्रयोजनवान है? ऐसे व्यवहार जाना हुआ पर को जाने यह प्रयोजनवान है? परन्तु ऐसा ही ज्ञान प्रगट होता है। आहाहा! समझ में आया? यह प्रयोजनवान है अपनी पर्याय उस प्रकार की... अधूरी रही है, उसे जानता है। समझ में आया? इसी प्रकार यहाँ व्यवहार को साधन कहा है, उस साधन को जानने का काम करता है, ऐसा कहना भी अभी व्यवहार है। उसके बदले वह मदद करके यहाँ टिकता है, वस्तु में ऐसा नहीं है।

श्रोता : शब्द के कारण से भूल जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : शब्द के कारण से भूलते नहीं, दृष्टि के कारण से भूलते हैं। पण्डितजी!

भिन्न साध्यसाधनभाव को... अब यहाँ निश्चय अभिन्न साध्यसाधन है या नहीं ? भाई ! यह भिन्न साध्यसाधन के समय अभिन्न साध्यसाधन है या नहीं ? या अकेला भिन्न साध्यसाधन है ? इस भिन्न साधन के समय भी अभिन्न साध्य-साधन तो है। उसके साथ एक दूसरा बोल जोड़ देना है यहाँ तो। अपना निर्मलस्वभाव वह साधन है और पूर्ण निर्मल साध्य, वह तो है। तदुपरान्त दूसरी बात यहाँ डालनी है अब। ऐसे काल में भी एक भिन्न साध्य-साधन कहा जाता है। तब जो निश्चय साध्य है और उसका पूर्ण साध्य है अर्थात् यह व्यवहार साधन है और उसका वर्तमान पर्याय साध्य, ऐसा यदि कहें तो भी वह उपचार है और पूर्ण साध्य का यह साधन कहना, वह भी उपचार व्यवहार है। समझ में आया ? इतना सब समझना पड़ेगा बापू ! तू समझ का पिण्ड है। है तो ज्ञान का अकेला पिण्ड है, बाकी कुछ गन्ध भी नहीं है।

जहाँ भूमिकाप्रमाण राग होता है, उसे व्यवहार से जाने और व्यवहार से साधन कहकर, उसे जानने के लिये बात की है। समझ में आया ? नहीं तो तत्त्व के सत्त्व का कहीं मेल नहीं होगा। यह तत्त्व है, उसका सत्त्व जो ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है, उसका स्व-पर प्रकाशक स्वतः स्वभाव है, स्वतः स्वभाव है; पर के कारण है - ऐसा है नहीं। ज्ञान की पर्याय स्वत स्व-पर प्रकाशक है, इसलिए क्या करना फिर उसमें ? कहो। इसलिए व्यवहार है, इसलिए परप्रकाशक हुआ, ऐसा है ? समझ में आया ?

श्रोता : उत्पन्न हुई पर्याय.....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह स्वयं उत्पन्न हुई पर्याय स्वयं अपने को जानती है। उत्पन्न हो और उस समय में उसे जाने, ऐसा ही उसका स्वभाव है। इसके लिये तो प्रवचनसार में स्पष्टीकरण हुआ। भाई ! समझे न ? .....वह की वह पर्याय उत्पन्न होती है, ऐसा नहीं होता परन्तु उत्पन्न हो और उसे जाने, ऐसा नहीं बने ? वह तो उसका स्वभाव है। इसी प्रकार रागादि के काल में जो ज्ञान स्व-परप्रकाशक नया उत्पन्न हुआ, वह उत्पन्न हुआ, उसी प्रकार को वह जानता है। समझ में आया ? निश्चयस्वरूप तो यह है, वस्तु की स्थिति ऐसी है, उसमें वस्तु स्व-परप्रकाशक स्वयं पुकार करती है।

स्व-पर प्रकाशक की व्याख्या अर्थात् क्या ? समझ में आया ? परवस्तु है, इसलिए परप्रकाशक है ? और स्व-पर प्रगट हुआ है, वह पर था; इसलिए ऐसा प्रगट हुआ है यहाँ ? समझ में आया ? वजुभाई कहे, थोड़ा इसमें स्पष्ट करो। स्पष्ट तो यह आया। वस्तु तो इस प्रकार से है, दूसरी किसी प्रकार से मेल नहीं खाता। समझ में आया ?

कहो, यहाँ यह का यह आया कि **भिन्न साध्यसाधनभाव का अवलम्बन लेकर सुख से तीर्थ का प्रारम्भ करते हैं....** परन्तु अभिन्न साध्यसाधन उस समय है या नहीं ? है। परन्तु उस समय की भूमिका में... आगे आता है न ? देखो न ! ऐसे ही विकल्पों की जाति अभूतार्थ होने पर भी वे प्रगटते हैं। समझ में आया ? और इससे उसे ऐसा ही भाव होता है, ऐसी अनुकूलता व्यवहार से गिनकर, निमित्तरूप से गिनकर वह साधन है, ऐसा कहने में आया है। समझ में आया ?

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु देखो न ! बात न्याय से ख्याल आनी चाहिए न ! कोई ऐसा का ऐसा माने, ऐसा का ऐसा अन्धश्रद्धा से माने, ऐसा क्या मानता है ? भगवान कहते हैं कि व्यवहार साधन है परन्तु है क्या यह ? पण्डितजी !

अनादि काल से भेदवासित बुद्धि होने के कारण... अनादि काल से क्षायिक समकित हुआ तथापि... राग का भाग तो अनादि का है न ? इसलिए मिथ्यात्वी है, इसलिए अनादि का राग, ऐसी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो पर्याय में राग का भाग अनादि का है, बस ! भले राग की एकता टूटी है, तथापि राग है, वह तो अनादि का है; कोई नया हुआ है ? बात समझ में आती है ? ऐई ! आज सूक्ष्म है। आहा ! **अनादि काल से भेदवासित बुद्धि...** इतना अर्थ पहले। अनादि काल से भेदवासित बुद्धि। जितना राग है, वह भेद है या नहीं ? या अभेद हो गया है ? अनादि का भाग है। अनादि का है, इसलिए मिथ्यादृष्टि है, उसे व्यवहार होता है - ऐसा नहीं है क्योंकि भिन्न साध्य-साधन को व्यवहार कहा, तब उसके साथ निश्चय अभिन्न साध्य-साधन है। समझ में आया ?

पूर्ण पवित्रता, वह साध्य है और वर्तमान शुद्धपरिणति, वह साधन है। अब यहाँ वह पूर्ण परिणति साध्य और इसे साधन कहो तो भी उपचार है और छठवें गुणस्थान में रहा हुआ शुभराग, वह सातवें गुणस्थान में शुद्धपरिणति को साधन है और सातवीं भूमिका की शुद्धपरिणति वह साध्य है, ऐसा कहो तो भी वह व्यवहार है। समझ में आया ? वास्तव में तो यह तो पहले आ गया है। छठे गुणस्थान की शुद्धि, वह सातवें की शुद्धि का कारण है, परन्तु आरोप से उस भूमिका के योग्य जो रागादि की मन्दता थी, वैसी ही यह सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ की श्रद्धा, छह द्रव्य की श्रद्धा, नौ तत्त्व की श्रद्धा, इससे कोई विरुद्ध मानने का विकल्प व्यवहार में भी उसे नहीं होता। एक समय की पर्याय छह द्रव्य को जाने, इतना पर्याय का सामर्थ्य है। अब पर्याय पर लक्ष्य है... प्रगटा है... नहीं होगा। समझ में आया ?

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा है तो व्यवहार को जानेगा कौन कि यह व्यवहार है ? वह व्यवहार का ज्ञान भी स्वयं से प्रगटेगा किस प्रकार ? समझ में आया ? सूक्ष्म तो थोड़ा आया, सूक्ष्म तो आया परन्तु अब न्याय से बैठे, ऐसी बात है, न्याय से ख्याल में आवे तो बैठे, ऐसी है। ऐसी कुछ न बैठे, ऐसी बात है नहीं। कहो, वजुभाई ! भाई ने कहा था तब (कि) ढेवरभाई ने, तर्कशुद्ध बात है। और फिर बाहर जाये वहाँ बदल जाये। तर्कशुद्ध है, अभिनन्दन देने आया हूँ, ऐसा कहे। किस वर्ष ? (संवत्) २०१० होगा। तर्कशुद्ध बात। वापिस फिर कहीं कहे, महाराज ऐसा कहते हैं, परन्तु दूसरे दूसरा कहते हैं, वह कैसे मिथ्या होगा ? गड़बड़ खड़ी हो। भाई ! यह महाराज कहते हैं वह कहाँ (बात है), यहाँ तो वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। वस्तु के स्वरूप की मर्यादा और स्थिति ही ऐसी है।

प्राथमिक जीव... अर्थात् साधक जीव। प्राथमिक अर्थात् अज्ञानी जीव ? परन्तु प्राथमिक किसे ? अनादि का है, उसे प्राथमिक किस प्रकार कहना ? वह तो अनादि का अज्ञान है। प्राथमिक हुआ कब ? साधक हुआ, इसलिए प्राथमिक भूमिकावाला, ऐसा कहने में आया ? समझ में आया ? अनादि काल से... ठीक ! इसलिए दो लाईन में ही अटका सब। आहा ! वस्तुस्थिति ऐसी है, दूसरे प्रकार से वस्तु किस प्रकार मेल खाये ?

भगवान चैतन्यबिम्ब है, वह तो अकेला ज्ञान का सागर है। अब उस ज्ञान का स्वरूप स्व-पर प्रकाशक है। शक्तिरूप से भी है और पर्याय में प्रगटे तो भी स्व-पर प्रकाशक है। तब साधक है, अभी अनादि राग का नाश बिल्कुल हुआ नहीं है और पहली साधकदशा में आया है। प्रथम साधकदशा में आया है। मिथ्यात्व की दशा तो अनादि की है, उसमें आया कहाँ वहाँ ? समझ में आया ?

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह प्राथमिक अर्थात् यह। प्राथमिक अर्थात् साधक जीववाला अनुभवी प्राथमिक है, पूर्ण हुआ नहीं इसलिए।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी बात ही यहाँ नहीं होती। धूल भी नहीं होती। अन्धे अन्ध है, राग अन्ध। उस अन्धले से फिर निश्चय हो ? अन्धले से सूझता हो ? यहाँ तो सूझता स्व-पर प्रकाशक प्रगट हुआ है, उसकी भूमिका में पूर्णता नहीं है, इसलिए उसे प्राथमिक भूमिका कहा

जाता है। नहीं वह अज्ञान में; नहीं वह पूर्ण ज्ञान में। समझ में आया? कहो, समझ में आया या नहीं इसमें ऐ... सुजानमलजी! आहाहा!

प्राथमिक जीव.... अर्थात् धर्म की शुरुआत हुई है, ऐसे जीव। **व्यवहारनय से....** ऐई! **भिन्न साध्यसाधनभाव का अवलम्बन लेकर...** व्यवहार को अवलम्बकर। निश्चय अवलम्बन है, उसे व्यवहार का अवलम्बन कहना, उसे बतलाते हैं। यह कहा है या नहीं इसमें? मोक्ष सेवन की प्राथमिक भूमिका में। देखो न! भाई ने इसमें लिखा है न, **तीर्थ सेवन की प्राथमिक दशा में (मोक्षमार्गसेवन की प्रारम्भिक भूमिका में)...** ऐसा लिखा है, देखो! नीचे है? **आंशिक शुद्धि के साथ-साथ श्रद्धान-चारित्र सम्बन्ध परावलम्बी विकल्प (भेदरत्नत्रय) होते हैं,...** ऐसा ज्ञान प्रगट होता है, इसलिए वहाँ भाव (होता है)। उसे भाव के कारण से प्रगटता है, इसलिए ऐसा विकल्प नहीं और विकल्प ऐसे प्रगटते हैं, इसलिए यहाँ ज्ञान प्रगट होता है, ऐसा भी नहीं। समझ में आया?

वीतराग का मार्ग परम सत्य और सुन्दर है। शिवम सुन्दरम् क्या कहते हैं? सत्यं शिवमं सुन्दरम्। वह सब यह सत्यम् और शिवम् और सुन्दरम्। इतना बतलाने के लिये उसे सुगम रीति से साधन से तिरते हैं, ऐसा कहा गया है। आहाहा! **अनादि काल से भेदवासित बुद्धि होने के कारण प्राथमिक...** मोक्षमार्ग के जीव। प्रथम भूमिका में चढ़े हैं उन्हें, व्यवहारनय से भिन्न साध्यसाधनभाव का अवलम्बन वर्तता है कि जिससे सुख से अर्थात् सहज प्रकार के ऐसे ही विकल्प की जाति होती है। उस भूमिका में ऊपर की जाति नहीं होती, नीचे की जाति नहीं होती, उस भूमिका के योग्य भाव होते हैं। इसलिए उन्हें सुख से करता है, ऐसा व्यवहार के साधनरूप से उपचार से कहा है। **तीर्थ का प्रारम्भ करते हैं (अर्थात् सुगमरूप से मोक्षमार्ग की प्रारम्भभूमिका का सेवन करते हैं)।** अब क्या? इसका स्पष्टीकरण करेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

१६

श्री प्रवचनसार, गाथा ९९, प्रवचन-१०१
दिनांक - ११-०६-१९७९

प्रवचनसार, ९९ गाथा! दूसरा पैराग्राफ फिर से लेते हैं। **जैसे वे प्रदेश अपने स्थान में स्व-रूप से उत्पन्न...** प्रत्येक पदार्थ (कि) जिसे बहुत प्रदेश हैं - आत्मा में असंख्य, आकाश में अनन्त, धर्मास्तिकाय में असंख्य, अधर्मास्तिकाय में असंख्य, **वे प्रदेश अपने स्थान में स्व-रूप से उत्पन्न...** उत्पन्न अर्थात् (वहाँ) लक्ष्य करने पर उस स्व-रूप से है **और पूर्वरूप से विनष्ट...** वे पूर्व से अभावरूप हैं। दूसरे जो प्रदेश हैं, उनसे यह प्रदेश अभावरूप है। थोड़ा सूक्ष्म आयेगा, अभी अधिक सूक्ष्म आयेगा। **तथा सर्वत्र परस्पर अनन्त अनुस्यूति से रचित...** (अर्थात्) है... है... है... है... ऐसे आत्मा में असंख्य प्रदेश हैं। पूर्व की अपेक्षा से विनष्ट कहा, स्वयं की अपेक्षा से उत्पन्न कहा और धारावाही है... है... है... है... (वह) उत्पन्न और विनष्ट भी नहीं (ऐसा) ध्रुव है... है... है... ठीक गाथा आयी है। आहा...हा...!

क्या कहते हैं? यहाँ तो हम आत्मा में लेते हैं। आत्मा असंख्य प्रदेशी है। जिस प्रदेश पर लक्ष्य है, उस प्रदेश को पूर्व की अपेक्षा से विनष्ट कहते हैं। कारण कि पूर्व प्रदेश इसमें नहीं हैं, दूसरा प्रदेश इसमें नहीं है और अपनी अपेक्षा से इसे उत्पन्न कहते हैं परन्तु धारावाही है... है... है की अपेक्षा है उत्पन्न और विनष्ट नहीं है।

प्रश्न : हसमुखभाई आये हैं तो पहले से लें तो?

समाधान : यह पहले से ही लिया है न! यहाँ से यह पहले से है। यह कल लिया था, फिर से लेते हैं। आहा...हा...!

जैसे यह असंख्यप्रदेशी प्रभु है, (उसके असंख्य प्रदेश को) सिद्ध करके फिर प्रवाहक्रम सिद्ध करना है। सिद्ध तो प्रवाहक्रम करना है, जिस समय जो पर्याय होती है, उसी समय क्रमबद्ध होती है। क्रमबद्ध का चलता है। (एक भाई) आये थे, वे कहते थे कि वहाँ क्रमबद्ध का चलता है। अजमेर में अभी शिक्षण-शिविर है न! लोगों को कठिन (पड़ता है) लोगों को जहाँ हो वहाँ करूँ... करूँ... (का अभिमान हो गया है) वह फिर आयेगा, पर्याय की (बात आयेगी) तब कहेंगे।

प्रदेश है, वह अपने स्थान में स्व-रूप से उत्पन्न, पूर्वरूप से विनष्ट (और) सर्वत्र है... है... (ऐसी) **परस्पर अनुस्यूति से रचित एक वास्तुपने द्वारा अनुत्पन्न-अविनष्ट होने से उत्पत्ति-संहार-ध्रौव्यात्मक है...** आहाहा! पूर्व की अपेक्षा से व्यय, स्वयं की अपेक्षा से उत्पन्न और है.. है.. अपेक्षा से ध्रुव। प्रत्येक प्रदेश को ऐसे तीन (पहलू) लागू करते हैं। (ऐसा) कहते हैं, आहा...हा...! ऐसी बातें! अभी इससे थोड़ा सूक्ष्म आयेगा। यह तो यहाँ से लिया है।

उसी प्रकार वे परिणाम... इसी प्रकार इस जीव में और जड़ में जिस समय जो परिणाम होता है, 'वे परिणाम' हैं न? बहुवचन है न? **वे परिणाम अपने अवसर में स्व-रूप से उत्पन्न...** उस-उस समय में जड़ और चैतन्य की जो परिणति-पर्याय होनी है, इसलिए उसे उत्पन्न कहते हैं। आहा...हा...! है? **अपने अवसर में स्व-रूप से उत्पन्न...** आहा...हा...! (ऐसा मानने के बदले) उसकी जगह यह सब मन्दिर बनाते हैं, आगम मन्दिर बनाते हैं, पुस्तक बनाते हैं (ऐसा मानते है)।

श्रोता : अपने बन गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके कारण से बन गया है। (रामजीभाई) कारण से नहीं बना और वजुभाई के कारण से नहीं बना है। आहा...हा...! इस मकान की (मन्दिर की) जिस समय जो पर्याय उत्पन्न होने की थी, उसे पूर्व की अपेक्षा से विनष्ट कहते हैं, उत्पन्न की अपेक्षा से उत्पन्न कहते हैं और धारावाही परिणाम है... है... है... है...है... है... (इस अपेक्षा से ध्रुव कहते हैं)। (इस प्रकार) एक ही परिणाम को उत्पाद-व्यय और ध्रुव तीनों लागू पड़ते हैं। आहा...हा...!

प्रश्न : इसमें हमें क्या लाभ है?

समाधान : यह कहना है कि यदि इसका निर्णय करे तो उसकी दृष्टि पर्याय और राग के अकर्तापन पर जाती है और अकर्तापन पर जाये तो ज्ञातादृष्टा होता है तो उसे सम्यग्दर्शन होता है। आहा...हा...! ऐसी सूक्ष्म बातें! सम्प्रदाय में तो कहीं है ही नहीं। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में है नहीं। कहाँ है? यह सब इसके सेठ रहे, इन्होंने कहाँ कभी सुना था? आहा...हा...! भाई! वस्तु की स्थिति ऐसी है।

किसी को ऐसा लगता है कि स्व अवसर में परिणाम होते हैं, तब होंगे - इसमें हमें क्या? परन्तु यह अवसर में परिणाम होते हैं, इस परिणाम को तीन बात लागू पड़ती है। पूर्व की अपेक्षा से उसका विनष्टपना-अभाव; अपनी अपेक्षा से उत्पन्न (और) है... है... है... वह ध्रुव - जिसकी ऐसी दृष्टि होती है, वह आत्मा के प्रति जाता है कि आत्मा ज्ञातादृष्टा है, कर्ता

नहीं। ***यह निर्मलपर्याय होती है, उसका भी कर्ता नहीं है। वहाँ वह (निर्मल पर्याय) होनेवाली है, वह हुई है।*** आहा...हा...! ऐसी बात है। धीमे से (समझना)। अभी अब इससे सूक्ष्म (बात) आयेगी। जो बात चलती है, उससे भी सूक्ष्म अब आयेगी।

प्रत्येक परिणाम अपने अवसर में स्व-रूप से उत्पन्न... परिणाम, हाँ! **पूर्वरूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एक प्रवाहपने के द्वारा...** एक प्रवाह - है... है... है... है... है... आहा...हा...! अरे...! लोग पढ़ते नहीं, विचार नहीं करते, बापू! क्या है? भाई! आहा...हा...! इसलिए **अनुत्पन्न-अविनष्ट होने से उत्पत्ति-संहार-ध्रौव्यात्मक हैं...** यहाँ तक तो आया था। अब जरा सूक्ष्म है, ध्यान रखो तो पकड़ में आयेगा।

और जैसे वास्तु का छोटे से छोटा अंश... असंख्य प्रदेश हैं, उनमें से जो एक प्रदेश है, उसे अन्तिम कहते हैं अथवा छोटा कहते हैं, वह **अंश पूर्व प्रदेश के विनाशस्वरूप है...** वह प्रदेश पूर्व की अपेक्षा से विनाशस्वरूप है और **वही (अंश) उसके बाद के...** अर्थात् विनाशस्वरूप है उसके बाद का। यहाँ जो असंख्य प्रदेश हैं, उसमें जिस प्रदेश पर लक्ष्य करें, तो वह प्रदेश पूर्व की अपेक्षा से विनष्ट है और वह प्रदेश बाद की अपेक्षा से उत्पन्न है। बाद की (अपेक्षा से) अर्थात् वह पूर्व का (प्रदेश) जिसकी अपेक्षा से विनष्ट कहा है, उसकी अपेक्षा से नहीं (परन्तु) बाद का (जो प्रदेश है) उसे उत्पन्न कहा है। आहा...हा...! हिम्मतभाई! यह सूक्ष्म है!

देखो! यह लकड़ी है, यह अनन्त परमाणु हैं, यह कोई एक नहीं है - ऐसा यहाँ अपने को आत्मा में लेना है। आत्मा असंख्य प्रदेशी है, अब उसमें जिस प्रदेश का लक्ष्य होता है, वह प्रदेश पूर्व की अपेक्षा से - दूसरे प्रदेश की अपेक्षा से अभाव-विनष्ट-व्ययस्वरूप है; अपनी अपेक्षा से उत्पन्न स्वरूप है और वह है... है... है... अपेक्षा से ध्रुवस्वरूप है। (यह तो पहले आ गया है) परन्तु अब यहाँ तो क्या अपेक्षा ली है? कि जो पूर्व की अपेक्षा से विनष्ट है, वह उसके बाद की अपेक्षा से उत्पन्न है। 'उसके बाद की' अर्थात् वह जो पूर्व की अपेक्षा से विनष्ट कहा, उसके बाद की अपेक्षा से वह उत्पन्न है। कुछ समझ में आया?

श्रोता : कुछ समझ में नहीं आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : फिर से लेते हैं, लो! हमारे हसमुखभाई आये हैं न! ऐसी सूक्ष्म बात सुनने आते हैं। आहा...हा...! राजू आया है न... आया है? कहाँ है?

श्रोता : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक। आहा...हा... ! क्या कहते हैं ? प्रभु ! यह तेरे घर की बात है। वास्तु अर्थात् इसका घर। विस्तारक्रम अर्थात् इसका घर। आहा...हा... ! कितना चौड़ा ? यह इसका घर ! अब, इस चौड़ाई के जो असंख्य प्रदेश हैं, उसमें जो कोई भी एक प्रदेश पर लक्ष्य जाये अथवा लक्ष्य में लो, वह प्रदेश पूर्व की अपेक्षा से तो अभावस्वरूप है – विनष्ट स्वरूप है; अपनी अपेक्षा से उत्पन्न है और है... है... है... अपेक्षा से ध्रुव है। परन्तु अब फिर यहाँ ऐसा कहते हैं कि **वास्तु का जो छोटे से छोटा अंश पूर्व प्रदेश के विनाशस्वरूप है, वही अंश उसके बाद के प्रदेश का...** उसके बाद का अर्थात् जो विनष्टस्वरूप कहा था, वर्तमान प्रदेश की अपेक्षा से पूर्व को विनष्टस्वरूप (कहा था) स्वयं को विनष्टस्वरूप कहा था परन्तु वह (प्रदेश) तो है, उसके बाद का जो उत्पन्न (प्रदेश है), जिसकी अपेक्षा से उस प्रदेश को विनष्ट कहा था, उस विनष्ट की अपेक्षा से बाद का (प्रदेश) वह उत्पन्न (प्रदेश) है। वह बाद का प्रदेश है, उसे उत्पन्न कहते हैं। पहले की अपेक्षा से उसे विनष्ट कहते हैं, उसके बाद अर्थात् जो यह (लक्ष्य में लिया हुआ) प्रदेश है (उसे) पूर्व की अपेक्षा से विनष्ट कहा, उसकी बाद का अर्थात् यही उत्पन्न (कहा) इसकी अपेक्षा से उत्पन्न कहा। समझ में आया कुछ ? उसके बाद का अर्थात् कि जो उत्पन्न है, उसके बाद का – ऐसा नहीं / सूक्ष्म है। आहा...हा... !

(दृष्टान्तरूप से) माला लो न माला ! (इसमें) एक सौ आठ (मोती) हैं। इसी प्रकार आत्मा असंख्यप्रदेशी है। वे एक सौ आठ हैं। अब यह जो प्रदेश है – यह पहला (मोती) जो है, वह बाद की अपेक्षा से विनष्ट है अर्थात् अभावस्वरूप है और वह विनष्ट है, उसके बाद का है, इस अपेक्षा से उत्पन्न है। दूसरे की अपेक्षा से यह प्रदेश विनष्ट था, वही प्रदेश बाद के प्रदेश की अपेक्षा से उत्पन्न है। जिससे अभावस्वरूप कहा था, उससे यह दूसरा अलग अर्थात् यही स्वयं उत्पन्न अपेक्षा से उसे उत्पन्न कहते हैं। समझ में आया कुछ ? ऐ.. हिम्मतभाई !

एक-एक प्रदेश जो हैं, उनमें से कोई भी एक लो, यह है, देखो ! यह प्रदेश यहाँ है इसकी अपेक्षा से विनष्ट है, इसकी अपेक्षा से भावरूप नहीं हुआ और इसके बाद अर्थात् इसके बाद यह, इसके यह, इसके बाद अर्थात् उत्पन्न होनेवाला है, उसके बाद ऐसा नहीं; जिसकी अपेक्षा से विनष्ट कहा था, उसी विनष्ट की अपेक्षा से-पर की अपेक्षा से उत्पन्न है। भाई ! समझ में आता है ?

यह चार अंगुली हैं, देखो ! यह (लम्बी) अंगुली इसकी (पहली अंगुली की) अपेक्षा से विनष्ट है और इसके बाद की (लम्बी अंगुली के बाद की अंगुली की) अपेक्षा से वह उत्पन्न है। इसके बाद की अपेक्षा से वह उत्पन्न है। समझ में आता है ? अब अंगुली पर तो

लिया। इसकी (– पहली अंगुली की) अपेक्षा से वह विनष्ट है और इसके बाद की लम्बी अंगुली के बाद की (अंगुली की) अपेक्षा से वह उत्पन्न है। कुछ समझ में आता है?

प्रश्न : एक की एक उत्पन्न और एक की एक विनष्ट?

समाधान : एक-एक को तीन – उत्पाद-व्यय-ध्रुव। एक को तीन लागू करना है। आहा...हा...!

फिर से – जैसे यह पाँच अंगुलियाँ हैं, उसी प्रकार इस (आत्मा में) असंख्य प्रदेश हैं। आकाश में अनन्त हैं। जैसे यह पाँच अंगुलियाँ हैं, उनमें इसे (लम्बी अंगुली को) जब लेते हैं, तब इसकी (पहली अंगुली की) अपेक्षा से वह विनष्टस्वरूप है और उसके बाद की अर्थात् इस (लम्बी अंगुली) के बाद की इस (अंगुली की अपेक्षा से) उत्पन्न कहते हैं। आहा...हा...! कुछ समझ में आता है? इसी प्रकार प्रत्येक प्रदेश को पूर्व की अपेक्षा से व्यय, इसकी बाद की अपेक्षा से उत्पन्न और है... है... है... है... अपेक्षा से ध्रुव कहते हैं। आहा...हा...! क्या शास्त्र की शैली है!

रात्रि में जरा कहा था न? प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्य समयसार में आता है – प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्य। प्रत्येक पदार्थ को उस समय जो पर्याय होनी है... हमने यह प्रदेश कहे, अब हमने परिणाम में लें, उसके बाद का अर्थात् पहले प्रदेश के बाद का अर्थात् जिसका यहाँ लक्ष्य किया वह; **उसके बाद के प्रदेश के उत्पादस्वरूप है तथा वही परस्पर अनुस्यूति से...** (अर्थात्) किसी की अपेक्षा नहीं (मात्र) है... है... है... है... है... है... है... है... इससे। **एक वास्तुपने द्वारा अनुभयस्वरूप है (अर्थात् दो में से एक भी स्वरूप नहीं है।)...** यह प्रदेश का दृष्टान्त कहा। अब परिणाम की बात करते हैं।

उसी प्रकार प्रवाह का जो छोटे से छोटा अंश... अर्थात् कि जिस समय में पर्याय होती है – जिस समय जो परिणाम होता है, उस हुए परिणाम को अंश कहते हैं। उसे पूर्व परिणाम की अपेक्षा से उस अंश को विनष्ट कहते हैं और उस (उसके बाद के अंश की) अपेक्षा से उसे उत्पन्न कहते हैं और उसे ही यह है... यह है... यह है... यह है... उसे ध्रुव भी कहते हैं।

प्रश्न : एक के तीन नाम?

समाधान : एक के तीन! (समयससार की गाथा) ७६ में भी एक के तीन नाम आये हैं न? प्राप्त, विकार्य और निर्वृत्य। ७६ गाथा में, भाई! जो पर्याय प्रगट हुई, वह ध्रुव है... ध्रुव है...। ध्रुव अर्थात् होनी है, वह हुई है, वह काल उसका ध्रुव है, इस अपेक्षा से वहाँ प्राप्य कहा।

कहाँ गये थे? आज तो खरेखर (वास्तव में) गया, खरा था और गया। आहा...हा...!

अत्यन्त नया है। समझ में आया कुछ ? प्रदेश का तो गया। अब परिणाम पर लेते हैं। जीव के परिणाम जो हैं, जिस समय जो होनेवाले हैं, वह परिणाम पूर्व के परिणाम की अपेक्षा से विनष्ट है और उसके बाद की अपेक्षा से उत्पन्न है 'उसके बाद की' अर्थात् पूर्व की अपेक्षा से जिसे विनष्ट कहा था, उस पूर्व की अपेक्षा से बाद का वह उत्पन्न। आहा...हा... ! झांझरीजी ! ऐसा सूक्ष्म है। धीमे... धीमे... (कहा जाता है) बापा ! यह तो वीतराग मार्ग है। आहा...हा... !

जैसे यह असंख्य प्रदेश हैं, इनका अन्तिम एक अंश तो छोटे से छोटा है, वह प्रदेश पूर्व के प्रदेश की अपेक्षा से तो अभावस्वरूप-विनष्टस्वरूप है परन्तु उसके बाद की अपेक्षा से उत्पन्न है। उसके बाद की अर्थात् ? पूर्व का जो (विनष्ट कहा) था, उसके बाद की अपेक्षा से वह उत्पन्न है और है... है... है... है... है... है... इस अपेक्षा से ध्रुव है।

जैसे (समयसार की) ७६ गाथा में प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य कहा है। आहा...हा... ! ७६ गाथा में क्या कहा ? कि जिस समय जो पर्याय होनी है, द्रव्य की - आत्मा की अथवा जड़ की; वह पर्याय ध्रुव है। ध्रुव अर्थात् 'है' उसे कोई अपेक्षा नहीं है। आहा...हा... ! 'है' अब उसी पर्याय को पूर्व के परिणाम की अपेक्षा से विकार्य कहा। पूर्व (पर्याय का) अभाव है, इस अपेक्षा से उसी पर्याय को विकार्य कहा। पहले प्राप्य कहा था। उसी परिणाम को पूर्व की अपेक्षा से विकार्य अर्थात् बदलकर हुआ - ऐसा कहा और उसी की उसी पर्याय को उपन्न हुआ है, इस अपेक्षा से उसे निर्वत्य कहते हैं। इस प्रकार प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य है। अब ऐसी बातें हैं। ७६, ७७, ७८, ७९ चार गाथाओं में आती है। आहा...हा... !

प्रत्येक द्रव्य को उस समय का परिणाम ध्रुव अर्थात् उस समय ही होना था, वह हुआ है, इसलिए (उसे प्राप्य कहा)। ध्रुव अर्थात् त्रिकाली ध्रुव नहीं, यह तो वहाँ निश्चय 'है'। आहा...हा... ! वह परिणाम उस समय वहाँ 'है', उसकी अपेक्षा से प्राप्य-ध्रुव कहते हैं और पूर्व की अपेक्षा से बदलकर हुआ इसलिए विकार्य कहते हैं। उत्पन्न हुआ है, इस अपेक्षा से पर की अपेक्षा जहाँ नहीं आयी, उत्पन्न हुआ है इस अपेक्षा से निर्वर्त्य कहते हैं। आहा...हा... ! अब यहाँ चन्द्रकान्तभाई ! वहाँ मुम्बई में कुछ नहीं मिलता व्यर्थ है। आहा...हा... !

इसी प्रकार जिस समय आत्मा के जो परिणाम होनेवाले हैं, वे होते हैं, वह उनका अवसर ही है। आगे-पीछे नहीं, परन्तु उस परिणाम की तीन अपेक्षा है — पूर्व परिणाम की अपेक्षा से व्यय कहते हैं-विनष्ट कहते हैं; उसे ही पूर्व की अपेक्षा से उसके बाद का कहकर उत्पन्न कहते हैं - उसके बाद का कहकर उत्पन्न कहते हैं ! और उसे ही पूर्व की अपेक्षा से और उसके बाद की (ऐसी) दो अपेक्षा छोड़कर (मात्र) 'है' (इस अपेक्षा से) उसे ध्रुव

कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

प्रश्न : एक के तीन?

समाधान : एक के तीन! इसमें समझ में आता है। है न, है न? त्रिकाली ध्रुव है, उसे एक ओर रखो। यहाँ तो वर्तमान परिणाम उत्पन्न होता है, वह तो उसी समय होता है, आगे-पीछे नहीं। क्रमबद्ध! यदि इस एक क्रमबद्ध को समझे तो सब फैसला (हो जाता है)। यह हम गजरथ चलाते हैं और यह इन्द्र हुए और यह हम दो हाथी में बैठे और पाँच लाख दिये... कौन दे-कौन ले? सुन! आहा...हा...! अपने आप हह पर्याय हुई है, किसी ने पैसा दिया है, इसलिए हुई है - ऐसा नहीं है, बापू! आहा...हा...! समझ में आया कुछ?

जड़ के परिणाम लो... आहा...हा...! यह पर्याय उत्पन्न हुई, इससे पूर्व की अपेक्षा से इसे विनष्ट कहते हैं और इस विनष्ट की अपेक्षा से इसके बाद की यह स्वयं उसे उत्पन्न कहते हैं, तत्पश्चात् अर्थात् पूर्व की अपेक्षा से बाद की, वह तत्पश्चात् और उस काल में है; पर के कारण अभाव और अपने के कारण उत्पन्न ऐसी कोई अपेक्षा नहीं 'है' (उसे) ध्रुव कहते हैं। आहा...हा...! ऐसा क्रमबद्ध है। आहा...हा...!

परमाणु में भी जो पर्याय जिस समय (होनी है, वह होगी।) भगवान की प्रतिमा भी जिस समय जिस प्रतिष्ठा की पर्याय होनी है, उस समय वह पर्याय हुई, उसके पूर्व में नहीं थी इस अपेक्षा से विनष्ट कहते हैं और विनष्ट की अपेक्षा से बाद की अर्थात् वही पर्याय-हुई वह, उसके उत्पन्न कहते हैं और उसे पूर्व की और उत्पन्न - ऐसी अपेक्षा न लो तो 'है' वह ध्रुव है। आहा...हा...! कुछ समझ में आता है? भाई! ऐसा सब कलकत्ता में भी नहीं है और कहीं नहीं है (सर्वत्र थोथा-थोथा है।) पैसा मिले ऐसा देखे; पैसा (इसे) मिलता है, इससे यहाँ इनकार करते हैं। वह पैसे की पर्याय जिस समय यहाँ आनी है, उस समय उसका अवसर है। पूर्व की अपेक्षा से उस पर्याय को विनष्ट-व्यय कहते हैं और उसके बाद की अपेक्षा से उसे उत्पन्न कहते हैं, और उसकी पर्याय है... है... है... है... है... इस अपेक्षा से उसे ध्रुव कहते हैं। ऐसा है, प्रभु! क्या हो? यह कोई भगवान ने किया हुआ नहीं है।

भगवान तो ऐसा कहते हैं कि दिव्यध्वनि की जो भाषा की पर्याय हुई, उस समय उस पर्याय का अवसर था वह हुई; आत्मा ने नहीं की। उस पर्याय को पूर्व की अपेक्षा से (अर्थात्) भाषा (वर्गणा) की अपेक्षा लें, अभी भाषा नहीं थी - ऐसी वर्गणा की अपेक्षा लें तो विनष्ट है और वर्गणा की बाद की यह (पर्याय) कहलाती है, इसके बाद की अपेक्षा से उसे उत्पन्न कहते हैं और वह भाषावर्गणा की पर्याय है... है... है... है... है... उसे ध्रुव कहते हैं।

आहा...हा... ! धीमे-धीमे तो कहा जाता है, बापू ! ऐसा है। अरे... रे... ! आहा...हा... !

जैसे ध्रुव को - इस त्रिकाली ध्रुव को किसी की अपेक्षा नहीं है; इसी प्रकार एक समय की पर्याय जो जड़ में अथवा चैतन्य में होती है... आहा...हा... ! उस अवसर में-उस समय की जो पर्याय होती है, उसे पूर्व की अपेक्षा से भले ही व्यय कहो और उसके बाद की अपेक्षा से उत्पाद कहो परन्तु 'है' की अपेक्षा से उसे ध्रुव कहते हैं। आहा...हा... ! उस काल की वह पर्याय 'है' आहा...हा... ! (समयसार की) ७६, ७७, ७८ (गाथा में) यही कहा है। ऐसी बात... आहा...हा... ! दिगम्बर सन्त बहुत सादी भाषा में रखते हैं परन्तु समझना पड़ेगा न ? बापू ! यह तुमने कहा और यह पढ़ना बाकी है, यह आया। यह समझ में आता है कुछ ? आहा...हा... !

यदि यह समझे तो इसकी पर के कर्तापन की बुद्धि तो उड़ जाये परन्तु अपनी होनेवाली पर्याय 'कर्ता हूँ' यह बुद्धि भी उड़ जाये। आहा...हा... ! गजब बात है, भाई ! भगवान के श्रीमुख से निकली हुई दिव्यध्वनि ! इस दिव्यध्वनि की पर्याय भी, कहते हैं कि उस समय उत्पन्न होनेवाली, परन्तु पहले नहीं थी इस अपेक्षा से व्यय कहते हैं और उसके बाद की अपेक्षा से उसे उत्पाद कहते हैं परन्तु भाषा है... है... (इस अपेक्षा से ध्रुव कहते हैं।) इस पुद्गल में किसी समय पर्याय न हो - ऐसा तो नहीं है। ऐसे प्रत्येक में है... है... है... है... है... है... इससे एक-एक पर्याय में तीनपना लागू पड़ता है। आहा...हा... ! समझ में आता है ? सारा उत्पाद-व्यय-ध्रुव (स्वरूप है)। त्रिकाली पर दृष्टि जाये तब यह उत्पाद, उत्पाद के स्थान में उत्पाद पर की अपेक्षा से बाद का कहा है और है... है... (इस अपेक्षा से ध्रुव है।) इसका निर्णय (यथार्थ होता है) आहा...हा... ! इसका अकर्तापने का निर्णय तब होता है। 'है' उसे करूँ क्या ? ध्रुव है-प्राप्य है, उसे करूँ क्या ? आहा...हा... ! अपनी (पर्याय), हाँ ! पर की तो बात भी क्या करना ? आहा...हा... ! पर की दया पालना और पैसा देना और पैसा लेना... आहा...हा... ! वह पर्याय तो तेरे कर्तापने की नहीं, उसमें तेरा कोई अधिकार नहीं। आहा...हा... !

मुनिराज सच्चे सन्त हों, उन्हें आहार देते समय कहते हैं वह आहार की पर्याय वहाँ उस प्रकार की उत्पन्न होने की थी, वह हुई। पूर्व की अपेक्षा से उसे विनष्ट कहते हैं, उसके बाद होने की अपेक्षा से उसे उत्पाद कहते हैं; है... है... उसे ध्रुव (कहते हैं) देनेवाला कहता है कि मैंने आहार-पानी दिया - यह बात उसमें नहीं रहती। आहा...हा... !

प्रश्न : सबको पंगु बना दिया ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सबको पुरुषार्थवाला बना दिया, आहा...हा...! वीर्यवाला बनाया! (मैं) मेरी पर्याय का कर्ता नहीं, ऐसा मेरा वीर्य है। आहा...हा...! कुछ समझ में आता है ?

मैं ज्ञाता हूँ - यह महावीर्य है - महापुरुषार्थ है। आहा...हा...! कुछ समझ में आता है? ऐसी बातें! इसमें वाद-विवाद करने से कहाँ पार पड़े ऐसा है, बापू! आहा...हा...! वस्तुस्थिति...! आहा...हा...!

सब ऐसा कहते हैं कि कानजीस्वामी यहाँ आये तब यह सब हुआ... यह बात झूठ है। कहते हैं यहाँ भैंसे बैठती थी, उसमें करोड़ों रुपये लग गये, महाराज आये इसलिए यह सब हुआ। नहीं... नहीं... भाई! ऐसा नहीं है बापू! इन परमाणुओं की क्रमशः स्व-अवसर में होने की पर्याय यहाँ हुई है। आहा...हा...! उस पर्याय को तीनपना लागू पड़ता है। उसे पूर्व की अपेक्षा से व्यय लागू पड़ता है, व्यय की बाद की अपेक्षा से उसे उत्पाद लागू पड़ता है और व्यय उत्पन्न दोनों की अपेक्षा जहाँ है ही नहीं; है... है... है... उस काल में वह पर्याय... उस काल में वह पर्याय... उस काल में वह पर्याय... है। आहा...हा...! 'है' की अपेक्षा से एक-एक पर्याय में तीनपना लागू पड़ता है, बापू! आहा...हा...!

यह तो (समयसार की गाथा) ३२० में आया न? भाई! सर्वविशुद्ध अधिकार! क्रमनियमित सिद्ध करने पर वहाँ तो मोक्ष की पर्याय और निर्जरा की पर्याय को भी जानता है - ऐसा कहा है। भले ही जानता है, वह पर्याय ही उस काल में होनी थी। आहा...हा...! दूसरी बात है। जानता है, वह पर्याय भी उस काल में होनी थी और उस काल में होनी थी, वह उत्पाद है, पहले की अपेक्षा से व्यय है और है... है... है... इस अपेक्षा से ध्रुव है परन्तु उस ज्ञान में जानने का रखा। वह ज्ञान की पर्याय करूँ - ऐसा भी नहीं। आहा...हा...! ज्ञातापना और दृष्टापना सहज हो जाता है। कुछ समझ में आया? ऐसी वस्तु की स्थिति है। आहा...हा...! भगवान तीन लोक के नाथ ने दिव्यध्वनि द्वारा यह कहा, वह सन्तों ने यह शास्त्र रचकर समझाया। आहा...हा...! ऐसा है! (इस भाई ने) दो लाख दिये हैं इसलिए वहाँ मकान होगा - ऐसा नहीं है। (यहाँ पर) इनकार करते हैं। आहा...हा...! अद्भुत बात!

(यहाँ पर कहते हैं कि) **इसी प्रकार प्रवाह का जो छोटे से छोटा अंश...** अब पर्याय पर लिया है न? प्रवाह अर्थात् एक के बाद एक। प्रत्येक द्रव्य में जो पर्याय होती है, वह एक के बाद एक (होती है) अर्थात् जो होनी है, वह एक के बाद एक (होनी है ऐसा कहना है) ऐसा नहीं है कि एक के बाद एक अर्थात् पहली कुछ और दूसरी कुछ भी हो जाये - ऐसा नहीं है। दिगम्बर के अग्रेसर (प्रमुख) के साथ इस बात में विवाद था न? अब मेल किसके साथ करना? यह कहते हैं क्रमबद्ध है ऐसा नहीं है। एक के बाद एक अवश्य होती है परन्तु इसके बाद यही होगी (- ऐसा नहीं है)। यहाँ तो कहते हैं कि पूर्व की जो अवस्था हुई, उसके बाद की जो

होनेवाली है, वही होती है। आहा...हा... ! थोड़े भी सत्य को बराबर समझना चाहिए। आहा...हा... !

इसी प्रकार (अर्थात् जैसे) प्रदेश का कहा था, **इसी प्रकार प्रवाह का जो छोटे से छोटा अंश...** द्रव्य में जो पर्याय आयत (अर्थात्) ऐसी लम्बी होती है – एक के बाद एक, एक के बाद एक... उसका वर्तमान छोटे से छोटा अंश वह **पूर्व परिणाम के विनाशस्वरूप है...** (अर्थात्) पूर्व परिणामस्वरूप से नहीं है, उस रूप से उसे व्यय कहते हैं। **वही उसके बाद के...** उसके बाद के अर्थात् जो विनाशस्वरूप है – इससे पहले जो था, उसकी अपेक्षा से इसे विनाशस्वरूप कहते हैं और जो विनाशस्वरूप कहा, उसके बाद की अवस्था को उत्पन्न कहते हैं। जिसे पूर्व की अपेक्षा से विनष्ट कहा था, उसे ही बाद की अपेक्षा से उत्पन्न कहते हैं। आहा...हा... ! कुछ समझ में आता है ? नहीं समझ में आवे तो रात्रि में प्रश्न करना। यह तो सूक्ष्म है, बापू ! आहा...हा... ! बाप-दादाओं ने कहीं नहीं सुना था। आहा...हा... !

जिस द्रव्य की जिस समय में पर्याय होती है, वह होनी है, वह होती ही है; वही होती है, दूसरी नहीं। बाद की पर्याय भी वही होती है, दूसरी नहीं। उसके पहले भी जो पर्याय थी, वही थी और वही होती है, दूसरी नहीं। परन्तु पूर्व की अपेक्षा से वर्तमान परिणाम को व्यय कहते हैं और उसके बाद की स्वयं है, इसलिए उसे उत्पन्न कहते हैं और बाद का और पहले का छोड़ दो तो उसे ध्रुव – अनुभय कहा; उत्पाद-व्यय नहीं, 'है'। आहा...हा... ! इसमें बड़ा विसंवाद-विवाद ! वर्णीजी (पत्रिकाओं में) लिखते हैं, सोनगढ़ का साहित्य संसार में डुबो देगा। भगवान ! बापू ! इस बात को... भाई !

श्रोता : अज्ञान को डुबो देगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : डुबो देगा, मैं ऐसा ही कहनेवाला था। अज्ञान को नाश कर देगा, यह ऐसी बात है ! आहा...हा... ! अज्ञान नहीं टिकेगा ! आहा...हा... ! मिथ्यात्व का अंश नहीं टिकेगा, आहा...हा... ! ***पर की पर्याय करना माने, (वह भी) मिथ्यात्वभाव है और अपनी भी राग की क्रिया (करना माने) तो मिथ्यात्वभाव होता है। अरे...! निर्मल पर्याय भी करूँ; होनेवाली है उसे मैं करूँ (यह भी मिथ्यात्वभाव है)। जिस समय होनेवाली है उसी समय होनेवाली है, उसके बदले मैं करूँ यह वहाँ कहाँ रहा ? आहा...हा...!*** कहो, समझ में आता है ? ऐसी सूक्ष्म बात है, ऐसा है, क्या हो ? आहा...हा... !

सत् यही है, भाई ! भगवान का कहा हुआ और वस्तु का स्वरूप-सत् ऐसा ही है। इसमें कहीं सन्देह को स्थान नहीं है। पर्याय आगे-पीछे नहीं होती (इस बात में) भी सन्देह को स्थान नहीं है। आगे-पीछे की व्याख्या क्या ? प्रभु ! इस जगह यह पर्याय होनी थी, वह नहीं हुई,

अर्थात् क्या ? यह पर्याय पच्चीसवें समय हुई अर्थात् क्या ? पच्चीसवें समय होनेवाली थी, वह नहीं हुई, यह हुई अर्थात् क्या ? कहीं भी मेल कहाँ है ? आहा...हा... ! इन युवाओं को थोड़ा कठिन पड़े ऐसा है। आहा...हा... ! हमारे झांझरीजी और इन सबको समझ में आये ऐसा है, अभ्यासी हैं ये सब।

इसी प्रकार प्रवाह का जो छोटे से छोटा अंश... अर्थात् एक वर्तमान अंश। (वह) पूर्व परिणाम की अपेक्षा से विनाशस्वरूप है। आहा...हा... ! **वही उसके बाद के...** अर्थात् ? पूर्व का परिणाम है, उसकी अपेक्षा से उसके बाद का हुआ। **उसके बाद के परिणाम के उत्पादस्वरूप है...** आहा...हा... ! **तथा वही...** (अर्थात्) वही पर्याय-उसी प्रवाहक्रम में आयी हुई पर्याय **परस्पर अनुस्यूति से रचित...** अर्थात् जो स्वयं धारावाही है... है... है... है... है... है... है... जैसे मोती की माला में धागा धारावाही है। है... है... है... मोती... मोती... मोती... वह प्रत्येक को है... है... है... लागू करता है। आहा...हा... !

वही परस्पर अनुस्यूति से रचित एक प्रवाहपने द्वारा... एक प्रवाह है। आहा...हा... ! चैतन्य में और परमाणु में एक प्रवाहरूप से क्रमसर... क्रमसर... क्रमसर... एक प्रवाह क्रम... क्रम से हुआ ही करता है। इस अपेक्षा से लें तो कहते हैं कि उत्पाद और व्यय नहीं कहलाते, उसे ध्रुव कहा जाता है। 'है' ऐसा कहा जाता है। आहा...हा... ! ऐसा सूक्ष्म कहा होगा ! ? कुन्दकुन्दाचार्य लेकर के आये और अमृतचन्द्राचार्य ने उसकी टीका की। आहा...हा... ! ऐसा बहुत सूक्ष्म है, इसलिए (नहीं समझ में आ सकता - ऐसा नहीं है) सूक्ष्म नहीं है, भाई ! इसे अभ्यास नहीं है और जहाँ-तहाँ मैं करूँ... यह शरीर चलता है तो मैं चलाता हूँ, बोलता है तो मैं स्वाहा - भगवान की पूजा में स्वाहा बोली जाती है तो स्वाहा की भाषा भी मेरी और यह अँगुलियाँ हिलती हैं वह भी मुझसे; जहाँ-तहाँ ऐसी बुद्धि पड़ी है। आहा...हा... !

प्रश्न : अँगुलियाँ किसकी है ?

समाधान : अँगुलियाँ जड़ की और जड़ की अवस्था होती है वह जड़ के कारण होती है और वह अवस्था उस समय वही होनी थी। आहा...हा... !

सूक्ष्म है, सूक्ष्म ! आहा...हा... ! यह तो मूल मक्खन है बापू ! परमात्मा के द्वारा कहा गया सत् (यह है)। उत्पाद उस समय का वही, उसी समय का (उत्पाद) आहा...हा... ! इसके बदले (ऐसा मानना कि) मकान बनाता हूँ... आहा...हा... ! इसमें हम रहेंगे, स्त्री-पुत्रादिक को भी वहाँ ठीक रहेगा। अरे...रे... ! आहा...हा... ! भ्रम... भ्रम... भ्रम... !

प्रश्न : सभी साधु हो जायेंगे तो त्यागियों को खाने के लिए कौन देगा?

समाधान : उस समय भी खाने की पर्याय (जो आनी है, वह आयेगी) यह प्रश्न (संवत्) १९७८ (के साल में) हुआ था। 'चूड़ा' में... चूड़ा में! ७८ की साल! वहाँ भी (व्याख्यान में) बहुत लोग थे। बाहर एक पुलिसवाला बैठा था (व्याख्यान) पूरा होने के बाद कहने लगा – महाराज! आप त्याग की ऐसी बहुत बात करते हो, तो सब त्यागी हो जायेंगे तो उन्हें आहार कौन देगा? पुलिसवाले ने ऐसा प्रश्न किया था। संवत् ७८ के साल की बात है। कितने वर्ष हुए? ५७! बापू! कौन देगा यह प्रश्न अभी है ही नहीं। उस काल में होनेवाली पर्याय होती है, वह देगा, अर्थात् होगी। मैंने तो दूसरा जबाव दिया था कि एक व्यक्ति लखपति है और पच्चीस लाख (इकट्ठा करना) चाहता है। इसीलिए वह यह विचार करता है मैं पच्चीस लाख इकट्ठे करूँगा तो फिर बर्तन माँजनेवाला कौन रहेगा? मेरा पकानेवाला कौन रहेगा? यह लकड़ियाँ लानेवाला कौन रहेगा? – ऐसा विचार करता है? उस समय यह तो ७८ की बात है! चूड़ा में! आहा...हा...!

ओ...हो...! लोग साधारणरूप से पढ़ जाते हैं, उन्हें ऐसा हो जाता है कि अपने को सच्चा ज्ञान हुआ। बहुत कठिन बात है, भाई! ज्ञान आत्मा का होना चाहिए। आत्मा का ज्ञान कब होता है? कि उसकी जो पर्याय जिस समय होनी है, उस पर्याय में तीन बात लागू पड़ती है, पूर्व की अपेक्षा से विनष्ट, उसके बाद की अपेक्षा से उत्पन्न है... है... है..., अपेक्षा से ध्रुव! ऐसी पर्याय का जहाँ निर्णय करता है, वहाँ वह ज्ञाता-दृष्टा होता है। तब वह वर्तमान होनेवाली पर्याय का भी कर्ता नहीं होता, कारण कि उसमें एक भाव नाम का गुण है, अनन्त गुणों में भाव (गुण का) रूप है, इसीलिए उस समय में वह पर्याय होनी हो, वह होती ही है। यह करू तो होती है, वरना नहीं होती – ऐसा नहीं है। आहा...हा...! ठीक हसमुखभाई आ गये हैं आज। ऐसा फिर बारम्बार नहीं आता। यह तो सामने पुस्तक में आया हो उसका अर्थ होता है न? आहा...हा...! इन्दौर में यहाँ का विरोध (करने के लिए) पचास पण्डित इकट्ठे हुए थे। (उसमें ऐसा कहा कि) पर का नहीं करे वह दिगम्बर नहीं है। अर.र.र.! अरे! प्रभु... प्रभु... प्रभु...!

यहाँ तो (कहते हैं कि) पर का तो नहीं करता परन्तु अपनी पर्याय को भी नहीं करता। होती है, उसे करे यह बात कहाँ है? समझ में आया? आहा...हा...! परन्तु यह था नहीं, हाँ! था नहीं इसलिए फिर क्या करे? स्थानकवासी, श्वेताम्बर में तो यह बात ही नहीं है, उनमें तो सब जैनपने से विरुद्ध बातें हैं। आहा...हा...! यह तो दिगम्बरों में भी गड़बड़ खड़ी हुई है! ऐसा सत्य! पुकार करके कथन किया है, ऐसा प्रसिद्ध किया है, उसे यह कहना कि

नहीं, हम करें तो होता है और नहीं करें तो नहीं होता है; पर का भी हमें करें तो होता है, वरना नहीं होता। अरे! आत्मा में भी पर्याय करूँ तो होती है और वरना नहीं होती – ऐसा नहीं है। सुन भाई! प्रभु तू तो ज्ञानस्वरूप है न! ज्ञान की पर्याय भी होनेवाली हो, उस काल में होती ही है परन्तु उसकी प्रधानता लेकर दूसरी पर्याय को करूँ – ऐसा नहीं है। दूसरी होती है, उसे जाननेवाला वहाँ इसे खड़ा रखते हैं। आहा...हा...!

उसके बाद के परिणाम के उत्पाद... यह परिणाम की-पर्याय की बात है। (वह) **उत्पादस्वरूप है तथा वही परस्पर अनुस्यूति से रचित...** धारावाही... धारावाही... है... है... है... इससे एक प्रवाहपना है। है... है... का एक प्रवाहपना है। उसके **द्वारा अनुभय स्वरूप है।...** (अर्थात्) उस व्यय और उत्पादस्वरूप नहीं है, इसलिए ध्रुवस्वरूप है। आहा...हा...! इन तीन-चार पंक्तियों में तो इतना अधिक भरा है लो! आहा...हा...!

वस्तु है या नहीं ? है तो उसके तीन अंश पड़ते हैं या नहीं ? तीन अंश पड़ते हैं, वे तीन अंश अपने-अपने समय में अपने-अपने से हैं या नहीं ? अर्थात् 'है' वह ध्रुव है। पूर्व की अपेक्षा से उसे विनष्ट कहते हैं और पूर्व की अपेक्षा से जो विनष्ट कहा था, उस पूर्व के बाद की यह पर्याय स्वयं है। उसके बाद की यह पर्याय है, उसे उत्पन्न कहते हैं। आहा...हा...!

'क्रमबद्ध में एकान्त हो जाता है' इस प्रकार लोग चिल्लाते हैं। अब यहाँ तो पर का तो करे नहीं परन्तु बापू! भाई! क्या करें ? आहा...हा...! तेरी पर्याय भी उस काल में होनी है, उस अवसर में वह होती ही है। आहा...हा...! उसे भी तीन अपेक्षा लागू करके और उसे प्राप्य कहकर ध्रुव कहा, आहा...हा...! इस प्रवचनसार में ऐसा कहा। समयसार में प्राप्य, विकार्य और निर्वृत्य कहा। आहा...हा...! एक ही पर्याय में तीन (बातें लागू पड़ती हैं)। अर्थ किया था कि प्राप्य अर्थात् ध्रुव अर्थात् उस समय वह है। आहा...हा...! इस प्रकार प्रत्येक में है... है... है... है... है... है... है... है... एक प्रवाहरूप है... है... है... आहा...हा...! ***ऐसा निर्णय करने जाये, उसे पर का कर्तापना तो उड़ जाये परन्तु राग का और पर का कर्तापना भी उड़ जाता है। आहा...हा...! ज्ञातापना हो, वह जाननेवाला हो जाता है। जाननेवाला हुआ वह उस काल में केवलज्ञान को प्राप्त करेगा। आहा...हा...! उसके क्रमबद्ध में अल्प काल में केवलज्ञान होना है, आहा...हा...! ऐसी बात है।***

इस प्रकार स्वभाव से ही... देखा!? **स्वभाव से ही त्रिलक्षण परिणामपद्धति में...** देखो! है ? **त्रिलक्षण परिणामपद्धति...** एक परिणाम में तीन प्रकार का लक्षण है। उत्पाद-

व्यय और ध्रुव। आहा...हा... ! यह कोई कहानी नहीं है, प्रभु ! आहा...हा... ! यह तो वस्तु की स्थिति परमात्मा, अनन्त तीर्थङ्कर, अनन्त केवली, अनन्त सन्त, अनन्त मुनियों ने इस प्रकार जानकर अनुभव किया है। आहा...हा... ! उनके संसार का अन्त आ गया। वह अन्त का समय था परन्तु जब (आत्मा का) ज्ञान और आनन्द प्रगट हुआ, उसे अल्प समय में संसार का अन्त आ जाता है, उसे भव का अन्त आ जाता है।

इस प्रकार स्वभाव से ही... स्वभाव से ही (कहा है)। (अर्थात्) एक परिणाम में तीन लक्षणपना हैं, वह स्वभाव से ही है। आहा...हा... ! **त्रिलक्षण परिणाम...** त्रिलक्षण परिणाम कहा न ? त्रिलक्षणवाली परिणामपद्धति। (परिणामों की परम्परा) पद्धति अर्थात् परिणामों की परम्परा। आहा...हा... ! अरे ! एक बार मध्यस्थ होकर सुने तो सही ! बापू ! किसका विरोध करता है ? भाई !

इस प्रकार स्वभाव से ही त्रिलक्षण परिणामपद्धति में (परिणामों की परम्परा में) प्रवर्तमान द्रव्य... है ? अब तीन में वर्तता द्रव्य, **स्वभाव का अतिक्रम नहीं करता...** ऐसा जो त्रिलक्षण परिणामपद्धति में प्रवर्तमान द्रव्य, स्वभाव को नहीं छोड़ता हुआ, आहा...हा... ! उस स्वभाव का उल्लंघन नहीं करता। समझ में आया ?

सत्व को त्रिलक्षण ही अनुमोदना चाहिए... सत्व अर्थात् यहाँ द्रव्य लेना। सत्व अर्थात् सत्‌पना अर्थात् द्रव्य। पहले परिणामों का त्रिपना था, अब यहाँ कहते हैं कि द्रव्य को **त्रिलक्षण ही अनुमोदना चाहिए...** यहाँ अब द्रव्य लिया। आहा...हा... ! इसलिए द्रव्य को **त्रिलक्षण ही अनुमोदना चाहिए...** आहा...हा... ! अनुमोदना का अर्थ किया है – इस प्रकार जब त्रिलक्षणवाला द्रव्य स्वभाव है – ऐसी द्रव्य दृष्टि होती है, उसे आनन्द से मान्य रखना, अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन से उसे मान्य रखना। आहा...हा... !

विशेष कहा जायेगा... ! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

१७

श्री समयसार, गाथा ३२८-३३१, प्रवचन ३९६
दिनांक - २९-५-१९८०

भावार्थ। चार गाथायें हैं न? ३२८ से ३३१, उनका भावार्थ। यहाँ पृष्ठ ४९१ है न? **भावकर्म का कर्ता जीव ही है।** क्या कहते हैं? - कि जो कुछ यह पुण्य और पाप; दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध विकल्प होते हैं, वे आत्मा की पर्याय में स्वतन्त्र होते हैं। वह पर्याय स्वतन्त्र कर्ता होकर करती है। इससे भावकर्म का कर्ता जीव ही है। यहाँ जीव सिद्ध करना है। आहाहा! **इन गाथाओं में यह सिद्ध किया है.. यहाँ यह जानना चाहिए कि—परमार्थ से अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के भाव का कर्ता नहीं होता...** प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है-बदलते स्वभाववाला है तो दूसरा उसे बदलावे - ऐसा होता नहीं।

मुमुक्षु : मदद तो करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी मदद करे नहीं। वह पदार्थ अस्ति हे या नहीं? और है तो उसमें उत्पाद-व्यय ऐसी पर्याय का धर्म है या नहीं? और उत्पाद-व्यय का पर्याय का धर्म उस-उस समय स्वयं से होता है। अभी तो विकार जीव का है, ऐसा सिद्ध करना है; वरना वास्तव में तो जैसे दीपक है, दीपक... यह आ गया अपने, दीपक के पास चाहे जितनी घट-पट दूसरी चीज़ें हों, वह घट को जानता नहीं वास्तव में! वह तो दीपक का प्रकाश स्वयं का है, उसे प्रकाशता है। उस-उस चीज़ को वह प्रकाशता है, ऐसा प्रकाशकपने का स्वभाव उसका और स्वयं का है, उसे वह जानता है, ऐसा है। वास्तविक स्वरूप तो यह है।

यह तो अभी भावकर्म पर्याय में दूसरे के कारण होता है, (ऐसा) माने, वह झूठ है। भावकर्म होता है अपनी पर्याय में, परन्तु धर्मी को जैसे दीपक के आगे चाहे जो चीज़ें आवें-जायें, उन्हें वह दीपक करता नहीं है; वैसे वे चाहे जितनी आये-जायें, उनका दीपक का प्रकाश, वह करता नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

इसी प्रकार यह चैतन्य दीपक, भगवान चैतन्य दीपक; वह इन शरीर, वाणी, मन अनेक प्रकार के हों, बदलें, उन्हें यह ज्ञान जानता है। जानता है, वह भी इन्हें नहीं जानता;

वास्तव में वह जानने की पर्याय का, स्वयं को जानने का और उन्हें जानने का पर्याय का स्वभाव है; इसलिए स्वयं परिणमता है। समझ में आया ? चैतन्य दीपक। जैसे दीपक है, वह है। पदार्थ आवे-जावे, वैसा ही प्रकाशित करता है,तथापि वह प्रकाश का स्वभाव ही, वे पदार्थ जाए-आवें, उनके कारण नहीं है। वह तो स्वयं के कारण है और जो पदार्थ जाएँ-आयें, वे स्वयं के कारण जाते-आते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : पैसे आते हैं, वे हमारी मेहनत से नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वे पैसे आनेवाले थे, वहाँ ज्ञान ने जाना है, वे पैसे आये, उन्हें नहीं; वह ज्ञानरूपी दीपक अपने को और पर को प्रकाशित करता है। उस-उस समय में वही पर्याय पैसे को जानने की होनेवाली थी, उस प्रकार से हुई है। पैसा लाया नहीं, पैसा इसका नहीं, पैसा यह खर्च नहीं कर सकता। बलुभाई! यह सब... आहाहा!

चाहे जैसा दीपक हो, वह तो अपने स्वभाव से प्रकाशित करता है। उसके साथ दूसरे पदार्थ आवें-जावें, इसलिए उसमें कुछ विकृत होता है और आवें-जावें, उनके कारण यहाँ प्रकाशित करता है और यहाँ उन्हें और स्वयं को स्वयं से प्रकाशित करता है, इसलिए वह वस्तु आती-जाती है ? आहाहा! देवीलालजी! समझ में आया ? बात तो मुद्दे की बात यह है।

यहाँ तो कर्ता इसे सिद्ध करना है, क्योंकि कर्ता पर्याय कहीं जड़ में नहीं होती; होती है इसमें (जीव में) इसके पुरुषार्थ के कारण से और उसके काल में, परन्तु तो भी वास्तव में तो जहाँ दृष्टि जहाँ आत्मा की हुई है कि मैं तो ज्ञानस्वरूप ही हूँ - ऐसा जहाँ ज्ञान हुआ, उस समय का राग, उसका यहाँ ज्ञान, राग है, इसलिए होता है - ऐसा भी नहीं है तथा यहाँ ज्ञान का बदलना होता है, वह राग के कारण नहीं। राग को जानने का ज्ञान, उस राग के कारण नहीं तथा यहाँ राग का जानना हुआ, इसलिए राग आया - ऐसा भी नहीं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है।

यहाँ तो भावकर्म; भावकर्म विकारी पर्याय है। आहाहा! पर तो कर्ता नहीं, परन्तु इसकी पर्याय में—आत्मा की पर्याय में पुण्य-पाप आदि असंख्य प्रकार (का) विकार हो, बस! इतना यहाँ सिद्ध करना है। **इन गाथाओं में यह सिद्ध किया है.. यहाँ यह जानना चाहिए कि— परमार्थ से अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के भाव का कर्ता नहीं होता...** आहाहा! दीपक उस चीज़ को लावे या छोड़े-ऐसा नहीं होता, तथा दीपक में प्रकाश होता है, उन चीज़ों को मानो प्रकाश जानता है, इसलिए उनके कारण प्रकाश होता है - ऐसा भी नहीं है।

इसी प्रकार चैतन्य दीपक, भगवान चैतन्य दीपक अन्दर, उसे उस काल में जो चीज़

रागादि हों, उन्हें वास्तव में तो जानने के स्वभाव के कारण (जानता है), राग है; इसलिए जानता है-ऐसा भी नहीं। आहाहा! उसका अपना उस प्रकार के स्व-पर प्रकाशक स्वभाव स्वत: है। पर को प्रकाशित करता है-(ऐसा) नहीं है। पर से प्रकाशित नहीं करता, पर को प्रकाशित नहीं करता। आहाहा! और पर के कारण प्रकाशित नहीं करता। आहाहा! इसमें क्या समझना ?

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के भाव का कर्ता नहीं होता, पर्याय कहाँ से करे ? क्योंकि प्रत्येक द्रव्य उस समय में उत्पाद-व्यय की पर्याय के कार्यरहित द्रव्य है नहीं। कार्यरहित द्रव्य नहीं है। आहाहा! उत्पाद-व्यय रहित कोई द्रव्य नहीं है; इसलिए उत्पाद-व्यय का कार्य कोई दूसरा करे-ऐसा नहीं होता। आहाहा! अभी तो इतने से कठिन पड़ता है, इससे आगे अब ले जाएँगे।

परमार्थ से अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के भाव का कर्ता नहीं होता; इसलिए जो चेतन के भाव हैं,... अभी रागादि, हों! **उनका कर्ता चेतन ही हो सकता है।** विकल्प की क्रिया का कर्ता, यह चेतन है। परिणमता है न, यह ? इसलिए प्रवचनसार में ४७ नय में लिया है न ? कि परिणमता है, इसलिए कर्ता स्वयं है। आहा! करनेयोग्य है या नहीं - यह प्रश्न यहाँ नहीं है। मात्र परिणमन करता है; इसलिए आत्मा उनका कर्ता है। आहाहा! किनका ?-रागादि का। पर का नहीं। राग हुआ, इसलिए यह हाथ हिलता है, वाणी बोली जाती है, शरीर चलता है या रोटी का चूरा होता है या लड्डूओं का चूरा होता है; पूरा है, उसके टुकड़े होते हैं; कपड़ा है, उसे फाड़े... (ऐसा नहीं)।...

मुमुक्षु : रोटी का टुकड़ा दाल में तो डुबोवे न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई डुबोवे और कौन डुबोवे ? आहाहा! यह वस्त्र ऐसे फटता है, वह फाड़नेवाला फाड़ता तो नहीं। एकदम..! वह तो उसकी पर्याय उस समय अलग होने की थी।

मुमुक्षु : ये वस्त्र बलुभाई ने नहीं किये

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ किया नहीं, धूल भी किया नहीं।

मुमुक्षु : बलुभाई ने वस्त्र पहिना नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पहिना भी नहीं, पहिने कौन ? जड़ ? आहाहा! वह तो इसके क्षेत्र में वहाँ आने की पर्याय की स्थिति है, तदनुसार आकर रहा है। आहाहा! ऐसी बात है। समझ में आया इसमें ?

एक तो यहाँ यह सिद्ध किया कि भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूपी आनन्दमूर्ति प्रभु है,

परन्तु उसकी पर्याय में यह विकार होता है। इससे कोई ऐसा कहे कि उसके गुण का स्वभाव तो विकार का है नहीं; द्रव्य का विकार (करने का स्वभाव) नहीं है; इसलिए विकार किसी पर से होता है (तो) ऐसा नहीं है। वह विकार भी उस समय की ऊपर से पर्याय है, ऊपर-ऊपर। गुण और द्रव्य तो शुद्ध है, परन्तु ऊपर-ऊपर विकृत जो होता है, उसका कर्ता अर्थात् रचनेवाला, अर्थात् परिणमन करनेवाला आत्मा है। आहाहा!

मुमुक्षु : हमें क्या करना – यह बताओ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह करना-ऐसा कहते हैं। राग होता है, वह अपनी पर्याय में है – ऐसा जानकर उससे (अपने को) भिन्न जानना। और भिन्न जानने में राग है, इसलिए जानने में भिन्न आया और यहाँ जानने में आया, इसलिए राग वहाँ आया है-ऐसा नहीं है। ऐसा, बलुभाई! यह कहाँ तुम्हारा वर्षीतप रहा इसमें? आहाहा! प्रभु का मार्ग सूक्ष्म है, प्रभु! ऊपर-ऊपर से मान ले, वह वस्तु नहीं। आहाहा!

चेतन के भाव हैं, उनका कर्ता चेतन ही हो सकता है। देखा? दया, दान, व्रत, भक्ति आदि पर के कारण से नहीं है। अपनी पर्याय में उस काल में उत्पाद-व्यय होने का स्वभाव है, इसलिए वे चेतन के भाव चेतन करता है। आहाहा! **इस जीव के अज्ञान से जो...** अब आया, यह विकार का कर्तापना लिया, परन्तु वह अज्ञान से है। आहाहा! **इस जीव के अज्ञान से जो मिथ्यात्वादि भावरूप जो परिणाम हैं, वे चेतन हैं,...** आहाहा! ये मिथ्यात्व के परिणाम चेतन के हैं। कर्म के कारण से नहीं, कर्म से नहीं, कर्म का जोर आया, इसलिए मिथ्यात्व का भाव हुआ – ऐसा नहीं। आहाहा! उस समय मिथ्याश्रद्धा का भाव होने का स्वयं के काल में (था)। उसका कर्ता चेतन है। इसे और पर को कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो आ गया न पहले? **सर्वः अपि सम्बन्ध नास्ति।** (कलश, २००) आहाहा!

जड़ नहीं;... वे परिणाम चेतन के हैं। मिथ्यात्व (अर्थात्) पर में सुख है, जहाँ खाने में ठीक सब्जी आयी, वहाँ इसे ठीक पड़ता है – ऐसा जो भाव मिथ्यात्व का, वह मिथ्यात्व का भाव है। आहाहा! कपड़ा एक अच्छा पहिना हो, तो मैं अच्छा दिखता हूँ, ऐसी मान्यता, वह मिथ्यात्व है। आहाहा!

मुमुक्षु : खराब कपड़ा पहिने तो अच्छा दिखे?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन दिखे अच्छा? धूल। वह कपड़े, कपड़े में रहे; शरीर में शरीर रहा; आत्मा, आत्मा में रहा; कर्म, कर्म में रहे! आत्मा, आत्मा में रहा; कर्म, कर्म में रहा; शरीर, शरीर में रहा; कपड़ा, कपड़े में रहा। आहाहा! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : सबने कपड़े पहिने हुए नहीं हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन पहिने और कौन छोड़े ? आहाहा! गजब बात है। वस्तु की स्थिति ही ऐसी है। परमात्मा ने कहा है, ऐसे नहीं; वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है; वैसा भगवान ने जाना और वैसा कहा है। आहाहा! तुझमें तुझे विकृत अवस्था होती है, वह तुझसे, तुझमें (तेरे कारण से होती है)।

अशुद्धनिश्चयनय से उन्हें चिदाभास भी कहा जाता है। अर्थात् चेतन नहीं, परन्तु चेतनाभास। है इसके, कर्म के नहीं, कर्म के कारण नहीं। आहाहा! **इस प्रकार वे परिणाम चेतन हैं, इसलिए उनका कर्ता भी चेतन ही है;...** परिणाम मिथ्यात्व और राग चेतन है; चेतन हैं, इसलिए उनका कर्ता चेतन है; वे कोई जड़ नहीं हैं। आहाहा! अभी यह सिद्ध करना है। **परिणाम चेतन हैं,...** आहाहा! **उनका कर्ता भी चेतन ही है;...** आहाहा! **क्योंकि चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही होता है—यह परमार्थ है।** और देखा ? अशुद्ध निश्चयनय से, परन्तु वह परमार्थ है। बात बराबर है-ऐसा कहते हैं। भले अशुद्ध निश्चय से कहा, परिणाम अशुद्ध निश्चय से कहते हैं, परन्तु वह अशुद्धनय से इसका है, यह परमार्थ है। आहाहा!

एक ओर कहे कि विकार के परिणाम हुए, इससे यहाँ ज्ञान को बाधा आयी कुछ, बिलकुल नहीं। चैतन्य, चैतन्यरूप से स्व-पररूप से प्रकाशता ही है। ***वह वास्तव में पर को प्रकाशित करता है, ऐसा कहना भी व्यवहार है।*** अपने में स्व-पर प्रकाशक की पर्याय उस काल में चाहे जो पदार्थ आये-जाये, टूटे-फूटे, उसका उसी प्रकार से यहाँ जानना होता है और यह जानना होता है, वह उसके कारण से—टूटे-फूटे उसके कारण से नहीं। अरे! जानना हो, उसमें जरा ठीक दूसरी चीज़ टूटी, उसमें द्वेष आया! इसे (स्वयं के) कारण उसका जानपना होता है, उसके (पदार्थ के) कारण से नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। लोगों ने जैनधर्म को बाहर में बिगाड़ दिया, वह कुछ बिगड़ा नहीं, जैनधर्म बिगड़ता नहीं। ***लोगों ने स्वयं को बिगाड़कर जैनधर्म माना, बिगाड़कर जैनधर्म माना। जैनधर्म बिगड़ता नहीं; जैनधर्म तो उज्ज्वल (ही रहता है)। आहाहा!***

चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा चेतन के विकार का कर्ता चेतन है। उसका कर्ता (चेतन) है। क्यों ? **चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही होता है—यह परमार्थ है।** देखा ? यहाँ परमार्थ है-कहा। आहाहा! उस विकार का कर्ता आत्मा है, यह परमार्थ है-ऐसा कहते हैं। परमार्थ अर्थात् सत्य बात है। वह कर्म के कारण विकार हुआ है-ऐसा बिल्कुल नहीं है। आहाहा! जैसे सब लोग घर के, परिवार के एकत्रित हुए और इसे यह प्रसंग करने पड़े, इसके

लिए इसे राग आता है, ऐसा भी नहीं। आहा! पुत्र का विवाह करना पड़े, पुत्री का विवाह करना पड़े, उसके वस्त्र लाने का—यह बिल्कुल कर सकता नहीं। यह तो उस समय होता है, तब कर्ता राग का होता है और ज्ञानी तो राग का भी कर्ता नहीं; उसका—राग का—जाननेवाला है। उसके चैतन्य के प्रकाश के समक्ष चाहे जितनी चीज़ें आयें-जायें; राग, दूसरी चीज़ें (आयें-जायें), वे तो स्वयं अपने परिणमनरूप से, चैतन्यरूप से, स्व-परप्रकाशकरूप से परिणमता ही है। राग को जानता है और उन्हें जानता है। ***राग और उन्हें जानता है, ऐसा भी नहीं। राग और उस चीज़ की और का जो ज्ञान अपना है, वह अपने को स्वयं जानता है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म। आहाहा!***

यह परमार्थ है। यहाँ कहा न? एक ओर कहा, विकार का कर्ता जीव है, यह परमार्थ है। परमार्थ अर्थात् सत्य बात है। वह कहीं विकार कोई कर्म कराता है, और वे चीज़ें कराती हैं, बाहर की चीज़ों के संग से और प्रसंग से विकार होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

श्रोता : राग का कर्ता हो तो आत्मा का स्वभाव हो जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्ता, पर्याय का स्वभाव है, पर्याय का स्वभाव है, पर्याय का स्वभाव है। पर्याय कर्ता है। आहाहा! द्रव्य के गुण तो सब निर्मल हैं, सब-अनन्त गुण निर्मल हैं। आहाहा! बात सूक्ष्म है, बापू! वीतराग का मार्ग कोई अलौकिक है। आहाहा!

श्रोता : वीतराग अलौकिक हैं तो उनका मार्ग भी अलौकिक ही होगा न!

पूज्य गुरुदेवश्री : अलौकिक है। आहाहा!

इस आत्मा के समीप में जो चीज़ें शरीर, वाणी, कर्म, पुत्र-पुत्री सब दिखायी दें, बड़े हों, छोटे हों, यह सब उनके विवाह (हों), आत्मा उनके प्रति राग करे। यह राग करे, उसमें वे कारण नहीं हैं। राग स्वयं करता है और वास्तव में तो यदि ज्ञानी होवे तो राग को भी जानता है; वह राग के कारण नहीं (जानता) आहाहा! धर्मी जीव तो अपने आत्मा की पर्याय को-धर्म को, उसका ज्ञान और पर का ज्ञान, वह तो अपना ज्ञान है। आहाहा! उसे स्वयं जानता है; पर को नहीं। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : पर को तो व्यवहार से जानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार खोटा, व्यवहार खोटा। व्यवहार का कथन ही खोटा है। आहाहा! इस आत्मा में पुण्य और पाप का जो विकार होता है तो कोई घर के लोग हैं या उनके कारण होता है-ऐसा नहीं है। आहाहा!

अब, **अभेददृष्टि में तो...** देखो! अब आया। **जीव शुद्धचेतनामात्र ही है,...** आहाहा! यह तो भेददृष्टि से कथन किया कि विकार जितना विषय का, भोग का, राग का, लेने का, देने का, खाने का, पीने का जो राग होता है, वह जीव करता है और जीव की पर्याय में परमार्थ से है। यह भेद की दृष्टि से बात की। क्योंकि जो त्रिकाली आत्मा, उसकी यह पर्याय तो भेद पड़ा। यह पर्याय उसकी है, इतना भेद पाड़कर कहा कि परमार्थ से उसका कर्ता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, बापू!

अभेददृष्टि में तो... आहाहा! **जीव शुद्धचेतनामात्र ही है,...** यह क्या कहा? तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव फरमाते हैं कि ***अभेददृष्टि में जो राग हुआ और राग के कारण संयोगी कोई स्वतन्त्र चीज़ हो, उसे मात्र चेतन जानता ही है, वह यह चीज़ है, इसलिए उसे जानता है-ऐसा नहीं है। उस चीज़ सम्बन्धी का और अपने सम्बन्धी का चैतन्य का परिणमन स्वयं स्वतन्त्र स्वयं करता है। आहाहा! ऐसी बात अब।*** सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो, धर्म हो गया! धर्म कहीं नहीं है, बापू! ***धर्म सूक्ष्म चीज़ है, भाई! भव चला जाता है और यह चीज़ हाथ में नहीं आवे तो कहाँ जायेगा? आहाहा! उसका इसे विचार करना पड़ेगा! आहाहा! ऐसा अवसर कब मिलेगा?***

कहते हैं, दोनों बातें डाली हैं कि जो-जो आत्मा पुण्य और पाप के भाव करता है, वे स्त्री के कारण नहीं, पुत्र के कारण नहीं, व्यापार के कारण नहीं। अपने विकार के परिणाम स्वयं अपने से करता है। आहाहा! अब यदि अभेददृष्टि से देखें तो यह राग का कर्ता भी नहीं है। आहाहा!

अभेददृष्टि में तो जीव शुद्धचेतनामात्र ही है,.... राग भी नहीं। आहाहा! चैतन्यस्वरूप भगवान के प्रकाश के समक्ष राग या दूसरी चीज़ चाहे जितनी आये-जाये, इससे ज्ञान को विकृत कर डाले या उसके कारण यहाँ ज्ञान हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! बलुभाई! कभी सुना नहीं होगा वहाँ। आहाहा! ऐसी बात है।

कहते हैं, दो बातें की। एक बात तो तू पर के कारण तुझमें विकार होता है, यह बात छोड़ दे। विकार तेरा तेरे कारण पर्याय में, पर्याय में विकार होता है, एक बात। अब दूसरी बात— इससे कहीं कल्याण नहीं है। अब उस भेद को छोड़कर अभेददृष्टि। अखण्डानन्द प्रभु आत्मा की दृष्टि में, यह राग होता है, उसे भी राग है; इसलिए जानता है - ऐसा नहीं है। यह चैतन्य का उस समय का परिणमन, वह स्वयं को और पर को जाने, उस प्रकार से उत्पन्न होता है। अभेददृष्टि में राग का कर्ता आत्मा नहीं है। राग का कर्ता तो नहीं, परन्तु राग से यहाँ ज्ञान होता

है, ऐसा भी नहीं है। (यदि ऐसा होवे) तो राग कर्ता और ज्ञान कार्य हुआ। (परन्तु) ऐसा भी नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बातें बहुत, बापू! वीतराग सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ के कथन ठेठ आत्मा को स्पर्शकर हैं। आहाहा!

अभेददृष्टि में तो जीव शुद्धचेतनामात्र ही है,... यहाँ ऐसा कहा। क्या? यह राग भी नहीं, ऐसा। विकार भी उसका नहीं। वह तो पहले विकार सिद्ध किया कि पर से विकार नहीं; विकार तेरा तुझमें है। इतना अशुद्धनय का परमार्थ से अर्थात् सत्य बात है, यह सिद्ध किया। परन्तु उतने से अब रुका नहीं। यहाँ तो अभेददृष्टि में जीव शुद्धचेतनामात्र है, राग भी नहीं। आहाहा! चैतन्य की ही अभेददृष्टि करने से, सम्यग्दर्शन करने से, वह राग जो होता है, उसका यह कर्ता भी नहीं है। राग हो उसे जानता है, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। जाननेवाला, जाननेवाले को जानते हुए राग का ज्ञान हो जाता है, उसे राग का ज्ञान है, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। आहाहा! ऐसा किस प्रकार का धर्म, मार्ग! आहाहा!

किन्तु जब वह कर्म के निमित्त से परिणमित होता है,... निमित्त से परिणमित होता है इसका अर्थ (यह कि) कर्म के कारण परिणमता है, ऐसा नहीं। निमित्त पर लक्ष्य करता है; इसलिए वह निमित्त से परिणमता है, ऐसा कहने में आया है। कर्म के निमित्त से अर्थात् कर्म के लक्ष्य से। करनेवाला स्वयं स्वयं से विकार करता है। आहाहा! समझ में आया? **कर्म के निमित्त से परिणमित होता है,...** कर्म के निमित्त से परिणमित होता है, ऐसा जहाँ आवे, वहाँ ऐसा कहे कि कर्म के कारण विकार होता है (तो) ऐसा नहीं है। मात्र स्वयं स्वसन्मुख का लक्ष्य छोड़कर, चैतन्य आनन्द का नाथ प्रभु, उसका लक्ष्य छोड़कर पर का लक्ष्य करता है; इसलिए उसे निमित्त कहा गया है। उस निमित्त के लक्ष्य से जो विकार होता है, वह कर्म के निमित्त से परिणमता है, ऐसा कहा गया है। आहाहा! विकार होता है, उसमें उसका लक्ष्य पर के ऊपर है, विकार की दशा की दिशा पर के ऊपर है। इससे बताया कि निमित्त, इसकी दिशा है। निमित्त उसकी दशा कराता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

कर्म के निमित्त से परिणमित होता है,... इसलिए यहाँ से ऐसा ले कि कर्म के कारण परिणमता है। वह कर्म के कारण बात ही नहीं है। कर्म पर, जड़, परपदार्थ है; तू परपदार्थ। कर्म तुझे स्पर्श ही नहीं करते, तू उन्हें स्पर्श नहीं करता और तुझे विकार करावे कर्म? जैन में यह सब चला है। बस, कर्म के कारण होता है, कर्म के कारण होता है।

यहाँ कहते हैं **कर्म के निमित्त से परिणमित होता है, तब वह उन-उन परिणामों से**

युक्त होता है... है तो अभेद शुद्धचेतनामात्र ही है। आहाहा! शुद्धचेतनामात्र ही आत्मा है। यह शुद्ध चैतन्यवस्तु आनन्दस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा है। आहाहा! परन्तु उसे भूलकर अज्ञानभाव से परिणमता है। आहाहा! **तब वह उन-उन परिणामों से युक्त होता है...** परिणमता है, इसलिए परिणाम से युक्त होता है। परिणामसहित होता है। आहाहा! क्या कहा यह ? - कि उन परिणामसहित होना, यह इसका द्रव्य-गुण का स्वरूप नहीं है, परन्तु पर्याय में विकार होने से उन परिणाम से युक्त है। पर के कारण युक्त होता है, ऐसा नहीं है। आहा! स्वयं के कारण से परिणाम युक्त होता है। मिथ्यात्व और राग-द्वेष परिणाम स्वयं के कारण से युक्त होता है। पर के कारण कुछ नहीं होता। आहाहा! कितना याद रखना इसमें ?

और तब परिणाम-परिणामी की भेददृष्टि में... देखो! **अपने अज्ञानभावरूप परिणामों का कर्ता जीव ही है।** तब परिणाम जो विकार हुए और परिणामी द्रव्य की भेददृष्टि हुई। उसमें **अपने अज्ञानभावरूप परिणामों का कर्ता जीव ही है।** आहाहा! एक तो सबसे भिन्न निकालकर और विकार होता है, वह भी तुझसे होता है, दूसरे से नहीं, यहाँ तक लाये। दूसरी चीज़ें निकाल डालीं। एक-एक चीज़। मेरा देश और मेरी स्त्री और मेरा पुत्र... सब बातें खोटी की खोटी। सब गप्प, किसी का पुत्र नहीं, किसी की स्त्री नहीं। सब के सब तत्त्व भिन्न हैं। आहाहा!

यह एक तो सबके तत्त्व सब हैं, इसलिए उनके कारण जीव में विकार होता है, ऐसा नहीं है। इसलिए विकार होता है, वह भेददृष्टि से परिणाम, परिणामी का है। परिणामी अर्थात् द्रव्य, उसका परिणाम है। ऐसी बात की है। आहाहा! **अभेददृष्टि में...** आहाहा! गजब मार्ग! **अभेददृष्टि में तो कर्ताकर्मभाव ही नहीं है,...** देखा ? ***आहाहा! चैतन्य अभेद और पूर्ण है, ऐसी जहाँ दृष्टि हुई, पश्चात् पर्याय में जो राग हो, उसका वह कर्ता नहीं है; उसका वह जाननेवाला भी नहीं। जाननेवाला है, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! कर्ता तो नहीं परन्तु उसका जाननेवाला है, ऐसा कहना, वह व्यवहार है परन्तु उस समय में उन रागादि का ज्ञान अपने में हुआ है, इसलिए स्वयं राग का कर्ता नहीं, परन्तु ज्ञान का कर्ता है। आहाहा!*** यह पढ़ा भी नहीं होगा। बलुभाई! पढ़े तो कुछ समझ पड़े, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है, बापू!

श्रोता : हमारे पढ़ना नहीं क्योंकि समझ में नहीं आता, ऐसा आपके कहने का फल आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु पढ़े तो खबर पड़े कि नहीं पढ़ा जाता-नहीं समझ में आता। पढ़े तब खबर पड़े कि यह समझ में नहीं आता।

श्रोता : पढ़कर समझ में नहीं आता....

पूज्य गुरुदेवश्री : भले समझ में नहीं आता, परन्तु पढ़े तब खबर पड़े न कि समझ में नहीं आता। पढ़े बिना अध्धर से (कहे कि) हमें समझ में नहीं आता। अर्थात् क्या? कहते थे न? हमारा मास्टर ऐसा था, पिचहत्तर वर्ष पहले की बात है, पिचहत्तर वर्ष पहले की बात है। मास्टर ऐसा था, विद्यालय में जो दो, चार, पाँच होशियार लड़के हों, उन्हें घर में बुलावे। स्त्री नहीं थी (इसलिए) स्वयं पकाते थे। पकाने का पकावे और बड़े-बड़े लड़कों को बुलावे, उन्हें सिखावे परन्तु उन्हें पहले ऐसा कहे कि यह पाठ पढ़कर लाना, पढ़कर यहाँ लाना, फिर तुम क्या समझे और मैं क्या उसका अर्थ करता हूँ, तब तुम्हें अन्तर ख्याल में आयेगा।

वे नरोत्तम मास्टर थे। दो, चार लड़के होशियार हों, उन्हें बुलावे। स्वयं पकाते जायें रोटी, दाल और बीच में बोलते जायें, ये बात समझाते जायें। देखो, इसका अर्थ ऐसा है। यह मैंने पढ़ा, तब मुझे ख्याल में नहीं आया था। परन्तु पढ़े तब खबर पड़े न कि यह ख्याल नहीं आया। जहाँ पढ़ने की ही दरकार नहीं... आहाहा!

अब यहाँ कहते हैं कि शुभ-अशुभभाव, हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, दया, दान, काम, क्रोध, परिणाम जीव करता है। वह सब विकार है। वह पर्याय में द्रव्य-गुण के आश्रय बिना एक समय की पर्याय में स्वतन्त्र होता है; वह द्रव्य-गुण के कारण नहीं, परवस्तु के कारण नहीं। आहाहा! इसलिए वह परमार्थ है, यथावत बात है, ऐसा। विकार वह कर्ता है, यह बात भेददृष्टि में बराबर है।

अब **अभेददृष्टि में...** आहाहा! **तो कर्ताकर्मभाव ही नहीं है,...** आहाहा! भगवान चेतनस्वरूप को रागादि चाहे जो चीज़ें बाहर की आवे-जावे या राग में तीव्र-मन्द हो, उसे आत्मा अपने से, अपने में, अपने द्वारा जानता है। आहाहा! राग के कारण नहीं। **अभेददृष्टि में...** है न? **कर्ताकर्मभाव ही नहीं है, शुद्धचेतनामात्र जीववस्तु है।** आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध पवित्र चेतनामात्र तत्त्व अन्दर है। उस पर दृष्टि नहीं और पर्याय पर दृष्टि है और बाहर पर दृष्टि है; इसलिए चौरासी के अवतार में भटक मरता है। आहाहा! यहाँ अरबोंपति बनिया हो, मरकर ढ़ोर होता है। धर्म नहीं, पुण्य नहीं, पुण्य का ठिकाना नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि भेददृष्टि में तो तुझे समझाया कि विकार है, वह तुझमें है। पर्याय में यह भेद पड़ा न? पर्याय। द्रव्य-गुण रहे नहीं, पर्याय में विकार किया। विकार तेरा, तुझसे, तुझमें, तेरे कारण होता है। अब अभेददृष्टि से देखें तो... आहाहा! पर्यायदृष्टि छोड़ दी, वस्तु की

दृष्टि से देखें तो **शुद्धचेतनामात्र जीववस्तु है।** शुद्धचेतना, हों! वापस अकेली चेतना नहीं। शुद्धचेतना अर्थात् राग आवे, उसे वह अपने में रहकर अपने से जानता है। आहाहा! संयोग आवे, उन्हें भी अपने में रहकर अपने से जानता है। यह संयोग का होता नहीं, वह राग का होता नहीं; राग और संयोग से यहाँ ज्ञान हो, ऐसा भी नहीं। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है।

व्यापारी को धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। पूरे दिन पाप का धन्धा। उसमें दुकान की पैढ़ी में बैठा हो तो मानो ओहोहो! उसमें प्रतिदिन की आमदनी पाँच सौ, हजार की हो तो लवलीन हो जाये वह तो तुम्हारे। हमारे कुँवरजीभाई थे न, पालेज में हमारी दुकान थी न? है न दुकान वहाँ? अभी वर्तमान में बड़ी दुकान है। दुकान पर बैठे तो मानो ऐसे.. ऐसे, ओहोहो (मानो) क्या किया और क्या करते हैं! मेरे द्वारा कहा गया था। (संवत्) १९६४ के वर्ष की बात है। ६४... ६४, १८ वर्ष की उम्र थी। अभी ९१ चलते हैं। ९१। तब मैंने उन्हें कहा था, यह क्या है परन्तु यह? पूरे दिन यह जंजाल, यह किया, यह किया। कुछ निवृत्ति ही (नहीं मिलती) गाँव में साधु आवे तो फुरसत नहीं मिलती। उस समय तो उन स्थानकवासी साधु को मानते थे न! स्थानकवासी थे न (मैंने कहा) मरकर ढोर होगा, कहा। याद रखना। दो-दो लाख की आमदनी थी। अभी अधिक है। बड़ी दुकान है। चार लाख की आमदनी है। वही दुकान है। मरकर ढोर होगा, कहा। ऐसा कहा था, हों! बोले नहीं मेरे सामने। आहाहा! कुँवरजीभाई को (कहा था) हँसने लगते। भगत है कुछ कहता है। भगत है, सुनो, बस! क्या है परन्तु यह? पूरे दिन दुकान.. दुकान.. दुकान.. दुकान। आत्मा क्या? साधु गाँव में आये, वह सुनने, सुनने को फुरसत नहीं मिलती। पूरे दिन सामने न देखे। रात्रि को आठ बजे जाये। बहियों में नामा लिखकर आठ बजे जाये। वह साधु दिन के नौ बजे आया हो, यह (रात्रि में) आठ बजे जाये। आहाहा! यह धन्धा जगत का, पाप का पूरे दिन।

यहाँ कहते हैं कि तुझे धन्धे के कारण राग नहीं हुआ। तुझे राग हुआ है तेरे पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण। वह भी हम भेददृष्टि से कथन करते हैं। पर्याय का भेद पड़ा न! परन्तु अभेददृष्टि से देखें तो... आहाहा! तो चेतनमात्र, शुद्ध चेतनमात्र परिणामों का कर्ता जीव ही है। आहाहा!

शुद्धचेतनामात्र जीववस्तु है। आहाहा! वह तो जलहल दीपक, दीपक है। दीपक के पास चाहे जो चीज़ आती-जाती हो, (वह) कहीं दीपक को विकृत नहीं करती और दीपक को वह जनवाती भी नहीं। आहाहा! इसी प्रकार यह चैतन्य दीपक, संयोगी चीज़ें अनेक प्रकार से साथ में बने, उनके कारण यह चैतन्य दीपक विकृत नहीं हुआ, तथा वह हुआ, उनके कारण

जानता नहीं परन्तु अपना स्व-पर को जानने का स्वभाव है, इसलिए उस काल में जानता है। इसमें समझ में आया कुछ ? सूक्ष्म बात है। आहाहा!

अभेददृष्टि में तो कर्ताकर्मभाव ही नहीं है,... देखा ? विकार का कर्ता और विकार कार्य, यह तो मिथ्यादृष्टि में, भेददृष्टि में है; वह भी पर के कारण नहीं। अब अभेददृष्टि में तो उस विकार का कर्ता और कर्म वह है ही नहीं। क्योंकि दृष्टि पड़ी है आत्मा पर। आत्मा तो शुद्धचैतन्यमूर्ति है, इसलिए वह राग का और विकार जो होता है, उसका वह शुद्ध चेतनामात्र वस्तु कर्ता नहीं है। आहाहा! इतने सब पहुँचना और निवृत्ति नहीं होती। दुनिया का कितना काम करना ? अफ्रीका का कितना काम किया बलुभाई ने! कितनों की टिकिट और कितनों का आहार, अमुक, अमुक.. आहाहा!

श्रोता : आप इनकार करते हो कि कर नहीं सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : माना था कि कर्ता है। वह क्रिया कर नहीं सकता। आहाहा!

शुद्धचेतनामात्र जीववस्तु है। यह भगवान जो आत्मा अन्दर है, वह तो शुद्ध पवित्र आत्मा है। उसमें तो दया, दान के भाव का विकार भी नहीं है। ***आहाहा! कठिन काम बहुत, भाई! जन्म-मरणरहित होने का पंथ कठिन है। अशक्य नहीं, अपूर्व है। आहाहा! अपूर्व उसका मार्ग है। आहाहा!***

शुद्धचेतनामात्र जीववस्तु है। इस प्रकार यथार्थतया.... इस प्रकार (अर्थात्) पर्याय में विकार उससे होता है और शुद्धचेतनामात्र के कारण वह नहीं, ऐसा। (वह) **यथार्थतया समझना चाहिए कि चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही है।** व्यवहार से; परमार्थ से नहीं। परमार्थ अर्थात् द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से नहीं, अभेददृष्टि से नहीं। भेददृष्टि से कर्ता उसका वही है; कर्म के कारण जरा भी नहीं। टीका में यह आता है, जयसेनाचार्य की टीका में (आता है) कि जैसे पुत्र एक को नहीं होता। पति-पत्नी दो हों तो पुत्र होता है। इसी प्रकार विकार अकेले को नहीं होता। कर्म और आत्मा दो हों तो होता है, ऐसा है। यहाँ इनकार करते है। वहाँ तो यह निमित्त का ज्ञान कराया है। लोगों को वह टीका बहुत अच्छी लगती है। साधक और साध्य। व्यवहार साधन बताया है न, इसलिए प्रसन्न हो जाते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि इस प्रकार विकार होता है, वह तुझसे, तुझमें, तेरे कारण (होता है), पर के कारण नहीं। यह तो भेददृष्टि का कथन है। अभेददृष्टि में तो विकार का भी कर्ता तू नहीं है, उसका जाननेवाला और देखनेवाला है। आहाहा! उस जानने-देखनेवाले के पास चाहे

जैसा राग और चाहे जैसे संयोग आवे-जावें, तथापि यहाँ से फेरफार नहीं होता। यहाँ तो जाननहार.. जाननहार.. जाननहार.. जाननहार.. जाननहार.. जाननहार.. रहता है। आहाहा! **चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही है। अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं -**

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगात्कृतिः ॥
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ॥२०३॥

'**कर्म कार्यत्वात् अकृतं न**' क्या कहते हैं? पुण्य और पाप, दया और दान, विषय और भोग के भाव, वे स्वयं कर्म हैं अर्थात् कार्य हैं। कार्य है वह '**कार्यत्वात् अकृतं**' वह तो कार्य किये बिना नहीं होता। **कर्म (अर्थात् भावकर्म) है वह कार्य है, इसलिए वह अकृत नहीं हो सकता अर्थात् किसी के द्वारा किये बिना नहीं हो सकता।** आहाहा! विकारभाव जो होता है, वह कुछ किये बिना नहीं होता, अकृत नहीं है। **किसी के द्वारा किये बिना नहीं हो सकता 'तत् जीव-प्रकृत्योः द्वयोः कृतिः न'** किये बिना नहीं होता और दो मिलकर करते नहीं। जीव और कर्म दो मिलकर विकार करते नहीं। आहाहा!

इसमें भी धर्म क्या करना? वह धर्म ही यह है। प्रकृति के कारण विकार नहीं। ऐसा विकार संसार है, पर्याय में संसार है, उसे जानना। जानकर उसकी दृष्टि छोड़कर द्रव्यदृष्टि करना। द्रव्यदृष्टि करने से उस विकार का भी कर्ता नहीं, वह इसे करना है। आहाहा! क्या हो? कितनों को तो अनजाना लगता है कि यह क्या बात करते हैं? पूरे दिन करते हैं और करते नहीं? पूरा दिन अभिमान करता है, हों! यह किया.. यह किया.. यह किया.. आहाहा!

क्योंकि यदि वह दोनों का कार्य हो तो ज्ञानरहित (जड़) प्रकृति को भी अपने कार्य का फल भोगने का प्रसंग आ जायेगा। आहाहा! एक तो यह कहा कि यह विकार है, वह कार्य है। कार्य किये बिना नहीं होता; और आत्मा तथा प्रकृति दो मिलकर कर्म नहीं करते। दो मिलकर करें तो दो को फल भोगना पड़ेगा। राग का फल जड़ को भोगना पड़ेगा। राग का फल.. आहाहा! राग और द्वेष का फल दुःख, वह जड़ को तो कुछ है नहीं। जड़ को भोगना पड़े, ऐसा है नहीं। इसलिए जड़ कहीं राग का कर्ता, शामिल होकर करता है, ऐसा है नहीं। आहाहा! **क्योंकि यदि वह दोनों का कार्य हो...** आत्मा और कर्म दोनों का। यह विकार राग, द्वेष, पुण्य-पाप, दया, **ज्ञानरहित (जड़) प्रकृति को भी अपने कार्य का फल भोगने का प्रसंग आ जायेगा।** वह तो ज्ञानरहित है। उसे अपने राग का फल, राग का फल क्या परन्तु

उसे? आहाहा! उस जीव को तो राग का फल दु:ख परन्तु उसे-जड़ को क्या? आहाहा! इसलिए जड़ और आत्मा दो इकट्ठे होकर राग नहीं करते। आहाहा!

और वह (भावकर्म) एक प्रकृति की कृति (-अकेली प्रतिकृति का कार्य-) भी नहीं है,... दो बात। तीसरी बात, विकार है, वह कार्य है; कार्य है, वह कर्ता के बिना नहीं होता, एक बात। अब, दो होकर कर्ता हों तो दूसरे को-जड़ को राग का फल भोगना पड़े। वह नहीं है। अब अकेली जड़ प्रकृति करे, राग को अकेली जड़ प्रकृति करे। आहाहा! **(भावकर्म) एक प्रकृति...** कर्ता भी नहीं, क्योंकि प्रकृति को तो अचेतनपना है, और वे राग-द्वेष तो चेतन हैं। आहा! समझ में आया? राग-द्वेष के परिणाम हैं तो चेतन के (हैं)। वह प्रकृति करे तो प्रकृति तो अचेतन है। उसे कहाँ से चेतन होगा। आहाहा!

(-अकेली प्रकृति का कार्य-) भी नहीं है, क्योंकि प्रकृति का तो अचेतनत्व प्रगट है अर्थात् प्रकृति तो अचेतन है और भावकर्म चेतन है। आहाहा! यह पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत और भक्ति, काम और क्रोध, कमाना और भोगना, ये परिणाम प्रकृति के नहीं हैं; भावकर्म चेतन है। आहाहा! वह दु:खरूप दशा चेतन की है। आहाहा! उसे दु:ख भासित नहीं है। भगवान तो आनन्द है। अन्दर आनन्दस्वरूप है। राग तो दु:खरूप है। प्रकृति का फल, वह दु:ख है, वह कहीं जड़ को नहीं भोगा जाता। वह तो चेतन को होता है। एक चेतन ही उसका कर्ता है। दो मिलकर राग हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

इसलिए उस भावकर्म का कर्ता जीव ही है और चेतन का अनुसरण करनेवाला अर्थात् चेतन के साथ अन्वयरूप... 'तत् चिद्-अनुगं' चेतन के साथ अन्वयरूप... चेतन के साथ सम्बन्धवाला। **(-चेतन के परिणामरूप-) ऐसा वह भावकर्म...** अर्थात् विकारी भाव। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना। अरे! सत्य अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य का भाव, वह सब विकार है। आहाहा! वह **चेतन का अनुसरण करनेवाला अर्थात् चेतन के साथ अन्वयरूप (-चेतन के परिणामरूप-) ऐसा वह भावकर्म जीव का ही कर्म है...** कर्म अर्थात् कार्य। आहाहा! विकारी परिणाम जीव के ही हैं, कर्म के नहीं। आहाहा!

यह बड़ी चर्चा चली थी न वहाँ? (संवत्) २०१३ के साल। वह वर्णीजी के साथ। (वे कहें) 'नहीं' निमित्त से भी होता है, यदि कर्म से नहीं होता तो विकार स्वभाव हो जाता है।' वह तो पर्याय का स्वभाव है। उसका विकृत होने का वह स्वभाव है। षट्कारकरूप से परिणमता है। पंचास्तिकाय ६२ गाथा। ***विकार स्वयं एक समय में षट्कारकरूप से स्वतन्त्र परिणमता है। उसे किसी कर्म के कारक की अपेक्षा, नहीं उसे द्रव्य-गुण की अपेक्षा।***

पर्याय स्वतन्त्ररूप से, षट्कारकरूप से परिणमती है। आहाहा! (उन्हें) नहीं जँचा, विरुद्ध पड़ा। अरे! यह महाराज ठगाये गये हैं। (उन्हें) ऐसा हो गया। आहाहा! नयी बात! यह क्या कहते हैं? विकार स्वयं अपने से करता है। प्रकृति से बिल्कुल नहीं। आहाहा! और पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में स्पष्ट लिखा है षट्कारकरूप से पर्याय में विकार जीव करता है, उसे कर्म कारक नहीं है, कर्म उसका कारक नहीं है, ऐसा पाठ है। आहाहा!

श्रोता : विकार सर्वथा निरपेक्ष है।

पूज्य गुरुदेवश्री : निरपेक्ष है। प्रत्येक सत् है, वह निरपेक्ष ही है। उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों सत् है न? विकार उत्पाद है या नहीं? वह उत्पाद स्वयं से होता है। पर की अपेक्षा है ही नहीं। आहाहा! ऐसा सब बनिये को दुनिया के धन्धे के कारण याद कब रखना? आहाहा! **इस प्रकार यथार्थरूप से समझना कि चेतन कर्म का कर्ता चेतन ही है।** लो! उसके अतिरिक्त दूसरा है नहीं। फिर कलश कहेंगे।

(***श्रोता :*** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

(१८)
श्री समयसार, श्लोक २१५, प्रवचन-४०७
दिनांक - २२-०६-१९८०

समयसार, २१५ कलश का भावार्थ। २१५ कलश का भावार्थ। गुजराती में पृष्ठ ५२९ है। **भावार्थ - शुद्धनय की दृष्टि से तत्त्व का स्वरूप विचार करने पर...** सच्ची दृष्टि से, सत्य दृष्टि से वस्तु के स्वरूप का विचार करने पर **अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य में प्रवेश दिखायी नहीं देता।** एक वस्तु में दूसरी वस्तु प्रवेश नहीं करती। आहाहा! एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य स्पर्श नहीं करता।

श्रोता : करोड़ों रुपये हों.....

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई आता नहीं, धूल भी आता नहीं। आवे कहाँ? एक परमाणु दूसरे परमाणु में प्रवेश नहीं करता; इसलिए वह परमाणु उस परमाणु को स्पर्श नहीं करता; इसी तरह एक यह आत्मा, कर्म के परमाणु को स्पर्श नहीं करता। सत्यदृष्टि से सच्ची दृष्टि से अर्थात् वस्तु का स्वरूप है, उस प्रकार से यदि देखें तो... आहाहा! **तत्त्व का स्वरूप विचार करने पर अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य में प्रवेश दिखायी नहीं देता।** शरीर में आत्मा ने प्रवेश किया है, ऐसा नहीं है। आहा! शरीर का अस्तित्वपना शरीर के क्षेत्र में और प्रदेश में है। आत्मा का अस्तित्व अपने क्षेत्र और प्रदेश में है। कोई किसी द्रव्य को कोई एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में प्रवेश नहीं करता। आहाहा!

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। यहाँ कहा स्पर्श नहीं करता। आहाहा! **प्रवेश दिखायी नहीं देता।** इस शरीर में आत्मा प्रवेश करता है, ऐसा है नहीं। आत्मा अत्यन्त भिन्न है। और आत्मा में कर्म प्रवेश करते हैं, ऐसा नहीं है, अत्यन्त भिन्न हैं। इसी प्रकार कर्म में आत्मा प्रवेश करता है, ऐसा नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपनी अस्ति, अपनी वर्तमान पर्याय करते हुए अस्ति रखता है। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल है, परन्तु वर्तमान पर्याय जो होती है, उसे रचते हुए स्वयं परद्रव्य से भिन्न रहता है। आहाहा! एक द्रव्य में दूसरे (का) प्रवेश दिखायी नहीं देता, स्पर्श नहीं करता, छूता नहीं। आहाहा! वीतरागभाव है।

आत्मा का वीतरागस्वभाव है। उस स्वभाव से देखे तो वह कर्म को छुआ ही नहीं है,

कर्म को स्वयं स्पर्शा नहीं है, ऐसा उस तत्त्व का स्वरूप है। विकार होता है, वह कर्म के प्रवेश के कारण नहीं; अपनी कमजोरी के कारण जरा-सा विकृत अवस्था में किसी समय होता है। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल शुद्ध है। पर्याय में जरा विकार होता है, उसमें कर्म प्रवेश करते हैं, वे कर्म छूते हैं, इसलिए विकार होता है-ऐसा नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बात! पूरे दिन करते हैं, यह किया लो! उस दिन चिमनभाई कहे। कुछ करता नहीं। (संवत्) १९९७ में पोष महीने में मन्दिर बनता था। तब 'चिमन चकु' यहाँ महीनें रहे। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ करता नहीं; तब कहा कि लो! यह किया, लो! आहाहा! क्या हो? उसमें क्या हुआ है, यह तुझे क्या खबर? उसमें आत्मा है, उसने क्या किया? और परमाणु ने उसमें क्या किया-इसकी खबर है?

अन्दर आत्मा है, उसने तो अपनी पर्याय में रहा और किया है तथा यह परमाणु भी इसकी पर्याय में रहकर पर्याय को करता है। आहाहा! एक-दूसरे में प्रवेश दिखता नहीं। आहाहा! गजब बात है! शरीर का अवयव दूसरे के अवयव में प्रवेश नहीं करता। आहाहा! क्या है यह बात! अंगुली मुँह में ऐसे जाने पर अंगुली, अंगुली में रहती है और मुँह, मुँह में और जीभ, जीभ में (रहती है)। आहाहा! यह रोटी और दाल मुँह में आने पर, उन आत्मा के प्रदेश में प्रवेश नहीं किया इनने। इनने नहीं, परन्तु दाढ़ और दाँत में भी रोटी और दाल ने प्रवेश नहीं किया। आहाहा! ये रोटी और दाल अपने-अपने में रहे हैं, दाढ़ और दाँत अपने में रहे हैं। कोई किसी में एक-दूसरे का एक-दूसरे में प्रवेश-अन्दर जाना, घुसना... आहाहा! ऐसा कभी होता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : कील लकड़ी में नहीं जाती?

पूज्य गुरुदेवश्री : कील लकड़ी में नहीं जाती। कील के परमाणु अपनी पर्याय में रहकर वहाँ रहे हैं और लकड़ी में जो छिद्र हुआ है, वह अपनी पर्याय में अपने से होकर रहा है; कील के कारण से नहीं। आहाहा! ऐसा स्वभाव है। पूरे दिन इसे करते हैं, हम करते हैं, हमने किया, हमने किया (ऐसे) जगत के पदार्थों का अभिमान, आहाहा! हमने ये पैसे कमाये, पैसे दिये, पैसे लिये। आहाहा! सब भ्रम है, अज्ञान है। दूसरी चीज़ को लिया नहीं जाता, दूसरी चीज़ को दिया नहीं जाता, दूसरी चीज़ की रक्षा नहीं की जा सकती, दूसरी चीज़ का नाश नहीं करता, दूसरी चीज़ को उत्पन्न नहीं किया जा सकता। आहाहा!

यह यहाँ कहा, **ज्ञान में अन्य द्रव्य प्रतिभासित होते हैं,...** जगत को भ्रम ऐसे पड़ता है कि ज्ञानस्वरूप का स्वभाव ऐसा है कि स्व-परप्रकाशकस्वभाव है। उस ज्ञान में दूसरे ज्ञेय ज्ञात

होते हैं, इससे अज्ञानी को मानों दूसरे ज्ञेय मेरे ज्ञान में आये, इसलिए मैंने जाना – यह मिथ्याभ्रम है। आहाहा! ज्ञान में यह शरीर, वाणी और यह जीभ ज्ञात हुई, परन्तु ज्ञात होने पर भी ज्ञान में उनका प्रवेश नहीं, क्योंकि वे तो ज्ञेय हैं। ***ज्ञेय जो ज्ञान में ज्ञात होता है, वह ज्ञेय नहीं, वह ज्ञात होता है, वह ज्ञान की पर्याय ज्ञात होती है। आहाहा!***

ज्ञान में बहुत ही विस्तार ज्ञात हो, वह विस्तार अन्दर ज्ञान में आया नहीं; ज्ञान का अपना स्वभाव विस्तार हुआ रहा है, होकर रहा है। आहाहा! पर का प्रवेश करके ज्ञान की विशालता हुई है, केवलज्ञान हुआ और लोकालोक ने प्रवेश किया, इसलिए केवलज्ञान हुआ है, ऐसा नहीं है। केवलज्ञान में लोकालोक आया, इसलिए केवलज्ञान हुआ–ऐसा नहीं है। आहाहा! केवलज्ञान का अपना स्वभाव पर को स्पर्श किये बिना, पर में प्रवेश किये बिना, पर को स्पर्शे बिना अपना और पर का ज्ञान स्वयं से स्वयं में पर की अपेक्षा बिना होता है। आहाहा!

अन्य द्रव्य प्रतिभासित होते हैं,... ज्ञान में अन्य द्रव्य प्रतिभासित होते हैं। ज्ञान में शरीर ज्ञात हो, वाणी ज्ञात हो, कर्म ज्ञात हो, राग ज्ञात हो, स्त्री–कुटुम्ब–परिवार–पैसा–मकान ज्ञात हो। वह जानने पर भी, वह तो **ज्ञान की स्वच्छता का स्वभाव है;...** पर को जानना, वह तो अपनी स्वच्छता के स्वभाव के कारण से है; पर के कारण से पर को जानता है – ऐसा नहीं है। आहाहा!

इस प्रकाश को ज्ञान जानता है। इस प्रकाश में ज्ञान का प्रवेश नहीं और प्रकाश का ज्ञान में प्रवेश नहीं। मात्र ज्ञान का अपना स्वभाव स्व–पर जानने की सामर्थ्य से प्रकाश को और शब्द को जाने, तथापि प्रकाश और शब्द, ज्ञान को स्पर्श नहीं करते, वे ज्ञान में प्रवेश नहीं करते। आहाहा! अन्धकार में ज्ञान में अन्धेरा ज्ञात हो, वह अन्धेरा ज्ञान में आया नहीं। आहाहा! बहुत कठिन बात है।

ज्ञानस्वरूपी जो भगवान आत्मा, उस ज्ञान में जो परवस्तु—दीपक, पैसा, स्त्री, कुटुम्ब, वे ज्ञान में ज्ञात हों, परन्तु वह चीज़ ज्ञान में आयी नहीं। वह चीज़ तो चीज़ में रहीं परन्तु उस सम्बन्धी का ज्ञान अपना, अपने से, अपने में, अपने द्वारा हुआ है। आहाहा! ऐसी बात! ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा, अन्दर जो चैतन्यस्वरूपी ज्ञान भगवान आत्मा, वह परचीज़ को जानते हुए, परचीज़ में ज्ञान प्रवेश नहीं करता और परचीज़, ज्ञान में प्रवेश नहीं करती। मात्र ज्ञान का स्वभाव स्वच्छता का है; इसलिए अपने को और पर को अपने में रहकर जानता है। पररूप होकर पर को जानता है, ऐसा नहीं है। स्व–रूप से रहकर स्व और पर को जानता है। आहाहा! ऐसी बात जगत से पूरी उल्टी है। आहा!

यह मेरा लड़का और यह मेरी लड़की और यह मेरी स्त्री, ये मेरे लड़के और यह तेरा मकान और ये मेरे पैसे। प्रभु कहते हैं, प्रभु! वे तो ज्ञेय हैं न! वे तो तेरे ज्ञान में ज्ञान की स्वच्छता के कारण ज्ञात होते हैं न! वह चीज़ तुझमें आयी नहीं, तुझमें आये बिना तेरी कहाँ से हो गयी? आहाहा! भारी कठिन काम! पूरी दुनिया से उल्टी बात है। पूरे दिन काम करते हैं, पर का करते हैं और ऐसा कर दें, ऐसा कर दें... ऐसा कर दें.. कहते हैं कि जो काम होते हैं, वे ज्ञान की स्वच्छता के कारण ज्ञान में ज्ञात होते हैं, परन्तु ज्ञान, ऐसा भगवान आत्मा उस काम में प्रवेश नहीं करता; वह काम तुझमें प्रवेश करता नहीं। आहाहा! अरे! यह बात कैसे बैठे!

अनन्त काल से भटकता है, चौरासी के अवतार। आहाहा! नरक और निगोद, कीड़े और कौए के अवतार कर-करके कचूमर निकल गया है, बापू! अनन्त भव हुए। ये अनन्त भव, भव.. भव.. भव.. भव.. भव.. भव.. ऐसे वर्तमान से भूतकाल ऐसे देखते-देखते कोई भवरहित जीव नहीं। ऐसे अनन्त-अनन्त भव किये, तथापि कहते हैं, उस भव का प्रवेश तेरे जीव में नहीं है। वैसे ही जीव के प्रदेश का उसमें प्रवेश नहीं है। आहाहा! अपने को भूलकर कल्पना मानी। मैं ज्ञान का स्वामी हूँ और ज्ञान है, वह मेरा स्वरूप है; जैसे मिठास शक्कर का स्वरूप है; वैसे ज्ञान, वह आत्मा का स्वरूप है। वह ज्ञान, पर में प्रवेश किये बिना, पर को स्पर्श किये बिना; पर इसमें—ज्ञान में—आये बिना, ज्ञान स्व-पर को जानता है, ऐसा इसका स्वभाव है। तदुपरान्त अतिक्रमण करके दूसरी बात मानें (तो वह) भ्रम और मिथ्या अज्ञान है। आहाहा! वह असत्य का सेवन करता है। सत्य को छोड़कर असत्य का सेवन करता है तो उस असत्य के फल में चार गति के परिभ्रमण में उसे भटकना पड़ता है। आहाहा! गजब कठिन काम है। है?

(ज्ञान में) **अन्य द्रव्य प्रतिभासित होते हैं, सो तो यह ज्ञान की स्वच्छता का स्वभाव है; कहीं ज्ञान उन्हें स्पर्श नहीं करता...** इस प्रकाश को ज्ञान जानता है तो ज्ञान कहीं प्रकाश को स्पर्शता-छूता नहीं है। आहाहा! अन्धकार को ज्ञान जानता है, परन्तु वह ज्ञान, अन्धकार को स्पर्शता नहीं है तथा वह ज्ञान, अन्धकार में प्रवेश नहीं करता तथा वह अन्धकार, ज्ञान में प्रवेश नहीं करता। आहाहा! यह बात किस प्रकार माने? पूरी दुनिया से उल्टा। धर्म के करनेवाले को (ऐसा कहे), यह करो.. यह करो.. यह करो.. यह करो.. यह कहते हैं कि तू जो यह करने को कहता है, वह तो तेरे ज्ञान का ज्ञेय है। आहाहा! और वह भी ***ज्ञेय, ज्ञेय में रहकर तुझे तेरे जानने की स्वच्छता के स्वभाव के कारण वह ज्ञेय और तेरा ज्ञान तुझमें तेरे कारण ज्ञात होता है। आहाहा!*** गज़ब बात है, पूरी दुनिया से उल्टी बात है। पूरी दुनिया का कर दे, मण्डली कर दे,

ऐसे कर दे और वैसे कर दे। अपने व्यवस्थापक व्यवस्था करो कि व्यवस्था बराबर हो। प्रभु कहते हैं कि चीज़ व्यवस्थित ही है। वह व्यवस्थित है, उसे व्यवस्था करना मानना, वह भ्रमणा-अज्ञान है। आहाहा! व्यवस्थापक (बड़े) होते हैं न, प्रमुख सामने कि यह इस मण्डली के व्यवस्थापक तुम बनो, यह सब काम तुम्हारे जिम्मे है, तुम्हारी जबावदारी है। आहाहा! प्रभु कहते हैं, सुन! जिसकी तू व्यवस्था करना चाहता है, वह कोई चीज़ है या नहीं? वह कोई चीज़ है या नहीं? और है तो उसकी अस्ति रखती है या नहीं? और उसकी अस्ति तुझमें प्रवेश कर डाली है या स्वतन्त्र अस्ति रखती है? आहाहा! देवचन्दजी! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : क्रमबद्धपर्याय....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो ऐसा ही है। जिस समय में जो पर्याय... यहाँ तो पर्याय होनेवाली, वह तो बराबर है, परन्तु यह पर की जो होती है, वह पर के (दूसरे के) कारण नहीं। ***क्रमबद्ध में जो पर्याय आती है, उसमें स्व-पर का जानना आता है, वह पर के कारण नहीं; वह स्व-पर जनने का स्वभाव स्वयं की स्वच्छता का है। निर्मलता का स्वभाव है; इसलिए उसे तू और पर दो ज्ञात होते हैं तुझमें, तेरे कारण। उस पर के कारण तू ज्ञात होता है और पर को तू जानता है-ऐसा नहीं है। आहाहा! भारी कठिन यह काम।*** पूरे दिन मानों करें-करें करूँ, दुकान में पेढ़ी पर बैठा हो, यह किया और यह किया, यह किया और यह किया। यहाँ से लाख रुपये कमाये और यहाँ से दो लाख कमाये और यहाँ से पाँच लाख किये... यह धूल में भी नहीं। सुन न! आहाहा! वह चीज़ अपनी सत्ता को छोड़कर तेरे ज्ञानस्वरूपी तू आत्मा है, उसकी सत्ता में आती नहीं और तेरी ज्ञान सत्ता, ऐसा भगवान आत्मा अपनी ज्ञान सत्ता छोड़कर पर में प्रवेश करता नहीं। आहाहा! कठिन काम।

कहीं ज्ञान उन्हें स्पर्श नहीं करता अथवा वे ज्ञान को स्पर्श नहीं करते। दोनों (बातें ली हैं)। ज्ञान, ज्ञात हो, उन्हें स्पर्श नहीं करता और ज्ञात होती हैं, वे चीज़ें ज्ञान को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! ***ये शब्द जो ज्ञान में ज्ञात होते हैं, वे शब्द नहीं ज्ञात होते; शब्द सम्बन्धी का अपना ज्ञान है, यहाँ वह ज्ञात होता है। वह ज्ञान की स्वच्छता का स्व और पर को जानने का स्वयं का स्वतः स्वभाव स्वतन्त्र है; इसलिए स्वयं स्व-पर को जानता है। पर के इन शब्दों को जानता है-ऐसा नहीं।*** शब्द तो ज्ञेय हैं, ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य हैं और आत्मा जाननेवाला है। उस जाननेवाले में ज्ञेय का प्रवेश नहीं है। ये शब्द उसे स्पर्श नहीं करते। शब्द जड़ है और आत्मा प्रभु अन्दर ज्ञानस्वरूपी चेतन है। उस चेतन को शब्द स्पर्श नहीं करते, तो भी शब्द का जो ज्ञान होता है, वह शब्द के कारण से नहीं; वह अपनी सामर्थ्य के कारण ज्ञान

होता है। आहाहा! इतना सब फेरफार। अभी तो सब ऐसे काम के करनेवाले (ने) ऐसा कर दिया और वैसा कर दिया और ऐसा कर दिया।

मुमुक्षु : छद्मस्थ को ज्ञान स्पर्श किये बिना किस प्रकार होगा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्पर्श किये बिना जानता है। अपनी स्वच्छता के कारण (जानता है)। ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वतः पर की अपेक्षा बिना निरपेक्षरूप से जानने का स्वभाव है। आहाहा! एक-एक शब्द, ध्यान रखे तो पकड़ में आये, ऐसा है, बापू! एक शब्द बदले तो पूरी बात बदल जाए, ऐसी है। अभी तो पागलपना चला है सब। अभी सब पागल, चतुर कहलाते हैं। आहाहा! दुनिया के पागल हैं। हम करते हैं, हमसे हुआ है.. आहाहा! हमने व्यवस्था रखी तो यह काम व्यवस्थित हुआ, उस व्यवस्थित काम में हमारा हाथ है, हमारा हाथ है; इसलिए काम व्यवस्थित हुआ। पागल है। आहाहा!

मुमुक्षु : उसने काम किया और ऊपर से पागल...

पूज्य गुरुदेवश्री : काम किया नहीं, काम किया नहीं। (किया) ऐसा माने, इसलिए पागल है। इन वकील ने सलाह की, इसलिए वह (मुकदमा) जीता है, वहाँ वकील ने दलील की है, रामजीभाई ने दलील की थी और वह जीता, यह बात अत्यन्त खोटी है। आहाहा!

ज्ञान में.. यह प्रभु अन्दर चैतन्य है, वह ज्ञानस्वरूप है। जैसे शक्कर मिठासस्वरूप है; वैसे भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है। उस ज्ञान का स्व-पर जानने का स्वभाव है। वह पर की अपेक्षा रखे बिना, पर में प्रवेश (किये) बिना; पर की अस्ति है; इसलिए पर को जानता है, ऐसा नहीं। आहाहा! कठिन बात, भगवान! वीतरागमार्ग बहुत कठिन है, भाई! परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव तीन काल के ज्ञान से इन्द्रों और गणधरों के बीच कहते हैं, वह यह वाणी है। आहाहा! अनन्त तीर्थंकरों का एक वाक्य है, यह एक ही वाक्य है, आहाहा! कि एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य को नहीं चुम्बता, चुम्बता-स्पर्शता नहीं है। गजब बात है, भाई!

यह हाथ दूसरे के शरीर को ऐसे छूता नहीं, कहते हैं। आहाहा! क्योंकि हाथ की अस्ति में जो छूता है, उसकी अस्ति नहीं है और इसमें उसकी अस्ति नहीं है। आहाहा! ऐसा कहा समझे ? निवृत्ति कहाँ है ? दुनिया की होली, काम-काज पूरे दिन, पूरे दिन अभिमान की होली सुलगती है। हम करते हैं... हम करते हैं.. हमने किया.. हमने किया.. हम चतुर। उसमें मेरा हाथ था, इसलिए वह काम सुधरा, ऐसा कहते हैं न ? उसमें मेरी उपस्थिति थी, इसलिए काम

सुधरा। आहाहा! प्रभु! काम सुधरा अर्थात् क्या? जो काम वहाँ कार्य हुआ वह-वह, वहाँ उस-उस द्रव्य से कार्य हुआ है और वह कार्य द्रव्य बिना का कार्य होता नहीं। कोई द्रव्य, पर्याय बिना का अर्थात् अवस्था बिना का अर्थात् कार्य बिना का होता नहीं। तब जो कार्य बिना का द्रव्य नहीं, उसे तूने कार्य किया.. शान्तिभाई! पागलपन किया होगा। अभी तक यह सब भाषण कर-करके। यह तो दृष्टान्त (है) शान्तिभाई नजदीक है, इसलिए। सब ऐसा ही करते हैं न! आहा!

'मैं करूँ मैं करूँ यही अज्ञान है, गाड़ा का भार ज्यों श्वान खीचे'—गाड़ा का भार। गाड़ा चलते हुए ठीठु कुत्ते को छुए तो वह मानो कि यह गाड़ा मुझसे चलता है। इसी प्रकार पैढ़ी पर बैठा, व्यापार चले जड़ का जड़ से... आहाहा! यह पैढ़ी पर बैठा, वह ऐसा माने कि यह मेरे कारण यह सब व्यवस्था चलती है। हिम्मतभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : हिम्मतभाई को दुकान पर जाना या नहीं जाना?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन जाए? कौन आये? बापू! प्रभु तो चैतन्यस्वरूप ही है न, भगवान! तेरा स्वरूप तो प्रभु! स्व-पर प्रकाशक शक्ति जानने की है न! पर का कुछ करने की, छूने की तुझमें शक्ति नहीं है। आहाहा! अक्षर लिखना, पुस्तक बनाना, पृष्ठ फिराना-यह आत्मा का कार्य नहीं है। अर र र! ऐसी बात कहाँ बैठे!

प्रभु! तू कौन है? तेरा स्वरूप क्या है? चेतन तेरा स्वरूप है। तेरा चेतन आत्मा चैतन्यस्वरूप है। चेतन आत्मा का चैतन्य—जानना-देखना—स्वरूप है, तो उस जानने-देखने में वह चीज़ ज्ञात हो-दिखे, वह चीज़ वहाँ आती नहीं और उस चीज़ के कारण ज्ञात हो-दिखे, ऐसा नहीं। जानने-देखने का तो स्वभाव अपना अपने से है। आहाहा! भारी कठिन काम। यह सब शिक्षा के और सब अधिकारी, ये डॉक्टर और वकील और ये है न, वह डॉक्टर का आज? जानेवाले हैं न सब? कहाँ? पालीताणा.. पालीताणा केन्सर। आहाहा! वह डॉक्टर ऐसा मानता है कि हमने केंसर मिटाया है। हमने उसकी दवा की। प्रभु! सुन भाई! उन दवा के परमाणुओं की अस्ति जगत में है या तेरे कारण है? तो उन परमाणुओं ने उसके कारण वह कार्य किया, उसमें तूने कहा कि मेरे कारण वह कार्य हुआ। आहाहा! गजब बात है, प्रभु! तेरी प्रभुता की भी महिमा। क्या कहा?

श्रोता : मानते हैं तो ऐसा कि हम काम करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : काम किये। धूल भी किये नहीं। आहा! हमने सब दुकान में देखा

है न! हमने दुकान चलायी है न, पाँच वर्ष दुकान चलायी है, (संवत्) १९६३ से १९६८, पालेज। पालेज है। भरुच और वड़ोदरा के बीच पालेज है। पाँच वर्ष दुकान (चलायी है)। बड़ी दुकान है। अभी दुकान है, वही दुकान है अभी। चालीस लाख रुपये हैं, चार लाख की आमदनी है। वही दुकान है अभी तब की। मुझे ६६ वर्ष तो दीक्षा लिये हुए, दुकान छोड़े ६८ वर्ष हुए। ६८ (वर्ष), फिर डेढ़ वर्ष पढ़ा था। यह अभी ९१ वर्ष हुए हैं। ९० और १ । सब देखा है, बहुत जाना है। जगत को देखा, बापू! आहाहा!

जहाँ हो, वहाँ अभिमान.. अभिमान.. अभिमान.. अभिमान.. पढ़ने (क्षयोपशम) का अभिमान या भाषण करने का अभिमान। आहाहा! इस अभिमान के कारण इसे मैं ज्ञानस्वरूप जाननेवाला हूँ (-ऐसा भासित नहीं होता)। यह अभिमान, वह मेरा स्वरूप नहीं। अभिमान करना, वह तो निरर्थक है; पर का काम करना-कर सकता हूँ, वह तो निरर्थक है। आहाहा! पर का भला करके मदद करूँ, वहाँ क्या तेरी चीज़ वहाँ चली जाती है कि तू उसे मदद करे? तेरी चीज़ तो तुझमें रहती है, उसकी चीज़ तो उसमें रहती है। प्रत्येक पदार्थ अपनी अस्ति में रहता है। उसमें उसकी अस्ति में दूसरे की अस्ति क्या काम करे? आहाहा! बहुत कठिन काम, भाई! व्यापारियों को यह सब पढ़े हुओं को...

श्रोता : आप कहते हो, वह है तो सत्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु तो ऐसी है। आहाहा!

यह यहाँ कहा, **कहीं ज्ञान उन्हें स्पर्श नहीं करता...** आत्मा तो ज्ञानस्वरूपी चैतन्य ब्रह्म है, आत्मा ब्रह्मानन्द प्रभु है। उसे भान नहीं, इसलिए काम और क्रोध, और विकार को करके अपना मानकर भटककर मर गया है चौरासी के अवतार में। आहाहा! भले यह दस-दस हजार के वेतनवाला हो। सब पंगु, सब पागल है। आहाहा! यह अरबपति हो, करोड़पति हो। आहाहा!

अफ्रीका में गये थे न? नैरोबी। सात लाख की आबादी है। वहाँ २६ दिन रहे थे। हमारा नाम प्रसिद्ध हुआ न, इसलिए लोगों को बहुत मान / प्रेम (था)। क्या कहते हैं ये महाराज? बहुत पत्र आये थे। अभी कल एक व्यक्ति कह गया, फिर से नैरोबी आओ महाराज! केशुभाई आये थे। बड़ी दुकानवाले बड़े गृहस्थ हैं। केशुभाई आये थे, (कहा) फिर से एक बार आना। भाई! अब ९१ वर्ष हुए, शरीर को ९१ वर्ष हुए। शरीर अलग आत्मा अलग। दोनों को कुछ लेना-देना नहीं है। शरीर को ध्यान रखो तो रहे-इस बात में एक प्रतिशत की दम नहीं है। आहा! ध्यान न रखो तो अन्दर रोग हो जाए, इस बात में कुछ दम नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु!

तेरी प्रभुता तो नाथ! स्व-पर को जानने की शक्ति में तेरी प्रभुता है। तेरी प्रभुता पर के काम करने में नहीं है। आहाहा! प्रभुता यहाँ है और अन्य काम करने में मेरी प्रभुता है, ऐसा मानता है। इस प्रभुता का गुण मानो वहाँ घुस गया हो! प्रभुता का गुण है आत्मा में, अनन्त गुण में प्रभुता नाम का एक गुण है आत्मा में। ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति, सुख, वीर्य – ऐसे अनन्त गुण आत्मा में हैं। उसमें एक प्रभुता नाम का गुण है। वह प्रभुता अपने गुण में रहकर अपना कार्य करती है, अपनी प्रभुता को बनाये रखती है। वह दूसरे की प्रभुता... यह हाथ डालकर मुझसे ये काम हुए... आहाहा! वह प्रभुता नाम का गुण कहाँ गया? और वह जो सामने चीज़ है, वह अपनी पर्याय और कार्यरहित है? आहा! समझ में आया?

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में प्रवेश नहीं करता तीन काल-तीन लोक में, और वह एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता और उसका कुछ भी काम करे तो ज्ञानस्वरूपी भगवान स्व-पर जाननेवाला रहा नहीं। स्व-रूप से रहकर पर को करे, वह तो पर में घुस गया। आहाहा! काम भारी कठिन। ये सब डॉक्टर, सब वकील, सब व्यापारी, सब पढ़े हुए, एम.ए... एल.एल.बी. पढ़े हुए कुछ दुनिया में काम नहीं करते होंगे? सब कार्यहीन बैठते होंगे? पर का काम करे, वह माननेवाला दुर्बल है क्योंकि अपने में पर का काम कर सके, ऐसा माल नहीं है। अपने में प्रभुता का माल है। वह पर को, स्व को जानने की प्रभुता का माल है। उसे रखना आवे, उसे प्रभुता का माल आता है। आहाहा! परन्तु वह अपनी प्रभुता पर के काम में जोड़ देता है, ऐसा वह मानता है परन्तु वह प्रभुता अपने प्रदेश को छोड़कर दूसरे प्रदेश को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! दूसरे किसी भी द्रव्य को अर्थात् वस्तु को; द्रव्य अर्थात् अकेला पैसा कुछ नहीं, धूल नहीं। धूल, पैसा तो धूल है। यह दूसरा सब यह धूल, धूल धमाड़ा है। पैसा, मकान और स्त्री-पुत्र और हजार तथा पचास लाख-लाख के मकान, बड़ी धूल है सब, धूल। यह मकान हमने बनाया और हम वास्तु सब कार्यकर्ताओं को बुलाकर और दो-पाँच-दस हजार खर्च करके बड़ा वास्तु किया। आहाहा! उसका अभिमान किया।

यहाँ कहते हैं कि तेरी चीज़ तेरे स्व-पर प्रकाशक स्वभाव को छोड़कर एक अंश में भी बाहर में नहीं जाती और बाहर का पदार्थ एक अंश भी तुझमें (आया नहीं)। आया था न यहाँ? प्रवेश दिखायी नहीं देता। अन्दर एक-दूसरे में एक-दूसरे का प्रवेश दिखायी नहीं देता। दिखायी नहीं देता, कहते हैं। तुझे ऐसा लगता है कि इसका यह घुस गया और इसे ऐसा हुआ, लकड़ी में कील घुस गयी और पैर में काँटा लग गया.. आहाहा! भारी ऐसी बातें दुनिया से उल्टी। आहाहा! दुनिया पूरी उल्टी है। पागल है और यह बात भगवान करते हैं।

तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव परमेश्वर (कहते हैं), प्रभु ! तू भटक मरा चौरासी के अवतार में। आहाहा ! यह लहसुन और प्याज के भव, शास्त्र में आता है अन्तर्मुहूर्त में ६६३३६ किये। अड़तालीस मिनिट में निगोद के भव मरे-जन्मे, मरे-जन्मे... अन्तर्मुहूर्त में ६६३३६ भव (किये)। यह एक बार नहीं परन्तु अनन्त बार किये। प्रभु ! तू भूल गया। आहा ! आचार्य महाराज तो कहते हैं.. चन्दुभाई ! आचार्य महाराज कहते हैं कि मैं गत काल के जहाँ दुःख स्मरण करता हूँ (तो) चोट लगती है। आचार्य स्वयं कहते हैं। मैं जहाँ गत काल के दुःख स्मरण करता हूँ... बापू ! तूने विचार किया नहीं, दुःख क्या कहलाता है ? उस दुःख की मर्यादा और दुःख की हद। आहाहा ! कहते हैं कि मैं विचार... आचार्य समकित ज्ञानी.. आहाहा ! गत काल में भटकते-भटकते जो दुःख भोगे, प्रभु ! क्योंकि है तो आत्मा अनादि का, (तो) कहाँ रहा ? भवभ्रमण में रहा, मुक्ति हुई नहीं। जो चना पका हो, वह मिठास दे और बोने से उगे नहीं। इसी प्रकार यदि आत्मा अज्ञान का नाश करके पक्का हो तो जन्म हो नहीं और आनन्द दे और कच्चा चना मिठास दे नहीं और बोने से उगे। इसी प्रकार अनन्त काल का अज्ञानी आत्मा अज्ञान के कारण दुःख भोगता है और उगता है (अर्थात्) भव धारण करता है।

श्रोता : दुःख विस्मृत हो गये हों, उन्हें याद किसलिए करना चाहिए ?

पूज्य गुरुदेवश्री : याद करने के लिए, अन्दर वैराग्य के लिए, कहते हैं। आहाहा ! वैराग्य करने के लिए कि आहाहा ! प्रभु ! मैंने कहाँ काल बिताया ? इस भव से पहले कहाँ था ? उसके पहले कहाँ ? उसके पहले कहाँ ? उसके पहले कहाँ ? कभी विचार (किया नहीं)। वर्तमान भव के अतिरिक्त विचार नहीं होता। पागल, इतना पागल है, पागल है। भले वह करोड़पति हो और अरबपति हो। आहाहा ! कहा था वहाँ नैरोबी गये थे तब (कहा था) अफ्रीका में अभी गये थे न ? नैरोबी। वहाँ साढ़े चार सौ तो करोड़पति हैं। एक गाँव में, एक गाँव में साढ़े चार सौ करोड़पति और पन्द्रह अरबपति। लोगों को बहुत प्रेम था, प्रार्थना बहुत थी। गये थे, छब्बीस दिन रहे थे। नैरोबी-अफ्रीका। परन्तु सब पैसा.. पैसा.. पैसा.. ढेर पैसे का, उसके कारण सूझ नहीं पड़ती उसे बेचारे को। पच्चीस-पच्चीस, पचास-पचास लाख के कपड़े तो दुकान में हैं। ऐ... बड़ा धन्धा और उसमें उसकी सफाई और... आहाहा !

श्रोता : वहाँ के लोग बहुत सुखी हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुःखी हैं। आहाहा ! पराश्रय में सुख नहीं, ऐसा नहीं कहते ? पराधीन, वह सुख नहीं, पराधीन है। अपना स्वभाव छोड़कर... आहाहा ! पर के भाव में अपनेपन का

अभिमान (करता है)। है नहीं, उसे है - ऐसा मानना; पर के कार्य कर नहीं सकता, उसे कर सकना मानना, महा झूठ, असत्य और अज्ञान का सेवन करनेवाले हैं। यह तो ढिंढ़ोरा पीटकर बात है। आहाहा! जो काम कर नहीं सकता, उस काम को कर सकता हूँ—ऐसा मानकर स्वयं को भूलकर परिभ्रमण कर रहा है। आहाहा! मैं कौन हूँ? आहाहा! श्रीमद् कहते हैं न...

'मैं कौन हूँ? आया कहाँ से? और मेरा रूप क्या?
सम्बन्ध दुःखमय कौन है? स्वीकृत करूँ परिहार क्या?
इस विचार विवेकपूर्वक शान्त होकर कीजिये,
तो सर्व आत्मिक ज्ञान के सिद्धान्त का रस पीजिये॥४॥'

सोलह वर्ष में (लिखा)। श्रीमद् की देह की उम्र सोलह वर्ष की। आत्मा को उम्र कैसी! आत्मा तो अनादि-अनन्त है। है.. है.. है.. और है.. यह धूल यदि यह न हो और धूल जाये, उसे कहे कि मर गया, आत्मा मरता है? वह भी कहाँ मरता है? वह भी जिसकी अवस्था ऐसी है, वह अवस्था दूसरी हुई, उसे मरण कहते हैं। कहीं परमाणु मर नहीं जाते। आहाहा! यह परमाणु जड़ हैं, उनका कहीं अभाव नहीं होता। अभी यह शरीर की अवस्था है। वह श्मशान में जलकर राख की होगी। अवस्था बदलेगी, पर्याय बदलेगी। वस्तु कभी अभाव होगी, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! कठिन है, प्रभु! बात परम सत्य है। आहाहा!

प्रभु! तेरी महिमा का पार नहीं। तुझे तेरी महिमा की खबर नहीं और तू परचीज़ में महिमा लेने जाता है। आहाहा! परचीज़ की अधिकाई में तू महिमा लेने जाता है, (उसमें) तेरी महिमा लुट जाती है। उसका तुझे विचार भी नहीं। आहाहा! जहाँ हो वहाँ मैंने किया काम, यह काम मैंने किया, मुझसे हुआ, मेरे कारण हुआ। आहाहा! यह यहाँ इनकार करते हैं।

ज्ञान उन्हें स्पर्श नहीं करता अथवा वे ज्ञान को स्पर्श नहीं करते। ऐसा होने पर भी, ज्ञान में अन्य द्रव्यों का प्रतिभास देखकर... ज्ञान में उस-उस समय जो जानने की योग्यता हो, वह-वह पदार्थ ज्ञात होता है। वह पदार्थ ज्ञात होता है, यह व्यवहार है। अपना ज्ञान उस सम्बन्धी का जानना, उसका नाम निश्चय है। आहाहा! इसे कितना बदलना पड़ेगा। आहाहा! पूरा बदलना पड़ेगा। आहाहा! अरे रे! अनन्त-अनन्त काल कहाँ व्यतीत हुआ, प्रभु! कहाँ गया? रहा तू? आहाहा! तुझे रहने का अनन्त काल कहाँ हो? नाथ! अनन्त काल तो आत्मा में रहने का हो। यही वस्तु की स्थिति है। आहाहा!

भगवान आनन्द और ज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु में रहने के लिये तेरी योग्यता है।

उसके बदले राग और द्वेष और अज्ञान में रहकर (तू) लुट गया है, प्रभु! लुट गया है और मानता है कि हम कुछ बढ़ गये हैं और कुछ दूसरे की अपेक्षा आगे (विशिष्ट) हो गये हैं। आहाहा! ऐसा तुम्हारे हांगकांग का धन्धा, धन्धा लाखों रुपये की आमदनी, इसलिए मानो ओहोहो! और वह फिर लाखों रुपये दे कहीं दान में (तो) मानो लाख दिये तो जाने क्या हुआ? उसमें धूल में है, बापू! वे करोड़ों रुपये दे न, धर्म नहीं है। वह करोड़ जड़, मिट्टी, धूल है। धूल का स्वामी होकर माने तो मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। मेरे हैं, जो तेरे ज्ञान में ज्ञात होने योग्य है, उसे तू मेरे रूप (अपने रूप) मानता है। आहाहा! ज्ञान का स्वभाव है कि पर उसमें ज्ञात हो, स्वयं के कारण से, पर के कारण से नहीं। आहाहा! उसे पर के कारण से ज्ञात नहीं होता, तथापि उसे पर के कारण वह ज्ञात होता है और पर का स्वामी होता है, कहते हैं कि वह अज्ञान है।

लोग 'ज्ञान को परज्ञेयों के साथ परमार्थ सम्बन्ध है' ऐसा मानते हुए... देखो? आहाहा! भाई! जितने वर्ष रहे, उतना तो सम्बन्ध है या नहीं? स्त्री के साथ, पुत्र के साथ, परिवार के साथ, पैसे के साथ, मकान के साथ, फिर भले मरकर जाये कहीं। परन्तु यह सौ वर्ष, पचास वर्ष तो रहे या नहीं? बापू! उसमें भी रहा नहीं, तुझे भान नहीं। तेरी सत्ता में तो स्व-पर जानने का स्वभाव तेरा स्वरूप है। उसके बदले पर के काम करूँ और पर मेरे (मानना), वह भ्रम और मिथ्यात्व है, वह भव-भ्रमण का मूल है। आहाहा! चौरासी लाख के भटकने का मार्ग है, बापू! प्रभु! तेरी कीमत की तुझे खबर नहीं है। आहाहा!

आया था यहाँ, नहीं कल? भव के कारण नहीं? भव का भींत... कल आया था, नहीं? दोपहर को। भव का भींत, भव का भय। आहाहा! अरे रे! यहाँ के बाद कहाँ जायेगा और कहाँ रहा? ऐसे भव के भय का डर करके और एक बार आनन्द में आ न, प्रभु! आहाहा! गुरु ने तुझे ऐसा कहा था, ऐसा वहाँ आया था। गुरु के सान्निध्य में आत्मा को सुखकारी सुना था, तो उन्होंने सुखरूप से सुनाया, वह सुखरूप है। आहाहा! वैसा गुरु ने उसे सुखकारी है, ऐसा सुनाया है। गुरु ने उसे, ऐसा कर और ऐसा कर, ऐसा नहीं सुनाया। आहाहा! कल आया था। आहाहा! अमुक कर और तेरे इस काम में होशियार कर, एल.एल.बी. हो और एम.ए. का पुच्छल्ला लगाया, डॉक्टर, एल.एल.बी. का वकीलों को... आहाहा! अरे! उसमें कुछ नहीं है, बापू!

एक बार तू कौन है और तू क्या कर सकता है और तुझसे भिन्न चीज़ क्या है और वह-वह उसके कारण से काम से पलट रही है। उसकी पर्याय उसके कारण से पलट रही है, उसे मैं पलटाऊँ, ऐसा तेरा अभिमान कहाँ ले जायेगा? प्रभु! आहाहा! वहाँ कोई सिफारिश नहीं

चलेगी। मैंने ऐसे बहुत काम किये थे; इसलिए किसी की सिफारिश... कुदरत के नियम में तो जो वस्तु का स्वरूप है, तद्नुसार होना है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, परमार्थ से तू सम्बन्ध है, ऐसा मानता है। **ऐसा मानते हुए ज्ञानस्वरूप से च्युत होते हैं...** आहाहा! यह ज्ञानस्वरूपी चैतन्य प्रभु! प्रज्ञाचक्षु, यह तो ज्ञान की आँखें हैं जिसकी, ऐसा ही यह भगवान आत्मा है। उस ज्ञान को.. आहाहा! ज्ञानस्वरूप से च्युत होता है। परमार्थ से पर का काम करता हूँ और दूसरों को मैं सलाह देकर काम करता हूँ, यह सब अज्ञानता-मूढ़ता है। आहाहा! इस मान्यता में ज्ञानस्वरूप से भ्रष्ट हुआ है।

यह उनका अज्ञान है। उन पर करुणा करके आचार्यदेव कहते हैं कि—यह लोग तत्त्व से क्यों च्युत हो रहे हैं? अरे! प्रभु! तू तत्त्व से कहाँ भ्रष्ट होता है? आहाहा! आचार्य महाराज का पुकार है, प्रभु! तेरा तत्त्व ज्ञानानन्द, सच्चिदानन्द प्रभु है। वह पर के काम करना मानकर तेरे तत्त्व से क्यों च्युत होता है? प्रभु! तुझे क्या हुआ यह? आहाहा! तुझे कौन बतानेवाला ऐसा मिला कि भटक मरता है तू? किसी ने तुझे ऐसा कहा नहीं कि तू ज्ञानस्वरूप भगवान है। पर को और तुझे कोई सम्बन्ध नहीं है। पर तेरा नहीं, तू उनका नहीं, आहाहा! गजब काम, भाई!

पूरे दिन स्त्री, पुत्र, धन्धा, व्यापार, छह-सात घण्टे नींद, फिर दो-चार घण्टे स्त्री, पुत्र, प्रसन्न करने में रहे। दो-चार घण्टे, छह घण्टे धन्धे में रहे। उसमें कहाँ बचे इसमें? मेरा क्या होगा? मैं यहाँ से कहाँ जाऊँगा? मेरी सत्ता तो है, तो है वह सत्ता तो रहेगी। देह का नाश होगा, देह के नाश का अर्थ ही पर्याय पलटेगी। इसकी पर्याय पलटेगी परन्तु उसके साथ तू पलट जायेगा, उसके साथ? आहाहा! हाँ, तू पलट जायेगा परभव की पर्यायरूप। आहाहा! परन्तु शरीर के नाश में तेरा नाश शामिल नहीं है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। अरे! आचार्य महाराज पुकार करते हैं, **यह लोग...** आहाहा! **तत्त्व से क्यों च्युत हो रहे हैं?** ऐसा जो तत्त्वस्वरूपपना भगवान स्व-पर प्रकाशक शक्ति का धनी, ऐसा यह पर के काम मैं करके अभिमान कर-करके क्यों स्वरूप से च्युत होते हैं? स्वरूप से च्युत होकर कहाँ भटककर मरता है उसमें तो? ऐसे अन्त में बात की। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

१९

श्री नियमसार, गाथा ११९, प्रवचन-११३

दिनांक - ०४-०७-१९६६

(नियमसार) ११९वीं गाथा। जरा सूक्ष्म है, सूक्ष्म। कल चली है, उसका कारण हिन्दी में चली है। अब गुजराती में। देखो! क्या कहते हैं? पाठ है न? गाथा का ही यह अर्थ है। कोई ऐसा कहे कि पाठ में ऐसा कहाँ है इतना सब? आलोचना करते हैं न, कितने ही? पाठ में **'सव्वभावपरिहारं'** और **'तम्हा झाणं हवे सव्वं'** - दो में से यह सब निकाला है। क्या कहते हैं? **समस्त परद्रव्यों के परित्यागरूप लक्षण से लक्षित अखण्ड-नित्यनिरावरण-सहज-परमपारिणामिकभाव की भावना से औदयिक, औपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक इन चार भावान्तरों का परिहार करने में अति-आसन्नभव्य जीव समर्थ है,...** इतने की व्याख्या चलती है। कहाँ गये? मनोहरचन्दजी! जरा सूक्ष्म है, ध्यान रखना।

यह आत्मा है, आत्मा, परमपारिणामिक अर्थात् त्रिकाल ध्रुव शाश्वत स्वभाव। ध्रुव नित्यानन्द नित्य शाश्वत वस्तु; एक समय की पर्याय नहीं। राग-द्वेष नहीं, निमित्त नहीं, एक समय की दशा नहीं। एक समय की प्रगट अवस्था है, वह नहीं। त्रिकाली परमस्वरूप भगवान परमात्मस्वरूप स्वयं, वह **समस्त परद्रव्यों के परित्यागरूप लक्षण से लक्षित...** है। परद्रव्य शरीर, वाणी, मन, पुण्य और पाप, एक समय की अवस्था। कहो, समझ में आया? उसके (परित्यागरूप) लक्षण से लक्षित। भगवान आत्मा एक समय में पूर्ण वस्तु स्वभाव है। वह परद्रव्य के परित्याग लक्षण से लक्षित। परित्याग लक्षण से लक्षित अर्थात् इसका अर्थ यह कि शरीर-वाणी-मन से भी वह लक्ष्य में आवे - ऐसा नहीं। दया, दान, व्रत के परिणाम से भी वह आत्मा दृष्टि में आवे, ऐसा नहीं; तथा एक समय की पर्याय का आश्रय करने से भी वह लक्ष्य में आवे, ऐसा नहीं। भारी सूक्ष्म। समझ में आया?

अकेला परमात्म पिण्ड चैतन्य प्रभु, वह परवस्तु के अभाव-स्वभाव से लक्षण से लक्षित हो सके, ऐसा है। नहीं समझ में आया? वस्तु जो है, पदार्थ शाश्वत नित्य आनन्द वस्तु (जो है), वह परवस्तु में अर्थात् शरीर, वाणी, मन, कर्म, देव-गुरु-शास्त्र आदि पर; पुण्य-पाप के भाव पर; एक समय की अवस्था भी वास्तव में परद्रव्य है। उस परद्रव्य के परित्यागरूप-

उसके अभावरूप, त्रिकाल ज्ञायकभाव के लक्षण से लक्षित ऐसा आत्मद्रव्य है, उसे यहाँ आत्मा-परम स्वभावभाव को आत्मा कहते हैं। उस परम स्वभावभाव का आश्रय लेना; आश्रय लेना-इसका नाम उस पर्याय को धर्म कहते हैं। पर्याय जो है, धर्म की पर्याय प्रगट होवे, उसका भी आश्रय लेना नहीं, ऐसा कहते हैं। अरे.. ! अरे.. ! गजब बात, भाई !

यह तो (एक ओर) एकरूप भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध द्रव्यस्वभाव शाश्वत (है और) एक ओर एक समय की पर्याय रागादि, परद्रव्य सब; उनके अभाव-स्वभाव के लक्षण से लक्षित है। अर्थात् उस पर का लक्ष्य छोड़कर, एक समय की पर्याय; राग, दया, दान, विकल्प, मन्द कषाय; या निमित्त—इन तीनों का लक्ष्य छोड़कर अपने स्वभाव के लक्ष्य से लक्षित ऐसा आत्मा, उसे अखण्ड नित्य-निरावरण-सहज-परमपारिणामिकभाव कहा जाता है। आहाहा ! भारी सूक्ष्म है। यह ग्रामीण भाषा हुई, ग्रामीण हुई एकदम। कल से तो सब...

पदार्थ है न, आत्मा ! वह एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में वस्तु द्रव्य.. द्रव्य अर्थात् वस्तु, पदार्थ शाश्वत, शाश्वत नित्य तत्त्व, वह एक समय की अवस्था, परन्तु उसकी प्रत्येक स्वद्रव्य की अपेक्षा से शरीर, कर्म, देव-शास्त्र-गुरु, वे तो परद्रव्य हैं, परन्तु इस स्व अखण्ड अभेद द्रव्य की अपेक्षा से पुण्य और दया, दान के विकल्प, वे परद्रव्य हैं। उन्हें वर्तमान जाननेवाली एक समय की अवस्था भी त्रिकाल अखण्ड द्रव्य की अपेक्षा से वह भी परद्रव्य है। विमलचन्दजी ! गजब बात, भाई ! यह गाथा तो पाठ में है, हों ! यह टीकाकार ने निकाला है - ऐसा नहीं है। **अप्पसरुवालंवण** आत्मा त्रिकाल ज्ञायक शुद्धभाव, ध्रुवभाव के अवलम्बन से प्रगट हुआ भाव, वह सर्व भाव के परिहार करने में समर्थ है। समझ में आया ? अर्थात् कि ऐसा परम ध्रुवस्वभाव दृष्टि में लेना। ऐसा शाश्वत भगवान आत्मा, वह वर्तमान ज्ञान में, ज्ञान में उसे ज्ञेय बनाना, तब उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र धर्मदशा होती है। समझ में आया ? वह धर्मदशा हो, उसके आश्रय से भी धर्म नहीं प्रगट होता। समझ में आया ? ***वह धर्मदशा, परन्तु एक न्याय से उसे, एक समय की अवस्था है, इसलिए उसे परद्रव्य कह दिया।*** परन्तु सूक्ष्म बहुत, भाई ! इसे वीतरागमार्ग का तत्त्व सर्वज्ञ कथित (तत्त्व) का क्या स्वरूप है, इसे कान में पड़ा नहीं, कितने ही विचारों को (सुनने मिला नहीं)। बाड़ा (सम्प्रदाय) में जन्मे, हम जैन, परन्तु जैन किसे कहते हैं, उसकी इसे खबर नहीं। अभी (जिसे) खबर नहीं, उसे धर्म हो अन्दर में ? कहाँ से होता होगा ? धूल में।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह क्रिया किसकी ? किसमें ? किस तत्त्व में ? किस तत्त्व

में ? करना सही, परन्तु किस तत्त्व में ? किस तत्त्व में ? कैसा वह तत्त्व है कि उसमें क्रिया करना ? शरीर में करना ? वाणी में (करना) ? वह तो जड़ है। पुण्य-पाप के विकारभाव, वे तो विभाव हैं। एक समय की अवस्था में करना क्रिया ? उसमें करना क्रिया ? एक समय की दशा, वह तो पलटती-बदलती अवस्था है। उसमें करना क्रिया ? माँगीलालजी ! यह गाथा बहुत ऊँची है, कभी सुना नहीं होगा वहाँ बाड़ा में ! आहाहा !

यह गाथा भी भारी और अर्थ भी इनने **अप्पसरुवालंब-अप्पसरुवालंब** - आत्मा का रूप जो त्रिकाल स्वरूप। वर्तमान उत्पाद-व्यय की पर्यायरहित **अप्पसरुवालंब** ध्रुवरूप परमपारिणामिक स्वभाव। आहाहा ! वह आत्मा का रूप है। इसके अतिरिक्त एक समय की प्रगट दशा, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। ऐई ! ***शरीर, वाणी, मन तो आत्मा का रूप नहीं; हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, काम-क्रोध के परिणाम, वे आत्मरूप नहीं; दया, दान, भक्ति, व्रत, तप, यात्रा के भाव हों, वे आत्मरूप नहीं, परन्तु उसमें वर्तमान ज्ञान, दर्शन और वीर्य की जो दशा प्रगट है-एक समय की दशा-(है), वह भी आत्मरूप नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ?***

भगवान आत्मरूप शाश्वत ध्रुव परमस्वभावभाव का भण्डार परमात्मा स्वयं साक्षात् जिनस्वरूप आत्मा का, शाश्वत जिनस्वरूप, वीतराग बिम्ब आत्मा का परमस्वभाव, उसे आत्मा कहा जाता है। आहाहा ! उस आत्मा का अवलम्बन; अवलम्बन अर्थात् कि जिस दशा में उसका आधार (लिया जावे), वर्तमान दशा में उसका अवलम्बन, वर्तमान दशा में उसका आधार, वर्तमान दशा को उस आत्मा का आश्रय। इस वर्तमान दशा ने जो उसका आश्रय लिया, उस दशा को धर्म कहा जाता है, परन्तु वह धर्मदशा भी वास्तव में आश्रय करनेयोग्य नहीं है। आहाहा ! न्यालभाई ! गजब बात, परन्तु सुनी न हो वहाँ कभी। यह सेठिया व्यक्ति कहलाता है, लो ! आहाहा !

सर्वज्ञ परमेश्वर वीतरागदेव त्रिलोकनाथ, जिनकी वाणी में (ऐसा आया) कि भाई ! तू त्रिकाली शाश्वतरूप जो ध्रुवरूप; जिसमें एक अंश खण्डरूप भाव, वह भी नहीं। इसलिए लिया है न ? अखण्ड नित्य निरावरण। भेद नहीं। पर्याय का अंश-एक अवस्था है, वह तो खण्ड है, भेद है। अखण्ड नित्य निरावरण, अखण्ड एकरूप नित्य कायम निरावरण, ऐसा सहज स्वाभाविकभाव, त्रिकाली स्वाभाविकभाव, त्रिकाली चैतन्यध्रुव परम स्वाभाविक भाव, यह द्रव्य कहा, उसे द्रव्य कहा, उसे स्वद्रव्य कहा। वह स्वद्रव्य है, उसकी भावना से-यह स्वद्रव्य जो कहा, उसकी अन्तर एकाग्रता से; जो एकाग्रता हुई, उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र कहा जाता है। आहाहा ! समझ में आया ?

उसकी भावना से, पाठ में तो '**भावेण**' है न ? भाई ! '**भावेण**' '**अप्पसरूवालंबणभावेण**' ऐसा। '**भावेण**' आत्मा के स्वरूप के अवलम्बनरूप भाव द्वारा अर्थात् कि ***भगवान आत्मा नित्यानन्द प्रभु, जिसका एक समय का उत्पाद-व्ययरूप परिणाम जो है,... विकार—पुण्य-पाप, वह तो कुछ नहीं, वह तो वस्तु में नहीं परन्तु जो उसकी शुद्धपर्याय प्रगटरूप जितनी है, वह भी आत्मरूप नहीं, निश्चय आत्मरूप नहीं।*** निश्चय आत्मरूप तो शाश्वत् ध्रुव अखण्ड निरावरण नित्य प्रभु वह परमस्वभाव है। उसे भगवान आत्मरूप, नित्यरूप, अभेदरूप, परमस्वभावरूप आत्मा कहते हैं। आहाहा ! कल थोड़ा चला था। यह तो गुजराती चलता है।

इतनी लाईन में वहाँ तक लिया, देखो ! परमपारिणामिकभाव, वह ध्रुव, नित्य वस्तु हुई; उसकी भावना, वह पर्याय हुई। उसकी भावना अर्थात् एकाग्रता, वह पर्याय हुई, परन्तु एकाग्रता वस्तु में, वस्तु.. वस्तु.. वस्तु.. नित्यानन्द अखण्ड अभेद चिदानन्द प्रभु (में) एकाग्रता द्वारा, एकाग्रता द्वारा औदयिक—पुण्य-पाप के भाव, वे उदयभाव हैं, उन्हें छोड़ने को वह भाव समर्थ है, ऐसा कहते हैं। कौन सा भाव ? आत्मा के रूप के अवलम्बन द्वारा प्रगट हुआ भाव, वह भाव पुण्य-पाप को छोड़ने में समर्थ है। वस्तु के अवलम्बन से प्रगट हुआ भाव अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अर्थात् निर्मल, निर्विकारी जो दशा; जो त्रिकाली आत्मा के अवलम्बन से प्रगट हुई दशा है; वह दशा, विकार को छोड़ने में समर्थ है। इस उपशमभाव आदि सम्यग्दर्शन को भी वह छोड़ने समर्थ है कि जिसका आश्रय उसे है नहीं। इस क्षायिकभाव को छोड़ने को वह भाव समर्थ है,क्योंकि वह भाव जो आत्मा के आश्रय से प्रगट हुआ, उस क्षायिकभाव का भी जिसे आश्रय नहीं, आश्रय नहीं; इसलिए परिहार करनेयोग्य भाव द्वारा; क्षायिकभाव भी परिहार करनेयोग्य है, ऐसा कहा गया है। राजमलजी ! समझ में आया ? आहाहा !

वह परमस्वरूप भगवान आत्मा नित्यानन्द प्रभु.. समझ में आया ? वीतराग परमेश्वर जैन तीर्थंकरदेव, जिन्हें एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में तीन काल-तीन लोक का ज्ञान जाना और प्रगट हुआ; वे भगवान ऐसा फरमाते हैं, वे परमेश्वर ऐसा हुकम करते हैं कि अरे ! आत्मा ! तेरा कल्याणभाव प्रगट हो, धर्मभाव प्रगट हो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो धर्मदशा, वह किसके आश्रय से प्रगट होती है ? त्रिकाली भगवान पूर्णानन्द का नाथ आत्मा शुद्ध (है), उसके आश्रय से धर्म प्रगट होता है। समझ में आया ? ये निमित्त, आत्मा के अतिरिक्त पर देव-गुरु-शास्त्र से सम्यग्दर्शन-ज्ञान धर्म प्रगट नहीं होता। अन्दर में दया, दान, व्रत के शुभभाव-परिणाम हों, उनसे धर्म प्रगट नहीं होता। अन्दर में धर्म प्रगट हुआ, आत्मा के अवलम्बन से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (प्रगट हुए), उनके आश्रय से धर्म प्रगट नहीं होता।

पहली तो बात की। पूरा दल ही चैतन्य अनन्त गुण का पिण्ड ध्रुव परमात्मा स्वयं ही वस्तु है। द्रव्य कहो, वस्तु कहो, पदार्थ कहो, शक्तिमान अनन्त सामर्थ्यवाला एकरूप तत्त्व आत्मा, वह भगवान आत्मा, जिसे यहाँ परमपारिणामिकभाव से कहा। परमपारिणामिकभाव अर्थात् जिसे पर्याय की-अवस्था की अपेक्षा नहीं; अवस्था प्रगटी या अवस्था गयी; विकार प्रगटा या विकार गया, उस किसी अवस्था की जिसे अपेक्षा नहीं है-ऐसा भगवान आत्मा ध्रुव शाश्वत, जिसमें अनन्त सदृश शक्तियों का पिण्ड जो आत्मा, उसे यहाँ परमपारिणामिकभाव कहा है। उसकी भावना, उसकी एकाग्रता, ऐसे द्रव्यस्वरूप की अन्तर एकाग्रता; उस एकाग्रता को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अथवा धर्म की दशा कहते हैं। इस धर्मदशा द्वारा धर्मी को, त्रिकाली धर्मी के आश्रय से प्रगट हुई धर्मदशा द्वारा धर्मी जीव **औदयिक, औपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक इन चार भावान्तरों का परिहार करने में अति-आसन्न भव्य जीव समर्थ है,...** क्या कहते हैं ?

भगवान आत्मा, पूर्ण नित्यानन्द प्रभु आत्मा के अवलम्बन से, आश्रय से, आधार से जो अन्तर दशा प्रगट हो, ऐसे जो सम्यक्, निर्मल, दर्शन, चारित्र और ज्ञान, उस दशा द्वारा पुण्य-पाप के भाव टालने को वह पर्याय समर्थ है। उपशमभाव धर्म की दशा प्रगट हुई, उसका आश्रय करनेयोग्य वह भाव नहीं। इससे वह भाव उपशमभाव को परिहार करने में समर्थ है। क्षायिकभाव में उसका आश्रय नहीं। उस धर्मदशा का आश्रय क्षायिकभाव नहीं; इसलिए वह दशा क्षायिकभाव को परिहार-छोड़ने में समर्थ है; और वह भाव (दशा) क्षयोपशमभाव का आश्रय (नहीं) करती, वह धर्मदशा क्षयोपशमभाव के विकास का आश्रय नहीं करती, वह भाव आत्मा के त्रिकाल के आश्रय से-अवलम्बन से है; इसलिए वह भाव क्षयोपशमभाव का परिहार करने में समर्थ है। कहो, ज्ञानचन्दजी ! यह कैसा भगवान का धर्म ! यह क्या होगा ?

कहते हैं, प्रभु ! पूर्णानन्द का नाथ ध्रुव शाश्वत जिनस्वरूप ही आत्मा का द्रव्य है। द्रव्य अर्थात् वस्तु। वस्तु, वह जिनस्वरूप है, वीतरागस्वरूप है, परमानन्द एकरूप त्रिकाल ध्रुव शाश्वत स्वरूप है। ऐसा परमात्मा परम स्वरूप यह भगवान आत्मा त्रिकाल का आश्रय करने से, उसका लक्ष्य करने से, उसका अवलम्बन करने से, उसके आधार से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-शान्ति धर्म की प्रथम दशा उसके आधार से प्रगटे, वह धर्मभाव; वह धर्मभाव अपने भाव का भी परिहार करने में समर्थ है। (अर्थात्) वह भाव अपने भाव का भी आश्रय नहीं करता। गजब बातें, भाई ! यह। नगीनभाई ! यह वाणी वीतराग की, यह मूल तत्त्व वीतराग का। अब उसकी बात जिसे कान में पड़ी नहीं, अब वह धर्म कहाँ से करता था ? समझ में आया ?

सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ, जिन्हें एक समय में तीन काल–तीन लोक ज्ञात हुए, ऐसे अनेक तीर्थंकर वर्तमान में विराजते हैं। महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान आदि तीर्थंकर। वे सौ इन्द्रों की उपस्थिति में समवसरण में भगवान की वाणी में ऐसा आया कि भगवान यह आत्मा! एक–एक आत्मा, प्रत्येक का पूर्ण स्वभाव से भरपूर (स्वरूप) है। उसका अन्तरलक्ष्य करके, उसक आश्रय करके, उसे अवलम्बन बनाकर अपनी धर्मदशा प्रगट होती है। उसका आधार बनाकर जो दशा प्रगट होती है, उसे धर्म कहते हैं। वह धर्म, वह धर्मदशा उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक–ऐसी चार प्रकार की पर्यायों का भाव है, उसका आश्रय नहीं करती; इसलिए वह दशा चार भाव को छोड़ने को समर्थ है। वह भाव, द्रव्य का आश्रय ग्रहण करता है, परन्तु वह भाव चार भाव को (और) अपने को भी छोड़ देता है। उसे स्वयं का भी आश्रय नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? ऐ.. मलूपचन्दभाई! करो सामायिक और करो प्रतिक्रमण! परन्तु किसके सामायिक और प्रतिक्रमण? अभी कौन है? कितना है? कहाँ है? उसका आश्रय किया नहीं और कहाँ से तेरा धर्म आया? भगवानभाई! आहाहा!

कहते हैं कि आत्मा स्वरूप से भगवान पूर्णानन्द वीतरागदेव ही साक्षात् आत्मा है। पर्याय में, पर्याय में भगवान प्रगट हुए। केवलज्ञानी वीतराग तो अवस्था में प्रगट हुए परन्तु वस्तु तो वीतराग भगवान साक्षात् आत्मा है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध ध्रुव चैतन्य शाश्वत् है, उसका अवलम्बन लेकर, आश्रय लेकर (उसके) आधार से जो श्रद्धा–ज्ञान और शान्ति दशा; जिसे यहाँ भावना शब्द से कहा, ऐसे स्वरूप की भावना अर्थात् एकाग्रता जिसे कहा; उस एकाग्रता का भाव, वह चार भावरूपी जो दशा—उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक और उदय – इनका आश्रय नहीं करती अर्थात् इन्हें छोड़ने को वह भाव समर्थ है। इस एक को ग्रहण करने में समर्थ है और चार को छोड़ने में समर्थ है। एक को ग्रहने में समर्थ और चार को छोड़ने में समर्थ है – ऐसा कहते हैं। आहाहा! कहो, समझ में आया? कहो, जगुभाई! विवाद उठे, ऐसा हुआ न... सुन तो सही! अब तुझे धर्म कैसे हो? कहाँ से हो? किस खान में से धर्म आयेगा? उस खान की तो तुझे खबर नहीं है। वह कैसी चीज़ है, उसकी तो तुझे खबर नहीं है। परन्तु तू धर्म लायेगा कहाँ से?

धर्म अर्थात् वीतरागी दशा, धर्म अर्थात् वीतरागी दशा। सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र, वह धर्म निर्मल, निर्दोष दशा। वह निर्दोष दशा कहाँ से प्रगट होगी? कहते हैं। समझ में आया? क्या संयोग, कर्म, शरीर में से, देव–गुरु–शास्त्र में से आयेगी वह? या ये तेरे पुण्य के, पाप के परिणाम हुए, उसमें से दशा होगी? या ये पुण्य के परिणाम हैं, उसमें से होगी? अथवा यह

वर्तमान ज्ञान-दर्शन और वीर्य का उघाड़ वर्तता है एक समय का, उसमें से धर्मदशा आयेगी ? समझ में आया ?

भगवान आत्मा... ऐसी जो धर्म पर्याय है, ऐसी तो अनन्त-अनन्त पर्यायों का धारक एक गुण; ऐसे अनन्त-अनन्त गुणों का धारक आत्मा और एक-एक गुण की अनन्त पर्याय की अपेक्षा उस गुण का अनन्त सामर्थ्य रहा है, ऐसे अनन्त गुण के सामर्थ्य का ध्रुवरूप एक आत्मतत्त्व, उसके अवलम्बन से सम्यक् और धर्म प्रगट होता है, उसके बिना तीन लोक में किसी के आश्रय से धर्म प्रगट नहीं होता। कहो, नगीनभाई ! समझ में आया इसमें ? आहाहा ! गजब बात, भाई !

इस **भावना से औदयिक, औपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक इन चार भावान्तरों...** भावान्तरों अर्थात् ? जो परमस्वभाव ध्रुवभाव, वह भाव और भावान्तर (अर्थात्) उस भाव से अन्य भाव। वह भावना भी नहीं, हों ! भावना भी चार भाव में जाती है। भावान्तर शब्द पड़ा है न ? भाव परमस्वभाव ध्रुव, ध्रुव नित्यानन्द प्रभु भाव से अन्य भाव। यह अन्तर है न ? भावान्तर—अन्य भाव। वे भाव त्रिकाली स्वभाव से अन्य भाव चार हैं। पुण्य-पाप का भाव, उपशम समकितरूप भाव, उपशम चारित्ररूप भाव, क्षायिक समकितरूप भाव या क्षायोपशमिक दर्शन-ज्ञान की अवस्थारूप भाव - इन चारों भावों को यह भाव, आश्रय करने से यह भाव, भावान्तरों को उस भावना से वह भावना जो उत्पन्न हुई भाव वे इस भाव से अन्य चार भाव, उन्हें परिहार करने में वह भाव समर्थ है। समझ में आया ? कहो, माँगीलालजी ! वे शोर मचाने लगते हैं। अर र र ! ऐसा भगवान का मार्ग होगा ? भगवान वीतराग ऐसा कहते हैं ? परन्तु तुमने सुना कब है कि वीतराग क्या कहते हैं ? जमुभाई ! नहीं सुना ? तुम तो वहाँ सेठ कहलाते हो गाँव में। आहाहा ! बापू ! यह मार्ग ही कोई वीतराग परमेश्वर का अपूर्व मार्ग इसे कान में, इसे कान में पड़ा नहीं।

कहते हैं कि यह भगवान आत्मा, जिसमें अनन्त-अनन्त परमात्मा की दशाएँ, सिद्ध की दशाएँ, अनन्त-अनन्त ज्ञान-दर्शन आनन्द आदि जिसके स्वभाव में परिपूर्ण ध्रुव शाश्वत् एकरूप रही हुई अनन्त शक्तियों का पूरा तत्त्व भगवान, ऐसा जो आत्मा, उसे यहाँ आत्मा कहा जाता है। उस आत्मा के अन्तर में एकाग्र होने पर जो दशा धर्म की सम्यग्दर्शन आदि होती है, वह भाव, यह पाँचवाँ जो यह भाव है पंचम भाव, उसके आश्रय से प्रगट हुआ भाव; भावान्तर अर्थात् पंचम भाव से अन्य चार भाव, उसके (परमभाव के) आश्रय से छोड़ते हैं, इसलिए चार को छोड़ने में वह भाव समर्थ है। आहाहा ! अभी तो याद रखना यह क्या कहते हैं यह ! माँगीलालजी ! किसकी बात चलती है यह ? शाश्वत्, शाश्वत्।

चार भावान्तरों को... और उस भावना से, उस पारिणामिक की भावना से अति आसन्न भव्य जीव, अति आसन्न भव्य जीव, इस भावना से, चार भाव का, पारिणामिकभाव के अतिरिक्त... चार भाव का परिहार करने को अति आसन्न भव्य—अल्प काल में जिसे मुक्ति है, ऐसा जीव इस अवलम्बन के भाव से उत्पन्न हुए भाव से चार भाव को छोड़ने को समर्थ है, चार भाव का आश्रय करनेयोग्य नहीं है। अब नीचे इसकी व्याख्या की है, देखो! **यहाँ चार भावों के परिहार में...** नीचे नोट (फुटनोट) है। **क्षायिकभावरूप शुद्ध पर्याय का भी परिहार (त्याग) करना कहा है...** भगवान आत्मा नित्यानन्द प्रभु का आश्रय करना एक ही बात ली है। उसमें क्षायिक दशा प्रगटे, क्षायिक समकित प्रगटे, आदि दशा जो वह है, उसका भी त्याग करना कहा है। शुभभाव दया, दान का वह तो मन्द राग है, उसका तो त्याग करना है, परन्तु क्षायिक दशा का त्याग करना इसमें कहा है।

उसका कारण इस प्रकार है - शुद्धात्मद्रव्य का ही... शुद्धात्मद्रव्य वस्तु भगवान पूर्ण अर्थात् अंशी का ही। वह अंशी कहो या द्रव्य कहो, परमस्वभाव कहो। पहला जो परमपारिणामिकभाव कहा वह। परमस्वभाव ध्रुवभाव जो शुद्धात्मद्रव्य का ही अर्थात् अंशी का ही अवलम्बन लेने से। भगवान शुद्ध अंशी त्रिकाल। क्षायिकभाव भी एक अंश है, क्षायिकभाव भी एक अंश है, केवलज्ञान भी एक अंश है, अंशी नहीं। त्रिकाल वस्तु नहीं। समझ में आया? केवलज्ञान भी एक समय का अंश है, दूसरे समय में नया प्रगट हो, तीसरे समय में नया प्रगट हो। केवलज्ञान, वह पर्याय है, अवस्था है, भले क्षायिकभाव की पर्याय है, परन्तु है अंश है; अंशी अर्थात् त्रिकाल द्रव्यस्वभाव को यहाँ शुद्ध आत्मा परमपारिणामिकभाव अथवा अंशी कहा गया है। आहाहा!

अंशी का ही **आलम्बन लेने से क्षायिकभावरूप शुद्ध पर्याय प्रगट होती है।** समझ में आया? कोई कहे न भाई! क्षायिक समकित तो भगवान के समीप प्रगट होता है। आता है न? गोम्मटसार आदि में। श्रुतकेवली और केवली के समीप क्षायिक समकित प्रगट होता है। यहाँ कहते हैं कि वह बात तो निमित्त के कथन हैं। भगवान आत्मा के अवलम्बन से जो पर्याय प्रगट हो, वह आधार आत्मा को लेकर क्षायिकभाव प्रगट होता है, निमित्त के कारण नहीं और क्षायिकभाव जो समकित हुआ, उसके आश्रय से नयी चारित्र की शुद्धिपर्याय भी उसके आश्रय से नहीं होती। समझ में आया? बात क्या कहते हैं यह?

सर्वज्ञ परमेश्वर कहते हैं कि प्रभु! तू पूरा है, हों! अन्दर। शाश्वत तत्त्व है, उसका आश्रय ले, उसका अवलम्बन ले, उसमें दृष्टि दे, उसमें एकाकार हो। ऐसा जो भाव एकाकार

हुआ, उसे धर्म कहते हैं। वही धर्म आसन्न—निकट में जिसकी मुक्ति है, ऐसा वह जीव उस भाव द्वारा आत्मा के परमपारिणामिक के अतिरिक्त चार भावों में क्षायिकभाव की पर्याय का भी उस परमस्वभाव के आश्रय से प्रगट हुआ भाव, परिहार करने, छोड़ने, त्यागने में समर्थ है। क्यों? – कि क्षायिकभाव शुद्धपर्याय प्रगट होती है।

क्षायिकभाव का-शुद्धपर्याय का-विशेष का-आलम्बन करने से क्षायिकभावरूप शुद्ध पर्याय कभी प्रगट नहीं होती। आहाहा! केवलज्ञान की पर्याय या क्षायिक समकित की दशा, वह क्षायिक समकित की दशा वर्तमान क्षायिक दूसरा भाव हो, उससे भी प्रगट नहीं होती। केवलज्ञान की दशा वह क्षायिक समकित के अंश के आश्रय से भी प्रगट नहीं होती। वह केवलज्ञान की दशा, अंशी ऐसा भगवान त्रिकाल ध्रुव के आश्रय से प्रगट होती है। समझ में आया? वे तो अभी उलझे हैं बाहर में। वे कहे, इससे होता है और उससे होता है। पाप से नहीं होता और पुण्य से धर्म होता है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग से नहीं होता परन्तु दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत, ये भगवान की यात्रा-बात्रा से धर्म होता है। धूल यह धर्म कुछ नहीं होता, सुन। समझ में आया? इन सब विकल्पों का विकार है परन्तु उस विकार के काल में जो जानने की दशा है, उसके आश्रय से भी धर्म नहीं होता। समझ में आया? आहाहा! वीतराग परमेश्वर ऐसा कहते हैं और जब तक वह श्रद्धा न करे, तब तक 'देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा कहो कैसे रहे? कैसे रहे शुद्ध श्रद्धान आणो? शुद्ध श्रद्धान बिन सर्व क्रिया करे, क्षार पर लीपणो तेह जाणो।' राख ऊपर जाती है। राख, राख। राख समझते हो? ऊपर लीपन करे। धूल भी नहीं होगा, पपड़ी उखड़ेगी।

भगवान देव-गुरु और शास्त्र तो ऐसा कहते हैं, देव-गुरु और शास्त्र तो ऐसा कहते हैं कि पूर्ण ध्रुवस्वरूप जो ध्रुव शाश्वत है-यह तेरा आत्मा-उसके आश्रय से अन्दर में एकाकार होने पर सम्यग्दर्शन और धर्म प्रगट हो। अब तू इस प्रकार तो मानता नहीं। इसलिए देव-गुरु-शास्त्र को भी तू मानता नहीं। ठीक है? माँगीलालजी! देव-गुरु-शास्त्र को मानता नहीं। 'देव-गुरु-धर्म की शुद्धि कहो कैसे रहे? कैसे रहे शुद्ध श्रद्धान आणो?' यह वस्तु त्रिकाल द्रव्यस्वभाव के आश्रय से, अवलम्बन से, आधार से धर्म होता है—ऐसी श्रद्धा प्रगट न करे उसे देव-गुरु-शास्त्र की भी श्रद्धा नहीं है। समझ में आया? वह देव में से ऐसा अर्थ निकालते हैं। भगवान ने ऐसा कहा है, भगवान ने ऐसा कहा है परन्तु भगवान ने यह कहा है। समझ में आया? जगुभाई!

कहते हैं कि **क्षायिकभाव का-शुद्धपर्याय का-विशेष का-आलम्बन करने से क्षायिकभावरूप शुद्ध पर्याय कभी प्रगट नहीं होती। इसलिए क्षायिकभाव का भी**

आलम्बन त्याज्य है। यह जो क्षायिकभाव के अवलम्बन का त्याग, यहाँ अवलम्बन शब्द क्यों प्रयोग किया ? आत्मस्वरूप का अवलम्बन है न ? आत्मारूप का अवलम्बन है, उसके सामने क्षायिक का अवलम्बन, उसका त्याग। **उसे यहाँ क्षायिकभाव का त्याग कहा गया है।** समझ में आया इसमें ? अभी शास्त्र को समझना कठिन इसे। आत्मा हो, वह समझ सके; अति आसन्न भव्य समझ सके। देखो ! लिखा है या नहीं अन्दर ? यह समझाने के लिए कहा है या नहीं समझनेवाले को कहा है ?

हे आत्मा ! तेरी वर्तमान दशा के लक्ष्य को छोड़, पुण्य-पाप के लक्ष्य को छोड़, निमित्त के आश्रय को छोड़, एक स्वरूप से भगवान परमानन्द शाश्वत वस्तु तू है, उसका लक्ष्य कर। उसका अवलम्बन ले, उसका आश्रय कर, उसके आधार से तुझे वर्तमान धर्म की दशा प्रगट होगी; इसके अलावा तीन काल तीन लोक में दूसरे किसी के आश्रय से धर्म हो, यह वीतरागमार्ग में, सर्वज्ञ के मार्ग में नहीं है। अज्ञानी ने मानकर कल्पना की हो तो उसके मार्ग में, अज्ञान में है। कहो, मोहनभाई !

यहाँ ऐसा उपदेश दिया है कि-परद्रव्यों का और परभावों का आलम्बन तो दूर रहो,... समझ में आया ? पर देव-शास्त्र-गुरु के अवलम्बन से समकित होता है, यह तो दूर रहो; परभाव-पुण्य-पाप के भाव का अवलम्बन तो दूर रहो। **मोक्षार्थी को अपने औदयिकभावों का (समस्त शुभाशुभभावादिक का), औपशमिकभावों का (जिसमें कीचड़ नीचे बैठ गया हो ऐसे जल के समान औपशमिक सम्यक्त्वादिक का), क्षयोपशमिकभावों का (अपूर्ण ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि पर्यायों का) तथा क्षायिकभावों का (-क्षायिक सम्यक्त्वादि सर्वथा शुद्ध पर्यायों का) भी आलम्बन छोड़ना...** समझ में आया ? आहाहा ! अभी उसको अवलम्बन का विवाद है। कहते हैं, भगवान की प्रतिमा का अवलम्बन है। वह कहे तू अवलम्बन छोड़े तो... परन्तु वह तो शुभभाव में अवलम्बन है; धर्म में नहीं। ऐई ! वह तो जब स्वरूप में स्थिर नहीं रह सकता, तब शुभभाव होता है; अशुभ से बचने को, उस शुभभाव में उन भगवान का निमित्त कहलाता है, निमित्त कहलाता है। धर्म में वे निमित्त और अवलम्बन हैं—(ऐसा) तीन काल-तीन लोक में वीतरागमार्ग में नहीं है।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कहते हैं, तुम्हारे खुल्ला (प्रगट) नहीं करना था। यह मलूपचन्दभाई को मन्दिर बनाना है, इसलिए थोड़ा-थोड़ा भोग (दान) देना, नहीं तो एकदम छोड़ देंगे ! सत्य में रहेगा सत्य का वीर्य या असत्य में रहेगा सत्य का वीर्य ? समझ में आया ?

भगवान सर्वज्ञदेव का यह पुकार अनादि से है। यह गुप्त रखने की बात है ? सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ ने कहा, वह गणधरों ने गूँथा, उस परम्परा से यह शास्त्र में आया है कि हे भाई! हे आत्मा! तेरा आत्मा वस्तु उसे कहते हैं कि जिसकी एक समय की उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं जो सत् कहा, उसमें का वर्तमान उत्पाद-व्यय अंश का लक्ष्य छोड़कर, अंशी जो ध्रुव त्रिकाल द्रव्य है, उसका लक्ष्य और आश्रय कर तो धर्म की दशा प्रथम में पहली प्रगट होगी; इसके बिना तीन काल, तीन लोक में कहीं किसी के आश्रय से धर्म हो, यह बात वीतरागमार्ग में, तीन काल में परमेश्वर ने जानी नहीं है, वस्तु में नहीं है, शास्त्र में कही नहीं है। समझ में आया ?

यहाँ ऐसा उपदेश दिया है कि... तथा क्षायिकभावों का भी आलम्बन छोड़ना चाहिए; मात्र परमपारिणामिकभाव का-शुद्धात्मद्रव्यसामान्य का आलम्बन लेना चाहिए। एकरूप भगवान सामान्य। सामान्य अर्थात् सदृशशक्तिरूप, पलटने की दशा बिना एकरूप ध्रुवस्वरूप है, उसे सामान्य कहते हैं। दशा को विशेष कहते हैं। ऐसे सामान्य का अवलम्बन लेना। **उसका आलम्बन लेनेवाला भाव ही महाव्रत,...** उसका अवलम्बन करनेवाला भाव ही महाव्रतरूप है। क्या कहा ? अन्त में कहा है न पीछे से ? उसमें से कहा, उसकी व्याख्या करते हैं। क्या कहते हैं, देखो! यह टीका की है।

आसन्नभव्य जीव समर्थ है, इसीलिए उस जीव को... उस जीव को अर्थात् ? परम भगवान भावस्वभाव ध्रुव का जिसने अन्तर आश्रय लिया, ऐसे आसन्न भव्य जीव को **पापाटवीपावक (-पापरूपी अटवी को जलानेवाली अग्नि) कहा है;...** उस जीव को। पुण्य और पाप सब पाप हैं। यह शुभ और अशुभ सब पाप है। आहाहा! यह तो सबेरे आया था। आया था या नहीं ? पाप को पाप तो सब कहे, परन्तु ज्ञानी पुण्य को पाप कहते हैं। (योगसार, दोहा ७१) सुन न! समझ में आया ? आया था न सबेरे ?

ऐसा होने से पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त, आलोचना आदि सब ध्यान ही है... अन्तर में एकाग्रता, आनन्दकन्द में एकाग्रता हो, उसे महाव्रत कहा है। यह दया पालने का विकल्प-फिकल्प, उसे महाव्रत भगवान ने कहा नहीं। आहाहा! अहिंसा, महाव्रत में पहला बोल। पंच महाव्रत है न ? ऐसा होने से **सब ध्यान ही है...** अर्थात् भगवान आत्मा ध्रुवस्वरूप शाश्वत का आश्रय करके अरागी दशा जो अहिंसक दशा... अरागी दशा, रागरहित की, पुण्य-परिणामरहित की आत्मा के त्रिकाल के आश्रय से अराग की दशा प्रगट हो, उसे भगवान ने अहिंसा महाव्रत कहा है। शुभविकल्प को व्यवहार महाव्रत कहा है, यदि ऐसा निश्चय हो तो। यह निश्चय जहाँ नहीं, उसे व्यवहार भी नहीं होता। समझ में आया ?

भगवान आत्मा परमस्वरूप से विराजमान तत्त्व का आश्रय लेकर जो अहिंसा—रागरहित की दशा प्रगट हुई, उसे भगवान अहिंसा कहते हैं, उसे भगवान आत्मा के परमस्वभाव का ध्यान कहते हैं। ध्यान अर्थात् एकाग्रता। पहले में भावना ली थी न? उसे यहाँ ध्यान लिया, अर्थात् एकाग्रता। वस्तु भगवान आत्मा शुद्ध सत्त्व तत्त्व प्रभु में एकाग्रता, वह रागरहित की, विकल्परहित की, पुण्य के परिणाम रहित की स्वभाव एकाग्रता को भगवान अहिंसा महाव्रत कहते हैं, उसे सत्य महाव्रत कहते हैं।

ध्रुव शाश्वत आत्मा के अवलम्बन से प्रगट हुई परमसत्य की निर्मल धारा, अरागी वीतरागी पर्याय को भगवान सत्य महाव्रत कहते हैं, उसे अचौर्य महाव्रत कहते हैं। उसमें विकल्प भी लिया-छोड़ा नहीं। भगवान आत्मा में पूर्णानन्द ध्रुव शाश्वत है, उसका अवलम्बन लेकर अन्तर में से निर्विकारी दशा प्रगट की, उसे तीसरा अचौर्य महाव्रत कहते हैं। आहाहा!

ब्रह्मचर्य महाव्रत—ब्रह्मानन्द भगवान पूर्णानन्द शाश्वत आत्मा में एकाकार होकर आनन्द की, आनन्द की, अतीन्द्रिय आनन्द की ब्रह्म में से निकालकर दशा-वीतरागी पर्याय प्रगट की, उसे भगवान चौथा महाव्रत कहते हैं और वह अपरिग्रहस्वरूप तीनों काल में पर से रहित ऐसा शुद्धस्वरूप ध्रुव है। उसका आश्रय करके वीतरागी—रागरहित की निर्दोष दशा, पवित्र दशा, निर्मल आनन्दपूर्वक की दशा प्रगट हुई, उसे भगवान पाँचवाँ महाव्रत कहते हैं। पाँच महाव्रत ये हैं। ज्ञानचन्दजी! लोग तो कहाँ के कहाँ... इस जीव को नहीं मारा, यह महाव्रत हो गया... परन्तु तेरा जीव मर जाता है अन्दर वह? पूरा शाश्वत तत्त्व का तू अनादर करता है और पुण्य के परिणाम का आदर करता है, वही आत्मा के शाश्वत सुख की हिंसा होती है। समझ में आया?

पाँच समिति,... लो! ऐसे जीव को... भगवान परमस्वभाव प्रभु आत्मा के अवलम्बन से प्रगट हुई दशा, उसे पाँच समिति कहते हैं। ईर्यासमिति। देखकर चलना कि मारने की क्रिया आत्मा में है ही नहीं। ऐई! माँगीरामजी! वह तो जड़ है। देह की चलने की क्रिया मिट्टी की क्रिया है, अजीव की क्रिया है, वह समिति नहीं है। ध्यान रखे कि दूसरे को दुःख नहीं देना, वह विकल्प, राग है; ईर्यासमिति नहीं। भगवान आत्मा पूर्ण शाश्वत प्रभु परमस्वभाव में उसके पन्थ में अन्दर एकाकार होना, ऐसी वीतरागी दशा को ईर्यासमिति कहते हैं। पाठ में यह है कि सब ध्यान ही है। परमपारिणामिक का अवलम्बन लेकर जो भाव प्रगट हुआ, वह सब भाव को छोड़ने में समर्थ है और उस जीव की ध्यान की दशा, उसे यह सब महाव्रत और समिति कहा जाता है। समझ में आया?

ऐसे भाषा, ऐषणासमिति। ऐषणा अर्थात् भगवान पूर्णानन्द का नाथ ध्रुव है, उसे अन्तर में एकाकार होकर शोधना। वीतरागी दशा द्वारा ऐषणा-शोधना ऐसी वीतरागी दशा को ऐषणासमिति कहते हैं। कहो, समझ में आया? और शुद्धस्वरूप को ग्रहण करना, राग से छूट जाना, इसका नाम आदाननिक्षेपणसमिति कहते हैं। पूर्णानन्द ध्रुवस्वरूप को ग्रहण करना और राग का, विकल्प का छूट जाना, ऐसी अन्तर परमस्वभाव के आश्रय से प्रगट हुई दशा को भगवान चौथी समिति आदाननिक्षेपण कहते हैं। पाँचवीं... छोड़ना अर्थात् भगवान आत्मा परमध्रुवस्वभाव का आश्रय करके प्रगट हुई निर्मल दशा के द्वारा विकल्प का नाश होना, ऐसी दशा को भगवान पाँचवीं समिति कहते हैं। ये पाँचों समिति आत्मा के स्वभाव की एकाग्रतारूप ध्यान है। समझ में आया? आहाहा! पूरे जैन की व्यवहार की बातें ऊँची सब मौके की! .... पर्याय निर्मल, उसका नाम यह है। आहाहा! ....

तीन गुप्ति.. मन, वचन और काया के विकल्प से रहित होकर, भगवान आत्मा ध्रुव शाश्वत प्रभु के आश्रय से निर्विकल्पदशा प्रगट होना, उसे तीन गुप्ति (कहते हैं), ध्यानदशा को तीन गुप्ति कहते हैं। **प्रत्याख्यान,...** प्रत्याख्यान भी, आत्मा शाश्वत ध्रुव में एकाकार होकर वीतरागी दशा का प्रगट होना, उसे भगवान प्रत्याख्यान-पच्चक्खाण कहते हैं। बाकी सब थोथा प्रत्याख्यान है। समझ में आया?

प्रायश्चित्त,... प्रतिक्रमण और यह सब आ गया। प्रायश्चित्त। प्रतिक्रमण आ गया अलग, प्रायश्चित्त। अधिकार प्रायश्चित्त का चलता है न! यह प्रतिक्रमण भी उसे कहते हैं भगवान। ध्रुव शाश्वत वस्तु में एकाकार होकर वीतरागी दशा प्रगट हो, उसे भगवान प्रतिक्रमण त्रिलोकनाथ परमेश्वर कहते हैं। बाकी यह प्रतिक्रमण का विकल्प उठा 'मिच्छामि दुक्कडम्' वह शुभविकल्प पुण्य है, वह कहीं सच्चा प्रतिक्रमण नहीं है। प्रायश्चित्त-भगवान आत्मा प्रायश्चित्तस्वरूप ही है। सब प्रत्याख्यानस्वरूप ही है, हों! त्रिकाल... आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा प्राय:-ज्ञानस्वरूप से विराजमान प्रभु, उसका अवलम्बन लेकर, आश्रय लेकर उसके आधार से निर्दोष, निर्विकारी परिणति (अर्थात्) विकाररहित पर्याय प्रगट हो, उसे भगवान प्रायश्चित्त कहते हैं।

आलोचना... संवर। आलोचना अर्थात् जैसा वह भगवान आत्मा त्रिकाल ध्रुव है, उसे देखकर एकाग्र हो, उसे भगवान आलोचना और संवर कहते हैं। यह **इत्यादि सब ध्यान ही है...** यह जितनी वीतरागमार्ग में धर्म की पर्याय के नाम आते हों, वे सब आत्मा की एकाग्रता के ध्यान में समाहित होते हैं। समझ में आया? आहाहा! **इत्यादि सब...** अर्थ में नीचे लिखा

है। **मात्र परमपारिणामिकभाव का-शुद्धात्मद्रव्यसामान्य का-आलम्बन लेना चाहिए। उसका आलम्बन लेनेवाला भाव ही महाव्रत, समिति, गुप्ति, प्रतिक्रमण, आलोचना, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त आदि सब कुछ है।** नीचे अर्थ में है। समझ में आया? गजब बात, भाई! ऐसा यह वीतराग जैन परमेश्वर ऐसा कहते हैं? परन्तु जैन परमेश्वर के अतिरिक्त दूसरा मार्ग है कहाँ तीन काल में? समझ में आया? तीन काल, तीन लोक में अन्य में कहीं मार्ग-बार्ग यह है नहीं। वेदान्त और फेदान्त में आत्मा ऐसा है, ऐसा है... वे सब कल्पना के घोड़े हैं। यह तो वस्तु का स्वरूप भगवान ने जैसा जाना, एक-एक आत्मा केवलज्ञान पाकर जैसा जाना और जैसा स्वरूप था, वैसा वाणी में आया। समझ में आया?

(अर्थात् परमपारिणामिक भाव की भावनारूप जो ध्यान...) देखा! दोनों एक कर दिया। पहले भावना भाव से कहा था न पाठ में? उसे चौथे पद में ध्यान कहा। **(भावनारूप जो ध्यान वही महाव्रत प्रायश्चित्तादि सब कुछ है)**। कोष्ठक में नीचे है नोट में। **(आत्मस्वरूप का आलम्बन,...)** मूल पाठ है न **'अप्पसरूवालंबण'** भगवान ध्रुवस्वरूप प्रभु, जिसमें दृष्टि देने से, जिसमें एकाकार होने से धर्म प्रगट हो, ऐसा जो भगवान, उसके स्वरूप का अवलम्बन। **(आत्मस्वरूप का आश्रय, आत्मस्वरूप के प्रति सन्मुखता,...)** सब एकार्थ है। **(आत्मस्वरूप के प्रति झुकाव, आत्मस्वरूप का ध्यान, परमपारिणामिकभाव की भावना, 'मैं ध्रुव शुद्ध आत्मद्रव्य सामान्य हूँ', ऐसी (अवस्था) परिणति-इन सबका एक अर्थ है।)** इन सबका एक ही अर्थ है। गजब आया, भाई! आज एक घण्टे का सब लोगों को धारण करना कठिन पड़े। आहाहा!

इस वीतराग शासन का मार्ग यह है। जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग तीर्थंकरदेव का कहा हुआ मक्खन तत्त्व ही यह है। बाकी सब व्यवहार विकल्प उठें, वे सब पुण्य-बन्ध के कारण हैं, वे कहीं वीतराग धर्म नहीं हैं, ऐसा कहते हैं। पण्डितजी ने नीचे बहुत सब स्पष्टीकरण किया है। इसमें अधिकार आयेगा न, सबकी सब पर्यायें हैं, ऐसा कहते हैं।

श्रोता : टीका तो थोड़ी है, स्पष्टीकरण लम्बा हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो स्पष्टीकरण बिना समझ में किस प्रकार आये? आहाहा! बहियाँ कैसे देखा करता है? पूरे वर्ष के वर्ष प्रतिदिन? दीपावली आवे तब देखने लगे, बीस दिन से। वह क्या कहलाता है? दशहरा आवे तब से। ऐ... धीरुभाई! कुछ नहीं मिलता... परन्तु सिरपच्ची किया करता है उसमें।

श्रोता : रोकड़ा छाती ऊपर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : रोकड़ा छाती ऊपर है-भार। यह तो हल्के होने की बात है, बापू!

भगवान अन्दर विराजमान चैतन्य प्रभु साक्षात् जैसे अरिहन्त हैं—जिन परमात्मा, वैसा तेरा स्वभाव अन्दर है। उन्हें अवस्था में प्रगट हुआ है और तुझे स्वभावरूप विद्यमान है। समझ में आया? ऐसा भगवान नित्यानन्द प्रभु आत्मा ध्रुव, ध्रुव सत् शाश्वत वस्तु में एकाकार होकर जो दशा प्रगट हो, उसे वापस महाव्रत कहो, समिति कहो, गुप्ति कहो, प्रतिक्रमण कहो, प्रत्याख्यान कहो, पच्चक्खाण कहो, प्रायश्चित्त कहो, आलोचना कहो, संवर, यह उसे निर्जरा कहो, परन्तु उस त्रिकाल ज्ञायकभाव को एकाकार होकर जो दशा प्रगट हुई, उसे भगवान धर्म कहते हैं। समझ में आया? गाथा तो बहुत ऊँची है, भाई! ११९ है। समझ में आया? आहाहा!

प्रायश्चित्त, प्रायश्चित्त कर डाला। भगवान के अवलम्बन से, अन्दर के परमात्मा के आश्रय से सब प्रायश्चित्त है, क्योंकि प्रायश्चित्त स्वयं आत्मा है, ऐसा कहते हैं। ऐसा कह गये हैं न! आहाहा! जो धर्म की निर्मल दशा प्रगट हो, वह दशा कहाँ पड़ी है? राग में है? पुण्य में है? कर्म में-शरीर में है? बाहर की पर्याय जड़ में है? अन्दर शक्ति में पड़ी है। पूर्णानन्द प्रभु में एकाकार होकर, अवलम्बन लेकर, उसका आश्रय करके अन्दर स्थिर हुआ, कहते हैं कि उस दशा को तुझे कहना हो वैसे कहे। महाव्रत कहो, पच्चक्खाण कहो, समिति कहो, ध्यान कहो, मोक्ष का मार्ग कहो, समकित कहो, सम्यग्ज्ञान कहो, चारित्र कहो, वह सब दशा आत्मा के अवलम्बन से प्रगटे वह दशा धर्म है। इसके बिना कोई विकल्पादि उठें, वह सब पुण्य और बन्ध का कारण है, वह कहीं धर्म-बर्म है नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

(२०)

श्री समयसार, गाथा ७६, प्रवचन-१६४
दिनांक - ०९-१०-१९७९

पुद्गलकर्म को जाननेवाले... अर्थात् ?-कि आत्मा में होनेवाले देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति के परिणाम या पंच महाव्रत के परिणाम या भगवान की स्तुति के परिणाम—ये परिणाम पुद्गलकर्म का कार्य है। आहाहा! ऐसी बात है। यह पुद्गलकर्म का कार्य है। उस पुद्गलकर्म में, **पुद्गलकर्म को जाननेवाले ऐसे जीव के...** आहाहा! वह शुभ-अशुभभाव जो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि भाव, वह सब पुद्गल का कार्य है, जीव का नहीं। आहाहा! उस पुद्गल के कार्य को... पुद्गलकर्म अर्थात् कार्य। आहा! कठिन बात पड़े। ***भगवान की भक्ति, देव-गुरु की भक्ति, देव-गुरु की प्रशंसा, विनय आदि का भाव, वह सब राग है और वह राग, पुद्गल का कार्य है। आहाहा! क्योंकि भगवान आत्मा तो ज्ञायक है, उस ज्ञायक को विकारी परिणाम कैसे हों? अविकारी भगवान आत्मा को विकारी परिणाम का कार्य कैसे हो? आहाहा! वह विकारी परिणाम का कार्य तो पुद्गल का है, कहते हैं। आहाहा! गजब बात है!***

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पुद्गल है। ***विकारी परिणाम पुद्गल का ही कार्य है,*** ऐसा। बाद में अभेद पुद्गल कहेंगे। आहाहा! **जाननेवाले ऐसे जीव के पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव (कर्ताकर्मपना) है या नहीं ?** अर्थात् क्या पूछा? जब यह पुण्य का भाव दया, दान, भक्ति, व्रत आदि के भाव होते हैं, वह पुद्गल का कार्य है, उसे आत्मा जानता तो है। इतना तो सम्बन्ध है, कहते हैं। आहाहा!

जाननेवाले ऐसे जीव के... जानता है- ऐसे जीव को। जानता है, ऐसे जीव को पुद्गल के साथ कर्ता-कर्मपना (है या नहीं)? जानता है न, उसके साथ? उसे जानता है तो **जाननेवाले ऐसे जीव के पुद्गल के साथ...** अर्थात् शुभ-अशुभभाव के साथ कर्ता-कर्मपना है या नहीं? ऐसा प्रश्न है। ऐसी बात है, बापू! आहाहा! **उसका उत्तर कहते हैं:-** ऐसा जिसे अन्दर में जिज्ञासा का प्रश्न हुआ है, यह आप क्या कहते हो? आहाहा! अरे! देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, स्तुति, वन्दन-वह परिणाम पुद्गल का कार्य? और उन्हें जानते हुए, जानने का

सम्बन्ध तो है। आहाहा! जानते हुए, जानने का सम्बन्ध है, तो जानने का सम्बन्ध है तो उनके साथ कोई कर्ता-कर्म है या नहीं? इस तरह शिष्य का ऐसा गम्भीर प्रश्न है। आहाहा!

ण वि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पोग्गलकम्मं अणेयविहं ॥७६॥

'**ण वि परिणमदि ण गिण्हदि**' आहाहा! विकार से लिया है। '**परिणमदि**' विकार से लिया है। '**गिण्हदि**' प्राप्य है। '**उप्पज्जदि**' निर्वर्त्य है, परन्तु यहाँ सामान्य कर्ता-कर्म कहा, उसमें निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य कहा है। इसके भावार्थ में भरा है न जरा! '**ण वि परिणमदि**' यह पुण्य के परिणाम है, परद्रव्य पर्याय है। आहाहा! प्रेमचनदभाई! ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा! दया, दान, भक्ति, भगवान की स्तुति के परिणाम, वन्दन-यह परद्रव्य पर्याय है। आहाहा! '**णाणी जाणंतो**' ज्ञानी को उसे जानने का व्यवहार ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। आहाहा! '**जाणंतो वि हु पोग्गलकम्मं अणेयविहं**' उन्हें जानता है, परन्तु उस परद्रव्य में स्वयं उपजता नहीं। परद्रव्य की पर्याय को जानने पर भी परद्रव्य की पर्याय को करता नहीं है। नीचे हरिगीत-

बहुभाँति पुद्गलकर्म सब, ज्ञानी पुरुष जाना करे।
परद्रव्यपर्यायों न प्रणमे, नहिं ग्रहे, नहिं ऊपजे ॥७६॥

आहाहा! गाथा में पहले विकार्य लिया है, फिर प्राप्य लिया है और फिन निर्वृर्त्य लिया है। समझ में आया? और टीका में उसका यथार्थपना ऐसा है कि पहले प्राप्य लिया है। अर्थात्? - कि पुद्गल जो है कर्म और शरीर, दोनों यहाँ तो लिये है न, वे कर्म और शरीर की जिस समय में पर्याय होनी है राग की, भक्ति की, स्तुति की-राग, वह उसका प्राप्य है। अर्थात्? - वह पुद्गल है, वह उसके राग के, भक्ति के भाव को प्राप्य अर्थात् ग्रहता है, वह उन्हें ग्रहता है। आज की बात सूक्ष्म है। यह प्रतिदिन की सूक्ष्म ही है यहाँ तो। आहाहा!

प्राप्य... यह पुद्गल जो है, शरीर और कर्म; इसकी जो पर्याय यहाँ राग, भक्ति आदि भगवान की, उसके जो परिणाम, वह पुद्गल का प्राप्य है, पुद्गल का ध्रुव है। पुद्गल का उस समय में राग, वह ध्रुव-उत्पन्न होने का बराबर उत्पन्न होता है, ध्रुव है, उसे पुद्गल ग्रहता है। आहाहा! **प्राप्य...** अर्थात् उस समय में उस पुद्गल का, कर्म का शुभभावरूप से होना, वह पुद्गल का प्राप्य है अर्थात् ध्रुव है। ध्रुव अर्थात् उस समय वे निश्चित होनेवाले वे हुए हैं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म, भाई! और इसलिए वह पुद्गल से प्राप्य अर्थात् उस समय में वे होनेवाले परिणाम पुद्गल के कारण, वे इसलिए उसका वह प्राप्य अर्थात् पुद्गल उसे ग्रहता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, धीमे से समझना। ये सब गाथाएँ सूक्ष्म हैं।

प्राप्य, विकार्य... जो पुद्गल है, उसमें व्यय होता है, ऐसे फेरफार होता है। वह पुद्गल के कारण अन्दर राग की उत्पत्ति का व्यय होना, पूर्व की पर्याय का व्यय होना, वह पुद्गल के कारण है। राग और भक्ति आदि के परिणाम होते हैं, उन परिणामों को पुद्गल प्राप्य-ध्रुवरूप से वहाँ वही होनेवाला वह हुआ, उसे ग्रहा और पूर्व की पर्याय का फेरफार हुआ, वह विकार्य भी उस पुद्गल ने किया है। आहा! पूर्व की पर्याय का व्यय-विकार्य, वह पुद्गल ने किया है। आहाहा! सूक्ष्म बहुत, बापू!

और निर्वर्त्य... और पुद्गल में उस समय में वही उपजना था। पहला ध्रुव कहा, फिर फेरफार कहा, फिर निपजा है। आहाहा! कान्तिभाई! ऐसा तुम्हारे कहीं सुनने मिले, ऐसा नहीं है। ऐसी सूक्ष्म बात है। आहा! वह पुद्गल जो कर्म है, उससे यह भक्ति, आदि स्तुति, परमात्मा का विनय आदि, वह पुद्गल से उपजा है। आहाहा! है ? **प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्त्य...** ध्रुव, व्यय और उत्पाद। सादी भाषा से कहे। पर्याय का ध्रुव, जिस समय में वह राग होना था, वह हुआ, वह ध्रुव, वह प्राप्य; उसे पुद्गल ग्रहता है; और उस राग से पहले जो फेरफार हुआ, वह भी पुद्गल फेरफार व्यय करता है और जो राग उत्पन्न हुआ है, उसे पुद्गल ने उपजाया है, निर्वर्त्य। है न सामने पुस्तक ? आहाहा!

प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्यलक्षणवाला... अर्थात् व्याप्य अर्थात् कार्यरूपी, कर्मरूपी लक्षणवाला, वह पुद्गल का कर्म है। देवीलालजी! आहाहा! अब अभी तो यह शुभराग करते-करते निश्चय होगा - (ऐसा कहते हैं)। अरे रे! क्या करें ? पुद्गल के परिणाम करे, उसे आत्मा के ज्ञानपरिणाम हों (-ऐसा है नहीं)।

श्रोता : सन्मुख होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सन्मुख भी बिलकुल नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! ऐसा व्याप्य अर्थात् कार्य; कार्य लक्षणवाला, **पुद्गल का परिणामस्वरूप...** आहाहा! वह तो पुद्गल के परिणामरूप कर्म-कार्य; व्याप्य कहो या कार्य कहो। वह पुद्गल अर्थात् कर्म के पुद्गल (उनका कार्य है),क्योंकि भगवान आत्मा तो ज्ञायक है। ज्ञायक में से परिणाम हों, वे तो निर्मल होते हैं। आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञायक है। आहाहा! उस ज्ञायक में से तो जानने के परिणाम हों। ये विकार परिणाम उसमें से कहाँ से हो ? समझ में आया ? आहाहा! भाषा समझते हो न गुजराती ? कल वे भाई थे, वे नहीं समझते थे। आहाहा!

यह पुद्गल परिणामस्वरूप कार्य। आहाहा! यह पूजा, भक्ति, वन्दन, वैयावृत्त्य के जो परिणाम, वे पुद्गल परिणाम हैं, वह तो पुद्गल का कार्य है, वह पुद्गल का व्याप्य है। आहाहा!

कर्ता का कार्य-वह पुद्गलस्वरूप कर्म, कर्ता का कार्य, वह पुद्गल का कार्य है। पुद्गल उसका कर्ता और उसका वह कार्य है। भाई! यह तो शब्द, अध्यात्म का यह तो महाशास्त्र है। आहाहा! अभी इसकी तुलना में आये, ऐसा कोई नहीं है, ऐसी यह चीज़ है। आहाहा!

भगवान आत्मा, वह ज्ञायकभाव से भरपूर ज्ञायकस्वभाव है, उसके परिणाम तो, ये रागादि जो पुद्गल के परिणाम हुए, उन्हें जानने के सम्बन्धरूप से बात की, इतनी कि जानता है। आहाहा! यह दया, दान, भक्ति, वन्दन, वैयावृत्त्य, पूजा आदि भाव, ये पुद्गल के परिणाम, पुद्गल उनका व्याप्य, पुद्गल उनका व्याप्य है। पुद्गल कर्ता और उसका वह कार्य है। आहाहा! **उसमें पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर,...** आहाहा! क्या कहते हैं? जो कुछ दया, दान, व्रत, भक्ति या परमात्मा का विनय या प्रभु का नामस्मरण आदि या भगवान की स्तुति – ऐसा जो राग, वह राग **उसमें पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर,...** उसमें अन्तर्व्यापक पसरता है पुद्गल; यह आत्मा पसरता नहीं। आहाहा! ऐसी बात, बापू! कठिन है, भाई! ऐ... चेतनजी! क्या कहा? प्रभु!

जो कोई भगवान की भक्ति, देव-गुरु की भक्ति, वह परिणाम पुद्गल का कार्य है। आहा! अर र र! क्योंकि ज्ञायकस्वभाव भगवान का कार्य राग कैसे हो? आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! वह **पुद्गलद्रव्य स्वयं...** पुद्गलद्रव्य स्वयं, जिसमें पर की अपेक्षा नहीं। आत्मा की कमजोरी हुई, इसलिए राग हुआ, इतनी अपेक्षा उसमें नहीं, कहते हैं। आहाहा! **पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर...** देखो! व्यापक कहना है न? और वह (रागादि) तो व्याप्य है। दया, दान, व्रत, भक्ति, स्तुति, वन्दन के परिणाम, वे तो व्याप्य हैं और यह पुद्गलद्रव्य अन्तर्व्यापक होता है, पसरता है। आहाहा! क्या कहा?

श्रोता : पुद्गलद्रव्य का मतलब ऐसे प्रत्याख्यान के.... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब, सब, पुद्गलद्रव्य का कार्य है। प्रत्याख्यान क्या, यहाँ भगवान की स्तुति और वन्दन तक ले लिया, फिर (कहाँ प्रश्न है)? यह कहा नहीं, ८३ गाथा में? भावपाहुड़ में। ***पूजा, भक्ति, वन्दन और वैयावृत्य आदि, ऐसा लिया है। वे सब जैनधर्म नहीं, आहाहा! वे जैनधर्म नहीं, वह तो राग है; जैनधर्म तो वीतरागभाव है। आहाहा! अरे रे! कठिन काम, भाई!*** पुद्गल, वह तो पुद्गल का कार्य है; वह जैनधर्म का कार्य नहीं। आहाहा!

जैन ऐसा वीतराग आत्मा, 'घट-घट अन्तर जिन बसे' ऐसा जिनस्वरूप वीतराग (आत्मा) का कार्य यह राग नहीं है। आहाहा! श्रीमद् में भी आता है न....

जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म,
कर्म कटे जिन वचन से यही तत्त्व ज्ञानी नो मर्म॥

आहाहा! वह राग है। आहाहा! वह जिनस्वरूप भगवान, 'जिन सो ही है आत्मा' यह राग है, वह जिन का-आत्मा का स्वरूप-परिणाम नहीं है। आहाहा! वीतरागस्वरूप यह भगवान आत्मा है, त्रिकाली वीतरागमूर्ति प्रभु है, उसका कार्य राग नहीं होतहा। आहाहा! पूंजाभाई! ऐसी बात है। आहाहा! ***पर्यायदृष्टिवाले को यह बात बैठना कठिन, भारी। उसकी दृष्टि में पर्याय है न, आहाहा! यहाँ कहते हैं, जिसकी दृष्टि में ज्ञायक नहीं न, भाई! ज्ञायक जो है, वह इसकी दृष्टि में नहीं न, उसे ये परिणाम आत्मा के हैं, ऐसा लगता है। आहाहा!*** है पुद्‌गल का कार्य। यह ज्ञायक दृष्टि हो, उसे पुद्‌गल के परिणाम लगते हैं, उसे जाने। आहाहा! समझ में आया?

अन्तर्व्यापक होकर... आहाहा! क्या टीका! **आदि-मध्य और अन्त में...** क्या कहते हैं? ***यह भगवान की स्तुति और भक्ति का भाव, उसकी आदि में कर्म है, उसके मध्य में कर्म है और अन्त में कर्म है। कुछ भी आत्मा की कमजोरी है, वह आदि में है, ऐसा नहीं। आहाहा!***

श्रोता : बड़े-बड़े भड़क जायें ऐसा है!

पूज्य गुरुदेवश्री : भड़क जायें ऐसा है, बात सच्ची है। क्या हो? और इस भक्ति से धर्म माननेवाले भी भड़क उठते हैं। देव-गुरु की भक्ति, वह धर्म है और देव-गुरु की भक्ति से धर्म होगा। आहा! बापू! कठिन बातें हैं, भाई! है न सामने पुस्तक है या नहीं? आहा!

श्रोता : परन्तु पुस्तक का अर्थ तो हमें समझ में नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उसका अर्थ तो होता है, स्पष्ट रीति से। आहाहा!

कहते हैं कि आत्मा की पर्याय में नहीं है, वह तो पुद्‌गल की पर्याय है। आहाहा! परद्रव्य पर्याय कही न? भाई! गाथा में है न, परद्रव्य पर्याय। आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति, स्तुति के भाव, वे परद्रव्य पर्याय हैं, वे पुद्‌गलद्रव्य की दशा है। आहाहा! वह आत्मा की पर्याय नहीं। आहाहा! पाठ बोलता है न? '**ण वि परिणमदि**' यह विकार्य है। '**ण गिण्हदि**' प्राप्य है, '**उप्पज्जदि**' निर्वर्त्य है। '**ण परदव्वपज्जाए**' ये रागादि के परिणाम जो हैं, उस परद्रव्य पर्याय में आत्मा नहीं परिणमता, विकार्य और उपजता नहीं और उन्हें पकड़ता नहीं। आहाहा! बहुत धीरे से समझने योग्य है। आहाहा!

यह तो वीतराग सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव की दिव्यध्वनि, वह सन्तों ने अनुभव की, चारित्र में अनुभव की, हों! अकेला अनुभव सम्यग्दर्शन नहीं। आहाहा! उन्होंने यह

बनाया है। कहते हैं कि जो कुछ विकल्प, एक गुण-गुणी के भेद का विकल्प उठे.. आहाहा! उस विकल्प के परिणाम का कार्य कर्ता पुद्गल है, वह परद्रव्य की पर्याय है। भगवान ज्ञायकस्वरूप स्वद्रव्य की वह विकारी पर्याय स्वद्रव्य की कैसे हो ? आहाहा! समझ में आया ? कान्तिभाई! समझ में आया ? यह बहुत सूक्ष्म है, तुम्हारे उस चूरे की अपेक्षा तो यह अखण्ड की बातें हैं। यह तो राग होता है, वह पुद्गल का चूरा है। चूरा अर्थात् पुद्गल की पर्याय है। आहाहा! अरे! प्रभु! कुन्दकुन्दाचार्य का पुकार है और तीर्थंकरों का पुकार है।

भगवान! तुझे तेरी पर्याय में जो रागादि होते हैं, वह तेरी पर्याय नहीं। आहाहा! प्रभु! तू तो द्रव्य ज्ञायकस्वरूप है न! आहाहा! उस ज्ञायकस्वरूप से भरपूर भगवान के परिणाम तो जानने-देखने के ज्ञायक के परिणाम हों। आहा! अरे! यह राग के परिणाम, प्रभु! वह तेरा अन्तर्व्यापक नहीं, तू उसमें आदि में नहीं। उन राग के परिणाम में आदि में तू नहीं, उनकी आदि में पुद्गल है। आहा! गजब बात है। कालीदासभाई! आहाहा! पूर्व के माता-पिता बेचारे सुने बिना चले गये। अरे रे! क्या हो ? और यह लॉजिक-न्याय से सिद्ध करते हैं। प्रभु! तू तो ज्ञायकभाव है न! तेरा स्वरूप ज्ञायक है। आहाहा! उस ज्ञायकस्वरूप के परिणाम तो जानने-देखने के हों या ज्ञायकस्वरूप के परिणाम वे दया, दान, व्रत और विकल्प, स्तुति आदि के परिणाम उसके (हों) ? आहाहा! बराबर आ गया है, हों! प्रेमचन्दभाई भाग्यशाली है न! मौके से ऐसी गाथा में आ गया। दूर से आया है लन्दन से। ऐसी बात है, बापू! आहाहा! ऐ.. नवरंगभाई! आहाहा!

उसमें पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि में... आहाहा! यह भगवान की स्तुति, वन्दन, वैयावृत्त्य के परिणाम में आदि में कर्म है; उसकी आदि में आत्मा बिल्कुल नहीं। आहाहा! समझ में आया ? उसके मध्य में भी कर्म है। आहाहा! उसकी शुरुआत भी वहाँ से हुई है, मध्य में भी वह है, अन्त में भी वही पुद्गल है। आहाहा! अपने आप सूक्ष्म पड़े, ऐसा है, प्रेमचन्दभाई! अपने आप सूक्ष्म पड़े ऐसा है। आ गया है बराबर, ठीक। गाथा में आ गया, भाग्यशाली है। आहाहा! अरे! भाई! यह तो तीन लोक का नाथ ज्ञायकभाव भगवान... उसका यह राग कार्य कैसे हो ? आहाहा! उस राग की आदि में, मध्य में, और अन्त में कर्म है। उसकी आदि में शुरुआत तेरी है और मध्य में फिर वह है और अन्त में वह ही, ऐसा नहीं। आदि में भी कर्म है, मध्य में भी कर्म है और अन्त में भी कर्म है। आहाहा! कहो, समझ में आया इसमें ?

आदि-मध्य और अन्त में व्याप्त होकर,... कौन ? आहाहा! भगवान ऐसा कहते हैं कि हमारी भक्ति के परिणाम तुझे हों, स्तुति के जो परिणाम हों... आहाहा! प्रभु! उसकी आदि में

तू नहीं, हों! वह पुद्गल उसकी आदि में, मध्य में और अन्त में वह है। शुरुआत भी वहाँ, मध्य में भी वहाँ और अन्त में भी वहाँ। आहाहा! बापू! यह दृष्टि और दृष्टि का विषय जो है, वह बहुत अलौकिक बात है। आहाहा! कहो, बाबूभाई! यह बराबर आये हैं ठीक से। लड़का नहीं आया? ठीक। आहाहा!

भगवान! तू तो भगवान है न! भगवान के परिणाम विकार कैसे हों? ऐसा कहते हैं। आहाहा! आहाहा! उसके परिणाम तो पर्याय में भगवान होवे, ऐसे हों। क्या कहा? आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञायकस्वभाव के परिणाम तो पर्याय में भगवान हों, उसके कारणरूप पर्याय होती है। आहाहा! धीमे-धीमे समझना, भाई! यह कहीं कोई प्रोफेसर मेट्रिक का आवे और बात करे, वह बात यह नहीं है। यह तो भगवान की कॉलेज है। तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ की साक्षात् वाणी है, प्रभु! तुझे सुनाते हैं, भाई! आहाहा!

कहते हैं कि उस परिणाम में **आदि-मध्य और अन्त में व्याप्त होकर,...** कौन? पुद्गल। **उसे ग्रहण करता हुआ...** अर्थात् प्राप्य। उसे ग्रहता हुआ अर्थात् पुद्गल है, वह उस काल में जो भगवान की विनय और स्तुति के भाव राग हुआ, उसे पुद्गल ग्रहता है, प्राप्य होकर प्राप्य को पकड़ता है पुद्गल। आहाहा! वह पुद्गल का प्राप्य है। प्राप्य अर्थात् उस समय होनेवाला परिणाम, वह पुद्गल का है। आहाहा!

उसे ग्रहण करता हुआ,... आहाहा! **उस रूप परिणमन करता हुआ...** अर्थात् विकार्य। वह कर्म ही स्वयं उस पूर्व की पर्याय बदलकर उसरूप निपजता है। उस काल में जो भगवान की भक्ति, विनय, स्तुति के रागादि हुए, वह राग, उस कर्म का प्राप्य है, कर्म का वह ध्रुव है। ध्रुव अर्थात् वह पर्याय उस समय में वह होनेवाली, वह उसका ध्रुव है। आहाहा! वह कर्म का प्राप्य है, कर्म उसे ग्रहता है। ध्रुव उस समय में वही परिणाम कर्म के होनेवाले हैं, उसे कर्म उस समय में ग्रहता है। आहा! है? **उसे ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमन करता हुआ...** आहाहा! उसरूप से बदलकर परिणमन करता हुआ। पूर्व का जो राग है, उसे पलटकर वह स्वयं परिणमता हुआ। वह पुद्गल स्वयं परिणमता है, पूर्व का व्यय करके पुद्गल जो पूर्व का राग था, उसका व्यय करके स्वयं व्यय करता है, वह विकार्य है।

उसरूप परिणमन करता हुआ और उसरूप उत्पन्न होता हुआ... यह उत्पाद हुआ। पुद्गल का प्राप्य, पुद्गल का विकार्य और पुद्गल का उत्पाद, निर्वर्त्य। आहाहा! ऐसी बात सुनना कठिन पड़ती है। वे लोग कहते हैं कि व्रत करो और अपवास करो और उससे कल्याण

होगा। यह भगवान की भक्ति, देव, गुरु की भक्ति करो तो कल्याण होगा। सब एक प्रकार के मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा!

श्रोता : दोनों में से आत्मा के नजदीक कौन?

पूज्य गुरुदेवश्री : दूर है। आत्मा से नजदीक तो आत्मा के ज्ञायकभाव के परिणाम जाननेवाले हों, वे आत्मा के निकट हैं। आहाहा! है न? ऐसा है, भगवान!

भगवान! तू ज्ञायकस्वरूप प्रभु जिनस्वरूपी है न? आहाहा! किस शैली से बात करते हैं, देखो न! प्रभु! तू जिनस्वरूप है न! भगवानरूप से तो तुझे बुलाते हैं। तो भगवान के, ज्ञायक भगवान के परिणाम, राग पामरता ऐसे होंगे? आहाहा! भगवान जिनस्वरूपी आत्मा, उस वीतराग के परिणाम तो वीतरागी परिणाम होते हैं। आहाहा! उस सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम, वे वीतरागी परिणाम हैं। वे आत्मा का प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य है। आहाहा! यह बाद में कहेंगे। चिमनभाई! ऐसी बातें हैं।

अरे रे! ऐसी चीज़ अन्दर भगवान सच्चिदानन्द प्रभु सत् शाश्वत ज्ञायकस्वभाव और आनन्दस्वभाववाला प्रभु... आहाहा! उसकी आदि में राग कैसे हो? कहते हैं। आहा! राग की आदि में तो कर्म और पुद्गल, और मध्य में व्यापक वह है। आहाहा! **ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमन करता हुआ...** अर्थात् विकार्य, उसरूप उपजना-निर्वर्त्य। **उस पुद्गलपरिणाम को करता है।** कौन? पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर उस पुद्गलपरिणाम को करता है। यहाँ ले लिया।

श्रोता : भोगता कौन है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भोगता है जड़, कौन आत्मा? आत्मा की बात है? भोगता भी पुद्गल का परिणाम। अभी तो द्रव्यस्वभाव सिद्ध करना है न! आहाहा! वह आयेगा, वह आयेगा अभी सुख-दुःखपरिणाम। पुद्गल कर्म के परिणाम को भोगता हुआ। सुख-दुःख को भोगता है कौन?-कि पुद्गल। यह अभी गाथार्थ बाद में आयेगा। आहाहा! यहाँ तो अपने जितना चले उतना अभी...

यहाँ से लेना **प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसा, व्याप्यलक्षणवाला पुद्गल का परिणामस्वरूप कर्म (कर्ता का कार्य), उसमें पुद्गलद्रव्य स्वयं अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य और अन्त में व्याप्त होकर,...** उस पुद्गलपरिणाम को करता है, ऐसा ले लेना। समझ में आया? है न इसमें? अक्षर अक्षर पड़े हैं, देखो! यह टीका कहीं अभी की नहीं है,

सोनगढ़ की टीका नहीं है। कोई कहे कि भाई! सोनगढ़ से प्रकाशित हुई, इसलिए सोनगढ़ में फेरफार है। यह तो कुन्दकुन्दाचार्य के शब्द हैं और यह अमृतचन्द्राचार्य की टीका है। आहाहा! बहुत फेरफार है, बापू! दृष्टि में बड़ा फेरफार है। आहाहा!

इस प्रकार पुद्गलद्रव्य से किये जानेवाले... अर्थात् कर्म। यहाँ अपने राग का विशेष (लेना है), नहीं तो शरीर के परिणाम भी इसमें लिये हैं न? शरीर के परिणाम–नोकर्म परिणाम और यह रागादि कर्म के परिणाम। **इस प्रकार पुद्गलद्रव्य से किये जानेवाले पुद्गलपरिणाम को...** अर्थात् पुद्गल से किये जानेवाले ऐसे राग को, पुद्गलपरिणाम को अर्थात् राग को। आहाहा! **ज्ञानी जानता हुआ भी,...** कहते हैं इतना सम्बन्ध हुआ। कितना?–कि ज्ञानी जानता है और वे ज्ञात होते हैं। आहाहा! धर्मी उन्हें जानता है और वह विनय आदि का राग, स्तुति के परिणाम उसे ज्ञात होनेयोग्य हुए, इतना सम्बन्ध हुआ, तो इतना सम्बन्ध है न? ऐसा कहते हैं। **ज्ञानी जानता हुआ भी,...** आहाहा! गजब टीका है! एक–एक गाथा पूरे सिद्धान्त का मर्म खोल डालती है। आहाहा! क्या कहा?

इस प्रकार पुद्गल द्रव्य... अर्थात् कर्म–जड़। अपने रागादि लेना। उसके **किये जानेवाले पुद्गलपरिणाम को...** अर्थात् भगवान की भक्ति, वन्दन, स्तुति के भाव को **ज्ञानी जानता हुआ भी...** ज्ञानी जानत है, पुद्गलपरिणाम को ज्ञानी जानता है, इतना सम्बन्ध हुआ। राग के परिणाम वे ज्ञेय हैं और ज्ञानी के परिणाम उनको जाननेवाला ज्ञान है। वह **जानता हुआ भी, जैसे...** आहाहा! **मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर,...** आहाहा! मिट्टी स्वयं घड़े की पर्याय में अन्दर पसरकर। आहाहा! मिट्टी स्वयं घड़े में, घड़े की पर्याय का व्याप्य और मिट्टी स्वयं व्यापक। अन्तर्व्यापक, मिट्टी अन्तर्व्यापक होकर घड़े की पर्याय को (करती है)। आहाहा! **घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, आदि–मध्य–अन्त में व्याप्त होकर...** आहाहा! वह मिट्टी ही स्वयं घड़े की आदि में, घड़े के मध्य में, और घड़े के अन्त में व्याप्त होकर... कुम्हार बिल्कुल नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कुम्हार उस मिट्टी के घड़े के कार्य को बिल्कुल करता ही नहीं। आहाहा! यह समयसार।

जैसे मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर,... मिट्टी अन्तर्व्यापक है। वह घड़े में आदि–मध्य–अन्त में व्याप्त होकर, घड़े की पर्याय में आदि में मिट्टी। आदि में कुम्हार, मध्य में मिट्टी, अन्त में मिट्टी ऐसा नहीं है। आदि में कुम्हार था, इसलिए घड़े की पर्याय हुई, ऐसा बिल्कुल नहीं है। आहाहा! अब मुम्बई जैसी मोह नगरी, उपाधि का पार नहीं होता, उसमें ऐसी बातें। आहाहा! **मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर,...** अन्तर्व्यापक, देखा? व्यापक मिट्टी

कहनी है न ? पसरनेवाली। **आदि-मध्य-अन्त में...** घड़े की आदि में, मध्य में और अन्त में, वह की वह व्यापकर, मिट्टी उसके आदि-मध्य-अन्त में-घड़े में है। घड़े की पर्याय में आदि में कुम्हार आया, इसलिए घड़े की पर्याय हुई, ऐसा नहीं है। चाक बिना हुई। मिट्टी की पर्याय में अन्तर्व्यापक मिट्टी हुई है, चाक नहीं, कुम्हार नहीं, जमीन तो कहीं रह गयी नीचे। आहाहा! ऐसी बात है। यह लोगों को कठिन लगता है। यहाँ की यह बात, इसलिए एकान्त लगता है न! इसलिए फिर जरा बेचारे विरोध करते हैं। यह तो उनकी दृष्टि में जँचा नहीं, उसका विरोध है। यहाँ का विरोध नहीं, उनकी दृष्टि का विरोध है। परन्तु यह किस प्रकार जँचे ?

कहते हैं कि भगवान की भक्ति और स्तुति के परिणाम की आदि में पुद्गलकर्म है। आहाहा! उसे मध्य में भी कर्म है और अन्त में भी कर्म है। आहाहा! जैसे घड़े की आदि-मध्य-अन्त में मिट्टी है, वैसे इस विकारी परिणाम के आदि-मध्य-अन्त में कर्म पुद्गल है। आहाहा! **मिट्टी स्वयं घड़े में अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्त में...** आहाहा! कितना स्पष्ट किया है! आदि-मध्य-अन्त तीनों डाले। प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य रखे, आदि-मध्य-अन्त डाले। आहाहा! **घड़े को ग्रहण करती है,...** मिट्टी। मिट्टी घड़े को ग्रहण करती है इसलिए घड़े का प्राप्य है, उसे मिट्टी ग्रहण करती है। उस समय में घड़े की पर्याय निश्चय से होनेवाली थी, वह उसका मिट्टी का प्राप्य है। घड़े की पर्याय प्राप्य है। उस समय निश्चय से वही पर्याय मिट्टी में से होनेवाली थी। आहाहा! कितनी बात स्पष्ट करते हैं।

श्रोता : सबको लूला बना दिया...

पूज्य गुरुदेवश्री : लूला नहीं, महा भगवानस्वरूप है। आहाहा! यह तो आनन्द के और ज्ञान के परिणाम को करता हुआ परिणमता है। आहाहा! ऐसा है, भाई! बहुत अच्छी गाथा है। हमारे भाई आये हैं न! प्रेमचन्दभाई बराबर लाग में आये हैं। आहाहा! ऐसी बात है, बापू! आहाहा!

आहाहा! प्रभु! तू कौन है ? क्या विकार का पुतला है तू ? उस विकार के परिणाम तुझसे होते हैं ? आहा! भगवान तू तो ज्ञायक है न, प्रभु! जाननस्वभाव के भण्डार का भण्डार है तू! उसमें से खुले तो जानने के, देखने के, आनन्द के परिणाम आवें, परन्तु वह पसर कर विकार परिणाम आवें, बापू! यह नहीं है। आहाहा! ओहोहो! क्या शैली!! यह मिट्टी घड़े को ग्रहती है, वह प्राप्य। वह मिट्टी का वह प्राप्य है। उस समय घड़े की पर्याय उसी समय में होने की ही है। आहाहा! क्रमबद्ध नियत को कितना सिद्ध करते हैं! अब यह लोगों को जँचता नहीं। उन वर्णीजी के साथ (चर्चा हुई, वे कहें) नहीं। एक के बाद एक होती है परन्तु इसके बाद यही

हो (ऐसा) नहीं है। यह तो इसके बाद यही होती है। यह बात थी ही नहीं, इसलिए क्या हो? उन्हें कहीं आत्मा का बिगाड़ने का तो होता नहीं परन्तु बेचारे को यह बात नहीं मिली थी। आहाहा! आहाहा! यह बात आयी नहीं थी। आहाहा! सुनने में आयी नहीं थी, पूर्व का कोई संस्कार नहीं था, इसलिए यह बात कठिन पड़े, बापू! आहाहा!

कहते हैं कि मिट्टी स्वयं घड़े को ग्रहती है, इसलिए वह पाप है। वह घड़े की पर्याय प्राप्त है, उस समय है, वह मिट्टी उसे पकड़ती है, ग्रहती, बस! आहाहा! घड़े की पर्याय उस समय में उस प्रकार से होनी ही थी। आहाहा! वह उसका प्राप्य है, उसे मिट्टी ग्रहती है। है, उसे ग्रहती है। आहाहा! बात तो देखो! **घड़े को ग्रहण करती है, घड़े के रूप में परिणमित होती है...** मिट्टी। विकार्य **और घड़े के रूप में उत्पन्न होती है...** यह निर्वर्त्य। आहाहा! घड़ा उस समय उपजने का निर्वर्त्य, बस! आहाहा! उसे आगे-पीछे किसी समय की आवश्यकता नहीं, उसे निमित्त की आवश्यकता नहीं। अरे! वास्तव में तो उसे द्रव्य की आवश्यकता नहीं, ऐसा है, परन्तु अब अभी... वह घड़े की पर्याय उस समय में षट्कारकरूप से परिणमती हुई उस समय की उस काल में उपजती है। ऐसा है, प्रभु! इसलिए सोनगढ़वालों का ऐसा लोग कहते हैं, ऐ.. एकान्त है। भाई! तुझे खबर नहीं न! आहाहा! है तो सम्यक् एकान्त ही। आहाहा!

भगवान आत्मा आनन्द का सागर प्रभु, उसके परिणाम में विकार कैसे होगा? उसके परिणाम में तो आनन्द हो, अतीन्द्रिय आनन्द हो। आहाहा! और यहाँ तो ज्ञान से लिया है। अतीन्द्रिय ज्ञायकभगवान के परिणाम अतीन्द्रिय ज्ञान परिणाम हों या जो कर्म से ग्रहे हुए परिणाम हैं-राग है, उसे जाने। इतना निमित्त का ज्ञान करते हैं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! क्या करें? भगवान तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव का यह पुकार है। सन्त आढ़तिया, दिगम्बर सन्त आढ़तिया होकर यह बात जगत को प्रसिद्ध करते हैं। दुनिया को जँचे या न जँचे, विरोध करे या न करे, पागल माने या न माने, तुम्हारी स्वतन्त्रता, प्रभु! आहा! आहाहा! गजब किया है न! क्या ज्ञायकभाव को सिद्ध किया है!! आहाहा!

उसी प्रकार ज्ञानी स्वयं... धर्मी ज्ञानी स्वयं। **बाह्यस्थित...** ***ये रागादि हैं, वे बाह्यस्थित हैं। आहाहा! अन्तर के परिणाम में नहीं, द्रव्य-गुण में तो नहीं परन्तु उसके परिणाम में भी नहीं। आहाहा!*** क्या हो? 'कहा, कहू, कहा'... उसमें आनन्दघनजी में आता है। किसे करूँ प्रसन्न? यह वस्तु... आहाहा! थोड़ा भी सत्य होना चाहिए, बड़ी लम्बी-लम्बी बातें और पण्डितों की बातें और पण्डिताई की... आहाहा! मंगलवार है, आज यह मंगलवार है।

ज्ञानी... अर्थात् समकिती, धर्मी, जिसे ज्ञायक की दृष्टि हुई है और पर्यायदृष्टि जिसे उठ

गयी है। आहाहा! ऐसा जो **ज्ञानी स्वयं...** स्वयं। **बाह्यस्थित...** ऐसा। **(बाहर रहनेवाले) परद्रव्य के परिणाम में...** है ? बाहर रहनेवाले ऐसे परद्रव्य के परिणाम में, परद्रव्य शब्द है न ? 'परद्रव्य पर्याय' यह डाला है। वह परद्रव्य की पर्याय है, गजब बात है। आहा! आहाहा! मुनियों की मुनि वैयावृत्त्य करने का भाव, कहते हैं कि वह परद्रव्य है। भगवान तीन लोक के नाथ समवसरण में विराजते हों, उन्हें हीरा के थाल, मणिरत्न के दीपक और कल्पवृक्ष के फूल (लेकर) जयनारायण (करके), आहाहा! यह स्तुति करता हो, कहते हैं कि वह स्तुति करनेवाले का परिणाम, वह विकारी कर्म का है; आत्मा का नहीं। अरे प्रभु! यह कैसे जँचे ? आहाहा!

धर्मी जीव-ज्ञायक में जिसकी दृष्टि हुई है, इसलिए उसके परिणाम ज्ञान के होते हैं। इसलिए उन ज्ञान के परिणाम को बाह्यस्थितिवाले **परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर...** आहाहा! उन्हें जानता है परन्तु वे रागादि के परिणाम जो पुद्गल का व्याप्य है उसे। **परद्रव्य के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर...** आहाहा! ज्ञायक ऐसा भगवान आत्मा... आहाहा! ज्ञान के स्वभाव से भरपूर भगवान आत्मा, वह देव-गुरु और शास्त्र की भक्ति तथा स्तुति के परिणाम को, उन पुद्गल के परिणाम में अन्तर्व्यापक होकर, आहाहा! आदि में उसमें नहीं, आहाहा! **आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता,...** आहा! यह प्राप्य लिया। आहाहा! यह पुद्गल का प्राप्य है जो रागादि, उन्हें ज्ञानी ग्रहता नहीं। अर्थात् वह प्राप्य उसका नहीं कि पकड़े, ऐसा कहते हैं। आहाहा! उस समय में जानने के परिणाम हैं, वे प्राप्य हैं। आहाहा! उन्हें वह ग्रहता है, परन्तु राग के परिणाम को ज्ञानी अपने परिणाम से ग्रहता नहीं। आहाहा! समझ में आये उतना समझना, प्रभु! यह तो भगवान का मार्ग है। आहाहा! अभी तो बहुत फेरफार हो गया है। **आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर, उसे ग्रहण नहीं करता,...** आहाहा! उस समय का क्षणिक... १०२ गाथा में उस समय के उत्पन्न होते राग के परिणाम, वह उसका काल है (ऐसा कहा), परन्तु उन्हें यहाँ कहते हैं कि उस परिणाम का-प्राप्य का ग्रहण तो कर्म को है, आत्मा उसे प्राप्य करता नहीं। आहाहा!

श्रोता : अणुव्रत महाव्रत की दीक्षा किसने ली ?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी ने ली नहीं, ले कौन ? उसने शुद्ध उपादान की दीक्षा ली थी। शुद्ध उपादान ली थी।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी ही यह बात है। शुद्ध उपादान, कल नहीं आया ? शुद्ध परम

शुद्ध उपयोगरूप परिणाम को प्राप्त है, यह उसका ध्रुव है। आहाहा! परम शुद्ध उपयोग के परिणाम को प्राप्त मुनि हैं। वे परम शुद्ध उपयोग के परिणाम, वे उनका प्राप्य अर्थात् ध्रुव है, पर्याय का ध्रुव, हों! उस समय में वह परिणाम ध्रुव निश्चल होने के थे। आहाहा! समझ में आया? व्यवहार की बात आवे, तब कथन आवे परन्तु फिर भी वस्तु ऐसी नहीं है। दीक्षा ग्रहण की, मुनियों ने दीक्षा दी, आता है न? यह सब व्यवहार की बातें हैं। आहाहा!

श्रोता : जड़ ने दीक्षा ली?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दीक्षा, वह आत्मा के वीतरागी परिणाम की दीक्षा ली। नहीं कहा? साम्य अंगीकार किया, नहीं आया? साम्य अंगीकार किया, वीतराग परिणाम अंगीकार किये। आहाहा! वे वीतरागी परिणाम हैं, उनका प्राप्य अर्थात् ध्रुव है, उस समय में वे ही परिणाम उसके निश्चल होने के थे, उन्हें आत्मा ने ग्रहण किये। आहाहा! बहुत अच्छी बात है, हों! प्रश्न में स्पष्ट होता है, उसमें कुछ... आहाहा!

उस पुद्गल के परिणाम को अर्थात् दया, दान, व्रत, वन्दन, पूजा, भक्ति, स्तुति उस परिणाम की आदि-मध्य-अन्त में व्याप्त होकर पुद्गल ग्रहता है। जीव उन्हें ग्रहण नहीं करता। आहाहा! वह ध्रुव-प्राप्य। **उसरूप परिणमित नहीं होता...** विकार्य। उसे बदलता नहीं पर को। आहाहा! **उसरूप उत्पन्न नहीं होता।** आहाहा! द्रव्यदृष्टि के कथन समयसार में अलौकिक है। कहीं किसी के साथ मेल खाये ऐसा नहीं है। आहाहा!

इसलिए यद्यपि ज्ञानी पुद्गलकर्म को जानता है... यह व्यवहार का, पंच महाव्रत का इत्यादि का जो राग हुआ, उसे जानता है, **तथापि प्राप्य,...** अर्थात् उस प्रकार के राग का काल जो था, पुद्गल का राग होने का, राग को बदल डाला विकार्य। **ऐसा जो व्याप्यलक्षणवाला परद्रव्यपरिणामस्वरूप...** ऐसा व्याप्य अर्थात् कार्यस्वरूप जो पुद्गल का है, **परद्रव्य-परिणाम -स्वरूप कर्म है,...** अर्थात् कार्य। **उसे न करनेवाले ज्ञानी का पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।** आहाहा! राग उसका कार्य और आत्मा उसका कर्ता, ऐसा नहीं है। राग का ज्ञान है, वह आत्मा का प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य है; उसे ग्रहे, उपजे और बदलता है। उसका वह आत्मा अन्तर्व्यापक आदि-मध्य में है। आहाहा! **पुद्गल के साथ कर्ताकर्मभाव नहीं है।** आहाहा!

भावार्थ - जीव पुद्गलकर्म को जानता है, तथापि उसे पुद्गल... जानता है न! इतना सम्बन्ध है न! ऐसा कहते हैं। तो फिर कर्ताकर्म है न? - (कहते हैं) कि नहीं। **जानता है, तथापि उसे पुद्गल के साथ कर्ताकर्मपना नहीं है।** विशेष कहा जायेगा...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

२१

श्री समयसार नाटक, काव्य १ से ८, प्रवचन-१५०
दिनांक - ३१-०८-१९७१

सर्वविशुद्ध अधिकार का सार चलता है। संक्षेप में। यहाँ तो ऊपर कहा कि '**करनी हित हरनी सदा मुक्ति वितरनी नांहि**' भगवान आत्मा तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। उसमें जो राग उत्पन्न हुआ; दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, नाम-स्मरण के जो सब विकल्प हुए, वह राग को करनी है। वे आत्मा के हित को नाश करनेवाले हैं। है न ? राग की क्रिया से रहित अपना आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। उसमें एकाग्र होना, वह स्वाभाविक क्रिया धर्म है। समझ में आया ? चैतन्य वस्तु.. सर्वविशुद्ध है न ? उसका सार है। शुद्ध चैतन्य, जिसमें बन्ध और मोक्ष की पर्याय भी नहीं। राग तो नहीं, परन्तु दो पर्याय हैं, वे भी नहीं। ऐसी चीज़ की दृष्टि करना और उसमें लीनता करना, वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र मार्ग है। बीच में राग की क्रिया आती है, उसमें हित का नाश होता है। आहाहा!

इसलिए ज्ञानी लोग... जिन्हें सुखी की प्राप्ति करनी है, ऐसे धर्मी जीव **ज्ञानगोचर और ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही अनुभव करते हैं।** ज्ञान में गम्य ऐसा जो आत्मा, राग से-विकल्प से गम्य नहीं होता। समझ में आया ? जन्म-मरण मिटाने का उपाय ज्ञानगम्य आत्मा है। अकेला चैतन्यस्वभाव, वह जाननस्वभाव है, उससे ज्ञात होता है; दूसरी कोई रीति नहीं है। **ज्ञानगोचर और ज्ञानस्वरूप...** दो। वस्तु आत्मा सम्यग्ज्ञान जो निर्मल पर्याय, उससे गम्य है और ज्ञानस्वरूप आत्मा है। ज्ञानस्वरूप है तो ज्ञानगम्य है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ज्ञानगम्य है, क्योंकि ज्ञानस्वरूप है, ऐसा। समझ में आया ? वह कोई रागस्वरूप नहीं कि राग से गम्य हो। व्यवहार विकल्प शुभराग से गम्य नहीं होता, क्योंकि उसमें वह है नहीं, वह उसका स्वरूप नहीं। वह तो ज्ञानगम्य है। अपने ज्ञानस्वभाव से वह ज्ञात होता है, क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप है। सेठ!

अब, इससे थोड़ी आगे बात लेते हैं। **स्मरण रहे कि ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है,...** भगवान आत्मा प्रज्ञाब्रह्म ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। समझ में आया ? **जब वह ज्ञेय को ग्रहण करता...** राग तो उसका नहीं और राग से गम्य नहीं; परन्तु ज्ञानस्वभाव आत्मा है, उसमें शरीर, वाणी, मन, परपदार्थ, राग ज्ञेय है, उसे आकार से ज्ञानपरिणति अपने में अपने से करती

है। समझ में आया? **जब वह ज्ञेय को ग्रहण करता अर्थात् जानता है,...** अपने ज्ञानस्वभाव में शरीर, वाणी, मन, परपदार्थ और पुण्य-पाप के विकल्प को आत्मा जानता है, **तब उसकी परिणति ज्ञेयाकार होती है,...** उसकी परिणति ज्ञेयाकार होती है, इसका अर्थ कि जैसा ज्ञेय है, वैसा अपने में अपने कारण से ज्ञानपरिणतिरूप ज्ञेयाकार होता है। समझ में आया? आहाहा!

श्रोता : ज्ञानाकार...

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञेयाकार परिणति, यह निमित्त से कथन किया। ज्ञेय को जानने पर ज्ञान की वर्तमान दशा, क्योंकि ज्ञानस्वरूप ज्ञानगम्य और ज्ञानगम्य की वर्तमान अवस्था में राग-द्वेष, विषय-वासना, शरीर की क्रिया ज्ञेय है, तो ***ज्ञेय के आकार से अपनी ज्ञानपरिणति, ज्ञेय का आकार अर्थात् जैसा ज्ञेय का स्वरूप है, वैसा अपने ज्ञान में उस स्वरूप का ज्ञान स्वयं से आ जाता है। समझ में आया?' ....'*** ऐसा मार्ग! आहाहा! वह पर्याय का स्वभाव है।

क्योंकि ज्ञान सविकल्प है,... अर्थात् ज्ञान में स्व-पर जानने का स्वभाव है। सविकल्प का अर्थ यह (है)। दो है न? स्व-पर जानना, वह सविकल्प है। सविकल्प का अर्थ यहाँ राग नहीं है। दो प्रकार से जानना, वही सविकल्प हुआ। समझ में आया? यह प्रवचनसार में लिया है। स्व-पर प्रकाशक जो ज्ञान की पर्याय है, उसे ही विकल्प कहते हैं। केवलज्ञान में भी विकल्प है। विकल्प का अर्थ—स्व-पर के ज्ञान का परिणमन। समझ में आया? सूक्ष्म है।

श्रोता : विकल्प के दो अर्थ हुए।

पूज्य गुरुदेवश्री : विकल्प के दो अर्थ। एक रागरूप विकल्प, यह तो पहले कहा। राग, आत्मा की शान्ति का घात करनेवाला है। वह तो नहीं। अब राग का ज्ञान। राग है, जैसा राग उत्पन्न होता है, उस प्रकार से उस ज्ञेय के आकार अर्थात् जैसा ज्ञेय का स्वरूप, वैसे स्वरूपरूप से अपनी ज्ञानपरिणति, स्वयं से, स्वयं में होती है। अगम्य को गम्य करना, वह चीज़ यहाँ है।

वस्तु ज्ञान भगवान प्रज्ञाब्रह्म, राग से गम्य नहीं होती; ज्ञान से गम्य होती है। तो ज्ञान में अपनी दशा में स्व-पर के जाननेरूप परिणमन हो, वह तो अपना स्वभाव है। तो कहते हैं, **ज्ञान सविकल्प है, दर्शन के समान निर्विकल्प नहीं है,...** दर्शन में तो भेद पड़ते ही नहीं कि मैं यह हूँ और मैं यह हूँ, ऐसे भेद नहीं है। दर्शन को भी ज्ञान जानता है। समझ में आया? ज्ञान सविकल्प है और दर्शन की तरह अभेद नहीं है अर्थात् स्व-पर को जानना, ऐसा दर्शन में नहीं, ज्ञान में है।

ज्ञान, ज्ञेय के आकार आदि को विकल्प करता है,... विकल्प करता है, इसका अर्थ यह (कि) यह छोटा है, यह बड़ा है, इस छोटे-बड़े का विकल्प करता है, ऐसा इसका अर्थ नहीं है। यह छोटा है, यह बड़ा है-ऐसा ज्ञान अपने में स्व-पर प्रकाशक की परिणति होती है।

विकल्प का अर्थ विकल्प करता है, ऐसा नहीं। ऐसा होता है, ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है। अपने को जानने से, रागादि परचीज़ है, वह परज्ञेय है, उसे जानता है। पर को जानना, ऐसा ज्ञान, वह कहीं दोष नहीं है, वह कुछ विरुद्धता नहीं है; वह तो अपना निज स्वभाव है, ऐसा कहते हैं। यह सिद्ध करना है। आहाहा! समझ में आया?

रागादि तो इसके नहीं, परन्तु राग का ज्ञान हुआ, वह राग का ज्ञान नहीं; वह ज्ञान का ज्ञान है। समझ में आया? दया, व्रत, भक्ति का जो राग आया, वह तो बन्ध का कारण है और दोषरूप है, एक बात। अब ज्ञान में उस राग का जानना हुआ कि यह राग है – वह जानना हुआ, वह भी राग के कारण से नहीं हुआ। अपना स्व-पर जानने का स्वभाव है, इसलिए राग को जानता है। गजब भाई! जैसा जिसका स्वभाव है, वैसा यथार्थ माने, जाने तो सम्यक् होवे न? तो ज्ञान में राग से लाभ होता है – ऐसा मानना, वह तो मिथ्याज्ञान है, एक बात; और राग का ज्ञान हुआ तो आत्मा में दोष हुआ, यह दूसरा दोष है, पाप है-ऐसा नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय जाना हुआ प्रयोजनवान है, उसका स्पष्टीकरण करते हैं।

कहते हैं, **ज्ञान ज्ञेय के आकार...** आकार का अर्थ जैसे रागादि, शरीरादि हैं, ऐसे स्व और पर का स्वरूप है, वैसा यहाँ ज्ञान होता है। वह ज्ञान होता है, उसमें वह चीज़ निमित्त हो, परन्तु उस चीज़ का ज्ञान नहीं। आहाहा! समझ में आया? क्योंकि वह भगवान तो ज्ञानस्वरूप है। अपना स्वरूप तो ज्ञानचक्षु है। ज्ञानचक्षु प्रभु आत्मा उसे कहते हैं और ऐसा है कि पर को जानने के काल में पर का जैसा स्वरूप है, वैसा यहाँ ज्ञान होता है। परन्तु वह ज्ञान होता है, वह पर चीज़ है तो होता है, ऐसा नहीं है और पर सम्बन्धी अपने में ज्ञान हुआ है, वह दोष है, ऐसा नहीं है क्योंकि वह तो अपना स्वभाव है। समझ में आया? आहा!

कहते हैं, **विकल्प करता है,...** विकल्प का अर्थ भेद से उसका अनुभव है, इतना। मैं ज्ञान हूँ, यह राग है, ऐसा अन्तर में स्व-पर प्रकाशकरूप भेदभाव का परिणमन है। उसे विकल्प कहते हैं। समझ में आया? भारी सूक्ष्म बात। यह मार्ग इस प्रकार से नहीं समझ में आता, इसलिए लोग दूसरे रास्ते चढ़ गये हैं। मूलचन्दभाई! मूलचन्दभाई ऐसा कहते थे कि इन सबको क्रियाकाण्ड में चढ़ा दिया। सेठ! अरे भगवान! तेरी चीज़ क्या है? और उस चीज़ में जो स्वभाव का परिणमन होता है, वह तो तेरी पर्याय है। ऐसी पर्याय राग को जानने पर भी रागरूप नहीं होती, ज्ञेय को जानने पर भी ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता और ज्ञान, ज्ञानरूप रहकर ज्ञेय को जानता है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म '....' ऐसा सूक्ष्म मार्ग, भाई! समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं, तेरी चीज़ जो अन्दर है, तू जैसा है, वह तो ज्ञानस्वभावी भगवान है।

उसमें शरीर नहीं, वाणी नहीं, कर्म नहीं, परपदार्थ का कोई सम्बन्ध नहीं और अन्दर रागादि होते हैं, वे भी इसके सम्बन्ध में नहीं, सम्बन्ध में नहीं। राग और पर को जानना, वह अपने स्वभाव के कारण ऐसा होता है। पर को जानना तो ज्ञान की दशा पररूप हो जाती है, ऐसा नहीं है। दर्पण होता है न? दर्पण, दर्पण। दर्पण में बाहर अग्नि और बर्फ है, तो यहाँ भी अग्नि और बर्फ दिखता है। वह अग्नि, बर्फ नहीं है, वह दर्पण की स्वच्छ अवस्था है। अग्नि और बर्फ वहाँ घुस नहीं गये हैं। अग्नि और बर्फ तो बाहर रह गये हैं। समझ में आया? दर्पण में ऐसे अग्नि दिखती है और बर्फ पिघलता दिखता है, पानीरूप होता दिखता है और अग्नि की ऐसी ज्वाला दिखती है तो क्या वहाँ अग्नि है? वहाँ बर्फ है कि पिघलता दिखे? वह तो दर्पण की अवस्था है।

इसी प्रकार भगवान चैतन्यरूपी दर्पण है। समझ में आया? आहाहा! अपना चैतन्यरूपी दर्पण, ज्ञानस्वभावरूपी दर्पण में शरीर, वाणी, मन, राग-द्वेष, विषय-वासना आदि होते हैं, उस सम्बन्धी के अपने ज्ञान में उसके (अपने) स्वभाव का परिणमन होता है। समझ में आया?

यह छोटा है, बड़ा है,... ऐसा ज्ञान में ज्ञानरूप परिणमन हुआ। छोटे-बड़े के कारण से नहीं। छोटी-बड़ी जो चीज़ है, उस सम्बन्धी ज्ञान के स्व-पर प्रकाशक स्वभाव में छोटा होवे तो छोटेरूप जाने और बड़ा होवे तो बड़ेरूप जाने परन्तु जानता है, वह ज्ञान की पर्याय में जानता है। वह पर की पर्याय नहीं और पर के कारण से नहीं। सेठ! बहुत सूक्ष्म। वह तो ज्ञान की पर्याय है। है?

छोटा है, बड़ा है, टेढ़ा है,... टेढ़ा। **सीधा है,...** जैसा है, वैसा जाने। **ऊँचा है, नीचा है,...** ऐसा जाने, ज्ञान जाने। शरीर की अवस्था ऐसी होती है, ऐसी होती है। आहाहा! शरीर के माँस की अवस्था इस जगह गोल है, इस जगह कोमल है, ऐसा जाने। वास्तव में तो उसे नहीं जानता, जानता तो है अपने को। समझ में आया? यह स्वतः तत्त्व ज्ञानगुण से भरा हुआ, उस ज्ञान का जब परिणमन होता है, तब जैसी चीज़ है, वैसी जानता है।

साधक है,... लो! **गोल है, त्रिकोण है, मीठा है, कडुवा है,...** यह मीठा है, हों! 'यह' शब्द पहला है न? 'यह' शब्द है न? यह - यह। मैं नहीं, मैं मीठा नहीं कड़वा नहीं। **मीठा है, कडुवा है, साधक है, बाधक है,...** आहाहा! निर्मल पर्याय का साधकपना उत्पन्न हुआ, उसे ज्ञान जानता है। राग में इतनी बाधकता है, ऐसा जानता है। बहुत सूक्ष्म है। पण्डितजी! ऐसा आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वभाव जैसा है, वैसा अन्तर में मानना, जानना, अनुभव करना इसका नाम दर्शन-ज्ञान और चारित्र है। कोई क्रियाकाण्ड और व्रत तथा यह और वह कोई चारित्र-फारित्र नहीं है। आहाहा!

हेय है, उपादेय है... यह राग हेय है, मुझमें नहीं है; यह ज्ञान मुझमें है, यह आदरणीय है – ऐसा ज्ञान जानता है। **परन्तु ज्ञान, ज्ञान ही रहता है,...** आहाहा! पर को जानने के काल में भी पर की अवस्थारूप नहीं होकर, अपनी स्व-परप्रकाशक अवस्था में रहकर ज्ञान, ज्ञानरूप रहता है। **ज्ञान, ज्ञान ही रहता है, ज्ञेय का ज्ञायक होने से...** रागादि का जाननेवाला होने से **वा ज्ञेयाकार परिणमने से ज्ञेयरूप नहीं होता,...** ज्ञेय का ज्ञायक होने से ज्ञेयरूप नहीं होता और ज्ञेयाकार परिणतिरूप होवे तो भी ज्ञान, ज्ञेयरूप नहीं हुआ। आहाहा! जैसा तत्त्व है, वैसा दृष्टि में नहीं आवे, तब तक मिथ्यात्व का नाश नहीं होता। समझ में आया?

परन्तु ज्ञान में ज्ञेय की आकृति प्रतिबिम्बित होने से... यह तो ज्ञेय का प्रमेय होने का स्वभाव है और ज्ञान में प्रमाण करने का स्वभाव है। समझ में आया? स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, मकान, पैसा तो ज्ञेय है। वह ज्ञान में ज्ञात होता है। मेरा है, ऐसा नहीं। समझ में आया? मेरी स्त्री है, मेरा शरीर है, मेरा राग है, यह वस्तु में नहीं है। **ज्ञान में ज्ञेय की आकृति प्रतिबिम्बित होने से...** प्रतिबिम्ब का अर्थ ज्ञानरूप परिणमन होने से। वह चीज़ यहाँ... नहीं पड़ती। **वा उसमें आकार आदि का विकल्प होने से....** उसके स्वरूप का स्व-पर का भेदरूप ज्ञान होने से। **अज्ञानी लोग ज्ञान का दोष समझते हैं,...** अरे! यह राग, ज्ञान में कैसे ज्ञात हुआ? समझ में आया? यह... कैसे ज्ञात हुआ? समझ में आया? ज्ञात हुआ इसका अर्थ क्या? तेरे ज्ञान का जानने का स्वभाव है तो ज्ञान जानता है। उसमें दोष क्या हुआ? समझ में आया?

आता है न? स्त्री को देखकर आँख फोड़ डाली। सूरदास का आता है न? ....अरे रे! यह आँख का दोष है कि यह स्त्री दिखायी दी। यह आँख का दोष है? आँख भी ज्ञेय है और परवस्तु भी ज्ञेय है। आँख फोड़ डालो। मिथ्याभाव है। मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? बातचीत में लोग ऐसी बात सुनें तो लोग ऐसा करते हैं न? ऊं हूं..! क्या है परन्तु? .... ? इसे क्या है? वह तो जड़ है। समझ में आया? यह जानने में क्यों आया? जानने में क्या आया? तेरा स्वभाव ज्ञात हुआ है। आहाहा! यह स्वभाव जानने में आया तो कहता है कि नहीं, नहीं, नहीं। क्या है? तेरा जानने का स्वभाव नहीं? अज्ञान है, मूढ़ है। समझ में आया? पाटनीजी! ऐसा होता है न? बातचीत करे, उसमें ऐसा होता है। कहो, चन्द्रकान्तभाई! समझ में आया या नहीं? ऐई!

कहते हैं, **अज्ञानी लोग ज्ञान का दोष समझते हैं, और कहते हैं, कि जब यह ज्ञान की सविकल्पता मिट जावेगी...** अरे! ज्ञान में पर को जानने का नाश होगा, तब ज्ञान निर्मल होगा, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! राग से तो पृथक् है परन्तु ज्ञेय का ज्ञान करता है, उस

ज्ञेय से पृथक् है, ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया? राग से तो भगवान पृथक् है ही, परन्तु ज्ञेय का ज्ञान करने में ज्ञेय से पृथक् है। आहाहा! समझ में आया? यह तो धीरज की बातें हैं। जिसे ऐसी दशा प्रगट करनी हो, उसके लिए बात है। मात्र बातें करनी हो और यह समझे बिना धर्म हुआ, यह धर्म हुआ (उसके लिए बात नहीं है)। करुणा करके, अभयदान दिया, हो गया धर्म।

श्रोता : अभिमान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभिमान नहीं, अभयदान दे नहीं सकता। मैं पर को अभय करता हूँ तो वह जीता है, ऐसा है? वह तो शरीर और जीव पृथक् नहीं पड़े, उस ज्ञेय का आत्मा ज्ञान करता है और शरीर तथा आयुष्य पृथक् पड़ गये, वह आत्मा ने किया नहीं। आत्मा ने किया नहीं, परन्तु वह आत्मा का ज्ञेय भी पररूप है। उसके ज्ञान में आया तो ज्ञेय के कारण ज्ञान का परिणमन हुआ, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म भाव है, भाई!

भगवान कल्पद्रुम! यहाँ कहते हैं, ज्ञान में आनन्द आता है, उसमें ज्ञेय और राग कहाँ आये? ज्ञेय को तो स्पर्श ही नहीं करता। राग जो दया, दान का विकल्प आया, उसे ज्ञान स्पर्श ही नहीं करता, ऐसा उसका स्वभाव है। समझ में आया? जैसा स्वभाव है, वैसा जाने नहीं तो मूढ़ता मिथ्यात्व है। फिर चाहे तो जैन नाम धरावे कि हम साधु और श्रावक हैं, वह मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया?

और कहते हैं, कि जब यह ज्ञान की सविकल्पता मिट जावेगी-अर्थात् आत्मा शून्य जड़ सा हो जावेगा,... शून्य हो जाओ, शून्य हो जाओ तो ज्ञान निर्दोष होगा। शून्य कब होगा? स्व-पर का जानना तो सिद्ध में भी है। समझ में आया? स्व-पर जानने का स्वभाव तो सिद्ध में भी है, केवलज्ञान में है। जाये कहाँ? वह तो ज्ञान का स्वभाव है। वह परिपूर्ण हो गया। लोकालोक को जानता है। कसाई का घर है, वहाँ बकरे को काटता है, वहाँ व्यभिचार होता है, वह सब ज्ञान में नहीं आता? ज्ञान जानता है या नहीं? सब जानता है और केवलज्ञानी तो ऐसा भी जानते हैं कि ये लोग आत्मा को मानते नहीं, ज्ञान को मानते नहीं, विपरीत मानते हैं, यह भी ज्ञान जानता है। जानता है, उसमें क्या विपरीतता आ गयी? आहाहा! वह तो ज्ञान की पर्याय का स्वभाव है, वह तो स्व-स्वभाव है। जानना-देखना तो अपना अपने से स्वभाव है।

आत्मा शून्य जड़ सा हो जावेगा, तब ज्ञान निर्दोष होगा, परन्तु 'वस्तुस्वभाव मिटै नहि क्योंही'... यह आ गया, **'वस्तुस्वभाव मिटै नहि क्योंही'... खेद करे सठ योंही...** वस्तु स्वभाव भगवान चैतन्य प्रभु अपने को जाने और परचीज़ को अपने में रहकर, पर को स्पर्श

किये बिना तथा पर की परिणति किये बिना, अपनी परिणति में ज्ञान की दशा में जानता है। समझ में आया? (वस्तुस्वभाव मिटै नहिं क्योंही) **की नीति से उनका विचार मिथ्या है।** क्या? अरे! मेरे ज्ञान में यह राग ज्ञात हो गया, द्वेष ज्ञात हो गया। वहाँ क्या आ गया? वह तो तेरी चीज़ ज्ञान की परिणति ज्ञात हुई है। समझ में आया? **उनका विचार मिथ्या है।**

बहुधा देखा गया है कि हम कुछ न कुछ चिन्तवन किया ही करते हैं, उससे खेद-खिन्न हुआ करते हैं... विकल्प करे और खेदखिन्न हो। उं..हूं..हूं..! **और चाहते हैं कि यह चिन्तवन न हुआ करे।** ज्ञान की दशा में ऐसा न आवे, ऐसे खेदखिन्न होता है। **इसके लिये हमारा अनुभव यह है कि चेतयिता चेतन तो चेतता ही रहता है,...** लो! जाननेवाला भगवान तो जानने का कार्य सदा करता है। आहाहा! राग को भी नहीं करता, शरीर को भी नहीं करता, परचीज़ को नहीं करता और परचीज़ ज्ञेयरूप से जानने में आती है तो ज्ञेयरूप नहीं होता। जैसे रागरूप हुआ नहीं, वैसे सब ज्ञेयरूप भी ज्ञान नहीं होता। समझ में आया? आहाहा! **चाहते हैं कि यह चिन्तवन न हुआ करे। इसके लिये हमारा अनुभव यह है कि चेतयिता चेतन तो चेतता ही रहता है, चेतता था,...** पहले भी। **और चेतता रहेगा,...** इस चेतना ने तो जानने का कार्य किया, जानने का कार्य करती है, जानने का कार्य करेगी। बराबर है? टाईल्स-बाईल्स का कोई काम किया नहीं, ऐसा कहते हैं। ....थाणा ...थाणा। पन्द्रह लाख की मशीन।

श्रोता : बंगले की शोभा बढ़ाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बंगले की न! आत्मा की नहीं! विवाह में कहते हैं न? विवाह में। मण्डप की शोभा बढ़ाओ। आओ पधारो, मण्डप की शोभा बढ़ाओ। धूल भी बढ़ती नहीं।... दामाद हो तो बहुत ठीक सा लिखा। तुम्हें आना पड़ेगा, तुम बहुत वर्ष से आये नहीं। हमारे मण्डप की शोभा बढ़ेगी। धूल भी नहीं बढ़ेगी, सुन न अब। ज्ञान में ज्ञात हुआ, उसमें शोभा क्या बढ़ी? आहाहा!

भगवान का तो चैतन्य मण्डप, उसमें पर का ज्ञान हुआ, वह पर का नहीं, ऐसा कहते हैं। पर का नहीं, पर से नहीं और पररूप हुआ नहीं। आहाहा! मूलजीभाई ने कहा था न! मूलजीभाई लाखाणी राजकोट! उम्र बड़ी थी। हार्टअटैक आया। लोग कहे, डॉक्टर को बुलाओ, घर के लोग कहे कि डॉक्टर को बुलाओ। वह कहे, लालूभाई को बुलाओ। लालचन्दभाई कहे, भाई! मूलजीभाई! देह का धर्म पर है, ऐसा आत्मा जानता है। यह देह का धर्म, वैसे जानना। यह धर्म आत्मा में नहीं आता। वे (मूलचन्दभाई) कहें कि देह के धर्म को जानना या मेरी पर्याय को जानना? ऐसे वीर्यवाले, अव्यक्तरूप से भी ऐसा श्रद्धा का जोर था। सेठ! गृहस्थ

है, बड़े गृहस्थ है, पैसेवाले हैं। लालचन्दभाई ने कहा, शरीर में रोग है, वह शरीर का धर्म है। उसे आत्मा जानता है कि यह है। (तो मूलचन्दभाई यह कहे), क्या आत्मा उसे जानता है ? ऐसा बोले। देह छूटने का काल (था)। आत्मा ऐसा जानता है कि इस देह का रोग, वह देह का धर्म है ? या आत्मा अपनी पर्याय को जानता है ? वहाँ जानने में रुके ? समझ में आया ?

यह तो अन्तर्मुख दृष्टि के विषय में पर का ज्ञान होता है, वह पर का नहीं परन्तु अपनी परिणति है, ऐसा सिद्ध करते हैं। आहाहा! उसका ज्ञान कब था ? आहाहा! **उसका चेतना स्वभाव मिट नहीं सकता। 'तातैं खेद करैं सठ योंही'...** देखो! आया, **'तातैं खेद करैं सठ योंही'...** ज्ञान में यह क्या आया ? यह कसाईखाना क्या ख्याल में आया ? यह बकरा काटता है न ? बोकड़ा समझे ? क्या है ? वह तो ज्ञान जानता है कि यह है। वह तो अपना जानने का स्वभाव है। काटता है, उसमें तुझे दुर्गंछा कैसे आयी ? समझ में आया ? '...' आहाहा! अरे हमारी उपस्थिति में ऐसा काम ? तेरी उपस्थिति में कहाँ होता है ? वह तो उसकी उपस्थिति में होता है। तेरी उपस्थिति में तो उस सम्बन्धी का ज्ञान होता है। उस ज्ञान को मिटाना चाहता है, वह सठ है। समझ में आया ?

की नीति से खिन्नता प्रतीति होती है,... इसे खेद-खेद हो जाता है। **अत: चिन्तवन, धर्मध्यान और मन्दकषायरूप होना चाहिए, ऐसा करने से बड़ी शान्ति मिलती है,...** धूल भी मिलती नहीं। राग की मन्दता से शान्ति मिलती है ? ऐसा विकल्प आता है, ऐसा कहते हैं। मैं मुझे जानता हूँ, पर को नहीं और पररूप मैं हुआ नहीं - ऐसा राग की मन्दता का विकल्प है, परन्तु अन्दर दृष्टि में उसका भी ज्ञान है। उस ज्ञान की परिणति में आत्मा है। समझ में आया ? तब शान्ति मिलती है। **बड़ी शान्ति मिलती है, तथा स्वभाव का स्वाद मिलने से सांसारिक सन्ताप नहीं सता सकते,...** यह तो बराबर है। आत्मा, राग को और विषय-वासना को जानता होने पर भी पररूप नहीं होता। अपने रूप रहकर ऐसा जानता है तो शान्ति मिलती है। शान्ति मिलती है तो आत्मा का स्वाद भी आता है। वह राग को जानता है, उस पर लक्ष्य है तो राग का स्वाद आता है। समझ में आया ? राग को पृथक् रखकर अपना ज्ञान, राग को जानता है, वह अपनी पर्याय है। ऐसी दृष्टि में आत्मा के आनन्द का स्वाद आता है। समझ में आया ?

स्वभाव का स्वाद मिलने से सांसारिक सन्ताप नहीं सता सकते,... यह क्या हुआ ? अरे! यह क्या हुआ ? बीस वर्ष का लड़का दो वर्ष का विवाहित हो और गुजर जाये तो भी ज्ञानी तो ज्ञानस्वभाव में जानता है। लड़का मेरा है, ऐसा था नहीं और मुझसे पृथक् पड़ा, वह पृथक् ही था। मैं तो उसका जाननेवाला हूँ। आहाहा! समझ में आया ? वह तो अपना ज्ञान है। उस

सम्बन्धी का वही ज्ञान अपने में, अपने कारण से आने का था। यह हुआ तो ज्ञान आया है, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

सेठियाजी को ऐसा हुआ था न, दीपचन्दजी सेठिया। यह आया न? क्या कहलाता है वह? हितपदसंग्रह, आया न? किसी का पुत्र मर जाये तो, मेरा पेट, ऐसा करते हैं। हमारे काठियावाड़ में बोलते हैं मारुं पेट। मेरे पेट में तू था। मेरा पेट मर गया। पेट कहाँ तेरा था? बालक भी कहाँ तेरा था। मेरा ज्ञान, ऐसा कहे। '...' मेरा ज्ञान। मैं तो ज्ञान-जाननेवाला हूँ। पुत्र भी मेरा नहीं और पुत्र सम्बन्धी आसक्ति की वृत्ति उठती है, वह भी मैं नहीं। समझ में आया? कसौटी के काल में ज्ञान को ज्ञानरूप रखना, वह वस्तु है। आहाहा! मूल बात यह है। उसकी हाजिरी रखना। मैं जाननेवाला हाजिर हूँ। आहाहा! चाहे जो प्रसंग हो, वह प्रसंग, प्रसंग में होता है, मुझमें कहाँ हाजिर है? आहाहा! गजब बातें भाई!

इसलिए सदा सावधान रहकर इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग,... देखो! इष्ट का वियोग। प्रिय में प्रिय स्त्री और प्रिय में प्रिय पुत्र, ऐसा अज्ञानी गिनता है। उसके वियोग में और प्रतिकूल संयोग में **परिग्रह-संग्रह आदि को अत्यन्त गौण करके...** परिग्रह-संग्रह आदि सबको गौण करके **निर्भय,...** मैं तो निर्भय भगवान आत्मा हूँ। तीनों काल निर्भय हूँ। आहाहा! ऐसी दृष्टि करके शान्ति का वेदन करना, इसका नाम धर्म है। **निराकुल,...** मैं तो निराकुल (अर्थात्) आकुलतारहित वस्तु हूँ। मेरी चीज़ में आकुलता कैसी? शुभराग भी भट्टी है। यह आता है न? 'राग आग दहै सदा तातैं समामृत सेईये' अन्दर समता का-आत्मा के आनन्द का अमृत पीयो।... उस काल में उसका ज्ञान होने का था तो वह चीज़ उसके कारण से आयी और मेरा ज्ञान भी मेरे कारण से हुआ। राग आया तो उसके कारण से हुआ, ऐसा भी नहीं है।

निराकुल, निगम,... अगम्य-गम्य। **निर्भेद...** भेद नहीं। **आत्मा के अनुभव का अभ्यास करना चाहिए।** आत्मा आनन्दमूर्ति का अभ्यास करना, वही धर्म है। शास्त्र पढ़ना और वाँचन, अभ्यास करना, वह भी धर्म नहीं, ऐसा कहते हैं... यह अधिकार पूरा हुआ, लो! अब अमृतचन्द्राचार्य स्याद्वाद अधिकार कहते हैं।

स्वामी अमृतचन्द्र की प्रतिज्ञा... प्रतिज्ञा करते हैं।

अद्‌भुत ग्रंथ अध्यातम वानी।
समुझै कोउ विरला ग्यानी॥
यामैं स्यादवाद अधिकारा।
ताकौ जो कीजै बिसतारा॥१॥

तो गरंथ अति सोभा पावै।
वह मंदिर यहु कलस कहावै॥
तब चित अमृत वचन गढ़ि खोले।
अमृतचन्द्र आचारज बोले॥२॥

बोल सके नहीं और कहते हैं कि अमृतचन्द्र बोले। वापस अमृत वचन। अमृत वचन को रचते हैं, ऐसा कहा। अमृत वचन को रचे, खोले, ऐसे अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं। क्या है परन्तु? समझ में आया? कथन में तो ऐसा ही आवे।

अद्‌भुत ग्रंथ... आहाहा! समयसार, अमृतचन्द्राचार्य महासन्त मुनि छठवें-सातवें (में) झूलनेवाले मुनि (सन्त) समयसार को कहते हैं कि यह तो अद्‌भुत ग्रन्थ है। समझ में आया? मुनि, जिन्हें एकाध भव में केवलज्ञान की प्राप्ति होगी, ऐसे मुनि कहते हैं, पंचम काल के मुनि नग्न-दिगम्बर वन में रहनेवाले कहते हैं कि यह तो अद्‌भुत ग्रन्थ है। समयसार कोई आश्चर्यकारी ग्रन्थ है!! **अध्यातम वानी।** इसमें अध्यात्म-आत्मा को बलतानेवाली वाणी है। चिदानन्द भगवान अनाकुल आनन्द को बतलानेवाली वाणी है। समझ में आया? **यह अध्यात्म-कथन का गहन ग्रन्थ है,... समुझै कोउ विरला ग्यानी॥** कोई विरल प्राणी समयसार के रहस्य को समझते हैं। साधारण प्राणी नहीं जाने, कहते हैं।

यामैं स्यादवाद अधिकारा। उसमें स्याद्वाद (अधिकार है)। वस्तु वस्तु की है, परवस्तु की नहीं, ऐसा स्याद्वाद (कहता है)। एक है, वह अनेक नहीं; अनेक है, वह एक नहीं-ऐसा कहता है। वही यहाँ कहते हैं-एक है, वही अनेक है। ऐसा अपेक्षा से जाननेवाला ज्ञान स्याद्वाद। **ताकौ जो कीजै बिसतारा॥ यदि इसमें स्याद्वाद अधिकार बढ़ाया जावे तो यह ग्रन्थ अत्यन्त सुन्दर हो जावे,... तो गरंथ अति सोभा पावै।** ग्रन्थ अति शोभा पावे। लो! अर्थात् कि यह आत्मा का अधिकार कहा, बताया, इसकी विशेष स्पष्टता स्याद्वाद समझे तो विशेष स्पष्टता होती है।

वह मन्दिर... ग्रन्थ है, वह मन्दिर है और स्याद्वाद इसका कलश है। मन्दिर पर कलश चढ़ाते हैं न? **तब चित अमृत वचन...** अमृत वचनों की रचना। चित अर्थात्... अमृतचन्द्राचार्य विचार करके, चित्त विचार करे। **अमृत वचन गढ़ि खोले।** वचनों को अमृत कहा! 'वचनामृत वीतराग के' आता है न? अमृत वचनों की रचना करके। गढ़ि अर्थात् रचना करके खोलते हैं। उसका रहस्य बताते हैं। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य मुनि धर्म के स्तम्भ! वे इस समयसार की प्रशंसा करते हैं। एक-एक शब्द में, एक-एक गाथा में अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि यह ग्रन्थ

बहुत गम्भीर है। ओहोहो! ग्रन्थ है, वह मन्दिर है और मैं यह कलश—स्याद्वाद अधिकार—बनाता हूँ। मन्दिर पर कलश शोभता है।

अमृतचन्द्र आचारज बोले। आगे कहेंगे, वाणी हमारी नहीं है, हम बोलते नहीं हैं। कथन क्या करे? भाषा व्यभिचारी। हमने कहा। कहे कौन? बोले वह दूसरा-जड़ है। आहा! स्वरूपगुप्त मैं अमृतचन्द्राचार्य, ऐसा कहा है। मैं तो मेरे स्वरूप में-अस्तित्व में हूँ। इस वाणी के अस्तित्व में मैं आ गया? वह तो निमित्त से कथन किया जाता है।

कुन्दकुन्द नाटक विषै, कह्यो दरब अधिकार।
स्यादवाद नै साधि मैं, कहौं अवस्था द्वार॥३॥

कहौं मुकति-पद की कथा, कहौं मुकति को पंथ।
जैसैं धृत कारज जहां, तहां कारन दधि मंथ॥४॥

क्या कहते हैं? **स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य ने नाटक ग्रन्थ में जीव-अजीव द्रव्यों का...** विचार किया। द्रव्य का अधिकार कहा न? जीव का अधिकार कहा, वह तो अखण्ड आनन्दमय जीव है और विकल्प आदि सब अजीव है। ऐसे द्रव्य का अधिकार कहा।

स्यादवाद नै साधि... उसमें एक-अनेक, तत-अतत आदि जो धर्म हैं, उन्हें स्याद्वाद से कहूँगा, नय से कहूँगा और स्याद्वाद अधिकार कहूँगा। दो अधिकार हैं न! समझ में आया? एक-अनेक आदि चौदह बोल है न? उसमें स्याद्वाद आया और उपाय-उपेय में साध्य-साधक अधिकार कहता हूँ। **कहौं मुकति-पद की कथा,...** मुक्ति के पद की कथा कहूँगा। वे कहते हैं कि देखो! आचार्य कहते हैं कि मैं कहूँगा और तुम कहते हो... अरे भगवान! 'वोच्छामि समयपाहुड' ऐसा आया। आचार्य ने कुछ कहा। वह तो निमित्त का कथन है। अरे! झगड़ा समेट ले और जा अन्दर में। समझ में आया?

कहौं मुकति को पंथ। मुक्ति पद की कथा कहूँगा, मोक्ष की कथा कहूँगा और मुक्ति के मार्ग की कथा कहूँगा। यह साध्य-साधक। साध्य, वह मुक्ति और साधक, वह मुक्ति का पंथ। **जैसैं धृत कारज जहां,...** जहाँ घी की आवश्यकता है। घी, घी कहते हैं न? **तहां कारन दधि मंथ।** दही का मन्थन, वह कारण है। दही के मन्थन बिना घी नहीं निकलता। दही.. दही.. **धृत कारज जहां, तहां कारन दधि मंथ। जिस प्रकार कि घृतरूप पदार्थ की प्राप्ति के हेतु दधि-मन्थन कारण है।**

भावार्थ - जिस प्रकार दधिमन्थनरूप कारण मिलने से घृत पदार्थ की प्राप्तिरूप कार्य सिद्ध होता है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग ग्रहण करने से मोक्षपदार्थ की प्राप्ति होती है।

भगवान आत्मा... ज्ञान के दो रूप बतायेंगे। एक साधकरूप ज्ञान की दशा और एक साध्यरूप पूर्ण दशा। समझ में आया? है न वहाँ? पूर्णता के लक्ष्य से शुरुआत। पूर्णता का लक्ष्य, वह साधक... समझ में आया? पूर्णता, वह साध्य और अवस्था शुरुआत होगी साधक। वह है न पूर्णता का लक्ष्य? वह पूर्णता का लक्ष्य अर्थात् द्रव्य नहीं... कहते समय यह कहा था। पूर्ण परात्मपद वह साध्य, उसका साधन पर्याय। पर्याय का साधन कौन, यह दूसरी बात है। समझ में आया? क्या कहते हैं? देखो! साध्य तो आत्मा है परन्तु मोक्ष कहाँ हुआ? यहाँ कहा जाता है, यहाँ पर्याय के दो भेद स्याद्वाद से बतलाना है। समझ में आया? अकेला द्रव्य... द्रव्य करे, परन्तु द्रव्य में जो पर्याय होती है, वह दो प्रकार की है। एक अपूर्ण निर्मल पर्याय, वह साधक और पूर्ण निर्मल पर्याय, वह साध्य। ऐसा बताना है। ऐसा वीतराग के अतिरिक्त कहीं नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? अज्ञानी तो अकेला कूटस्थ द्रव्य ध्रुव है, ऐसा बताता है। वह भी अज्ञान है, सांख्य आदि। तथा बौद्ध आदि अकेली पर्याय को बताते हैं। पर्याय है, परन्तु पर्याय किसके आधार से होती है? दोनों को मिलाने के लिये मैं स्याद्वाद अधिकार कहूँगा। पर के कारण नहीं, वस्तु का स्वभाव ऐसा है। समझ में आया? लोग ऐसा कहते हैं कि अन्यमती में एकान्त है तो उन सबको मिलाकर महावीर भगवान ने अनेकान्त निकाला। अरे! ऐसी की ऐसी बातें पण्डित बाहर रखते हैं। भगवान महावीर ने सबका समन्वय किया। सबका एक-एक अंश लेकर पूरा स्याद्वाद अधिकार बनाया। ऐसा है ही नहीं। वह तो वस्तु ऐसी है। समझ में आया? द्रव्य त्रिकाल है, पर्याय क्षणिक है, वह वस्तु का स्वभाव है। दो होकर पूरा द्रव्य सिद्ध होता है।

कहते हैं, **कारण के बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती,...** मोक्षमार्ग ग्रहण करने से मोक्ष पदार्थ की प्राप्ति होती है। मोक्षमार्ग कारण है, मोक्षपदार्थ कार्य है - ऐसा यहाँ लेना है। वरना तो कारणपरमात्मा नियमसार में आता है। वह तो आश्रय में कारण, वह है। परन्तु कार्य की दशा में कारण मोक्ष का मार्ग है और मोक्ष है, वह उसका कार्य है। **कारण के बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती, इससे कारणस्वरूप मोक्षमार्ग और कार्यस्वरूप मोक्ष दोनों का वर्णन किया जाता है।** यहाँ तो दो पर्याय का वर्णन (करते हैं)। समझ में आया? साधक होता है, उसी समय में पूर्ण दशा प्रगट होती है? ऐसा भेद बताना है। वस्तु भगवान आत्मा का आश्रय हुआ, और सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुए तो चारित्र हुआ, उसी समय पूर्ण दशा हो जाती है? आहाहा! किसी को नहीं होती। असंख्य समय तो लगें.. और लगें ही। साधक को साध्य प्रगट करने में (इतना समय तो लगता ही है)। समझ में आया? पर्याय, पर्याय में निर्मलता की वृद्धि, पूर्णता कैसी है, यह बतायेंगे। इसका नाम यहाँ स्याद्वाद और साधक-साध्य कहा जाता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

२२ श्री नियमसार, गाथा १५९, प्रवचन-१७८
दिनांक - १५-०९-१९६६

शुद्धोपयोग अर्थात्? केवलज्ञान और केवलदर्शन को यहाँ शुद्धोपयोग कहा जाता है। यहाँ धर्म-मोक्ष का कारण शुद्धोपयोग, उसकी व्याख्या नहीं है। यहाँ तो मार्ग का फल। आत्मा अपने शुद्ध आनन्द-ज्ञान आदि स्वभाव के आश्रय से दृष्टि, ज्ञान और चारित्र जो मोक्षमार्ग प्रगट हुआ है, उसके फलरूप से मोक्ष का स्वरूप, उसे यहाँ शुद्धोपयोग कहा जाता है। फिर से देखो! टीका, टीका फिर से लेते हैं। **यहाँ, ज्ञानी को...** अर्थात् आत्मा को **स्व-पर स्वरूप का प्रकाशकपना कथंचित् कहा है।** यह आत्मा, देखो! यहाँ पूर्ण देव का स्वरूप वर्णन करते हैं अर्थात् सर्वज्ञ और सर्वदर्शी का स्वभाव कैसा होता है, उसका यहाँ निर्णय कराते हैं।

श्रोता : देव को मानने दे?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन जाने क्या होगा? ऐई! सात तत्त्व में मोक्षतत्त्व आता है या नहीं? जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व। यह कथन है, वहाँ मोक्षमार्ग एक ही हुआ वहाँ, मोक्षमार्ग एकपना पाने को उसके मोक्षतत्त्व की श्रद्धा आ जाती है और मोक्षतत्त्व की श्रद्धा अर्थात् केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त अरिहन्त और सिद्ध की श्रद्धा उसमें आ जाती है। इसमें बहुत अन्तर है बहुतों में, यह बात पहली परसों की थी।

कितने ही ऐसा मानते हैं कि केवलज्ञानी को ज्ञान और दर्शन समयान्तर होता है। समयान्तर, समझ में आया? एक साथ दो उपयोग नहीं, केवली को भी। पहले समय में केवलज्ञान तो दूसरे समय में केवलदर्शन, तीसरे समय केवलज्ञान, चौथे... ऐसे सादि-अनन्त में समयान्तर के उपयोग में अन्तर कहते हैं (किन्तु) ऐसा नहीं हो सकता। तब कोई ऐसा कहता है कि आत्मा को दो उपयोग नहीं होते, एक ही उपयोग एक समय में होता है, ऐसा एक मत है। समझ में आया? दो (बातें हुई) और तीसरा एक मत व्यवहारनय का शास्त्र में ऐसा है कि ज्ञान पर को जानता है, दर्शन स्व को देखता है, आत्मा स्व-पर दोनों को देखता है ऐसा एक जयधवल में, धवल में यह एक शैली है। यह शैली व्यवहारनय से गुणभेद के कथन की

है। गुणभेद के कथन से यह बात सच्ची है और पहली जो दो बातें हैं, वे खोटी हैं। समयान्तर उपयोग, यह खोटी बात है और दो उपयोग नहीं, परन्तु एक ही उपयोग है, यह खोटी (बात है)। क्योंकि ज्ञान और दर्शन दो गुण हैं। और कर्ता एक और दो गुण के कार्य एक समय में दो, यह वस्तु का स्वरूप है। समझ में आया? अमरचन्दभाई! कहते हैं कि ज्ञान को स्व-सम्बन्धी निश्चय से जाने; ज्ञान पर को व्यवहार से जाने, ऐसे ज्ञानी को स्व निश्चय से जाने और पर को व्यवहार से जाने, ऐसा उसका स्वरूप बताते हैं।

'**पराश्रितो व्यवहारः**' यहाँ शब्द यहाँ पड़ा है, क्योंकि यहाँ अन्त में '**अप्पाणं**' आता है न, भाई! '**णियमेण अप्पाणं**' भाई! दूसरे पद में '**अप्पाणं**' आता है न, पहले पद में। '**अप्पाणं**' के अतिरिक्त पर, ऐसा ले लेना। भले शब्द न हो, दूसरे में '**अप्पाणं**' आता है न, जानने में? इसलिए पहले में आत्मा के अतिरिक्त जितने पर अनन्त द्रव्य, अनन्त आत्माओं आदि हैं, वह '**पराश्रितो व्यवहारः**' पर को केवलज्ञानी जाने, उसका नाम व्यवहार कहने में आता है। अर्थात् पर को तन्मय होकर नहीं जानते, इसलिए उसे व्यवहार कहते हैं; परन्तु परसम्बन्धी का ज्ञान अपने में नहीं है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? परसम्बन्धी का और स्वसम्बन्धी का दो ज्ञान निश्चय से अपने में अपने से है। ऐसा अखण्ड ज्ञान-दर्शन की शक्ति का कार्य है।

ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से व्यवहारनय से वे भगवान परमेश्वर परमभट्टारक, आत्मगुणों का घात करनेवाले.... यह सब अर्थ परसों आ गया है। वे व्यवहार से घात करनेवाले कहा है। **घातिकर्मों के नाश द्वारा...** और उन्होंने घातिकर्म नष्ट किये, यह भी व्यवहार का कथन है। परद्रव्य, जीव का घात करे और जीव उसका घात करे, यह सब निमित्त के व्यवहार का ज्ञान करानेवाले कथन कहे हैं। आहा! **नाश द्वारा प्राप्त सकल-विमल केवलज्ञान...** सकल-विमल पूर्ण केवलज्ञान **और केवलदर्शन द्वारा त्रिलोकवर्ती...** तीन लोक में वर्तनेवाले **तथा त्रिकालवर्ती...** वर्तनेवाले, क्षेत्र और काल दो लिये हैं। **सचराचर...** सचर अर्थात् चलते जड़ और चैतन्य कितने ही, कितने ही अचर अर्थात् स्थिर, ऐसे **द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक समय में जानते हैं...** कहो, समझ में आया?

अभी ऐसा एक मत है कि सर्वज्ञ नियत-अनियत दो पर्यायों को जानते हैं। अनियत अर्थात् कि जिस काल में वहाँ होना न हो, परन्तु निमित्त आवे तो हो और नहीं तो नहीं हो, ऐसी अनियत पर्याय को भगवान जानते हैं। (परन्तु वास्तव में) अनियत होती ही नहीं, अनियतरूप से जाने क्या? समझ में आया? आहाहा! अरे! ज्ञान दिव्यशक्ति जिसकी एक समय में तीन काल-तीन लोक वर्तमान की भाँति वर्तमान भासित हो, ऐसे उपयोग काम करे। आत्मा अर्थात्

उसे उसकी ज्ञान की पर्याय अर्थात् क्या ? समझ में आया ? दिव्यज्ञान किसे कहते हैं ? एक समय में तीन काल-तीन लोक के द्रव्य-गुण-पर्याय को पहुँच न जाए और एक समय में वे सब द्रव्य-गुण-पर्याय अक्रम से अर्पे नहीं तो ज्ञान की दिव्यता क्या ? समझ में आया ?

ऐसा भगवान आत्मा **सचराचर द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक समय में जानते हैं और देखते हैं।** परसों यह बात यहाँ तक आयी थी। **शुद्धनिश्चय से...** शुद्ध वास्तव से **परमेश्वर महादेवाधिदेव सर्वज्ञवीतराग को, परद्रव्य के ग्राहकत्व,...** परद्रव्य का ग्रहण अर्थात् जानना-देखना सामान्य चैतन्य ऐसा नहीं। तथा परद्रव्य का ग्रहण, देखना या देखनापना, जाननापना पकड़कर, **आदि के विविध विकल्पों की सेना की उत्पत्ति मूलध्यान में अभावरूप होने से (?),...** अर्थात् ऐसा उन्हें होता नहीं। पर का पकड़ना या पर का जानना, पर को जानना ऐसे, ऐसा निश्चयनय से होता नहीं।

वे भगवान त्रिकाल-निरुपाधि, निरवधि (अमर्यादित), नित्यशुद्ध ऐसे सहजज्ञान और सहजदर्शन... लो ! क्या कहा ? आत्मा में त्रिकाल ज्ञान और दर्शन है, वह त्रिकाल शुद्ध है। वह त्रिकाल निरुपाधि है। तीनों काल में ज्ञान-दर्शन शक्ति-स्वभाव को उपाधि नहीं। अमर्यादित है। भगवान आत्मा का ज्ञान-दर्शन अमर्यादित है। मर्यादा क्या ? ओहोहो ! जानने-देखने का स्वभाव; स्वभाव को मर्यादा और माप क्या ? ऐसे जो त्रिकाल ज्ञान-दर्शन नित्य शुद्ध है। नित्य शुद्ध। ऐसे कि अशुद्ध पर्याय के समय वे ज्ञान और दर्शन अशुद्ध होंगे ?

श्रोता : त्रिकाल है....

पूज्य गुरुदेवश्री : त्रिकाल तो पड़ा है।

नित्यशुद्ध ऐसे सहजज्ञान और सहजदर्शन द्वारा... अन्तर के नित्य शुद्ध सहजज्ञान-दर्शन द्वारा **निज कारणपरमात्मा को,...** त्रिकाल कारणपरमात्मा। यह तो अध्यात्म की बात। दर्शन-ज्ञान में भी भेद केवलज्ञानी को करते हैं, उसका एकान्तपना मिटाने को यह बात ली है। दूसरे कितने ही समयान्तर कहें; एक समय में एक उपयोग कहें; व्यवहारनय के ग्रन्थ ये धवल आदि, ज्ञान पर को जानता है और दर्शन स्व को देखता है - ऐसा कहे आत्मा स्व-पर को जाने - ऐसा कहे। अमरचन्दभाई ! यहाँ निश्चय में ऐसा नहीं है, यह सिद्ध करने को यहाँ बात करते हैं। निज कारणपरमात्मा त्रिकाल प्रभु, उसे **स्वयं कार्यपरमात्मा होने पर भी...** पर्याय में केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट होने पर भी **जानते हैं और देखते हैं।** त्रिकाल दर्शन-ज्ञान द्वारा, त्रिकाल शुद्ध द्वारा त्रिकाल को जानते हैं, कार्य परमात्मा होने पर भी।

श्रोता : त्रिकाल को त्रिकाल होना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, त्रिकाल ज्ञान–दर्शन त्रिकाल को जाने, कार्यपरमात्मा होने पर भी। समझ में आया ? आत्मा को उसका ज्ञान–दर्शन स्वभाव.. स्वभाव.. स्वभाव.. स्वभाव। समझ में आया ? यह आकाश हर समय ख्याल में आता है। एक आकाश सर्वव्यापक है, कहीं अन्त है आकाश का ? क्षेत्र का कहीं अन्त है ? कहाँ आकाश नहीं होगा ?

श्रोता : सर्वत्र है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वत्र, परन्तु है सर्वत्र ? तो फिर क्या ? अस्ति.. अस्ति.. अस्ति.. अस्ति.. अस्ति.. अस्ति.. अस्ति.. अस्ति.. अस्ति.. अस्ति.. बस यह। तो क्षेत्र की अस्ति, अस्ति कोई तर्कगम्य नहीं, ऐसा स्वभाव है।.. मगनभाई ! तो इसके ज्ञान–दर्शनस्वभाव की बात क्या करनी ! आहाहा ! यह अमर्यादित कहा है न ? निरवधि। इसका ज्ञान और दर्शनस्वभाव, इसे उसकी महिमा की खबर नहीं। भगवान आत्मा ज्ञान और दर्शन के अस्ति का स्वभाव जानने–देखने का अमर्यादित स्वभाव, अमर्यादित स्वभाव। समझ में आया ? उसकी कोई हद नहीं।

श्रोता : उसकी कोई हद नहीं अर्थात् क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हद नहीं अर्थात् जैसे क्षेत्र की कहीं हद नहीं; वैसे जानने के सामर्थ्य के स्वभाव की शक्ति का कहीं माप ही नहीं उसमें। आहाहा ! वह ज्ञान जिसका स्वभाव; क्षेत्र छोटा, ऐसा यहाँ नहीं लेना। क्षेत्र भले इतना (होवे), क्षेत्र की महत्ता नहीं है। परसों कहा था। एक परमाणु में अस्तित्व नाम का गुण है और एक आकाश का अस्तित्व का गुण है, दोनों की सामर्थ्य समान है। ऐसा नहीं है कि यह क्षेत्र इतना, इसलिए अस्तित्व गुण का सामर्थ्य थोड़ा है और आकाश अमाप है; इसलिए अस्तित्वगुण का सामर्थ्य अनन्त गुणा। अर्थात् यही कहना है कि क्षेत्र की महत्ता, वह महत्ता नहीं है; भाव की महत्ता, वह महत्ता है। मगनभाई !

एक परमाणु प्रमेयगुण रखता है, प्रमेय। ज्ञान में प्रमाण होनेयोग्य। उसका जितना सामर्थ्य है, उतना ही आकाश के सर्वव्यापक में प्रमेय नाम का गुण है, इतना सामर्थ्य धारता है, ज्ञान में प्रमाण होने के योग्य प्रमेय उसमें है। ऐसे अन्त नहीं, ऐसा उसका प्रमेयगुण भी ऐसा है। समझ में आया ? क्षेत्र से ऐसा है, है चलता जाता है न ? तो उसका प्रमेय गुण ? चन्दुभाई ! प्रमेयगुण का अन्त कहाँ है ? जितना द्रव्य, क्षेत्र है, उतना प्रमेयगुण और एक परमाणु में प्रमेयगुण। प्रमेय समझ में आता है ? ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य सामर्थ्य को प्रमेय कहा जाता है। एक रजकण में प्रमेयगुण जितना सामर्थ्य रखता है, जिसकी ऐसी हद है, क्षेत्र में परमाणु ऐसे

आ जाता है, वह (आकाश) बेहद है, तथापि प्रमेयगुण का सामर्थ्य तो जितना एक (रजकण) में है, वैसा इस अनन्त आकाश में एक ही प्रमेयगुण की इससे अनन्तगुणी ताकत है। समझ में आया? वह अनन्त आकाश ज्ञान में प्रमेयरूप हो, ऐसी उसकी सामर्थ्य है और यह ज्ञान उसे प्रमेयरूप से जानने का प्रमाण, ज्ञान-दर्शन का प्रमाण स्वभाव। वह अनन्त प्रमेय को जानकर उसका अमापपना अन्दर ज्ञान-दर्शन में अमर्यादित स्वभाव है। आहाहा! जरा-सा क्या कह जाता है? समझ में आया?

कहते हैं, वह **त्रिकाल-निरुपाधि, निरवधि (अमर्यादित), नित्यशुद्ध ऐसे सहजज्ञान और सहजदर्शन....** यह उसके सहजज्ञान-दर्शन। यह तो केवली कार्यपरमात्मा जानते हैं, परन्तु यहाँ तो ऐसा स्वभाव ही ऐसा है कि सहजज्ञान-दर्शन द्वारा जाने, उसे कार्य हो, तब जाने - ऐसा इसे निर्णय होता है। यहाँ इसके ख्याल में आया कार्य जब पूर्ण हुआ, तब उस द्वारा यह कारण जानता है, उसका ख्याल आया। पहले श्रद्धा में ख्याल आवे, वह तो प्रगट हुआ तब। ओहो! कार्यपरमात्मा द्वारा जानते है, ऐसा कहा न? समझ में आया? सूक्ष्म आता है।

कोई बात ऐसी है कि ऐसे कार्यपरमात्मा हुआ, तो भी वह अनन्त जो त्रिकाली ज्ञान-दर्शन अमर्यादित है, उसके द्वारा कारणपरमात्मा को जानता-देखता है। वह आत्मा, कार्यपरमात्मा। कार्यपरमात्मा इस ज्ञान-दर्शन द्वारा कारणपरमात्मा को जानता-देखता है। समझ में आया? सूक्ष्म है, भाई! यह तो बाल की खाल से भी सूक्ष्म है। पण्डितजी! आहाहा!

अरे! आत्मा अर्थात् क्या? उसकी दिव्यशक्ति। वहाँ प्रवचनसार में तो केवलज्ञानी की बात ली है। एक समय में तीन काल-तीन लोक को न जाने तो दिव्यज्ञान कहे कौन? पण्डितजी! दिव्य कहे... दिव्य प्ररूपित कौन करे उसे? कौन कहे उसे? ऐसा भगवान! पर्याय की बात, हों! यह तो गुण की बात है, यहाँ। यहाँ तो गुण द्वारा उसे कार्यपरमात्मा जानते हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? क्योंकि जब तक प्रत्यक्ष कार्य हुआ नहीं, वहाँ तक यह ज्ञान-दर्शन को और यह जाने, ऐसा उसे प्रत्यक्ष नहीं होता। यहाँ प्रत्यक्ष कार्य जहाँ केवलज्ञान हुआ, केवलदर्शन हुआ, तब सहज ज्ञानदर्शन द्वारा **कारणपरमात्मा को कार्यपरमात्मा होने पर भी, जानते हैं और देखते हैं।** कहो, समझ में आया इसमें?

यह ज्ञान-दर्शन द्वारा जाने, पर्याय से तो जाने उसमें अधिकता क्या, ऐसा कहते हैं, यहाँ तो। यह तो पर्याय द्वारा जाने, उसकी तो बात क्या करनी, कहते हैं। परन्तु यह तो जो त्रिकाल ज्ञानदर्शन है, उसके द्वारा कार्यपरमात्मा, कारणपरमात्मा को जानते हैं। कार्य से तो जाने परन्तु

इस द्वारा उसे जानते हैं। जरा इसमें थोड़ा जोर है, उसका जोर बताते हैं। समझ में आया? गजब बात, भाई! अरे! सर्वज्ञ का निर्णय, सर्वदर्शन का निर्णय सम्यग्दर्शन। यह तो विवाद ही सब अभी सर्वज्ञ का ही विवाद। भगवान जाने एक समय में तो ऐसा हो, वहाँ होगा तब जाने, वहाँ होगा तब जाने, क्या कहते हो यह? समझ में आया?

एक समय में कार्यदशा केवलज्ञान को कार्यपरमात्मा कहते हैं। वे ऐसा जाने, वह अलग बात कहते हैं परन्तु वे अन्तर में उनके ज्ञान–दर्शन द्वारा कारणपरमात्मा को जानते हैं। कारण की बात है न यहाँ। अपने को, आत्मा को लेना है न! '**अप्पाणं**' लेना है न! आहाहा! भाई! तेरे स्वभाव के सामर्थ्य की मर्यादा क्या कहना? भगवान भले इतने क्षेत्र में रहा और वह दिखता है न उसे कि वह ऐसे अन्तर में एकाग्र होता है, उतने क्षेत्र में भगवान विराजता है। ऐसे एकाग्र होता है – ऐसा नहीं होता। उसकी एकाग्रता का स्थान ही असंख्य प्रदेशी स्थान है। समझ में आया? उसमें उसका ज्ञान–दर्शन त्रिकाल निरुपाधि, त्रिकाल अमर्यादित, नित्य शुद्ध सहज ज्ञान–दर्शन द्वारा कार्यपरमात्मा होने पर भी इस द्वारा उसे जानते हैं। आहाहा! समझ में आया?

राग का करना और राग का छोड़ना, इसके गुण में कभी तीन काल में नहीं। कार्यपरमात्मा हुआ हो तो उस द्वारा कारणपरमात्मा जाने, ऐसा उसका स्वभाव है। राग का नीचे करना या देश का करना या छोड़ना वह स्वरूप में तीन काल में नहीं है। उसमें त्रिकाल ज्ञान–दर्शन स्वभाव ही, उसके कारण को जाने, ऐसा उसका स्वभाव है। समझ में आया? ऐसी सूक्ष्म (बात), भाई! यह लोगों को मूल वस्तु है, उसकी उन्हें खबर नहीं होती; इसलिए फिर ऊपर से चलो। यह करो, यह करो। बापू! कहाँ करना है? जिसमें ज्ञान–दर्शन भरा हुआ है न, ज्ञान–दर्शन भरा हुआ है न, उस भगवान में कुछ करना है। उसमें एकाग्र होना, वह करना है, वह एकाग्र होना वही करना है और वही मोक्ष का मार्ग है।

श्रोता : व्यवहार में देखे तो फैलाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : फैलाव किसकी? धूल का फैलाव है। बाहर में फैलाव, क्या फैलाव है?

श्रोता : पैसा दिखायी दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं दिखता पैसा, इसकी ज्ञान की पर्याय दिखती है, लो! अरे! भगवान अनुभूति आता है न? भाई! (समयसार गाथा) १७–१८ में अनुभूति सदा होने पर भी यह अनुभूति वह मैं हूँ, ऐसा इसे जँचता नहीं। १७–१८ गाथा समयसार। समझ में

आया ? है न १७-१८ ? भाई ! इस समयसार में तो ब्रह्माण्ड भरा है । 'भावो ब्रह्माण्ड भर्या'। समझ में आया ?

देखो ! परन्तु जब ऐसा अनुभूति (स्वरूप) भगवान आत्मा आबाल-गोपाल सबको सदा काल स्वयं अनुभव में आता होने पर भी बन्ध के वश अज्ञानी को यह अनुभूति है, वह मैं हूँ, ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता। यह जाननेवाला यह नहीं, यह नहीं, उसे वह जाननेवाला वह अनुभूति, वह मैं, यह जाननेवाली वह पर्याय, वह मैं, उसे नहीं। समझ में आया ? देखो ! क्या कहा ? जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबाल-गोपाल सबको सदाकाल.. सबको सदाकाल.. सबको सदाकाल.. स्वयं ही अनुभव में आने पर भी। प्रत्येक समय ज्ञान ही अनुभव में आता है, ऐसा कहते हैं। अमरचन्दभाई !

श्रोता : ज्ञान अर्थात् स्वयं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं, राग-फाग नहीं, पर भी नहीं। उस राग का ज्ञान, उसका ज्ञान, वह ज्ञान अनुभव में आता है।

श्रोता : यह मानता नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मानता नहीं। समझ में आया ? इस राग को जानता हूँ, मैं इसे जानता हूँ, मैं उसे जानता हूँ, ऐसे पर के ऊपर ही इसकी दृष्टि अनादि से पड़ी है। हीराभाई ! देखो न, कितनी टीका की है। अनादि बन्ध के वश, पर के वश हो गया है न ! एकपने के निश्चय से मूढ़। अज्ञानी को अनुभूति 'मैं' ऐसा आत्मज्ञान उदय नहीं करता। उसके अभाव में नहीं जाने हुए का श्रद्धान गधे के सींग के समान श्रद्धान उदित नहीं होता। यह चीज़, सो जाननहार.. जाननहार.. जाननहार.. जाननहार.. जाननहार.. जाननहार.. वह मैं - ऐसी जिसकी दृष्टि हो, उसे जाननहार की पर्याय में मैं ज्ञात होता हूँ, उसे दृष्टि द्रव्य पर जाती है। उसे राग पर ऐसे जाती है, ऐसे नहीं जाती। समझ में आया ?

यह तो कहते हैं ***आबाल-गोपाल को सदाकाल स्वयं अनुभव में आने पर भी। ज्ञान की दशा में अपने अस्तित्व का ही अनुभव में आता होने पर भी, इस पर का अनुभव करता हूँ और पर को जानता हूँ, ऐसा भ्रम अनादि का हो गया है। समझ में आया ? आहाहा! करने का तो कहाँ रहा परन्तु पर को जानना भी नहीं होता, लो! यहाँ तो ऐसा कहते हैं, भाई!*** मगनभाई ! भगवान ! तेरी सत्ता में, तेरे अस्तित्व में तो ज्ञान और दर्शन विराजता है न, और उसका ही अनुभव पर्याय में होता है। होने पर भी ऐसा न मानकर, ऐसे आधीन हो गया है। यह

राग, यह दया के परिणाम, यह क्रोध के परिणाम, यह देह की क्रिया, उसे मैं जानता हूँ, स्वयं रह गया स्व अकेला। ***पर को जानता हूँ, ऐसी अनादि से मिथ्याभ्रान्ति में भास हो गया है।*** कहो, रामस्वरूपजी ! यह उसकी क्रिया है। आहाहा ! यह क्रिया हुई। ज्ञान की क्रिया हुई या नहीं ? यह क्या हुई ?

यह अनुभव की पर्याय, ज्ञान मेरा है और मैं उसे जानता हूँ, ऐसा जहाँ इसे लगा, वहाँ तो इसे स्व ख्याल में आ गया, परलक्ष्य छूट गया। यह तो स्वलक्ष्य में ज्ञान अनुभव, ऐसा न आकर, यह शरीर ज्ञात हुआ, यह ज्ञात हुआ, यह ज्ञात हुआ परन्तु जिसकी मुख्यता न हो, जिसकी जानने में मुख्यता न हो तो वह जानने में आया कहाँ से ? इसलिए भगवान ऊर्ध्वता गुण कहते हैं न ? समयसार नाटक में। 'समता रमता ऊर्ध्वता ज्ञायकता सुख भास, वेदकता चेतनता ये सब जीव विलास।' ऊर्ध्वता अर्थात् प्रत्येक क्षण में यह राग यह, उसमें आत्मा ऊर्ध्व अर्थात् पहला है। आहाहा ! एक व्यक्ति कहे, देखो ! मैंने जाना है न वहाँ ? वहाँ तू था या नहीं ? नहीं, मैं नहीं, परन्तु तेरे आये बिना जाना किसने ? मैंने उस व्यक्ति को देखा था, उस समय वे निकले, अमुक को देखा था, उन्हें देखा था या तुझे ? समझ में आया ? जरा सूक्ष्म बात है, भाई ! मार्ग ही ऐसा है।

कहते हैं **सहजज्ञान और सहजदर्शन द्वारा निज कारणपरमात्मा को, स्वयं कार्यपरमात्मा होने पर भी,...** केवलज्ञानी होने पर भी सहजज्ञान-दर्शन द्वारा कारणपरमात्मा **जानते हैं और देखते हैं। किसप्रकार ? इस ज्ञान का धर्म तो, दीपक की भाँति, स्वपरप्रकाशकपना है।** यह अपने पहले आ गया है। इसमें अंक नहीं लिखा, उसमें आया न ? २७ पृष्ठ, कितना पृष्ठ ? उपयोग में आता है न ? उपयोग, उपयोग। उपयोग की व्याख्या आती है न जहाँ ? चैतन्य-अनुवर्ती परिणाम, वह उपयोग है। भाषा देखो ! आत्मा का चैतन्य अनुवर्ती परिणाम, वह उपयोग है। आहाहा ! यह चैतन्य का ज्ञान-दर्शन भगवान आत्मा को अनुसरकर वर्तनेवाले परिणाम हैं मति के, श्रुत के, अवधि के, मन:पर्यय के और केवल (ज्ञान) के। इन्द्रियों को भी अनुसरकर ज्ञान नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

श्रोता : भले, परन्तु ज्ञेय को अनुसरकर तो होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इन्द्रिय और ज्ञेय सब पर में गये। यहाँ तो ऐसा कहा। वे कहते हैं न मतिज्ञान इन्द्रिय से होता है, श्रुतज्ञान मन से होता है, अमुक ऐसे होता है, अवधिज्ञान और चिह्न फिन्न से होता है, कहते हैं केवलज्ञान लोकालोक से होता है। यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा एक

वस्तु है, उसका चैतन्य वह गुण, उसे अनुवर्ती परिणाम, तीन लिये द्रव्य, गुण, पर्याय। भगवान चेतन, उसका चैतन्यगुण, उसे अनुसरकर होनेवाले परिणाम। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय उसे अनुसरकर होते हैं। इस सुनने को अनुसरकर नहीं होते, ऐसा कहते हैं। नवनीतभाई! आहाहा! समझ में आया? क्या कहा? इस पढ़ने को अनुसरकर ज्ञान नहीं होता, ऐसा कहते हैं। ऐई! धन्नालालजी!

भगवान! यह चेतन है न! इसका चैतन्यगुण है। चेतन द्रव्य है, चैतन्य गुण है, उसे अनुसरकर होनेवाली मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान की पर्याय है। यहाँ तो बाहर भी उपयोग कहते हैं, हों!... समझ में आया? उसके बदले ऐसा माने कि यह मेरी दशा उस निमित्त से आयी, इन्द्रिय से आयी, यह इन्द्रियाँ थी तो आया, उसे निमित्त की मित्रता कभी नहीं छूटती। समझ में आया? है न? प्रवचनसार में है, अन्तिम अधिकार में, अन्तिम अधिकार में है। उसे ज्ञेय के समय, ज्ञान के समय वैसे ही ज्ञान के सामने ज्ञेय होते हैं और इसलिए इसे ऐसा हो गया है कि इस ज्ञेय के कारण मुझे ज्ञान है, इसलिए इसे निमित्त की मित्रता अन्दर में से नहीं छूटती, प्रेम नहीं छूटता। यहाँ ज्ञान में ज्ञात हो, ऐसा वहाँ सामने होता है, बराबर वैसा हो, इसलिए यह मानो कि वह है न इसलिए यहाँ (ज्ञान) होता है, वह है न इसलिए यहाँ होता है।

श्रोता : निमित्त से होता है...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, निमित्त है तो यहाँ ज्ञान होता है। (ऐसा मानता है)

श्रोता : निमित्त न हो तो नहीं होता?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा मानता है, निमित्त न हो तो नहीं होता इसलिए निमित्त के प्रेमी... समझ में आया? यहाँ कहा न? चैतन्य को अनुसरकर वर्तमान परिणाम उपयोग धर्म और जीव धर्मी दीपक और प्रकाश के जैसा उनका सम्बन्ध है। समझ में आया? यहाँ तो कहना है कि चैतन्य भगवान के ज्ञानगुण और दर्शन को अनुसरकर उसकी पर्याय, पर्याय दशा होती है। उसमें तो यह आ गया कि कार्य मति, श्रुत और केवलज्ञान का कार्य, केवलज्ञानावरणीय के (क्षय) होकर (उसके) कारण से होता है, ऐसा नहीं आया इसमें। आहाहा! बराबर है?

यह तो ज्ञान-दर्शन जो त्रिकाली, उसका धारक चेतन, उसमें रहा हुआ चैतन्य, उसे अनुसरकर वह परिणाम होता है। केवलज्ञान, वह चैतन्य गुण को अनुसरकर होता है। यह अभी ही विवाद उठाया है। सोनगढ़वाले कहते हैं कि केवलज्ञान स्वयं से हो, तब ज्ञानावरणीय का क्षय अपने आप होता है। नहीं, केवलज्ञानावरणीय क्षय हो तो केवलज्ञान होता है, ऐसा

बोलो, मानो। विपरीत बोलो, विपरीत मानो, ऐसा (वे) कहते हैं। अमरचन्दभाई! भगवान! तू भी जबरदस्त है न, भाई! बापू! वहाँ तो शब्द ऐसा आया न! समझ में आया? वहाँ तो स्पष्ट शब्द ऐसा आया कि अनुसरकर होता, ऐसा आया? समझ में आया? उसमें ऐसा नहीं आया कि इन्द्रिय को, निमित्त को अनुसरकर होता है। समझ में आया?

ज्ञान का धर्म तो, दीपक की भाँति,... है। अपनी ज्ञान की पर्याय, उसे अनुसरकर होती है। अर्थात्? कि पर को अनुसरकर नहीं होती। संहनन को अनुसरकर नहीं, इन्द्रिय को अनुसरकर नहीं, इस सुनने के कारण से नहीं, ये आँख ऐसे पड़े, इसलिए उसके कारण से यहाँ पर्याय होती है, ऐसा नहीं है। था कब, वह निकाल डाले। समझ में आया? आहाहा! केवलज्ञान चैतन्य अनुवर्ती परिणाम, लो! यह आया। समझे न? यहाँ केवलज्ञान का अधिकार आया न? केवलज्ञान चैतन्य अनुवर्ती परिणाम, पर्याय है। श्रुतज्ञान चैतन्य अनुवर्ती परिणाम; श्रुतज्ञान शास्त्र अनुवर्ती परिणाम, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! अब यह तो कार्य को उसे अनुसरकर, ऐसा कहा। निमित्त को अनुसरकर हो, उसका तो यहाँ निषेध है। भाई! तथापि उसका बड़ा विवाद है। अभी इसमें लेंगे, हों! उसने बेचारे ने आज लिखा है, हों! प्रकाश हितैषी ने, अरे! किसका सोनगढ़ के नाम से किसका द्वेष करते हो यह तुम? सब बोल लिये हैं बेचारे ने। क्रमबद्ध लिया है।

श्रोता : निमित्त से...

पूज्य गुरुदेवश्री : ....दूसरे चेतन भी भले हो। सिद्ध भी निमित्त है, भले सब (हो) परन्तु उसे अनुसरकर कार्य हो ही नहीं सकता। यहाँ कहा, महासिद्धान्त स्थापित किया। चैतन्य अनुवर्ती परिणाम उपयोग। चैतन्य भगवान, उसका चैतन्यगुण, उसे अनुसरकर होनेवाले परिणाम। उसमें कहाँ आया (कि) यह निमित्त और उसका संहनन हो तो ऐसा हो, यह तो सब निमित्त के कथन हैं। आहाहा! अच्छी इन्द्रियाँ हो तो ज्ञान हो, लो! आँख फूट गयी हो तो होगा? सुन न अब! चैतन्य को अनुसरकर होनेवाले ज्ञान के परिणाम, वह उपयोग है। उसे (निमित्त को) अनुसरकर होते ही नहीं। आहाहा! इतने कि अभी उपादान की खबर नहीं होती। लेख अच्छा दिया है भाई ने, देखो! इस जगह उपादान कहा है। प्रकाश (हितैषी) स्वयं... यह सन्मति सन्देश। आहाहा! उपादान-निमित्त का लिखा है, क्रमबद्ध का लिखा है, पुण्यधर्म नहीं (ऐसा) लिखा है। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं, **ज्ञान का धर्म तो, दीपक की भाँति, स्वपरप्रकाशकपना है।** उसका

स्वभाव तो स्व-पर को जानना, ऐसा है। पर को अनुसरकर होना, ऐसा (स्वभाव) नहीं है। समझ में आया? ज्ञान का धर्म क्या कहा? दीपक की भाँति, स्व-पर प्रकाशकपना है। स्व और पर को अपने से प्रकाशित करे, ऐसा उसका स्वभाव है। पर के कारण प्रकाशित करे और पर को अनुसरण कर प्रकाशित करे, ऐसा उसका स्वभाव ही नहीं है।

यह **घटादि की प्रमिति से...** घटादि है न? उसकी जो प्रमिति की क्रिया है न स्वयं में, स्वयं की क्रिया, हों! वह **प्रकाश-दीपक (कथंचित्) भिन्न होने पर भी...** कथंचित् क्रिया है न एक समय की? यह प्रकाश त्रिकाल कायम रहनेवाला है। **भिन्न होने पर भी स्वयं प्रकाशस्वरूप होने से...** ज्ञान ही स्वयं प्रकाशस्वरूप होने से। **स्व और पर को प्रकाशित करता है;...** आहाहा! अरे! यह एक निर्णय करे तो सब उड़ जाये, यह तो अभी कर्ता यह, यह मैंने किया, अभी पर की दयायें पालन की और पर की हिंसा मैंने की, पर की दया न हो तो जैनधर्म उड़ जाता है। अरे भगवान! तुझे जैनधर्म की खबर नहीं, भाई! राग की उत्पत्ति, वह हिंसा है; राग की अनुत्पत्ति, वह वीतरागमार्ग में अहिंसा है, उसे अहिंसा कहते हैं।

यहाँ कहते हैं, स्व-पर को भगवान आत्मा का प्रकाशित करने का स्वभाव है। कोई राग का करना, छोड़ना, किसी का भला कर देना, भगवान के ज्ञान में ऐसा नहीं है कि किसी का भला कर देना। समझ में आया? **आत्मा भी ज्योतिस्वरूप होने से...** भगवान आत्मा चैतन्य ज्योतिस्वरूप होने से, **व्यवहार से...** आया अब.. **त्रिलोक और त्रिकालरूप पर को तथा स्वयं प्रकाशस्वरूप आत्मा को (स्वयं को) प्रकाशित करता है।** त्रिलोक, त्रिकालरूप पर को अर्थात् व्यवहार और स्वयं प्रकाशमानस्वरूप को प्रकाशित करता है, यह निश्चय, दोनों (आये)। समझ में आया? वे विवाद उठाते हैं। पर का जानना... सर्वज्ञ है न? वह सर्वज्ञ तो व्यवहार हो गया। व्यवहार अर्थात् वास्तव में पर को नहीं जानते। पर को तन्मय होकर नहीं जानते, परन्तु पर सम्बन्धी का ज्ञान तो अपना है, उसे जानते हैं या नहीं? भारी विवाद, भारी विवाद, क्षण-क्षण में झगड़ा उठाना।

६९ पाखण्डियों पर विजय प्राप्त करने से जिन्होंने विशाल कीर्ति प्राप्त की है, ऐसे महासेनपण्डितदेव ने भी (श्लोक द्वारा) कहा है कि :—

यथावद्वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्।
तत्स्वार्थव्यवसायात्म कथंचित् प्रमितेः पृथक्॥

वस्तु का यथार्थ निर्णय, सो सम्यग्ज्ञान है। वस्तु का निर्णय, वह सम्यग्ज्ञान है। **वह**

सम्यग्ज्ञान, दीपक की भाँति स्व के और (पर) पदार्थों के निर्णयात्मक है... स्व-पर के प्रकाशात्मक है। **तथा प्रमिति से (ज्ञप्ति से) कथंचित् भिन्न है।** वह आधार दिया था न? लिखा है न इतना। ज्ञप्ति से; ज्ञप्ति अर्थात् जानने की क्रिया, जानने की क्रिया एक समय की है और वह त्रिकाल ज्ञान प्रकाशक है, कथंचित् भिन्न है।

अब 'स्वाश्रितो निश्चयः (निश्चय स्वाश्रित है)' ऐसा (शास्त्र का) वचन होने से, (ज्ञान को) सतत निरुपराग निरंजन स्वभाव में लीनता के कारण निश्चयपक्ष से भी स्वपरप्रकाशकपना है ही। दूसरे प्रकार से लेते हैं। क्या कहते हैं? सतत निरुपराग, भगवान आत्मा निरन्तर राग और विकाररहित, त्रिकाल राग और विकाररहित, निरंजन स्वभाव में लीनता के कारण, स्वयं ज्ञान में लीन होने से निश्चयपक्ष से भी स्व-परप्रकाशकपना है ही। किस प्रकार? **निश्चयपक्ष से भी स्वपरप्रकाशकपना है ही।** किस प्रकार?—कि **सहजज्ञान आत्मा से संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से भिन्न नाम तथा भिन्न लक्षण से (तथा भिन्न प्रयोजन से) जाना जाता है तथापि वस्तुवृत्ति से (अखण्ड वस्तु की अपेक्षा से) भिन्न नहीं है;...** आत्मा और ज्ञान, नामभेद पड़ा, लक्षण भेद पड़ा। समझ में आया? परन्तु ज्ञान और आत्मा के प्रदेशभेद नहीं है। वस्तु एक ही है। आत्मा ज्ञानज्योत, चैतन्यज्योत, चैतन्यज्योत वह आत्मा, आत्मा वह चैतन्यज्योत। वस्तुदृष्टि से कहा, देखो! अखण्ड वस्तु की अपेक्षा से।

इस कारण से यह (सहज ज्ञान) आत्मगत (आत्मा में स्थित)... देखो! **दर्शन, सुख, चारित्र आदि को जानता है...** यह ज्ञान अपने को जानता है और पर को जानता है, इस प्रकार स्व-पर निश्चयात्मक ज्ञान हुआ, उस पर का व्यवहार निकाल दिया। यह सूक्ष्म बात है। पोपटभाई! अपना आत्मा, भगवान आत्मा... कोई कहे कि यदि आत्मा स्व-परप्रकाशक है तो अनुभूति के आनन्दकाल में परप्रकाशकपना क्या? यह उसका उत्तर है। उपयोग जब स्व में जुड़ता है, ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का भेद छोड़कर अनुभूति के अन्तर के आनन्द के काल में ज्ञान का स्वभाव यदि स्व-परप्रकाशकपना हो तो उपयोग तो स्व में है, पर में तो है नहीं, तो उसे स्व-परप्रकाशकपना आया क्या? समझ में आया?

कहते हैं कि ज्ञान और आत्मा एक होने से ज्ञान आत्मा को जानता है और ज्ञान अपने साथ में भिन्न गुण रहे हैं, उन्हें जानता है, इस निश्चयपक्ष से भी ज्ञान आत्मा को जानता है, ज्ञान, आनन्द गुण आदि को जानता है, इस प्रकार से स्व-परप्रकाशकपना निश्चय के स्वतत्त्व में भी आ जाता है। आहाहा! मगनभाई! सूक्ष्म तो है, भाई! परन्तु अब इसे सुनना तो पड़े न! मुम्बई

की एक बड़ी चर्चा थी और यह तो अधिकार ही आया है इसमें। हीराभाई! एकान्त कोई ऐसा कहता है कि ज्ञान पर को ही प्रकाशित करता है और दर्शन स्व को प्रकाशित करता है और आत्मा स्व-पर को प्रकाशित करता है। भगवान! तो आत्मा और ज्ञान भिन्न पड़ गये। ज्ञान पर को जाने, आत्मा स्व-पर को जाने, इसीलिए ज्ञान भिन्न पड़ गया। दर्शन स्व को जाने, आत्मा स्व-पर को जाने (यह तो) भिन्न पड़ गया। दर्शन स्व को जाने, ज्ञान पर को जाने, दर्शन-ज्ञान भिन्न पड़ गये। ऐसा नहीं हो सकता। कहो, हीराभाई! तुम्हारे यहाँ चलता था, बहुत चलता है। समझ में आया?

गुणभेद के नय की अपेक्षा से एकान्त, एकान्त.. यहाँ कहेंगे कि तू एकान्त मान बैठे कि ज्ञान पर को जानता है और दर्शन स्व को देखता है तो वस्तु का स्वभाव ऐसा नहीं है। ज्ञान अपने को जाने बिना पर को जाने, ऐसा कहाँ से आया? आनन्दमूर्ति भगवान आत्मा, ज्ञान आत्मा को जाने और ज्ञान अकेला पर को जाने तो स्व तो आया नहीं उसमें। समझ में आया? यहाँ तो और दूसरे प्रकार से कहा है कि स्व-परप्रकाशक भी निश्चय से अपने में समाहित हो जाता है। शशीभाई!

यह कहते हैं न, अभी छोड़ नहीं देंगे। यह आत्मा, उसमें ज्ञान-आनन्द आदि अनन्त गुण हैं न? ज्ञान और आत्मा वही है, इससे आत्मा ज्ञान को जाने, वह स्व को जाने ऐसा हो गया और ज्ञान ज्ञान को जाने, वह स्व को हुआ और ज्ञान साथ में रहे हुए आनन्द आदि को जाने, उस ज्ञान की अपेक्षा से आनन्द और वीर्य पर हुए; इसलिए स्व-परप्रकाशक निश्चय से स्व में आ गया। अमरचन्दभाई!

फिर से देखो! कहते हैं कि **सहजज्ञान आत्मा से संज्ञा, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा से भिन्न नाम तथा भिन्न लक्षण से (तथा भिन्न प्रयोजन से) जाना जाता है, तथापि वस्तुवृत्ति से (अखण्ड वस्तु की अपेक्षा से) भिन्न नहीं है; इस कारण से यह (सहज ज्ञान) आत्मगत (आत्मा में स्थित)...** वह आत्मा को जाने और ज्ञान, ज्ञान को जाने। अब आत्मा में रहे हुए दर्शन, सुख, चारित्र और आनन्द। यह सुख अर्थात् आनन्द। अनुभूति के काल में भी स्व-परप्रकाशकपना किस प्रकार? उपयोग ऐसे काम करता है और ऐसे उपयोग बाहर का काम नहीं करता और तुम जब ऐसा कहो कि स्व-ज्ञान, स्व-परप्रकाशक कायम ऐसा स्वभाव है तो वह किस प्रकार सिद्ध होगा? भाई! भगवान आत्मा ज्ञान में तन्मय है, तब आत्मा ज्ञान को जाने, ज्ञान आत्मा को जाने; ज्ञान, ज्ञान को जाने, वह तो स्व हो गया और ज्ञान उस समय आनन्द और अनुभूति को, आनन्द को जानता है। समझ में आया? दर्शन को जानता है,

स्थिरता को जानता है, ऐसा उसका ज्ञान का स्वभाव है। स्थिरता को जाने, सुख को जाने, दर्शन को जाने, वीर्य को जाने, अस्तित्व आदि को जाने। यह एक गुण अपना अपने को जानते हुए पर के अनन्त गुण, जो अपने अतिरिक्त अनन्त गुण, लक्षण संख्या से भेद है, उन्हें भी जाने। इसलिए स्व-परप्रकाशकपना आत्मा में निश्चय से भी आ जाता है। आहाहा! अरे! इसकी चर्चा भी मीठी है, हों!

यह तो गुजराती होवे तो भी समझते नहीं, उसमें स्पष्टीकरण करना पड़ता है। ऐसा कहते हैं कि जब निश्चय से आत्मा को जाने आत्मा, तो फिर ज्ञान का स्व-परप्रकाशकपने का स्वभाव सिद्ध किया आपने तो, उसमें पर कौन आया? दूसरा बोल आया न? '**केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं**' वापस तुमने ज्ञान का स्वभाव स्व-पर प्रकाशकपना स्थापित किया और स्व-परप्रकाशक में अपना उपयोग स्व में है, उसमें पर कहाँ आया? भाई! अपने में ज्ञान आत्मा को जाने, ज्ञान, ज्ञान को जाने, यह स्व हुआ और ज्ञान सुख को, शान्ति को, वीर्य को, अस्तित्व को, प्रमेयत्व को इत्यादि को जाने, वह पर हुआ। कहो, समझ में आया इसमें? कहो, समझ में आया या नहीं इसमें? क्या कहा, ऐसा पूछते हैं? नवनीतभाई! इसमें कितना ध्यान है?

श्रोता : आत्मा स्वयं को जानते हुए लोकालोक झलक जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह बात नहीं। नहीं पकड़ में आया, नहीं पकड़ में आता, नहीं।

यहाँ तो आत्मा स्वयं अपने ज्ञान से आत्मा को जाने और ज्ञान, ज्ञान को जाने तो भी ज्ञान में स्व-परप्रकाशकपना आपने सिद्ध किया तो आत्मा स्व को जानने में परप्रकाशकपना आया क्या? - कि भाई! ज्ञान के अतिरिक्त अनन्त गुण पर हैं। ज्ञान की अपेक्षा से (पर हैं); इसलिए उन्हें जानने के लिये स्व-परप्रकाशक कहने में आया है। पोपटभाई! इसमें बहुत मेहनत करनी पड़े, ऐसा है। ऐसा नहीं, उसमें अन्दर से ऐसा कहते हैं लो! हमें ऐसा है। ...कहो, समझ में आया इसमें? यह तो बापू! अन्तर का मार्ग ऐसा है कि वह स्व-आश्रय के महाप्रयत्न के बिना यह पकड़ में आये, ऐसा नहीं है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं 'इत्यादि' कहा है न? 'इत्यादि' कहा है या नहीं? देखो! '**चारित्रादिकं**' है, '**आदिकं**' देखो! '**जानाति स्वात्मानं कारणपरमात्मस्वरूपमपि जानातीति**' आहाहा! आदि (अर्थात्) सब अनन्त गुण। यह भगवान आत्मा, ज्ञान नाम का प्रकाश स्वभाव, उसका स्व-परप्रकाशक गुण है, तो जब आत्मा अपने उपयोग में है, स्वयं को ज्ञेय करके अनुभव

करता है, तो अनुभव के काल में ज्ञान को स्व-परप्रकाशकपना किस प्रकार आया ? ऐसे तो केवलज्ञान में भी स्व-परप्रकाशकपना है, हों ! यहाँ तो अनुभूति में उतारते हैं। समझ में आया ? यह प्रश्न बहुत वर्ष पहले हुआ था, बहुत वर्ष पहले, २५-३० वर्ष पहले... स्व-परप्रकाशक का है या नहीं ? यह शब्द। ३० वर्ष पहले की बात है। हीराभाई के मकान में। है ख्याल में है। समझ में आया ?

आत्मा स्व ज्ञान को अन्तर में जानने पर जब ज्ञान का स्व-परप्रकाशकस्वभाव सत्‌रूप से उसी रीति से त्रिकाल हो तो ज्ञान जब स्व को जाने, तब निश्चय से, निश्चय से परपना उसमें क्या ? परपना जो है, वह तो व्यवहार से हुआ यह बाहर। अब अपने में निश्चय से अपने को जाने, उसमें निश्चय से परपना क्या ? निश्चय से स्व-आश्रय में रहे हुए अनन्त गुण, स्व-आश्रय में रहे हुए अनन्त गुण, वह ज्ञान ऐसा जाने, इसलिए ज्ञान दूसरे को जाने, इस अपेक्षा से निश्चय से स्व-परप्रकाशक ज्ञान में सिद्ध हो जाता है। समझ में आया ? समझ में आया या नहीं इसमें ?

आचार्यों ने कितनी करुणा से यह बात लिखी है ! सन्त थे, निर्ग्रन्थ मुनि थे, वीतरागी मुनि थे, उन्हें कुछ पड़ी नहीं थी। दुनिया का क्या होगा या कर दूँ, ऐसा कुछ है नहीं परन्तु उन्हें वस्तु की स्थिति सिद्ध करने में एक विकल्प उठा तो यह बात आयी है। उस विकल्प के भी कर्ता नहीं। भाई ! तेरे भण्डार में पड़े हुए ज्ञान-दर्शन के स्वभाव, तेरे भण्डार में पड़ा हुआ ज्ञानप्रकाशक, स्व-परप्रकाशकस्वभाव तुझे—आत्मा को और ज्ञान-ज्ञान को जानता है, उस समय अनुभूति के काल में उसे क्या है ? उसे परप्रकाशकपना क्या आया ? आया नहीं कल ? नहीं आया था ? - कि आत्मा जब ध्यान में हो, चौथे गुणस्थान में या पाँचवें में निर्विकल्प होता है, (तब) यहाँ नगाड़े बजते हों तो उनकी खबर नहीं होती। शब्द आदि आते हैं न ? आया है न ? कल आया है। नगाड़े बजते हों तो खबर नहीं होती, बड़े ढोल पीटे जाते हों, ढोल समझे न ? ढोल। रात्रि को अपने आया था।

रात्रि में अपने (रहस्यपूर्ण) चिट्ठी चलती थी न ? उसमें आया था। रहस्यपूर्ण चिट्ठी। देखो ! बहुत शुरुआत में आया था। वहाँ ऐसी दशा हुई... देखो ! अब वही ज्ञान, स्वरूप जानने को प्रवर्तित हुआ, तब अन्य को जानना सहज बन्द हो गया। अन्तरज्ञान में ज्ञेय को पकड़कर ध्यान में आत्मा आया, वहाँ ऐसी दशा हुई कि बाह्य में अनेक शब्द आदि विकार होने पर भी.. ढोल पीटे जाते हों, गधे भोंकते हों, तो भी स्वरूपध्यानी को उसकी कुछ खबर नहीं है। वहाँ तो उपयोग एक में सिद्ध करना है न ! समझ में आया ?

तब अब यहाँ स्व-परप्रकाशक क्या आया? यहाँ तो तुमने इनकार किया। शब्द सुने नहीं, कुछ नहीं, कुछ नहीं, इन्द्रिय विषय बन्द हो गया। निर्विकल्प ध्यान के समय अनुभव में लीन है, तब उसमें स्व-परप्रकाशक में क्या आया? भाई! यह ज्ञान, ज्ञान को जाने और आत्मा को जाने, वह स्व और अनन्त दूसरे गुणों को जाने, उसका नाम पर। रामस्वरूपजी! आहाहा!

आत्मगत रहनेवाले, आया न? आत्मगत अर्थात् निश्चय **यह (सहज ज्ञान) आत्मगत (आत्मा में स्थित) दर्शन, सुख, चारित्र आदि को जानता है और स्वात्मा को—कारणपरमात्मा के स्वरूप को—भी जानता है।** आहाहा! समझ में आया? भाई! यह तो वीतरागमार्ग ऐसा सूक्ष्म है न, वह स्थूल रीति से कुछ पकड़ में आये, ऐसा नहीं है। भगवान पूरा सूक्ष्म पदार्थ रजकण के पार स्पर्शे बिना पड़ा है। इन रजकणों को, कर्मों को स्पर्शे बिना पड़ा हुआ तत्त्व है। स्पर्श नहीं करता यहाँ पड़ा होने पर भी। ऐसा धर्म हो गया है न! यह सबको स्पर्श करता हूँ और इन सबको स्पर्श करता हूँ। भगवान! परन्तु तू अरूपी; रूपी, रूपी को स्पर्श करे नहीं तो फिर अरूपी, रूपी को स्पर्श करे - यह आया कहाँ से? समझ में आया? भगवान तो ऐसा कहते हैं कि एक रजकण की पर्याय दूसरे रजकण को चुम्बन नहीं करती। एक रजकण की। तीसरी गाथा (समयसार)

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि॥३॥

भगवान आत्मा और एक-एक रजकण - जड़ ईश्वर अपने अनन्त गुण-पर्याय को स्पर्श करते हैं तो पर को स्पर्शे? समझ में आया? भगवान आत्मा इस कर्म को स्पर्श नहीं करता, तब अब अन्दर दृष्टि हुई, तब क्या स्व-पर प्रकाशकपना रहा? कहते हैं कि स्व-पर यह रहा, भाई! आत्मा को ज्ञेयरूप से पकड़ा और उसके अतिरिक्त अनन्त गुणों को भी जानता है, इस अपेक्षा से स्व-परप्रकाशकपना निश्चय से आत्मा में आ जाता है। उसे पर और शरीर और इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है। **स्वात्मा को—कारणपरमात्मा के स्वरूप को—भी जानता है।** देखो, दूसरे अनन्त गुणों को जाने और अपने आत्मा के द्रव्य को भी जाने।

(सहजज्ञान स्वात्मा को तो स्वाश्रित निश्चयनय से जानता ही है और इस प्रकार स्वात्मा को जानने पर उसके समस्त गुण भी ज्ञात हो ही जाते हैं। अब सहजज्ञान ने जो यह जाना, उसमें भेद-अपेक्षा से देखें तो सहजज्ञान के लिये ज्ञान ही स्व है.. ज्ञान ही स्व हुआ और उसके अतिरिक्त अन्य सब-दर्शन, सुख आदि-पर हैं; इसलिए इस अपेक्षा से ऐसा सिद्ध हुआ कि निश्चयपक्ष से भी ज्ञान स्व को तथा पर को जानता है।) आहाहा! कहो,

समझ में आया इसमें ? यह तो उस धवल की बात लेकर कहते हैं न ? ऐई ! हीराभाई ! ज्ञान पर को जाने... ज्ञान पर को जाने... ज्ञान पर को जाने...

यहाँ तो कहते हैं कि पर अर्थात् अपने गुण के अतिरिक्त पर... उसे स्व-परप्रकाशकपना ज्ञान का यहीं का यहीं सिद्ध किया, पर का तो कुछ नहीं होता, ऐसा। पर का कुछ नहीं होता। ज्ञान पर को जाने, दर्शन स्व को देखे, आत्मा स्व-पर प्रकाशित करे तो यहाँ तो उड़ा दिया। वह तो रहा ही नहीं। धवल का जो पर कहा वह तो व्यवहारनय के गुणभेद से बात थी। नैयायिक आदि एक ही गुण मानते हैं परन्तु सामान्य-विशेष दो गुण हैं-ऐसा बतलाने के लिये यहाँ बात की है, परन्तु इस अभेद को न माने तो मूढ़ कहेंगे अभी। मूढ़ है। ज्ञान पर को जाने और दर्शन स्व को जाने तो आत्मा स्व-पर प्रकाशक सब गुणभेद हो गया, वस्तु खण्ड-खण्ड हो गयी। दर्शनशुद्धि से विरुद्ध है। हीराभाई !

इसी प्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में १९२वें श्लोक द्वारा) कहा है कि:—तो आधार दिया।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

(२३)

श्री समयसार, गाथा ३५६ से ३६५, प्रवचन-४०९
दिनांक - १३-०६-१९८०

दृष्टान्त के बाद दृाष्टान्त लेते हैं। दृष्टान्त आ गया न? दृाष्टान्त **इस जगत में चेतयिता है...** है? कलई का दृष्टान्त पूरा होने के बाद। **इस जगत में चेतयिता है (चेतनेवाला अर्थात् आत्मा है) वह ज्ञानगुण से परिपूर्ण... ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से उस चेतयिता का (आत्मा का) ज्ञेय है।** आहाहा! दूसरे द्रव्य का कर्ता तो नहीं, क्योंकि पर को और इसे कुछ सम्बन्ध नहीं, परन्तु इतना ज्ञेय-ज्ञायक का सम्बन्ध है। पर को जानता है, यह भी व्यवहार है। आहाहा! **व्यवहार से उस चेतयिता का (आत्मा का) ज्ञेय है।** भगवान अरिहन्त या पंच परमेष्ठी, वे इस ज्ञायक का व्यवहार से ज्ञेय हैं। है?

अब, 'ज्ञायक (-जाननेवाला) चेतयिता, ज्ञेय (-जाननेयोग्य) जो पुद्गलादि परद्रव्य उनका है या नहीं?' व्यवहार से जिन्हें जानता है, उनका वह है या नहीं? ***आहाहा! इतना स्पष्ट! करने का तो नहीं, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय को स्पर्श तो करे नहीं, परन्तु एक द्रव्य ज्ञायक, ज्ञेय को जानता है- यह भी व्यवहार है। आहाहा!*** क्योंकि ज्ञेय में ज्ञान का प्रवेश नहीं तथा ज्ञान, ज्ञेयरूप से परिणमता नहीं। आहाहा!

इस प्रकार पुद्गलादि परद्रव्य उसका ज्ञेय है। **अब, 'ज्ञायक पुद्गलादि परद्रव्य उनका है या नहीं?'** आहाहा! जाननेवाला, ज्ञात होता है, उसका है या नहीं? जाननेवाला ज्ञायक आत्मा, जो ज्ञेय व्यवहार से जानता है, उसका यह जाननेवाला है या नहीं? आहाहा! इस प्रकार **उन दोनों के तात्त्विक सम्बन्ध का विचार करते हैं :-** वास्तव में दो के बीच, ज्ञात होनेयोग्य ज्ञेय और जाननेवाला ज्ञायक, इन दोनों का तात्त्विक (सम्बन्ध) विचार किया जाता है। आहाहा!

यदि चेतयिता पुद्गलादि का हो... जाननेवाला जिसे जानता है, उसका होता है। **तो क्या हो, इसका प्रथम विचार करते हैं...** यह महा सिद्धान्त है। **'जिसका जो होता है, वह वही होता है,...'** जिसका जो हो, वह उसका ही होता है, ऐसा नहीं कहा। 'उसका' यह भेद पड़ा। आहाहा! **'जिसका जो होता है, वह वही होता है,...'** यदि पर का आत्मा हो तो वह पररूप ही होगा। पर को जानने से पररूप हो तो पररूप ही वह होगा। उसका ही वह होगा,

भिन्न चीज़ नहीं रह सकेगी। आहाहा! जिसका जो हो, वह उसका– ऐसा न कहकर, वह 'वही' होगा, बस! है ? **जिसका जो होता है, वह वही होता है,...**

जैसे आत्मा का ज्ञान होने से... जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान, वह आत्मा ही है;... ज्ञान, वह आत्मा ही है। जिसका जो होता है, वह वही है। वह उसका है – ऐसा नहीं, परन्तु वह वही है। आहाहा! जिसका जो होता है, वह वही है। आहाहा! यदि पर को जानते उसका होवे तो वह पररूप हो जाए। पररूप तो (होता नहीं)। आता है। **ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवित (–विद्यमान) होने से, चेतयिता यदि पुद्‌गलादि का हो तो चेतयिता वह पुद्‌गलादि ही होवे (अर्थात् चेतयिता पुद्‌गलादिस्वरूप ही होना चाहिए, पुद्‌गलादि से भिन्न द्रव्य नहीं होना चाहिए);...** यदि पर को जानते हुए पररूप हो जाए तो जाननेवाला भिन्न रह नहीं सकता। आहाहा! बहुत सूक्ष्म! पर के साथ कर्ता–कर्म सम्बन्ध तो नहीं; पर की पर्याय कार्य और आत्मा कर्ता (–ऐसा तो नहीं), क्योंकि पर्याय बिना का कोई द्रव्य नहीं, किसी समय। इसलिए उस पर्याय को पर पर्याय करे, यह तो बनता ही नहीं; तो यहाँ पर को जानता है, इतना सम्बन्ध है तो उस पर को जानते हुए पररूप होता है ? पर को जानते हुए पररूप होता है या अपनेरूप रहता है ? आहाहा!

कहते हैं, '**जिसका जो होता है, वह वही होता है,...**' 'उसका' नहीं कहकर, वह 'वही' होता है। आहाहा! **जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान, वह आत्मा ही है;...** आहाहा! **ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवित होने से,** ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध अस्ति धराता होने से। आहाहा! एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को जानते हुए 'उसरूप' नहीं होता – ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवती ज्योत है। आहाहा! अब पूरे दिन यह करना... करना.. करना.. मैं करूँ, मैं करूँ। यह करने की बात तो कहीं छोड़ दी। मात्र वह ज्ञात होने योग्य और यह जाननेवाला, तो ज्ञात होने योग्य का यह जाननेवाला है ? यदि उसका होवे तो, 'जिसका जो होता है, वह वही होता है,' तब तो उसरूप होना चाहिए, तो ज्ञायकरूप तो रहे नहीं। आहाहा!

ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवित (–विद्यमान) होने से, चेतयिता यदि पुद्‌गलादि का हो... जाननेवाला, ज्ञात होनेयोग्य पुद्‌गलादि का हो, जाननेवाला भगवान इस पुस्तक को, और अंगुली को और शरीर को जानता है; इसलिए उनका हो, उनका होवे तो 'वही' होगा। आहाहा! **ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवित (–विद्यमान) होने से, चेतयिता यदि पुद्‌गलादि का हो तो चेतयिता, वह पुद्‌गलादि ही होवे (अर्थात् चेतयिता पुद्‌गलादिस्वरूप ही होना चाहिए, पुद्‌गलादि से भिन्न द्रव्य नहीं होना चाहिए);...** आहाहा!

ऐसा होने पर, चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा। यदि जाननेवाला, ज्ञात होता है, उसका हो तो जाननेवाले का नाश हो। जाननेवाला, ज्ञात होनेयोग्य चीज़ में चला जाए, उसमें स्पर्श कर जाए और उसमें प्रवेश करे। आहाहा! ज्ञात होनेयोग्य चीज़ में भी जाननेवाला प्रवेश नहीं करता। कर्ता-कर्म की तो बात ही क्या करना? आहाहा! यह जाननेवाला जिसे जानता है, उसे उसी काल में जानता है; इसलिए वह ज्ञेय का हो जाता है-उसे जानता है; इसलिए उसका हो जाता है - ऐसा नहीं है। आहाहा! **(अर्थात् चेतयिता पुद्‌गलादिस्वरूप ही होना चाहिए, पुद्‌गलादि से भिन्न द्रव्य नहीं होना चाहिए); ऐसा होने पर, चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा।** जाननेवाला-जाननहार भिन्न रहकर ज्ञात होनेयोग्य को व्यवहार से जाने नहीं और व्यवहार से जानते हुए उसरूप हो जाए तो चेतयिता-जाननेवाले का उच्छेद हो जाए, जाननेवाले का नाश हो जाए। आहाहा!

किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता,... वस्तु है, उसका नाश तो होता नहीं। जो 'है', 'है', वह 'नहीं' - ऐसा कभी होता नहीं। जो है, द्रव्य-गुण और पर्याय, वह है, उसका किसी प्रकार से उसका नाश नहीं होता। आहाहा! इस पुस्तक को आत्मा जानता है, यह व्यवहार है। इस ज्ञेय को जानते हुए आत्मा कहीं इसके रूप हुआ नहीं है। वह तो अपने में रहकर इस ज्ञेय को जानता है। अपनी जानने की अस्ति में रहकर उसे (ज्ञेय को) जानता है। यह कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म।

चेतयिता... आहाहा! जिसका जो होता है, वह वही होता है। जिसका जो होता है, वह वही होता है। ऐसे जाननेवाला, ज्ञात होनेयोग्य का होवे तो वह वही होगा। आहाहा! समझ में आया? जाननेवाला, ज्ञात होता है, उसका यदि होवे तो वह वही होगा। अपनेरूप रह नहीं सकता और उसरूप (ज्ञेयरूप) हो जाए। आहाहा! **किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध कर दिया है।** १०३ गाथा। गाथा १०३ में एक द्रव्य के गुण-पर्याय दूसरे द्रव्य में संक्रमित नहीं होते; एक वस्तु की पर्याय दूसरी चीज़ की पर्याय में प्रवेश नहीं करती, संक्रमित नहीं होती; दूसरी पर्याय होकर वह पर्याय बदलती नहीं। आहा! स्वद्रव्य की पर्याय का परद्रव्य की पर्याय में संक्रमण-बदला होता या यह पर्याय उसकी हो - ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा!

किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध कर दिया है। १०३ गाथा, १०३ गाथा '**जो जम्हि गुणे**' जो जिसमें गुण हैं '**दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे**' वे द्रव्य के गुण दूसरे द्रव्य में वे संक्रमित नहीं

होते। '**सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं**' एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य में संक्रमित, पलटती, बदलती, होती नहीं होती तो फिर वह पर को किस प्रकार करे? आहाहा! यहाँ तो अभी पूरे दिन यह मैंने किया, दयाधर्म-वह पर की दया पालना, वह धर्म; भगवान की भक्ति करना, वह धर्म वहाँ अटके हैं। वह तो बहुत स्थूल बुद्धि मिथ्यात्व है। भगवान की भक्ति, यात्रा, सम्मेदशिखर की यात्रा करे तो अड़तालीस भव में मोक्ष जाए (-ऐसा लोग मानते हैं)। एक साधु आया था, उसने लिखा है। महावीरकीर्ति। कहा- यह बात मिथ्या है। एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के आश्रय से भव का अभाव हो, यह बात तीन काल में सत्य नहीं है, कहा। महावीरकीर्ति थे न? यहाँ आये थे। 'सम्मेदशिखर का माहात्म्य।' श्वेताम्बर में शत्रुंजय का माहात्म्य है। वह सम्मेदशिखर की पुस्तक होगी उनके पास। उसके दर्शन करे तो ४८ भव में मोक्ष जाए। कहा - यह शास्त्र नहीं, यह सिद्धान्त नहीं, (ऐसा हमने) कहा। यह वाणी वीतराग की नहीं। फिर मौन हो गये। दूसरे द्रव्य के आश्रय से भव का अभाव हो, यह वाणी वीतराग की नहीं।

वीतराग की वाणी तो (ऐसा कहती है कि) स्वद्रव्य के आश्रय से भव का अभाव होता है। परद्रव्य के आश्रय से तो भव, भव उत्पन्न होता है। परद्रव्य के आश्रय से तो भव, राग उत्पन्न (होता है) और भव उत्पन्न होता है। आहाहा! चाहे तो साक्षात् पंच परमेष्ठी (हो), उनके दर्शन से तो राग और संसार होता है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं कि १०३ में ऐसा कहा कि वह बदल नहीं सकता। बदले तो पर में तन्मय हो जाये। तन्मय हो तो स्व का नाश हो जाये। एक द्रव्य की पर्याय पर में जाये तो अपनी पर्याय का नाश हो जाये, इसलिए पर्याय बिना का द्रव्य भी नाश हो जाये और पर में प्रवेश होने पर में चला जाये। वह स्वयं स्वतन्त्र रहे नहीं। आहाहा!

अपनी पर्याय के अतिरिक्त आत्मा, पर की पर्याय तीन काल में, तीन काल में (करता नहीं); तीन काल की जितनी पर्यायें हैं, उनका कर्ता आत्मा नहीं है। आहाहा! क्योंकि वह पर्याय संक्रमित हुए बिना, पर में गये बिना, पर में स्पर्श और प्रवेश किये बिना कैसे कर सके? पर में प्रवेश होने का तो निषेध है। किसी की कोई पर्याय पर में प्रवेश हो, इसका तो अभाव है; इसलिए वह पर्याय जिसकी है, वह वही है। जो पर्याय जिसकी है, वह वही है। उस पर पर्याय का जो कर्ता हो तो पर स्वयं हो जाये। पर स्वयं हो जाये और स्वयं अपना रहे नहीं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म। यहाँ पूरे दिन दया पालो और व्रत करो और दूसरे की रक्षा करो। आहा! ऐसी बात (करे)।

यहाँ तो यह कहते हैं कि **एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध कर दिया है। इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) चेतयिता पुद्गलादि का नहीं है।** आत्मा, पर को जानने पर भी पररूप होकर जानता है, ऐसा नहीं है। पर का होकर पर को जानता है, ऐसा नहीं है। अपना होकर, अपना रहकर पर को जाने, यह भी व्यवहार। आहाहा! अब ऐसी बात। यहाँ तो अभी परद्रव्य का कर्तापना न माने तो अभी पर सेवा उतरती है। कर्ता न हो तो यह कौन करे? यह करते हैं न पूरे दिन। आहाहा! भाई! तेरी दृष्टि संयोग पर है।

पानी गर्म अग्नि के साथ होकर देखा तो यह तूने अग्नि को देखा। इससे पानी गर्म तुझे लगा। पानी को तू देख तो पानी स्वयं (पर्याय) ठण्डी और गर्म हुई है। वह तो पानी स्वयं स्वयं के कारण से गर्म हुआ है। तू संयोग से देखे तो उससे (अग्नि से) हुआ, ऐसा तुझे लगता है। वह दृष्टि मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! पानी को अग्नि स्पर्श नहीं करती तथा पानी गर्म होता है। यह तू संयोग से देखे तो उससे हुआ ऐसा लगता है परन्तु इसे स्वभाव से देख तो इसका स्पर्शगुण इस रीति से इस काल में परिणमा है। आहाहा! कठिन काम... पानी अग्नि से गर्म नहीं होता। आहाहा!

एक कील पर में घुसती नहीं, लकड़ी में एक कील घुसती नहीं। लकड़ी पर है, कील पर है। यदि उसमें प्रवेश कर जाये तो अपनी पर्याय का अस्तित्व रहे नहीं; पर्याय का अस्तित्व रहे नहीं और स्वयं का नाश हो जाये। आहाहा! यह तो सिद्धान्त हैं, दृष्टान्तों का तो पार ही नहीं होता। आहाहा! पैर को हिला सकता है, ऐसा यदि कहो तो आत्मा की पर्याय का प्रवेश पैर में हुआ और पैर का प्रवेश हुआ तो संक्रमण जीव का हो गया, तो जीव का अपना अभाव हो गया। आहाहा! ऐसी बात है।

सिद्धान्त तो यह रखा, **जिसका जो होता है...** जिसका जो होता है, **वह वही है।** वह उसका है, ऐसा भी नहीं। **जिसका जो होता है, वह वही है।** आहाहा! आत्मा का ज्ञान है तो वह आत्मा ही है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य की पर्याय है, वह द्रव्य की वह द्रव्य ही है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय है, जो है, वह वही है। भाषा ऐसी है न? जो है, वह वही है। आ गया, पहले आ गया ऊपर। **जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** आहाहा! महासिद्धान्त है। **जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** वही अर्थात् वही, वही होता है, ऐसा। वही वस्तु होती है। आहाहा!

अब इसमें होशियार व्यक्ति सब पूरे दिन रंग का काम नहीं करता होगा? योगेश बैठकर

करता होगा न सब ? आहाहा ! दुकान पर बैठना और करना नहीं कुछ, ऐसा मानना। आहाहा ! और करता है, यदि ऐसा मानना तो अपना द्रव्य वहाँ चला गया, उसमें बदल गया। क्योंकि उसकी अवस्था इसके प्रवेश बिना पलटे नहीं। आहाहा ! गजब बात है।

अक्षर लिखने में अक्षर की पर्याय में अंगुली की पर्याय का अभाव है। अंगुली की पर्याय यदि इसके कारण उसमें जाये तो अंगुली का अभाव हो। कलम के कारण अक्षर लिखे जायें तो कलम की अवस्था वहाँ जाने से कलम का अभाव हो। आहाहा ! गजब बात है। ऐसे आत्मा अक्षर को लिखे तो अक्षर की पर्यायरूप वह हुआ; इसलिए अपनी अस्ति गँवा दी। आहाहा ! **जिसका जो होता है...** गजब बात है। यह सिद्धान्त, भाषा। जिसका जो, **जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** वह वही होता है। आहाहा ! जिसका जो होता है, वह उसका ही होता है, ऐसा भी नहीं। आहाहा ! सिद्धान्त है। जिसका जो, पर्याय जिस द्रव्य की है, उसका वह द्रव्य है। वह पर्याय जिसकी है, वह उसके द्रव्य की है अर्थात् उसके द्रव्य की। दूसरे द्रव्य की पर्याय वहाँ आयी नहीं और उसे स्पर्शती नहीं। आहाहा ! अनजान लोगों को दूसरों को ऐसा लगे कि ऐसा जैनदर्शन कैसा ?

श्रोता : घड़ी का धन्धा करनेवाला तो पूरे दिन घड़ी का ही काम करे न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ करता नहीं घड़ियाली। घड़ियाली कौन है यहाँ ? आहाहा ! घड़ी जड़ परमाणु है, उसकी पर्याय में जीव की पर्याय का प्रवेश नहीं, जीव की पर्याय का वहाँ स्पर्श नहीं। यदि उसे स्पर्श करे तो एक-दूसरे में अभाव है, वह भाव हो जाये। एक-दूसरे में अन्योन्य -अभाव है, वह भाव हो जाये। भाव होने से अपना भाव भिन्न न रहे और उसका भाव हो जाये। आहाहा ! गजब बात है। अन्तिम गाथाएँ अलौकिक हैं।

कारीगर, कारीगर की क्रिया कुछ करता नहीं। यह पहले आया है। आहाहा ! शिल्पी। आहाहा ! कारीगर चाहे जो हो, वह कारीगर पर की पर्याय करता नहीं। पर की पर्याय करे तो अपनी पर्याय का वहाँ प्रवेश हो। स्वयं पर्यायरहित होने से अपना द्रव्य ही नाश हो जाये। आहाहा ! ऐसा स्वरूप है। अनजाने को तो पागल जैसा लगे, पागल जैसा। आहाहा !

वस्तु बापू ! वस्तु अनन्त है और अनन्त वस्तु भगवान ने कही, देखी है। उन अनन्त में एक चीज़ की पर्याय दूसरी पर्याय को करे तब तो वह पर्याय बिना का द्रव्य हो जाये, नाश हो जाये, इसकी पर्याय दूसरा करे तो दूसरे का नाश हो जाये। आहाहा ! एक पर्याय दूसरे का करे तो अपनी पर्याय का नाश हो जाये और दूसरे की पर्याय का नाश हो जाये क्योंकि उसकी पर्याय

उसने नहीं की। आहाहा! अनन्त द्रव्यों का नाश हो जाये। आहाहा! अनन्त द्रव्य की अस्ति वस्तु वस्तुरूप से है। द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से है, वह त्रिकाल उस प्रकार से है। किसी समय में भी उसमें फेरफार है नहीं। आहाहा! जो वस्तु जिसकी है, उसकी वह वस्तु त्रिकाल है। आहाहा! यह सजज्झिया (हथियार) जो यह हज्जाम इसे छुआवे। उसे छुआता नहीं, कहते हैं। आहाहा! यदि उसकी पर्याय इसे छू जाये तो भाव हो जाये। उन्हें एक-दूसरे का अभाव है। एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का अत्यन्त अभाव है। उसमें यदि उसे छुए तो एक-दूसरे का भाव हो जाये। उसका भाव इसका हो जाये। आहाहा! गजब बात है। बापू! धर्म ऐसा सूक्ष्म है। जिससे जन्म-मरण का अन्त आ जाये, वह बात कैसी होगी? जिससे भव न रहे। यह भव भटक-भटक कर मर गया। चौरासी के अवतार में विपरीत दृष्टि और विपरीत तर्क और विपरीत ज्ञान के कारण मर गया चौरासी के अवतार में। आहाहा! इसे सुलटा करना पड़ेगा।

प्रत्येक द्रव्य अनन्त भाव होने पर भी एक स्वयं चेतयिता एक है और अनन्त को देखते हुए वह अनन्तरूप होकर नहीं देखता। आहाहा! वह अपने ज्ञानरूप होकर अनन्त को देखता है, यह व्यवहार है। आहाहा! देवीलालजी! अब ऐसी बातें। फिर लोग मजाक करते हैं। एक लड़का ऐसे मारता था, फिर कहे, यह मैंने कहाँ मारा? यह तो हाथ ने किया है। वापस ऐसी मजाक करे। आहाहा! प्रभु! तेरी बात भी सूक्ष्म, भाई!

एक द्रव्य को दूसरा द्रव्य, एक समय की पर्याय वह वस्तु ही स्वयं द्रव्य-गुण-पर्याय सहित त्रिकाल ऐसी की ऐसी है। त्रिकाल। किसी समय में पर्यायरहित द्रव्य नहीं और गुण, द्रव्य बिना का तो होता ही नहीं। आहाहा! तब, जब पर्याय और गुण, द्रव्य बिना का नहीं तो वह दूसरे की पर्याय करे अथवा दूसरा उसकी पर्याय करने आवे, (ऐसा नहीं है)। है, उसे करने को आवे? आहाहा!

श्रोता : एक गुण दूसरे गुण का न करे तो पर का क्या करे!

पूज्य गुरुदेवश्री : गुण तो करे ही कहाँ? गुण तो ध्रुव है। यह तो पर्याय की बात है। द्रव्य और गुण तो ध्रुव है। यह तो पलटती अवस्था, संक्रमण होती अवस्था, बदलती अवस्था जब बदलने का करती है तो फिर दूसरे को बदलावे, उसमें क्या दिक्कत? लोग नहीं कहते कि एक गाय को चराने ले जाता है तो साथ में पाँच को ले जाये। ऐसे तेरा परिणमन करता है या नहीं तू? या परिणमन किये बिना तू रहता है? बदले बिना रहता है तू? तो बदलता है तो दूसरे को भी बदला साथ में। आहाहा! वह अत्यन्त नास्तिक होगा। एक पर्याय को बदलनेवाला,

दूसरे की (पर्याय) बदलावे तो स्वयं पर्यायरहित होगा और सामने की भी पर्याय इसने की, वह पर्याय बिना का नहीं, नास्तिक होगा। आहाहा!

श्रोता : ऐसा मार्ग वीतराग का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा वीतराग का मार्ग है। केवली तीर्थंकर अनन्त तीर्थंकर, अनन्त केवलियों ने ऐसा कहा है, भाई! तू एक पक्षीय है, ऐसा न मान कि सोनगढ़वालों ने यह निकाला। ऐसा मत मान। यह अनन्त तीर्थंकरों की यही आवाज है। आहाहा!

यह अंगुली रोटी को स्पर्श नहीं करती, ऐसा कहते हैं। प्रभु.. प्रभु.. प्रभु! यदि रोटी को स्पर्श करे तो रोटी और आत्मा दो के बीच, अंगुली के बीच अत्यन्त अभाव है। स्पर्श करे तो भाव हो जाता है। भाव कभी नहीं हो सकता। आहाहा! ऐसी बात है। समझने के लिए धीरज चाहिए। यह कोई विद्वत्ता की वस्तु नहीं है। बहुत संक्षिप्त परन्तु अन्तर्दृष्टि का विषय है। बहुत संक्षिप्त। कोई विद्वत्ता और बड़ी पढ़ाई आवे और लाखों लोगों को रिझावे, इसलिए वह कहीं समझा है, ऐसा नहीं है। आहाहा! बहुत सरस।

(समयसार) १०३ गाथा का उद्धरण दिया है। १०३ गाथा में तो कहा कि किसी द्रव्य की पर्याय दूसरे में संक्रमित नहीं होती। संक्रमित नहीं होती तो करे किस प्रकार? आहाहा! दाढ़ में रोटी का टुकड़ा दाढ़ नहीं करती। दाढ़ की पर्याय यदि उसे करने जाये तो अपनी पर्याय रहती नहीं और रोटी की पर्याय वह दाढ़ करने जाये तो रोटी की पर्याय नहीं, ऐसा हो जाये। वह पर्याय बिना का द्रव्य तो नाश हो जाता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

यह तो परमसत्य, बापू! परमसत्य। ओहो! तीन लोक का नाथ केवलज्ञानी परमात्मा ने... आहाहा! प्रत्यक्ष देखा, वैसा वाणी में आया। नहीं तो वाणी और आत्मा दो अत्यन्त भिन्न हैं। आहाहा! वाणी को आत्मा कर नहीं सकता, केवली का आत्मा भी वाणी को कर नहीं सकता। आहाहा! तथापि उस वाणी में यह आया। आहाहा! कि हमारी जो यह वाणी की पर्याय है, वह हमारी ज्ञानपर्याय है, इसलिए यह वाणी पर्याय है, ऐसा नहीं है। यदि ऐसा होवे तो जिसका जो होता है, वह वही होता है। यदि वह आत्मा का हो तो वह आत्मा ही होगा। यह वाणी तो जड़ है। आहाहा! ब्रह्मचारीजी! ऐसी बातें हैं। आहाहा! वीतरागमार्ग है, भाई! वीतराग रूखा मार्ग है। उसमें राग और मिथ्यात्व का रस नहीं है। राग और मिथ्यात्व का रस वीतरागमार्ग में नहीं है। आहाहा! अरागी और सम्यग्दर्शन का रस वह जैनदर्शन में है। आहाहा! राग बिना का रस और मिथ्यात्व बिना का समकित का रस, वह वीतरागमार्ग में है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है। आहाहा!

यदि चेतयिता पुद्गलादि का नहीं है तो किसका है? चेतयिता का ही चेतयिता है। यह जाननेवाले का जाननेवाला है। आहाहा! ज्ञानस्वरूपी आत्मा, वह आत्मा का है। आहाहा! ***पर को जानने के काल में भी स्वयं अपनेरूप रहकर, पर को स्पर्श किये बिना, पर को जानने के काल में अपने को स्वयं जानता है, पर को जानता नहीं। आहाहा! अपनी ही पर्याय का उस काल में उस प्रकार का स्व-पर प्रकाशक जानने की सामर्थ्य से वह पर्याय ज्ञात होती है। वह पर्याय ज्ञात होती है। ज्ञात होती है, वह चीज़ नहीं। आहाहा!*** शान्तिभाई! यह सब गड़बड़ कहाँ सुना था तुमने वहाँ तुम्हारे ढोंढिया में? बात भी कहीं नहीं है, श्वेताम्बर में यह बात ही नहीं है। यह तो सनातन सत्य वीतराग तीन लोक का नाथ.. आहाहा! उनकी वाणी सन्त कह रहे हैं। आहाहा! केवली के विरह में सन्त केवली का विरह टाल देते हैं। आहाहा!

चेतयिता – जाननेवाला जानने में आता है, उसका न हो तो जाननेवाला है किसका? – कि जाननेवाला जो है, वह वही है, स्वयं ही है। वह पर के कारण पर को जानता है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! पर को जानता है, ऐसा भी नहीं है, पर को जानने के लिये पर्याय पर में जाती है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! वह तो अपना पर्याय का स्वभाव स्व-परप्रकाशक अपनी पर्याय से ही वस्तु है। उस पर्याय से ही वह वस्तु है। यदि वह पर्याय नहीं तो वस्तु ही नहीं। क्योंकि कार्य पर्याय में होता है और वह कार्य जब पर से हो अथवा पर को करने जाये तो अपना कुछ रहता नहीं और पर का कार्य करने जाये तो उसका कार्य रहता नहीं। आहाहा! ऐसा है।

सिद्धान्त तो यह बहुत रखा है। जिसका जो है, वह वही है। आहाहा! **जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** आहाहा! गजब सिद्धान्त है। **जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** वही होता है, वह दूसरा नहीं। पर को जानने के काल में ज्ञान ज्ञान का है। इसलिए ज्ञान ज्ञान का है, वह आत्मा का है, उसका (पर का) नहीं। आहाहा! पर के करनेरूप तो नहीं, आत्मा आँख हाथ हिलावे और पैर हिलावे या मुँह से बोले वह तो है नहीं तीन काल में, परन्तु उन्हें जानता है, उस समय भी स्वयं अपने जानने के अस्तित्व में रहकर, पर में प्रवेश किये बिना, पर और स्व के बीच अत्यन्त अभाव रखकर, अत्यन्त अभाव रखकर अपनी स्व-परप्रकाशक पर्याय अपने से स्वतन्त्र होती है, इसलिए वह आत्मा है। आहाहा! गजब बात है। जैनधर्म सुना न हो, ऐसे अनजान आवे, उसे तो ऐसा लगता है कि यह क्या? यह क्या बकते हैं? किस प्रकार का? बात सत्य, प्रभु! तुझे मिला नहीं, प्रभु! आहाहा!

तू कौन है? कैसे है? किस प्रकार तू है? आहाहा! कौन है? – कि आत्मा। क्या है? – कि मैं तो ज्ञान। किस प्रकार तू है? – कि इस जानने की पर्याय रीति से मैं हूँ। आहाहा! पर

को जानने के कारण नहीं और पर को करने के कारण नहीं। आहाहा! थोड़ा परन्तु सत्य होना चाहिए। बहुत लम्बी-लम्बी बातें करे और ऐसा करो और वैसा करो, बड़े गजरथ चलाओ, रथ कराओ, ब्रह्मचर्य लिया हो वहाँ रथ निकालो, रथ। ब्रह्मचारी का रथ। अरे.. भगवान!

यहाँ तो तीन लोक का नाथ चेतयिता अपनी मर्यादा में प्रत्येक समय में पर को करे तो नहीं, परन्तु उस अनन्त को जाने और ऐसा जो अनन्त ज्ञान यहाँ हो, वह जानने का पर के कारण नहीं। वह जानना पर में जाता नहीं, वह अपने में रहकर अपने से अनन्त जानता है। वह जिसका जो है, वह वही है। आहाहा! जिसका जो है, वह उसका है, ऐसा न कहकर; जिसका जो है, वह वही है। आहाहा! गजब बात है। इसकी गम्भीरता गहरी, बहुत गम्भीरता, प्रभु! लोग भले नास्तिक कहे, लोग कहे एकान्त कहे। एकान्त किसी का कर नहीं सकता तो फिर यह पूरे दिन करते हैं न? व्यवहार कहाँ जाये? सुन न अब! व्यवहार, व्यवहार में जाये, व्यवहार खोटे में जाये, सच्चे में व्यवहार नहीं जाता। आहाहा!

यहाँ दो सिद्धान्त कहे। जिसका जो है, वह वही है, और वह दूसरे में संक्रमित नहीं होता, इसका उद्धरण १०३ (गाथा) का दिया। क्योंकि पर्याय पलटकर कहीं पर में नहीं जाती, तो नहीं जाती तो, अपने को छोड़कर दूसरी पर्याय भले निकट हो, तो भी करे किस प्रकार? स्पर्श नहीं करता न! क्योंकि एक-दूसरे में अत्यन्त अभाव है और स्पर्श करे तो भाव हो जाता है, उसका भाव हो जाता है। आहाहा!

श्रोता : संयोग सम्बन्ध है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं है, **'नास्ति सर्वोऽपि संबंधः'** २०० कलश। **'नास्ति सर्वोऽपि संबंधः'** ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध भी नहीं। अभी तो आगे आयेगा, इससे अभी आगे आयेगा। अभी इससे आगे सूक्ष्म आयेगा। आहाहा!

(इस) चेतयिता से भिन्न अब कोई चेतयिता नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। जाननेवाला जानने में आता है, ऐसे दो अंश हैं, पर नहीं। जाननेवाला जानने में आता है, ऐसे दो अंश हुए। आहाहा! पर को नहीं जानता। जाननेवाला जानने में आता है, ये भी दो अंश हुए। है? **किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से...** आहाहा! गजब काम है। **व्यवहार से क्या साध्य है?** आहाहा! स्वयं अपने को जानता है, ऐसा भेद डालकर तुझे क्या साध्य है? तुझे सिद्ध क्या करना है? तेरा ध्येय क्या है? आहाहा! है? क्या कहा? स्व-स्वामि अंश अर्थात् कि इसे स्वयं जानता है। ऐसा है न?

चेतयिता, *चेतयिता को जानता है, ऐसे दो अंश किये, दो अंशों में भेद पड़ा। भेद में साध्य क्या आया? भेद में तुझे क्या फल आया? भेद में तुझे लाभ क्या हुआ? आहाहा!*

क्या साध्य है? कुछ भी साध्य नहीं है। कुछ साध्य नहीं है। *आहाहा! पर के साथ जानने का सम्बन्ध भी कुछ साध्य नहीं है। पर को जानता हूँ, ऐसा तू निर्णय करने जाये तो भी तुझे लाभ क्या है? तेरा साध्य तुझे आत्मा प्राप्त करना, वह है या राग प्राप्त करना और कषाय प्राप्त करना, वह है? तेरा साध्य तो आत्मा प्राप्त करना है, तो आत्मा स्वयं अपने को जानता है, इस सिद्धान्त में आ जा। आहाहा!* समझ में आया? यदि अजैन ऐसा सुने तो ऐसा लगे, यह तो क्या? *पूरे दिन कर सकते हैं और कहे करता नहीं। करता तो नहीं, परन्तु जाननेवाला नहीं। ले! कर नहीं सकता, परन्तु जान नहीं सकता, ये तो यह कहते हैं। पर को जानना, वह इसकी मिथ्या बात है। अभी इससे आगे ले जायेंगे कि स्वयं अपने को जानता है, ऐसे दो भाग डालकर तुझे काम क्या है? आहाहा! साध्य क्या है?*

तब फिर ज्ञायक किसी का नहीं है। ज्ञायक ज्ञायक ही है... लो! आहाहा! ऐसी बात है। अभी यह तो बाहर के विवाद में पड़े हैं। दया पालन करो और व्रत करो, भक्ति करो और चन्दा बनाओ, पैसा इकट्ठा करो और उससे बड़े-बड़े काम करो। धूल भी नहीं। सुन न! आहाहा!

कहा नहीं अभी? अफ्रीका, उन लोगों ने साठ लाख इकट्ठे किये। छब्बीस दिन रहे। पन्द्रह लाख तो पहले किये थे, छब्बीस दिन में पैंतालीस लाख किये। साठ लाख रुपये किये और बड़ा बाईस लाख का मन्दिर बनाने को। उससे भी पैसा बढ़ गया बहुत। कहा, यह चाहे जो हो परन्तु इसमें राग की मन्दता हो तो पुण्य है, धर्म-बर्म नहीं। आहाहा! सब प्रेम से सुनते थे। नहीं तो वह तो अनार्य देश अफ्रीका। वहाँ अपने महाजन गये हैं और महाजनों की छह हजार आबादी है। वे सब बेचारे आते हैं। सभी नहीं आते, दिगम्बर हैं। दिगम्बर हैं, दिगम्बर हैं। मार डाला यह बाड़ा बाँध-बाँधकर। यह दिगम्बर और यह श्वेताम्बर और यह स्थानकवासी... अनादि सनातन मार्ग यह है। उसमें से जितने पन्थ निकले, वे पन्थ जैन नहीं हैं। आहाहा!

वीतराग तीन लोक के नाथ के श्रीमुख से निकली हुई बात वह, यह है। पर की दया पाल सकने की तो बात ही कहीं रह गयी परन्तु पर की दया उसके कारण पलती है, ऐसा जीवत्व आयुष्य के कारण है। यह जानता है, वह भी कहीं रह गया। आहाहा! इसके कारण जीता है, ऐसा जानना, वह भी व्यवहार जानना है। उसमें तुझे साध्य क्या है। आहाहा!

(इस प्रकार यहाँ यह बताया है कि : 'आत्मा परद्रव्य को जानता है' - यह व्यवहार-कथन है;...) कथनमात्र है, सत्य है नहीं। आहाहा! **('आत्मा अपने को जानता**

है' – इस कथन में भी स्व–स्वामिअंशरूप व्यवहार है;...) आहाहा! स्व–स्वामिअंश, अंश हो गये। स्वयं अपने को जाने, स्व और स्वामी हो गये, दो भाग पड़ गये। आहाहा! इतनी हद में जाना अब। गुणवन्तभाई! कहाँ कलकत्ता में धन्धा करना और... आहाहा! पर की दया पाल सकने की बात तो तीन काल में जैनधर्म में है नहीं। क्योंकि वह स्वयं द्रव्य है, वह उसका आयुष्य हो, तब तक वहाँ रहेगा। आयुष्य के कारण रहेगा, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। उसके आत्मा की योग्यता उतना काल रहने की है, उतना काल वहाँ रहेगा। आहाहा! उसका यह आयुष्य अथवा उसकी पूरी स्थिति होकर निकल जायेगा। कोई उसे मार सके या जिला सके, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! अत्यन्त अन्यमति आया हो तो ऐसे ही पागल कहे। प्रत्यक्ष ही करते हैं पूरे दिन और कहते हैं करता नहीं। अब यह जानने का है, वह भी जानता नहीं, कहते हैं। जानता नहीं इसे? आहाहा!

यहाँ तो यह कहा कि **('आत्मा अपने को जानता है' – इस कथन में भी स्व–स्वामिअंशरूप व्यवहार है;...)** आहाहा! वह भी निषेध है, व्यवहार निषेध है। **('ज्ञायक ज्ञायक ही है'...)** पर को जानता है, यह नहीं। **('ज्ञायक ज्ञायक ही है'...)** स्वयं अपने को जानता है, वह जाननेवाला, जाननेवाला है, वह जाननेवाला जाननहार है। आहाहा! सब फेरफार करके यहाँ तक लाना। जिन्दगी बाड़ा में (सम्प्रदाय में) व्यतीत की हो और बाड़ा का सब पोषण किया हो, अब उसे यहाँ लाना। आहाहा! सब आग्रह छोड़ देना। आहाहा!

('ज्ञायक ज्ञायक ही है'...) ***यह जाननेवाला तो जाननेवाला ही है। यह जाननेवाला पर को जाननेवाला नहीं। पर की हिंसा करनेवाला नहीं, पर की दया पालनेवाला नहीं परन्तु पर को जाननेवाला भी नहीं। आहाहा! यह तो स्व को जानना, ऐसा कहना व्यवहार है।*** **('ज्ञायक ज्ञायक ही है'...)** विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

(२४) **श्री समयसार, गाथा ३५६ से ३६५, प्रवचन-४१०**
दिनांक - १४-०६-१९८०

समयसार, बीच में कोष्टक में लाईन चल गयी है न? वह फिर से लेते हैं। कोष्टक में है न? **(इस प्रकार यहाँ यह बताया है कि : 'आत्मा परद्रव्य को जानता है'...)** आहाहा! आत्मा, परवस्तु का कुछ कर नहीं सकता। दुकान में आगे में बैठे तो कुछ व्यापार के धन्धे की क्रिया कर सके – ऐसा नहीं है। परद्रव्य को स्वद्रव्य स्पर्श नहीं करता। स्पर्श नहीं करता अर्थात् दो के बीच तो अत्यन्त अभाव है। इसलिए एक आत्मा धन्धे की या कुछ परद्रव्य की क्रिया– पैसा लेना–देना, खाना–पीना, यह कोई क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। आहाहा! यह कठिन लगता है।

('आत्मा परद्रव्य को जानता है'...) कुछ करता तो नहीं, परन्तु पर को जानता है, यह व्यवहार कथन है। क्योंकि पर है, उसे जानता है, यह व्यवहार; स्व है, उसे जानता है, यह निश्चय है। स्व में भी जरा भेद है। आहाहा! पर को जानता है, यह तो व्यवहार कथन है। पर को करता है, बदलता है, देता–लेता है, आत्मा के अतिरिक्त परवस्तु को देता–लेता है—यह तो तीन काल में है नहीं। आहाहा! पूरे दिन यह धन्धा करे और क्या करे? है इसमें? दो लाईनें बीच में हैं। परन्तु सत्य की बात का छोर है। परम सत्य। आत्मा दुकान का, दूसरे का, शरीर का, वाणी का या मन का कुछ कर नहीं सकता, क्योंकि दूसरे परद्रव्य है और स्वयं पर है – एक दूसरे में अत्यन्त अभाव है। अभाव है, वह ऐसे अभाव को कैसे करे? भाव होवे तो करे, वह भी यहाँ तो भाव–भाव का व्यवहार कहेंगे। आहाहा!

'आत्मा, परद्रव्य को जानता है, यह व्यवहार कथन है'... ***परद्रव्य को करता है, यह प्रश्न तो है ही नहीं। आहाहा! गजब बात, जँचना 'आत्मा अपने को जानता है'-ऐसा कहने में भी... आहाहा! आत्मा अपने को जानता है, उसमें 'स्व-स्वामि अंशरूप व्यवहार है'... अपने को स्वयं, अपने को स्वयं जानता है, दो भाग पड़ गये। आहाहा! उसे भी यहाँ तो व्यवहार कहते हैं।***

श्रोता : पर को जानता है, यह व्यवहार खोटा या सच्चा?

पूज्य गुरुदेवश्री : झूठा।

(यहाँ यह बताया है कि : 'आत्मा परद्रव्य को जानता है'...) यह व्यवहार है। परद्रव्य का कुछ करे – (ऐसा तो है ही नहीं)। आहाहा! ऐसा पंगु? पर के लिये पूरा पंगु, अपने लिये पूरा परमात्मा। आहाहा! अपना परमात्मपद क्षण में प्रगट कर सके – ऐसी ताकतवाला है और पर में एक रजकण भी बदल सके, जिस क्षेत्र में रजकण है, उसे दूसरे प्रदेश में बदले (–यह) आत्मा की ताकत नहीं है। आहाहा! पूरे दिन यह दुकान में धन्धे पर 'मनसुख' बैठे, दुकान में पूरा धन्धा।

यह आत्मा, इसके (स्वयं के) अतिरिक्त कर्म, शरीर, वाणी, मन, पैसा, लक्ष्मी, मकान आदि; स्त्री, पुत्र, परिवार का कुछ भी नहीं कर सकता, क्योंकि एक-दूसरे में अत्यन्त अभाव है। अब कहते हैं ***यह स्वयं आत्मा अपने को जानता है, यह भेद पड़ा, वह व्यवहार है। आहाहा! आत्मा अपने को जानता है। आहाहा! भावक-भाव भेद पड़ गया। भावक को भाव जानता है। आहाहा! ज्ञायक को ज्ञानभाव जानता है, यह व्यवहार हुआ। इसमें भी विकल्प उठता है।***

('आत्मा अपने को जानता है' – इस कथन में भी स्व-स्वामिअंशरूप व्यवहार है;...) अपने को-स्व, और उसका स्वामि, जानता है, वह स्वामि। यह स्व-स्वामि अंश भी भेद पड़ा। आहाहा! एक रजकण को तो हिला सकता नहीं, जीभ से बोल सकता नहीं, पैर से चल सकता नहीं। आहाहा! परन्तु उसे जाननेवाला जानता है, ऐसा भी नहीं। क्योंकि जाननेवाला, जानने में आने योग्य से अत्यन्त अभावरूप वर्तता है। अत्यन्त अभावरूप वर्ते, वह भाव अर्थात् स्पर्श कैसे करे? एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अत्यन्त अभाव है। अभाव है, तब उसे स्पर्श करे, वह तो भाव हो गया। आहाहा! ऐसा कभी सुना नहीं होगा। मनसुख! धन्धा-पानी के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। आहाहा!

आत्मा यह वस्तु है। यह शब्द पहले आ गया है। **जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** यह शब्द आ गया है। फिर आयेगा इसमें। जिसका जो होता है, उसका वह होता है – ऐसा नहीं। जिसका जो होता है, उसका वह होता है – ऐसा नहीं। जिसका जो होता है, वह वही है, जिसका जो होता है, वह वही है। आहाहा! गजब बात है न! जिसका जो होता है, उसका नहीं, ऐसा भी नहीं। आहाहा! जिसका जो होता है, वह वही होता है, वही होता है। ज्ञायक का ज्ञायकपना है, वह वही होता है। ज्ञायकपना स्वयं अपने को जाने, ऐसा भेद, वह भी व्यवहार विषय हो गया। आहाहा! अब यहाँ, व्यवहार करते-करते निश्चय होता है, यह तो कहीं रह

गया, कि भाई! दया, दान, व्रत, भक्ति, अपवास करते-करते कल्याण होता है, समकित होता है, यह बात तो कहीं रह गयी, झूठ। आहाहा! परन्तु उस परद्रव्य को निकट में है या दूर है? वह दूर ही है। क्योंकि जानने की अपेक्षा से पर को जानना, उस पर को; पर नजदीक हो या दूर हो, पर को जानना, वह व्यवहार है। आहाहा! इसलिए पर को जानना, वह भी आदनेयोग्य नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है।

यह आत्मा वस्तु है, तो वह पर का कुछ कर सके, जीभ को हिला सके, आाहाहा! या सिर हाँ या ना में ऐसे-ऐसे कर सके, यह तीन काल में नहीं है। यह तो नहीं, परन्तु उसे जाननेवाला जानता है, वह पर है और यह पर है, दो का एकमेकपने का अभाव है। दो के बीच अत्यन्त अभाव है। ***इसलिए पर को जानता है-ऐसा कहना, वह भी असद्भूत व्यवहार है। अब स्वयं अपने को जानता है, वह सद्भूत व्यवहार है। आहाहा!*** स्वयं अपने को जानता है, ये दो भाग पड़ गये, सद्भूत व्यवहार हो गया। भावक का भाव, ज्ञायक का ज्ञान, ज्ञायक का ज्ञान, भावक का भाव। आहाहा! जो एक-दूसरे के बीच अत्यन्त अभाव है, उसकी बात तो यहाँ एक ओर रखो। उसे करे नहीं, और उसे जाने नहीं; इसलिए वह तो दूर कर दिया।

अब अन्दर ही अन्दर में स्वयं अपने को जानता है, इसमें भी स्वयं अस्ति हुआ और अपने को जाने, उसका स्वामी हुआ, स्व का स्वामी हुआ। यह स्व-स्वामि अंश भी भावकभाव-भावक का भाव, इस ज्ञायक का ज्ञान, आहाहा! यह भी व्यवहार है। गजब बात है। ऐसा सुनने को मिलना मुश्किल है, सुनने को मिलना मुश्किल है। आहाहा! पूरे दिन करता है न यह? तो भी कुछ करता नहीं? अरे! करता नहीं तो एक ओर रखो, परन्तु जानता नहीं, ***क्योंकि अपना अंश वहाँ जाये तो उसे जानता है, ऐसा निश्चय से कहा जाये, परन्तु अपना अंश वहाँ जाता नहीं, अपने अंश में उसका ज्ञान अपनी सामर्थ्य से अपने कारण से अपने में होता है, इसलिए पर को जानता है, वह व्यवहार है।***

अब, स्वयं अपने को जानता है, ऐसा जो भाव, स्व-उसका स्वामी हुआ, भावक का भाव हुआ। आहाहा! ज्ञायक, वह भावक; उसका ज्ञान भाव, उसका भाव, वह व्यवहार हुआ। यह सद्भूत व्यवहार, वह निषेध है। आहाहा! यह तो दुनिया दुकान-बुकान छोड़ दे तो दो रहेंगे। नहीं? ऐसा होगा? दुकान-बुकान छोड़ दे। छोड़ दे, वह भी आत्मा का नहीं। परवस्तु छोड़े, वह वस्तु में नहीं। क्योंकि इसमें (आत्मा में) वह नहीं, वह इसने छोड़ा है कहाँ? वह छूटा हुआ ही पड़ा है। आहाहा! आत्मा, पर का त्याग करता है, यह भी व्यवहार का कथन है, क्योंकि त्याग में यह स्वयं जाता नहीं; स्वयं तो अपने में रहता है। आहाहा! यह स्वयं अपने में

रहता है और पर को छोड़ता है-यह बात एकदम मिथ्या है। परन्तु छोड़नेवाला, छोड़नेवाला छोड़नेवाले में रहता है। आहाहा!

राग का त्याग, वह आत्मा में नहीं है, परन्तु उसका त्याग का करनेवाला जो जानपना है कि यह नहीं; यह ज्ञान, वह ज्ञायक का ज्ञान है - ऐसा भेद भी व्यवहार है। आहाहा! ऐसा कहाँ? इसे धर्म करना है। दया पालो, यह पालो और यह करो, व्रत करो, भक्ति करो, पूजा करो, यह करना, वह तो मिथ्यात्व है (अर्थात्) कर्ताबुद्धि, वह तो मिथ्यात्व है। आहाहा! परन्तु उसे जानना, वह व्यवहार है, निश्चय नहीं। उसमें मिलता नहीं, ज्ञान उसमें मिल नहीं जाता। भिन्न रहकर स्वयं उसे जानता है, इसलिए निश्चय से तो उसे जानता नहीं। निश्चय से अपने को जानता है। अब अपने को जानता है, वह जाननेवाला अपना जाननेवाला है। आहाहा! ऐसा जो भेद, वह भी व्यवहार है। यह ज्ञायक तो ज्ञायक ही है, यह तो है वह है। शब्द आ गया है न?

जिसका जो होता है, वह वही होता है,... यह बड़ा सिद्धान्त है इसमें। जिसका जो होता है, वह उसका होता है, ऐसा नहीं है। जिसका जो होता है, वह उसका, (यह) तो भेद पड़ गया। **जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** जिसका जो होता है, वह वही होता है। आहाहा! गजब किया है न! समझ में आया इसमें? जिसका जो होता है, उसका वह होता है, ऐसा भी नहीं। जिसका जो होता है, वह उसका ही है। आहाहा! वह उसका ही है, ऐसा भी नहीं। चन्दुभाई! ऐसा सूक्ष्म आ गया। आहाहा!

जिसका जो होता है, वह वही होता है,... जिसका जो होता है, वह उसका होता है, ऐसा भी नहीं। आहाहा! है अन्दर देखो? प्रत्येक जगह है। ज्ञायक में, दर्शन में। जिसका जो होता है, जिसका जो होता है, आहाहा! वह, जिसका जो होता है, वह वही होता है। आहाहा! इसके बाद तो छठवीं लाईन। आहाहा! ऐसा सब करने को रहे। संसार के चतुर तो पागल बनावे। पागल है या क्या? बापू! यह करते हैं न पूरे दिन। हाथ से, पैर से करते हैं, पैसा लेन-देन करते हैं, ब्याज उपजाते हैं, पैसे लेते हैं, लो! भाई! इतना माल है। यह पाँच हजार का माल। पाँच लाओ। यह पूरा काम पूरे दिन करते हैं और कहते हैं करते नहीं। आहाहा! भाई! तुझे भ्रम पड़ा है, भ्रमणा पड़ी है, वह तुझे देखने नहीं देती। यह संयोग को देखता है, भ्रमणा संयोग को देखती है। आहाहा!

पानी अग्नि से गर्म हुआ, यह भ्रमणा संयोग को देखती है - अग्नि को देखती है, परन्तु पानी स्वयं स्वयं से गर्म हुआ, यह नहीं देखा। आहाहा! समझ में आया? पानी अग्नि से गर्म

हुआ, यह तो एकदम झूठ बात है क्योंकि एक-दूसरे में अत्यन्त अभाव है। अभाव, वह भावरूप से कैसे हो। आहाहा! यह (अग्नि) उसे (पानी को) गर्म करे तो उसका भाव हो गया, अभाव नहीं रहा। आहाहा!

इसलिए यहाँ कहते हैं कि **('आत्मा अपने को जानता है' - इस कथन में भी स्व-स्वामिअंशरूप व्यवहार है;...)** आहाहा! **('ज्ञायक ज्ञायक ही है' - यह निश्चय है।)** ज्ञायक, वह ज्ञायक ही है, बस! आहाहा! ज्ञायक जानने का काम करे तो ज्ञायक है, ऐसा नहीं। थोड़ी सूक्ष्म बात है। यह ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। अपने को जानने का काम करे, वह भी भेद और व्यवहार है। आहाहा! तो फिर पर को जानने का काम करे, वह तो अत्यन्त असद्भूतव्यवहार है। ***स्वयं अपने को जाने, यह सदभूतव्यवहार है; पर को जाने, वह असद्भूतव्यवहार है और पर को करे, यह मिथ्यात्व का व्यवहार है। आहाहा!*** पूरे दिन यह क्या करते हैं? डॉक्टर यह दवा-बवा (दे), इंजैक्शन लगाने और दवा निकालना, उसमें से निकालना। उसमें भरी हो, उसमें से ऐसे दबाकर निकालना, चुपड़ना। यह कहते हैं कि दवा को अंगुली स्पर्श नहीं करती। अंगुली को आत्मा स्पर्श नहीं करता।

श्रोता : भले स्पर्श नहीं करे परन्तु लाभ करती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं करती। स्पर्श करे तो भाव हो जाये, एक-दूसरे का एक भाव (हो जाये)। अत्यन्त अभाव है, उसमें भाव नहीं हो सकता। आहाहा! यह भाषा तो सरल है परन्तु इसका भाव अन्दर सूक्ष्म है, बापू! आहाहा! है वह है। है वह है - ऐसा कहा न? जो जिसका होता है, वह वही होता है। आहाहा! वह दूसरे का नहीं होता। आहाहा!

और (जिस प्रकार ज्ञायक के सम्बन्ध में दृष्टान्त-दार्ष्टान्तपूर्वक कहा है) इसी प्रकार दर्शक के सम्बन्ध में कहा जाता है... अब देखने में और श्रद्धा में (लेते हैं), यहाँ देखने में देखना और श्रद्धा दोनों शामिल लेना। **इस जगत में कलई श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। दीवार-आदि परद्रव्य व्यवहार से उस कलई का श्वैत्य...** आहाहा! क्योंकि दीवार का अस्तित्व तो भिन्न है और कलई ऊपर सफेद हुई, उसका अस्तित्व भिन्न है। आहाहा! ऊपर जो सफेद हुई, उसकी अस्ति, अस्ति - मौजूदगी भिन्न है और दीवार की अस्ति-मौजूदगी भिन्न है। यदि दीवार ही सफेद हो गयी हो तो सफेदी धोयी जाये तो दीवार भी गिर जाये। आहाहा! गजब काम भाई! ऐसा। ऐसा मार्ग है, भाई! **'श्वेत करनेवाली कलई, श्वेत कराने योग्य दीवार-आदि परद्रव्य की है या नहीं?' - इस प्रकार उन दोनों के तात्त्विक सम्बन्ध,...**

दोनों के तात्त्विक सम्बन्ध का यहाँ विचार किया करते हैं, यदि कलई दीवार-आदि परद्रव्य की हो तो क्या हो यह प्रथम विचार करते हैं -... आहाहा! **जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** जिसका जो होता है वह,.. जिसका जो होता है, वह वही होता है। आहाहा! ऐसी बात चलती न हो, वहाँ लोगों को पर का करना, पर का कर सकते हैं, व्यवहार से करते हैं, व्यवहार से करते हैं, निश्चय से नहीं। आहाहा! अपने अतिरिक्त अनन्त पदार्थों का अहंपना इसे उड़ा देना पड़ेगा। अपने अतिरिक्त परद्रव्य कोई भी हो। अरे! राग का कण हो, उसका स्वामीपना और उसका अपनापना, उसका भाव मेरा, मैं भाववान-यह उड़ा देना पड़ेगा। आहाहा!

वह यहाँ कहते हैं, देखो! **विचार करते हैं - जिसका जो होता है,...** आहाहा! **वह वही होता है,.. जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** आहाहा! सुनने में तो आया था। ग्यारह अंग नौ पूर्व पढ़ा है परन्तु अन्दर घड़ी (तह) बैठी नहीं थी। सब धारणा में बात रखी। धारणा तो परचीज़ है। आहाहा! क्योंकि उसका अभाव हो जाता है। आहाहा! धारणा छूट जाती है, वह कहीं इसकी चीज़ नहीं है। इसकी चीज़ तो ज्ञान में यह बात एकाग्र होकर आनन्द का वेदन होकर ज्ञान, ज्ञान में ले, वह भी अभी व्यवहार कहकर (निकाल डाला), परन्तु वह व्यवहार सदभूत है। आहा! यह ज्ञान पर को जानता है, वह असद्भूतव्यवहार है। केवलज्ञानी लोकालोक को जानते हैं, यह असद्भूतव्यवहार है, झूठी दृष्टि से यह कथन है। आहाहा!

श्रोता : ज्ञान का स्वभाव तो स्व-परप्रकाशक है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अपना स्वभाव स्व-परप्रकाशक अपने से है, पर के कारण नहीं। पर है, इसलिए यहाँ ज्ञात होता है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! यहाँ स्व-परप्रकाशक स्वभाव-जिसका जो होता है, वह वही होता है। स्व-परप्रकाशक जिसका है, वह उसका ही है; पर के कारण नहीं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। फिर लोग कहे न कि सोनगढ़वाले निश्चयाभास, निश्चयाभास है। व्यवहार की तो बात करते नहीं। व्यवहार कौन नहीं कहते? भाई! व्यवहार है, व्यवहारनय है, नय का विषय है, विषयी का विषय होता है। आहाहा! परन्तु वह आदरनेयोग्य नहीं है। आहाहा! व्यवहारनय नहीं है, ऐसा नहीं है। व्यवहारनय है, वह ज्ञान का अंश है, ज्ञान का अंश है। आहाहा! वह भी सम्यग्ज्ञान का अंश है। ऐई! आहाहा! चन्दुभाई! व्यवहारनय भी सम्यग्ज्ञान का अंश है, मिथ्याज्ञान का नहीं। आहाहा! वह जो जानता है, उसका विषय भी है। नय है, वह विषयी है और उसका विषय है, वह परचीज़ है। आहाहा!

यहाँ तो इतनी सब आवाज (पुकार है) कि जिसका जो होता है... आहाहा! जिसका

जो होता है, वह.. जिसका जो होता है वह, आहाहा! वही होता है, वही होता है। आहाहा! है या नहीं अन्दर ? आहाहा! जिसका जो होता है, वह उसका होता है, ऐसा नहीं। यह तो भेद पड़ा। यहाँ तो जिसका जो होता है, वह वही है, वह वही है। आहाहा! ज्ञायक का ज्ञायक ही है। ज्ञायक, पर को जानता है; इसलिए ज्ञायक है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ज्ञायक ज्ञान द्वारा जानता है, ऐसा भी नहीं है। ज्ञायक तो ज्ञायक ही है, वह वही है। आहाहा! जिसका जो होता है, जिसका जो होता है वह, जिसका जो होता है, वह वही होता है। आहाहा! अब ऐसा उपदेश। ऐसा जैन का होगा ? जैन में तो छह द्रव्य कहे, उनके गुण-पर्यायें कही, छह काय की दया का कहा, छह द्रव्य को जानने का-मानने को कहा। लो! योगीन्द्रदेव के दोहे में आता है। प्रयत्न से छह द्रव्य को जानना। योगीन्द्रदेव के दोहे में आता है। आहाहा! व्यवहारनय के कथनों की शैली देखकर, वह ऐसा है नहीं। आहाहा!

यहाँ तो अभी व्यवहाररत्नत्रय करने से निश्चयरत्नत्रय प्राप्त होता है, यहाँ तक स्थूलता चल गयी है। आहा! यहाँ तो व्यवहाररत्नत्रय को जानता है, वह भी व्यवहार है। आहाहा! परन्तु व्यवहाररत्नत्रय को जाननेवाला ज्ञायक है, वह जिसका वह है, उसका वही है। आहाहा! उसमें दूसरा ज्ञात होता है, इसलिए उसका वह है और दूसरा ज्ञात होता है, इसलिए दूसरे को जानता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! जमकर बर्फ जैसा हो जाये, ऐसा है। विकल्प का अवकाश वहाँ नहीं है। आहाहा! जहाँ जानपने की विशेषता नहीं। मात्र वह चीज़ जो है.. आहाहा! वह जैसी है, वैसी उसे उसी प्रकार से प्रतीति करना। आहाहा!

उसमें यहाँ आत्मा की बात है। आत्मा लोकालोक को जाने, वह अपनी पर्याय है। लोकालोक के कारण लोकालोक की नहीं। वह पर्याय, लोकालोक है; इसलिए पर को जानने की पर्याय हुई है - ऐसा नहीं है। आहाहा! लोकालोक है तो लोकालोक उसके घर में रहा। भगवान जाननेवाला है, जाननेवाले में रहा। जाननेवाला लोकालोक में कहाँ गया है और लोकालोक का ज्ञान यहाँ कहाँ हुआ है ? वह तो इसका अपना ज्ञान हुआ। आहाहा!

जिसका जो होता है, यह महासिद्धान्त है। प्रत्येक जगह यह डाला है। पहले ज्ञायक में डाला था, यह दर्शन और श्रद्धा में डालते हैं। जिसका जो होता है, वह वही; जिसका जो, जिसका जो वह.. जिसका जो होता है, वह वही होता है। आहाहा! ऐसा कहाँ सुनने को मिले ? दुकान में सुनने को मिले ? संजयभाई! दुकान में कमाओ, यह करो न पूरे दिन, यह लड़के और... होशियारी से काम करता है, वह चतुर कहलाता है। शास्त्र के हिसाब से उसे पागल कहा जाता है। शास्त्र के हिसाब से उसे पागल कहा जाता है। दुनिया के हिसाब से उसे पण्डित

कहा जाता है। आहाहा! पण्डित और शूरवीर तो सम्यक्त्वी है, ऐसा शास्त्र में कहा है। पण्डित और शूरवीर (वह) कि जो अभेद का ही अनुभव करता है। आहाहा! समझ में आया ?

जिसका जो होता है, वह वही होता है,... अर्थात् ? **जैसे आत्मा का ज्ञान...** देखा ? **होने से ज्ञान वह आत्मा ही है...** पर को जानता है, इसलिए पर का है ? आहाहा! लोकालोक जानने में आया, इसलिए केवलज्ञान ने पर को जाना और पर का है, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार इस ज्ञान में राग ज्ञात हुआ, व्यवहाररत्नत्रय का राग ज्ञात हुआ; इसलिए वह ज्ञान, राग का है - ऐसा नहीं है। वह जिसका जो है, वह वही है। राग का वह ज्ञान नहीं। राग का ज्ञान हुआ, वह तो अपनी पर्याय के सामर्थ्य से हुआ है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! अभी स्थूल में बात जँचे नहीं वहाँ... आहाहा!

जैसे आत्मा का ज्ञान होने से... आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है' - ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त होने से... ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त है। आहाहा! भाषा तो देखो! आत्मा का ज्ञान, वह आत्मा का ज्ञान है; वह पर का ज्ञान नहीं। रोटी और सब्जी, दाल, भात का ज्ञान हो, वह कोई ज्ञान उनका नहीं, ऐसा कहते हैं। रोटी और दाल, भात, सब्जी का ज्ञान हो, वह ज्ञान उनका नहीं; वह ज्ञान आत्मा का है। आहाहा! और वह ज्ञान, पर के कारण नहीं, आत्मा के कारण वह ज्ञान है। इसलिए जिसका है, वह वही है, वह वही है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म। नटु! समझ में आया इसमें ? सूक्ष्म-सूक्ष्म है बहुत। तेरे व्यापार में, धन्धे में तो यह बात कहीं नहीं आती। अभी तो धर्म के वाड़ा में भी बात नहीं मिलती। अररर! प्रभु.. प्रभु..! यह बात ऐसी है।

कहते हैं, भाई! तुझे जो परसम्बन्धी ज्ञान हुआ, वह ज्ञान आत्मा का है, वह ज्ञान उसका नहीं। आहाहा! इस शास्त्र का जो ज्ञान यहाँ हुआ, वह ज्ञान शास्त्र का नहीं; वह ज्ञान आत्मा का है। है ? आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान, वह आत्मा ही है। आहाहा! किसी भी क्षण और पल में जिस प्रकार का पर को जानने आदि का ज्ञान होता है, वह ज्ञान आत्मा का ज्ञान है; उसका-पर का नहीं है, पर के कारण से भी नहीं है। आहाहा! वह आत्मा का ज्ञान है। आहाहा!

ज्ञान वह आत्मा ही है - ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त होने से... तात्त्विक सम्बन्ध यथार्थ होने से जीवन्त, जीवन्त सम्बन्ध है, कहते हैं। ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त यथार्थ है, मर गया हुआ वह सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! आचार्यों, दिगम्बर सन्तों (ने) सिद्धों के साथ बातें की है। लोगों को पक्ष लगता है क्योंकि यह तो स्पष्ट रीति से सत्य हो, वह कहनेवाले हैं।

आहाहा! यह तो वस्त्र का टुकड़ा रखे तो मुनि नहीं, परन्तु निगोद में जायेंगे, यह स्पष्ट बात करे, इससे समाज संगठित रहेगा या नहीं, समाज में ये बात बैठने पर खलबलाहट होगी या नहीं, इस बात की कोई दरकार उन्हें नहीं है। समझ में आया? आहाहा! वस्त्र का टुकड़ा रखकर मुनिपना माने और मनावे तथा उन्हें माने, वे सब निगोदगामी हैं। भले वे कोई सीधे एक भव में न जाये, परन्तु अन्त में बहुत अनन्त काल निगोद में रहनेवाले हैं। आहाहा!

ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त होने से... यहाँ तो ऐसा है। ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध तो जीवन्त है। आहाहा! कि जिसका जो ज्ञान है, उसका वह है। पर का ज्ञान भी नहीं। इस शास्त्र का ज्ञान, वह ज्ञान शास्त्र का नहीं। शास्त्र है, इसलिए यहाँ ज्ञान होता है–ऐसा नहीं। आहाहा! शास्त्र सामने रखा है और पढ़ा जाता है, इसलिए इससे यहाँ ज्ञान होता है – ऐसा नहीं है। आहाहा! आहाहा! चैतन्य को कैसा जीवन्त रखा ! **तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त होने से...** आहाहा! जिसका जो होता है, वह वही होता है, यह तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त है। उसे कोई मार डाले तो वह मर जायेगा स्वयं। आहाहा! उस तात्त्विक सम्बन्ध को न मानकर दूसरे प्रकार से मानेगा तो उसके आत्मा का घात हो जायेगा। आहाहा! यह तो ऐसा सूक्ष्म पड़े न! ब्रह्मचारीजी! कठिन पड़ता है। ***आहाहा! जो किसी भी परचीज सम्बन्धी ज्ञान होता है, वह ज्ञान, ज्ञान का है, वह ज्ञान आत्मा का है। वह उसका (परचीज़ का) नहीं, उसके कारण नहीं। आहाहा!***

केवलज्ञान में लोकालोक ज्ञात होता है तो लोकालोक के कारण नहीं क्योंकि जिसका जो होता है, वह वही है। वह ज्ञान इसका है, वह वही है; लोकालोक का वह ज्ञान नहीं है। आहाहा! इसी प्रकार यहाँ नीचे जिस क्षण में और पल में दूसरे सम्बन्धी का ज्ञान जो दिखता है, वह ज्ञान दूसरे का नहीं; वह ज्ञान, ज्ञान का है और वह ज्ञान आत्मा का है। आहाहा! समझ में आया?

ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त होने से कलई यदि दीवार–आदि की हो तो कलई उन दीवार–आदि ही होनी चाहिए... तो दीवार हो जाये। कलई वहाँ सफेद हुई, इसलिए दीवार की है तो कलई, दीवार की हो जाये। आहाहा! वाह! **दीवार–आदि ही होनी चाहिए (अर्थात् कलई, दीवार–आदि स्वरूप ही होनी चाहिए); ऐसा होने पर, कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा।** ऐसा होने पर स्व–कलई का अस्तित्व जो है, वह दीवार की हो जाये तो स्वयं के अस्तित्व का नाश हो जायेगा। आहाहा! दीवार सफेद हो गयी, इसलिए दीवार की सफेदी है, वह सफेदपना दीवार का है, ऐसा होवे तो सफेदपने की जो कलई है, उसका उच्छेद हो

जायेगा। आहाहा! इसी प्रकार यह ज्ञान भी पर को जानने के काल में पर के कारण होता हो तो ज्ञान जो है, उसका उच्छेद हो जायेगा। आहाहा!

कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा। किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध किया गया है। कहाँ? १०३ गाथा। १०३ गाथा में पहले से निषेध करते आये हैं। भाई! १०३ (गाथा)। आहाहा! अन्य द्रव्य की कोई भी पर्याय अन्य द्रव्यरूप से संक्रमित हो और दूसरे की पर्याय को इसकी पर्याय बनावे तो उस द्रव्य की पर्याय संक्रमण (पाकर) पर में गयी तो द्रव्य का विच्छेद हो गया। पर्याय बिना का वह द्रव्य रहा और उसकी पर्याय इसने की तो वह पर्याय बिना का द्रव्य रहा। उस द्रव्य का विच्छेद हो गया। आहा! '**पर्याय विजुत्तम दव्वं**' पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता। पंचास्तिकाय का शब्द है। नौवीं गाथा। '**पर्याय विजुत्तम दव्वं**' नहीं होता, पर्याय से रहित द्रव्य नहीं होता। यदि यह पर्याय पर की करो या दीवार सफेद हुई तो सफेदपन का अभाव होने पर कलई का नाश हो जायेगा। दीवार सफेद हुई नहीं। सफेद हुई है वह कलई। आहाहा! सफेद जो हुआ है, वह कलई सफेद हुई है, दीवार सफेद नहीं हुई। आहाहा! क्योंकि कलई धोयी जाये तो दीवार तो ऐसी की ऐसी रहती है। आहाहा! और दीवार गिर जाये, नाश हो जाये तो कलई तो कलई सफेदरूप से तो कायम रहती है न सफेद? आहाहा!

पहले ही निषेध किया गया है। अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण... पर्याय। मूल तो संक्रमण पर्याय का होता है। एक की पर्याय दूसरे रूप हो, तब तो पर्याय बिना का द्रव्य (होगा) तो फिर द्रव्य का नाश हो जायेगा। यह १०३ गाथा में कहते आये हैं। १०३ गाथा है न? १०३।

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामाए दव्वं ॥१०३॥

दूसरे द्रव्य की पर्याय दूसरा द्रव्य करे तो दूसरे द्रव्य के परिणाम उसमें जायें। ऐसा तो बनता नहीं। संक्रमण एक-दूसरे में तो होता नहीं। अत: एक द्रव्य की पर्याय में दूसरे द्रव्य ने क्या किया? आहाहा! दाढ़ ने रोटी का टुकड़ा किसका किया? दाढ़ की पर्याय उसमें से चली जाती है तो दाढ़ की पर्याय रहती नहीं। पर्याय बिना का द्रव्य तीन काल में नहीं रहता। आहाहा! और तीनों काल में जो पर्याय होती है, वह स्वयं से होती है। भले पर को जाने, परन्तु उस पर को जानता नहीं। वह स्वयं स्वयं को जाने, उसकी पर्याय है। आहाहा! ऐसा कठिन। व्यवहारवाले को तो हो..हा.. कर छोड़े कि अरे! ऐसा यह क्या? पूरे दिन हम करते हैं, यह करते हैं। भाई! धीर हो। तू कौन? क्या कर सकता है तू? तुझमें क्या है कि जिससे तू कर सकता है? आहाहा!

यहाँ यह कहा '**अण्णमसंकंतो कह तं परिणामाए दव्वं**' कोई भी द्रव्य अन्य की पर्याय में जाता नहीं, पलटकर बदलता नहीं तो उसके परिणाम को किस प्रकार करे? आहाहा! प्रत्येक समय में प्रत्येक द्रव्य की पर्याय स्वयं से होती है, पर से बिल्कुल नहीं। पर से होवे तो उसका संक्रमण हो जाये, बदल जाये। तब तो वह द्रव्य स्वयं पर्यायरहित हो जाये और वह पर्याय दूसरे ने की, वह भी पर्याय बिना का द्रव्य हो गया। आहाहा! जिस पर्याय ने दूसरे की पर्याय को किया तो उस पर्याय का नाश हो गया और दूसरे की पर्याय को करे तो उसे भी पर्याय बिना का द्रव्य हो गया। आहाहा! ऐसा उपदेश, लो!

कलर्द दीवार-आदि की नहीं है। (-आगे और विचार करते हैं:) यदि कलई दीवार-आदि की नहीं है तो कलई किसकी है? कलई की ही कलई है। (इस) कलई से भिन्न ऐसी दूसरी कौन सी कलई है... क्या कहा? कलई की कलई है, ऐसा बोले न? कलई की कलई है, तो किस कलई की यह कलई है? तुमने कहा कि कलई की कलई है तो किस कलई की कलई है यह? आहाहा! दिगम्बर आचार्यों के अतिरिक्त यह बात कहीं नहीं है। लोगों को भले दुःख लगे। समझ में आया? परन्तु यह ऐसी परमसत्य बात। दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त कहीं नहीं है। उल्टा है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। **कलई की ही कलई है। (इस) कलई से भिन्न ऐसी दूसरी कौन सी कलई है...** उस कलई की कलई कही न? तब प्रश्न उठा, कलई की कलई तो कौन सी कलई की कौन सी कलई? **कौन सी कलई है कि जिसकी (यह) कलई है? (इस) कलई से भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है,...** यह तो कथन किया, बापू! कलई की कलई। यह कलई दूसरी और इसकी कलई है, ऐसा नहीं है। कलई, वह कलई ही है।

किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। कलई की कलई, वह तो स्व-स्वामि अंश का व्यवहार किया। आहाहा! वस्तु का अंश और वस्तु का स्वामी वह कलई हुई। आहाहा! **स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है?** उसमें फल क्या निकला? कलई कलई की हो, (ऐसा) कहें तो उसमें फल क्या निकला? आहाहा! उसमें साध्य अर्थात् परिणाम क्या आया? आहाहा! **कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर कलई किसी की नहीं है, कलई कलई ही है - यह निश्चय है।** कलई, कलई की नहीं; कलई, कलई ही है। आहाहा! **जैसे यह दृष्टान्त है, उसी प्रकार यह दार्ष्टान्त है-** अब दर्शनगुण में यह उतारते हैं। विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

(२५) श्री समयसार, गाथा ६३ से ६७, श्लोक ३७, प्रवचन-१३७
दिनांक - १६-११-१९७८

समयसार, ६३-६४ (गाथा का) भावार्थ। जीव-अजीव अधिकार है न? यहाँ जीव किसे कहना, उसकी बात है। जीव तो अनन्त-अनन्त गुण से अभेद है, वह जीव है। उसमें जितने रंग, राग और भेद तीनों ले लिये हैं। भाई ने-हुकमचन्दजी ने तीनों लिये हैं। राग, रंग से भिन्न, भेद से भिन्न-यह इसमें से निकाला है। रंग में वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, शरीर, वाणी, मन, कर्म सब आ गया और राग में शुभ-अशुभराग, अध्यवसाय इत्यादि आये और भेद में निमित्त के लक्ष्य से अन्दर भेद पड़ता है। लब्धिस्थान कहे न! उस भेद से भी निराली चीज़ है। आहाहा! जीव उसे कहते हैं कि जो भेद से भिन्न, राग से भिन्न, रंग से भिन्न है। आहाहा!

भावार्थ - यदि ऐसा माना जाय कि संसार-अवस्था में जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है... ऐसा कोई कहे **तो जीव तो मूर्तिक हुआ...** आहाहा! ऐसे रंग, राग और भेद सब मूर्त है-ऐसा यहाँ तो कहते हैं। पुद्गल कहना है न? आहाहा! **जीव तो मूर्तिक हुआ और मूर्तिकत्व तो पुद्गलद्रव्य का लक्षण है;...** यदि आत्मा को रंगवाला, रागवाला, भेदवाला मानो तो वह लक्षण तो पुद्गल का है, तो जीव मूर्तिक लक्षणवाला हुआ तो आत्मा मूर्तिक हो जाता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात की है।

भेद भी मूर्तस्वरूप है। राग, दया, दान, व्रतादि के विकल्प तो पुद्गल हैं, मूर्तिक हैं, रूपी हैं, अजीव हैं। आहाहा! उनसे तो जीव भिन्न है। यदि उसे मूर्तिक कहो तो मूर्तिक तो पुद्गलद्रव्य का लक्षण है। **इसलिए पुद्गलद्रव्य ही जीवद्रव्य सिद्ध हुआ,...** आहाहा! **उसके अतिरिक्त कोई चैतन्यरूप जीवद्रव्य नहीं रहा।** मूर्तिक से भिन्न कोई अरूपी अभेद चैतन्यतत्त्व रहा नहीं। आहाहा! यहाँ तो अभी राग के विकल्प दया-दान को अपना मानता है। आहाहा!

यहाँ तो कल वहाँ तक सूक्ष्म आया, बहिन की वाणी में नहीं? ज्ञेय निमग्न। आहाहा! भाषा देखो उनकी! शास्त्र-ज्ञान वह परज्ञेय है, वह कहीं वस्तु-स्वज्ञेय नहीं है। आहाहा! उसे भी यहाँ तो मूर्त कहकर पुद्गल कहा। आहाहा! भगवान आत्मा तो अखण्ड अभेद, जिसमें गुणभेद भी नहीं, पर्यायभेद भी नहीं; राग और रंग की तो बात ही क्या करना? आहा! ऐसे जीव

को, अमूर्त प्रभु आत्मा को भेद और रंग, रागवाला मानना, वह तो मूर्तिक का स्वरूप है, वह तो पुद्गल का (स्वरूप है) तो आत्मा, पुद्गल हो गया। आहाहा! गजब सूक्ष्म!

एक ओर ऐसा कहना कि राग-द्वेष आदि पर्याय है, वह जीव में है; निश्चय से जीव में है ऐसा कहा। प्रवचनसार। यह पर्याय को सिद्ध करना है। ज्ञेय आत्मा की पर्याय में यह बात है, यह सिद्ध करना है। यहाँ तो त्रिकाली स्वभाव सिद्ध करना है। समझ में आया? दृष्टि का विषय जो अभेद चैतन्य है, वह यहाँ सिद्ध करना है। आहाहा! इसलिए मूर्तिक पुद्गल का लक्षण है, वह यदि जीव में आ जाये तो जीव तो चैतन्यद्रव्य रहा नहीं। आहाहा!

और मोक्ष होने पर भी उन पुद्गलों का ही मोक्ष हुआ;... भेद और राग, रंग यदि आत्मा के हों तो वे तो मूर्तिक हुए, वे मोक्ष में भी रहेंगे। आहाहा! ऐसी बात! **अन्य कोई चैतन्यरूप जीव नहीं रहा। इस प्रकार संसार तथा मोक्ष में पुद्गल से भिन्न ऐसा कोई चैतन्यरूप जीवद्रव्य न रहने से जीव का ही अभाव हो गया।** आहाहा! राग, भेद और रंग, संहनन इत्यादि यदि आत्मा के हैं, ऐसा मानो तो आत्मा का तो अभाव हो जायेगा। आहा! आत्मा तो अभेद चैतन्यमूर्ति भगवान है। आहा! उसका अभाव हो जायेगा। आहाहा! कैसी बात की है, देखो न!

अब अभी तो ऐसा कहते हैं कि व्यवहारनय के जो रागादि हैं, उसका आचरण करने से अनुग्रह-आत्मा को लाभ होता है। आहाहा! बहुत अन्तर। गौतमस्वामी ने भी व्यवहार किया-ऐसा कहते हैं। परन्तु वह तो भेद से समझाया है। इसलिए कहीं उसके आश्रय से लाभ होता है और धर्म होता है, ऐसा कहा है? व्यवहार से समझाना है, दूसरा करे क्या? भेद से समझाया है। जयधवल में। यह तो पता नहीं, वहाँ चिह्न तो पहले से किया था, उस दिन पढ़ा, तब किया था। आहाहा! भेद से समझाये बिना शिष्य को समझ में नहीं आता, इस अपेक्षा से समझाया है। आहाहा! परन्तु वह भेद है, वह आश्रय करनेयोग्य है और आत्मा की चीज़ है, ऐसा नहीं है। आहाहा! यहाँ भेद को पुद्गल में डाल दिया। गजब बात है। आहाहा! आत्मा में रहते नहीं, अकेली अभेद वस्तु रहती है। आहाहा! लोग कुछ की कुछ गड़बड़ में अटक गये हैं। कोई कहीं, कोई कहीं, कोई कहीं (अटक गये हैं)। आहाहा!

भगवान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप प्रभु में तो रंग नहीं, राग नहीं और भेद नहीं; उसे यहाँ आत्मा कहते हैं। वह आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय है। आहाहा! **इस प्रकार संसार तथा मोक्ष में पुद्गल से भिन्न ऐसा कोई चैतन्यरूप जीवद्रव्य न रहने से जीव का ही अभाव हो गया।** अभाव हो गया। हो जायेगा, ऐसा नहीं कहा। **इसलिए मात्र संसार-अवस्था में ही वर्णादि**

भाव जीव के हैं — ऐसा मानने से भी जीव का अभाव ही होता है। लो ! आहाहा ! बहुत सूक्ष्म बात, भाई ! आहाहा ! ऐसे चैतन्यस्वभाव को पकड़ने से उपयोग बहुत सूक्ष्म होता है। आहाहा ! स्थूल उपयोग में वह ज्ञात नहीं होता। आहाहा ! बहुत सूक्ष्म ! आहाहा ! सूक्ष्म तो ठीक है, परन्तु मतिज्ञान का उपयोग बाहर पर में जाता है, वह भी नहीं। यहाँ तो जो उपयोग स्वयं को पकड़ता है वह सूक्ष्म है। आहाहा ! समझ में आया ? आहाहा !

रंग, राग और भेदरहित चीज़ प्रभु... आहाहा ! उसे पकड़ने के लिये उपयोग बहुत सूक्ष्म चाहिए। आहाहा ! इसके बिना आत्मा पकड़ में नहीं आता। सम्यग्दर्शन तब होता है, जब सूक्ष्म उपयोग अन्दर में जाता है, तब सम्यग्दर्शन होता है। आहाहा ! ऐसी बात है भाई ! देह की क्रिया, वाणी की क्रिया तो जड़ है। वह जड़ की क्रिया आत्मा करता है, ऐसा माने तो आत्मा जड़ हो गया। आहाहा ! और राग भी जड़ तथा अजीव है। दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा, यात्रा का भाव राग है, वह तो अजीव है। वह अजीव, आत्मा का हो जाये तो आत्मा, अजीव हो जाये। आहाहा ! समझ में आया ? ऐसे भेद, ज्ञान की पर्याय में भेद, दर्शन की पर्याय में भेद, चारित्र की पर्याय में भेद... आहाहा ! वे भेद भी अपना स्वरूप नहीं है। आहाहा ! यदि वे स्वरूप हों तो भेद तो कायम आत्मा में रहेंगे। आहाहा ! सिद्ध में तो है नहीं। यदि संसार अवस्था में है-ऐसा कहो तो संसार अवस्था में भेद आदि है तो वह तो पुद्गलद्रव्य है-ऐसा कहा। आहाहा ! वह भेद-पुद्गल, आत्मा के हैं (ऐसा कहो तो) पुद्गल, मोक्ष में भी रहेगा। आहाहा ! ऐसी बातें हैं। बहुत सूक्ष्म बात भाई !

मुमुक्षु : समझ में आये ऐसी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो साधारण-भाषा तो बहुत सादी है। ये तीन शब्द भाई ने निकाले, वे इसमें से निकाले हैं। रंग, राग से भिन्न। भाई हुकमचन्दजी का क्षयोपशम बहुत है, फिर भी निर्मान व्यक्ति है, घमण्ड नहीं। आहाहा !

आत्मा है, उसे जानना, वह सम्यग्दर्शन है। वह आत्मा कैसा है ? आहाहा ! अभी तो प्रथम सम्यग्दर्शन की बात है। आहा ! धर्म तो-चारित्र तो कहीं रह गया ! यहाँ तो प्रथम सम्यग्दर्शन होता है तो किस प्रकार से होता है ? उस सम्यग्दर्शन का विषय अभेद चैतन्य में भेद नहीं, राग नहीं, रंग नहीं। आहाहा ! रंगरहित, रागरहित, भेदरहित ! आहाहा ! रंगसहित, रागसहित, भेदसहित, वह तो पुद्गल है। आहाहा ! अरे ! इसे बहुत धीर होना पड़ेगा, भाई !

आहा ! शास्त्र का ज्ञान है, वह भी वास्तव में तो रूपी है। वह पुद्गल है-ऐसा यहाँ तो कहा। ऐई ! आहाहा ! यदि अपना ज्ञान हो, तब तो साथ में आनन्द आना चाहिए। यह तो पुद्गल

है, दु:ख है। आहाहा! शास्त्र का ज्ञान, देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा, नौ तत्त्व की श्रद्धा, पंच महाव्रत के (विकल्प), छह काय की दया ली, परन्तु उसका अर्थ (यह कि) पंच महाव्रत के भाव सब पुद्गल हैं। आहाहा! वे यदि आत्मा हो जाये तो आत्मा, पुद्गल हो जाये। आहाहा! बहुत गजब बात की है। यथार्थ वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। आहाहा!

मुमुक्षु : शास्त्र में तो ऐसा आता है कि सोलह भगवान कंचन वर्ण और एक भगवान श्याम वर्ण....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वस्तु ही नहीं। कहा न, वह तो शरीर का गुणगान है। वहाँ लिया नहीं? वे आत्मा के नहीं। राजा की ऋद्धि के गुणगान हों, वे राजा के गुणगान नहीं। आहाहा! स्तुति में तो यह आया है। आहाहा! स्तुति, स्तुति आयी न? आहाहा! ये जड़ इन्द्रियाँ, भावेन्द्रियाँ और भगवान की वाणी तथा भगवान, ये सब इन्द्रिय में रखे हैं। आहाहा! और वाणी से अपनी पर्याय में जो ज्ञान हुआ, वह भी इन्द्रिय है। आहाहा! गजब बात है। उसे भी यहाँ तो पुद्गल कह दिया है। भाई! आहाहा!

ऐसा मानने से तो जीव का अभाव हो जाता है। आहाहा! शास्त्र का ज्ञान, वह आत्मा का ज्ञान है—ऐसा मानने से जीव का अभाव हो जाता है। आहाहा! दया, दान, व्रत के भाव, वे जीव के भाव हैं (-ऐसा मानने से तो) जीव का अभाव हो जाता है। आहाहा! मार्गणा में लिया न? ज्ञानमार्गणा, दर्शनमार्गणा, संयममार्गणा... आहाहा! उस मार्गणा की पर्याय को खोजना, वह पर्याय में है। वह मार्गणा पुद्गल के परिणाम है, ऐसा कहा है। आहाहा! आहाहा! ज्ञान के पाँच भेद, तीन अज्ञान के (भेद), इस भेद पर लक्ष्य जायेगा तो राग होगा; इसलिए इन्हें पुद्गल कहा है। ऐसे दर्शन-सम्यग्दर्शन, क्षायिकदर्शन, उपशम-दर्शन क्षयोपशम (दर्शन) ऐसे भेद पुद्गल के परिणाम (कहे हैं)। आहाहा! तीन में तो बहुत समाहित कर दिया है। रंग, राग और भेद। आहाहा! सन्तों की गम्भीर भाषा बहुत गूढ़-गूढ़, आहाहा! यथार्थ (है)।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि... रंग, राग और भेद जीव नहीं है। **यह अब कहते हैं—** ६५-६६ गाथा।

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इन्दिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स।।६५।।

एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणा उ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पोग्गलमइहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो।।६६।।

यहाँ जीवस्थान लेना है। जीवस्थान भी पुद्गल है। आहा! जीवस्थान भी पुद्गल है। जीवस्थान! आहाहा! मार्गणास्थान पुद्गल है, जीवस्थान पुद्गल है, गुणस्थान पुद्गल है। आहाहा! यहाँ तो दृष्टान्त इस जीव का दिया।

जीव एक-दो-त्रय-चार-पंचेन्द्रिय, बादर, सूक्ष्म हैं।
पर्याप्त अनपर्याप्त जीव जु नामकर्म की प्रकृति है॥६५॥
जो प्रकृति यह पुद्गलमयी, वह करणरूप बने अरे।
उससे रचित जीवथान जो हैं, जीव क्यों हि कहाय वे॥६६॥

आहाहा! **टीका - निश्चयनय से कर्म और करण की अभिन्नता होने से,...** आहाहा! कार्य और करण की अभिन्नता होने से। करण अर्थात साधन और कर्म अर्थात् कार्य। **कर्म और करण की अभिन्नता होने से, जो जिससे किया जाता है (-होता है), वह वही है - यह समझकर (निश्चय करके), जैसे सुवर्ण-पत्र सुवर्ण से किया जाता होने से...** सोने का पत्र, पत्र उससे किया जाता है। **सुवर्ण-पत्र सुवर्ण से...** सुवर्ण का पत्र, हों! स्वर्णपत्र। **सुवर्ण से किया जाता होने से सुवर्ण ही है,...** स्वर्ण से पत्र हुआ तो वह स्वर्ण ही है। आहाहा! **अन्य कुछ नहीं है, इसी प्रकार जीवस्थान बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त नामक पुद्गलमयी नामकर्म की...** पुद्गलमयी नामकर्म की, हों! पुद्गल की - ऐसा नहीं। आहाहा! **पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियों से किय जाते होने से पुद्गल ही हैं,...** चौदह भेद पुद्गल ही हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त यह चौदह पुद्गल हैं। आहाहा! यह पर्याप्त जीव और यह अपर्याप्त जीव... आहाहा! **जीव नहीं है...**

पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृति करण होकर वह कर्म अर्थात् कार्य हुआ, इसलिए वह पुद्गल ही है। क्या कहा, समझ में आया? नामकर्म करण / साधन है। उसके यह चौदह भेद कार्य है। करण से कार्य हुआ तो वह पुद्गल से हुआ, नामकर्म पुद्गल है; इसलिए पुद्गल से भेद हुए। आहाहा! यहाँ से शुरु किया। जीवस्थान, ऐसा। जीव, जीवस्थान नहीं। आहाहा! जीव भगवान आत्मा, वह जीवस्थान में नहीं। आहाहा! जीव के प्रकार-भेद में जीव नहीं; इसलिए यह दृष्टान्त दिया कि नामकर्म करण है, वह करण होकर, साधन होकर पर्याप्त-अपर्याप्त का कार्य होता है, वह तो पुद्गल है, नामकर्म पुद्गल है तो उसका कार्य भी पुद्गल है। आहाहा! **जीव नहीं....**

नामकर्म की प्रकृतियों की पुद्गलमयता तो आगम से प्रसिद्ध है... पुद्गलमयपना,

पुद्‌गलमय। आहाहा! **आगम से प्रसिद्ध है...** नामकर्म पुद्‌गल जड़ है न? आगम से प्रसिद्ध है कि वह पुद्‌गल है। **अनुमान से भी जानी जा सकती है...** कैसे? **क्योंकि प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले शरीर आदि जो मूर्तिक भाव हैं, वे...** मूर्तिक हैं। **वे कर्म-प्रकृतियों के कार्य...** है, जड़ का कार्य है। आहाहा! बादरपना, सूक्ष्मपना, एकेन्द्रियपना, दोइन्द्रियपना, पंचेन्द्रियपना, पर्याप्त और अपर्याप्त यह तो प्रत्यक्ष पुद्‌गल है तो ये पुद्‌गल का कार्य है। आहाहा! **प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले शरीर आदि जो मूर्तिक भाव हैं, वे कर्म-प्रकृतियों के कार्य हैं, इसलिए कर्मप्रकृतियाँ पुद्‌गलमय हैं...** पुद्‌गलमय है। पुद्‌गल है, ऐसा तीन बार लिया है। आहाहा! पुद्‌गलमय, आहाहा! पुद्‌गलमयता, पुद्‌गलमय-ऐसे तीन बार आया। **ऐसा अनुमान हो सकता है।** अनुमान भी हो सकता है और प्रकृति जड़ है तो उसका कार्य है, ऐसा भी सिद्ध होता है।

इसी प्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान और संहनन भी पुद्‌गलमय नामकर्म की प्रकृतियों के द्वारा रचित होने से पुद्‌गल से अभिन्न हैं;... वे पुद्‌गलमय हैं। **इसलिए, मात्र जीवस्थानों को पुद्‌गलमय कहने पर, इन सबको भी पुद्‌गलमय ही कथित समझना चाहिए।** ऊपर के ये सब। **इसलिए वर्णादिक जीव नहीं हैं, यह निश्चयनय का सिद्धान्त है।** लो! यह तो निश्चयनय का सिद्धान्त है। वे कहते हैं निश्चयनय सिद्ध को होता है। आहाहा! यह तो बहुत अन्तर है! वस्तुस्थिति ऐसी है, वहाँ... आहाहा! उसकी वापस सब लोगों ने महिमा की। व्यवहार साधक को होता है, निश्चय होता ही नहीं, निश्चय तो सिद्ध को होता है... यहाँ तो कहते हैं निश्चयनय से यह होता नहीं। आहाहा! सम्यग्दर्शनपना तो निश्चय के आश्रय से, स्वभाव के आश्रय से होता है, यह निश्चय है। शुद्धनय आया नहीं, ग्यारहवीं गाथा में? शुद्धनय के आश्रय से, निश्चयनय के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। शुद्धनय लिया है। शुद्ध कहो या निश्चय कहो, परमनिश्चय। आहाहा!

यहाँ सम्यग्दर्शन होता है, वही शुद्धनय अर्थात् परम आत्मस्वभाव के आश्रय से होता है। वह शुद्धनय का विषय है। आहा! ग्यारहवीं (गाथा) में कहा नहीं? '**भूदत्थो देसिदो सुद्धणओ**' भूतार्थ है, वह शुद्धनय है। '**ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ**' जो भूतार्थ है, वही शुद्धनय है, त्रिकाली वस्तु है, वह शुद्धनय है-ऐसा कहा। आहाहा! आहाहा! फिर कहा कि शुद्धनय का आश्रय। '**भूदत्थमस्सिदो खलु**' तीसरा पद। परन्तु पहले तो कहा कि जो त्रिकालीवस्तु है, वही निश्चयनय है और वही शुद्धनय है। आहाहा! समझ में आया? बहुत सूक्ष्म विषय! आहाहा! गजब किया है। सादी भाषा में कितनी गम्भीरता! आया न यह? अब श्लोक कहते हैं, नहीं? ३८

निर्वर्त्यते येन यत्र किंचित्
तदेव तत्स्यान्न कथंचनान्यत्।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं
पश्यंति रुक्मं न कथंचनासिम्।।३८।।

जिस वस्तु से जो भाव बने,... जिस वस्तु जो भाव बने... वस्तु से। **वह भाव वह वस्तु ही है,...** आहाहा! **किसी भी प्रकार अन्य वस्तु नहीं है;...** किसी भी प्रकार से अन्य वस्तु नहीं-ऐसा कहते हैं। आहाहा! **जैसे जगत में स्वर्ण निर्मित म्यान को...** सोने से म्यान (बनी) उसे **लोग स्वर्ण ही देखते हैं,...** आहाहा! सोने की म्यान को सोनारूप से देखते हैं। उसमें तलवार रही है और तलवार सोने में नहीं देखते। आहाहा! तलवार भिन्न है और सोने की म्यान भिन्न है। आहाहा! इसी प्रकार रंग, राग और भेद, ये पुद्गल से हुए हैं। आहाहा! उससे भगवान तो भिन्न है-ऐसा कहते हैं। वह तलवार जैसे सोने की म्यान से भिन्न है। आहाहा! सोने की म्यान सोनारूप से ही लोग देखते हैं, तलवार नहीं देखते। इसी प्रकार भेद, रंग और राग, वे पुद्गल के कर्म के हुए हैं तो उन्हें पुद्गल देखते हैं। आहाहा! भेद, रंग और राग से भिन्न अभेद को लोग नहीं देखते। अभेद तलवार जैसे भिन्न है, वैसे यह अभेद भिन्न है। आहाहा! बनियों को संसार के कारण ऐसा निर्णय करने का समय नहीं मिलता। आहाहा! अभी तो बनियों को यह धर्म मिला है न! आहाहा! क्या कहा?

सोने की म्यान है तो लोग सोने को देखते हैं, तलवार को नहीं देखते। सोने की तलवार है-ऐसा कहते हैं। सोने की तलवार, सोने की तलवार है? आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा को भेद, रंग और राग-जैसे सोने की म्यान है, वैसे ये पुद्गल के हैं, पुद्गल से हुए हैं तो ये पुद्गल के हैं। ये आत्मा हैं, ऐसा नहीं देखते। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म कठिन, भाई! एक-एक गाथा... आहाहा! आहाहा!

लोग सोने की तलवार को सोना देखते हैं, तलवार को नहीं देखते। इसी प्रकार आत्मा में जो राग, रंग और भेद दिखते हैं, वे पुद्गल हैं। उस पुद्गल से, जैसे तलवार म्यान से भिन्न रहती है, वैसे आत्मा भिन्न है। आहाहा! कहो, देवीलालजी! आहाहा! ऐसी बात कहाँ है? यह परम सत्य। इस टीका का नाम आत्मख्याति है न! आहाहा! भेद, राग, रंग जैसे सोने की म्यान है, उसे सोने की म्यान देखते हैं, वह सोने की तलवार है, ऐसा नहीं देखते; वैसे भेद, रंग और राग पुद्गल के हैं। वे पुद्गल के हैं, ऐसा देखते हैं। उससे भिन्न भगवान आत्मा है, उसमें नहीं देखते, उस आत्मा के भेद, रंग, राग है - ऐसा नहीं देखते। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बातें! आहाहा! अरे! कितनी योग्यता अन्दर चाहिए।

कहते हैं, सोने की म्यान को कोई सोने की तलवार कहता है, वह तो व्यवहार-उपचार से कहता है, वह वस्तु नहीं। आहाहा! इसी तरह भगवान आत्मा में शरीर, वाणी, मन, रंग, राग, द्वेष, पुण्य-पाप के भाव और भेद पुद्गल से बने हुए हैं। आहाहा! तो पुद्गल के हैं, ऐसा देखता है; जीव के हैं, ऐसा नहीं देखता। ऐसी बातें अब, कहाँ पहुँचना? शास्त्र में भाषा ऐसी आवे, (कि) एकेन्द्रिय जीव, दोइन्द्रिय जीव, पर्याप्त जीव, अपर्याप्त जीव। देखो! ये जीव नहीं, छह काय के जो हैं, वे जीव नहीं। जीव तो ज्ञानस्वरूप है। है न अन्दर? आहाहा! अभी तो यहाँ नवतत्त्व में जीवतत्त्व कैसा है, उसकी बात चलती है। आहाहा! उस जीवतत्त्व को भेद, रंग और राग से जानो तो वह तो पुद्गल है, ऐसा कहते हैं। भगवान तो उनसे निराला-भिन्न है। आहाहा!

भावार्थ - वर्णादि पुद्गल-रचित हैं... भेद, रंग और राग पुद्गल से बनते हैं। **इसलिए वे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं।** आहाहा!

दूसरा कलश। इसमें तो गुणस्थान को भी साथ में डाला है। कहा, आया है तो तीनों में... (कलश ३९)

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदंतु
निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा
यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः।।३९।।

आहाहा! **श्लोकार्थ - अहो ज्ञानी जनों!...** आहाहा! **ये वर्णादिक से लेकर गुणस्थानपर्यन्त...** २९ बोल आये न अन्दर? सब आ गये। गुणस्थान अन्त में है, पहला वर्ण है। पहला वर्ण-रंग है, अन्त में गुणस्थान है। २९ बोल आ गये। आहाहा! शुभराग आया, संयमलब्धि के भेद आये। आहाहा! हे ज्ञानीजनों! ये रंग, राग, भेद और गुणस्थानपर्यन्त (भाव हैं वे) **समस्त को एक पुद्गल की रचना जानो;...** आहाहा! ये मार्गणास्थान, जीवस्थान, गुणस्थान... आहाहा! पुद्गल की रचना जानो। आहाहा! भगवान इनमें आया नहीं। चैतन्यभगवान भेद में आया नहीं, रंग में आया नहीं, राग में आया नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : श्रद्धा और ज्ञान में पूर्व-पश्चिम जितना अन्तर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तर है न! पर्याय है, वह तो स्व की अपेक्षा से निश्चय कहा। बाकी विकल्प की अपेक्षा से भेद है। वास्तविक अभेद स्वभाव की अपेक्षा से तो वह पुद्गल है। आहाहा! एक ओर तो ऐसा भी कहते हैं कि उसमें भेद है, वह जीव का है। भेद स्वरूप

ही है। ज्ञान के पाँच भेद आते हैं, वह ज्ञान कराना है। अभेद की दृष्टि हुई, उसे ज्ञान कराना है। आहाहा!

यहाँ तो अभी पहले अभेददृष्टि करानी है। आहाहा! भगवान आत्मा एक समय में रंग, राग, और भेद से निराला है। उसे यहाँ आत्मा कहा जाता है। वहाँ यह शब्द पड़ा है। ज्ञानानन्दस्वभावी मैं हूँ, उसमें निराला हूँ, फिर अखण्ड पूर्ण एक हूँ-ऐसा है। भाई ने अच्छा किया है, हुकमचन्दजी ने इसकी शैली ली है। रंग, गंध से लेकर गुणस्थानपर्यन्त अर्थात् ये २९ बोल। ५० से ५५ गाथा। **उन समस्त को 'एकस्य पुद्गलस्य हि निर्माणम्'...** देखो! **एक पुद्गल की रचना...** एक पुद्गल की रचना, आत्मा की कोई रचना नहीं। आहाहा! कितना स्पष्ट कर दिया है! ये गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवस्थान, राग-द्वेष, पुण्य-पाप के भाव, वे एक पुद्गल की रचना जानो। आहाहा! ऐसी बात है। ज्ञायक, अभेद। आहाहा!

'एकस्य पुद्गलस्य हि' है ? शब्द तो यह है। **एक पुद्गल की रचना जानो;...** परन्तु पाठ में तो **'एकस्य पुद्गलस्य हि'** ऐसा जोर है। एक पुद्गल की रचना, इतना आया, इसमें एक पुद्गल की ही रचना जानो। निश्चय। आहाहा! आहाहा! यह पुद्गल की ही... एकान्त (किया है)। कथंचित् पुद्गल की और कथंचित् जीव की (-ऐसा नहीं कहा)। आहाहा! क्या शैली! **'एकस्य पुद्गलस्य'** वापस ऐसा। **'एकस्य पुद्गलस्य हि निर्माणम्'** रचना। आहाहा! गुणस्थान, मार्गणास्थान एक ही, पुद्गल ही की रचना है। आहाहा! कलश ऐसा साधारण लगे परन्तु अन्दर कितना भरा है! ओहोहो!

मुमुक्षु : इसमें स्याद्वाद का लोप नहीं हो गया ?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्याद्वाद कहा न! निश्चय से यह है और पर्याय में है, इसलिए व्यवहार कहा। यह स्याद्वाद, परन्तु यह निश्चय जिसे हुआ, उसे पर्याय का सच्चा ज्ञान होता है। आहाहा! अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त के अतिरिक्त (अन्य हेतु से उपकारी नहीं)। आहाहा! अभेद सम्यक् एकान्त जो है, वह सम्यक् एकान्त है। उसका ज्ञान होने से पर्याय और रागादि है, उनका ज्ञान होता है, अनेकान्तरूप से (ज्ञान होता है)। सम्यक् एकान्त का ज्ञान हुआ तो उसमें अनेकान्त का ज्ञान हो जाता है। आहाहा! परन्तु पहले सम्यक् एकान्त का ज्ञान नहीं, उसे तो यह राग मेरी पर्याय है, उसका ज्ञान नहीं। उसे व्यवहार ज्ञान आया कहाँ से ?

उन समस्त को... रंग से लेकर गंध, रस, स्पर्श, अध्यवसाय... आहाहा! संहनन, संस्थान, संक्लेशपरिणाम, असंक्लेशपरिणाम, शुभपरिणाम... आहाहा! वे सब जीव के निवृत्तिस्थान, लब्धि आदि एक ही पुद्गल की रचना जानो। आहाहा! यह निश्चयनय का सिद्धान्त है।

परमशुद्धनय। आहा! **एक पुद्गल की रचना जानो; इसलिए यह भाव...** यह भाव **'पुद्गलः एव अस्तु' पुद्गल ही हों,...** समझ में आया? कितना स्पष्ट! अमृतचन्द्राचार्य ने टीका की और टीका पर कलश चढ़ाया! आहाहा!

नियमसार में तो क्षायिकभाव, क्षयोपशमभाव को भी परद्रव्य कह दिया है। आहाहा! त्रिकाल ज्ञायकभाव में वे नहीं हैं। इस अपेक्षा से (परद्रव्य कहा है)। जीव में है नहीं, क्षायिकभाव जीव में नहीं, वहाँ गुणस्थान, मार्गणास्थान की बात कहाँ? आहाहा! और वहाँ परद्रव्य कहा है, ऐसा मुझे कहना है। गुणस्थान जीव में नहीं, यह तो ठीक, परन्तु क्षायिकभाव को, क्षयोपशम को उपशम को, परद्रव्य कहा है। आहाहा! स्वद्रव्य भगवान अखण्डानन्द अभेद... आहाहा!

मुमुक्षु : कुन्दकुन्दाचार्य की बात में अमृतचन्द्राचार्य और पद्मप्रभमलधारिदेव ने पुष्टि की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सबने एक ही कहा है न! पद्मनन्दि ने भी यह कहा है वह निश्चय और व्यवहार डाला है। **'जो पस्सदि अप्पाणं'** वहाँ लिखा है। दिगम्बर आचार्य चाहे जो हों, उन्होंने तो एक ही सिद्धान्त सिद्ध किया, वही सबने किया है। कहीं व्यवहार से भले बात की हो परन्तु व्यवहार जानने के लिये कहा है, आश्रय करने के लिये नहीं। आहाहा! वहाँ पद्मनन्दि में तो व्यवहार को पूज्य कहा है, व्यवहार से पूज्य है, क्योंकि देव-गुरु-शास्त्र, भगवान साक्षात् हैं, वे व्यवहार से पूज्य न हों तो फिर (पूज्यपना) नहीं रहता। भगवान! व्यवहार से व्यवहार पूज्य है, निश्चय से नहीं। आहाहा!

आत्मा कौन है? **पुद्गल ही हों, आत्मा न हों;...** क्यों? **क्योंकि 'सः विज्ञानघनः'** भगवान तो विज्ञानघन है। आहाहा! देखो! अभेद लिया। अकेला विज्ञानघन है। आहाहा! ज्ञान का तो पुंज है, अकेला पुंज है, अकेला ज्ञान का पुंज है। आहाहा! उसे आत्मा कहते हैं। भेद भी निकल गये न? रंग, राग तो निकल गये परन्तु भेद भी निकल गये। **'सः विज्ञानघनः'** सः अर्थात् यह, **आत्मा तो...** ऐसा कहकर डाला है। **विज्ञानघन है,...** आहाहा! **'न आत्मा'** तब आत्मा कौन है? यह भेद, रंग, राग आदि आत्मा नहीं तो आत्मा कौन? **'सः विज्ञानघनः'** वह तो **विज्ञानघन है,...** आहाहा! **'न आत्मा' 'पुद्गलः एव अस्तु न आत्मा'** वे भेद आदि। **'सः विज्ञानघनः'** आहाहा! प्रभु! भगवान आत्मा तो विज्ञानघन है न! आहाहा! राग तो नहीं, रंग तो नहीं परन्तु भेद भी नहीं। आहाहा! वह तो विज्ञानघन है न! उसे यहाँ आत्मा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? जो दृष्टि का विषय विज्ञानघन है, उसे आत्मा कहते हैं।

इसलिए वह इन वर्णादिक भावों से अन्य ही है। है न? **'सः विज्ञानघनः ततः अन्यः'** दूसरी सब चीज़ उससे अन्य है। **वर्णादिक भावों से अन्य ही है।** ऐसा। भेद आदि अन्य ही है, राग से अन्य ही है। आहाहा! **वर्णादिक भावों से अन्य ही है।** वह अन्य ही है, वापस (ऐसा कहा)। आहाहा!

अब, यह कहते हैं कि इस ज्ञानघन आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ है, उसे जीव कहना, सो सब व्यवहारमात्र है — देखा? आहाहा!

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता।।६७।।

पर्याप्त अनपर्याप्त जो, हैं सूक्ष्म अरु बादर सभी।
व्यवहार से कही जीवसंज्ञा, देह को शास्त्रन महीं॥६७॥

शास्त्र में तो यह कहा है।

टीका - बादर जीव, सूक्ष्म जीव, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त — इन शरीर की संज्ञाओं को... ये तो शरीर के नाम हैं, ये आत्मा के नहीं। आहाहा! **इन शरीर की संज्ञाओं को (नामों को) सूत्र में जीवसंज्ञारूप से कहा है,...** आहाहा! क्या कहा? यह बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जो कहा... आहाहा! वह तो शरीर की संज्ञा से सूत्र में कहा है। शरीर के नाम से जीव का नाम कहा है। शरीर के नाम से जीव का नाम कहा है। आहाहा! **वह, पर की प्रसिद्धि के कारण,...** किस कारण से कहा? कि यही प्रसिद्ध है। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, बादर और पर्याप्त,... आहाहा!

'घी के घड़े' की भाँति व्यवहार है... आहाहा! जैसे घी का घड़ा प्रसिद्ध है। घी प्रसिद्ध है? आहाहा! **'घी के घड़े' की भाँति व्यवहार है कि जो व्यवहार अप्रयोजनार्थ है...** प्रयोजनार्थ नहीं। आहाहा! जानना, परन्तु उसमें प्रयोजन नहीं है। आहाहा! घी का घड़ा क्यों (कहा)? घी का घड़ा प्रसिद्ध है। घी की प्रसिद्धि नहीं। घी का घड़ा (प्रसिद्ध है) इसी प्रकार आहारक शरीर का नाम जीव के नाम से प्रसिद्ध है, इसलिए कहा। वस्तु ऐसी नहीं। आहाहा! अभी तो एक जीव को कैसा कहना, यह पहले तत्त्व की बात है। आहाहा! **'घी के घड़े' की भाँति व्यवहार है कि जो व्यवहार अप्रयोजनार्थ है (अर्थात् उसमें प्रयोजनभूत वस्तु नहीं है)। इसी बात को स्पष्ट कहते हैं—** आहाहा! ऐसा क्यों कहा? जीव की संज्ञा में शरीर के नाम से क्यों कहा? पर्याप्त, अपर्याप्त यह शरीर संज्ञा / नाम है, उसे जीव के नाम से क्यों कहा?

क्योंकि जगत ऐसा ही प्रसिद्धरूप से देखता है। देखता है इसलिए कहा। आहाहा! जगत घी का घड़ा देखता है; घी है, ऐसा नहीं देखता। पानी का घड़ा, घी का घड़ा, दूध का घड़ा, यह अज्ञानी को प्रसिद्ध है न, ऐसा कहते हैं। इसी प्रकार बादरजीव, पर्याप्त जीव बाहर में प्रसिद्ध है, (मूल) चीज प्रसिद्ध नहीं है। आहाहा!

जैसे किसी पुरुष को जन्म से लेकर... अब दृष्टान्त देते हैं। **'घी का घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) हो,...** देखो! उसे तो घी का घड़ा ही ख्याल में है। **किसी पुरुष को जन्म से लेकर मात्र 'घी का घड़ा'...** आहाहा! घी का घड़ा ही प्रसिद्ध है। **उसके अतिरिक्त वह दूसरे घड़े को न जानता हो,...** वह दूसरे घड़े को नहीं जानता; वह घड़े को तो नहीं जानता। घी का घड़ा, घी का घड़ा – ऐसा (जानता है)। **उसे समझाने के लिए ''जो यह 'घी का घड़ा' है सो मिट्टीमय है,...** आहाहा! क्या कहा? देखा? दूसरे घड़े को जानता न हो। दूसरा घड़ा जानता न हो, घी का घड़ा, घी का घड़ा, पानी का घड़ा, मधु का घड़ा यह कुछ जानता नहीं। यह घी का घड़ा, ऐसा **उसे समझाने के लिए ''जो यह 'घी का घड़ा' है....** वापस भाषा क्या है? **'घी का घड़ा' है, सो मिट्टीमय है,...** प्रसिद्धि के कारण से पहले ऐसा कहा। घी का घड़ा उसे जन्म से प्रसिद्ध है तो उसे उस शब्द से कहा कि यह घी का घड़ा मिट्टीमय है। आहाहा! दूसरे घड़े को जानता नहीं था। पानी का घड़ा (जानता नहीं था)। यह घी का घड़ा, घी का घड़ा एक ही देखता था। आहाहा!

उससे कहा, **यह 'घी का घड़ा' है सो मिट्टीमय है,...** घी का घड़ा है, वह मिट्टीमय है। **घीमय नहीं...** आहाहा! यह घड़ा घीमय नहीं। घी का घड़ा है, वह मिट्टीमय है, वह घीमय नहीं। आहा! समझाने में इस प्रकार लिया। **इस प्रकार (समझानेवाले के द्वारा) घड़े में घी के घड़े का व्यवहार किया जाता है,...** देखा? घड़े में घी के घड़े का व्यवहार किया जाता है। घड़े में घी के घड़े का व्यवहार किया जाता है। **क्योंकि उस पुरुष को 'घी का घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है;...** पहली बात ली थी न? **जन्म से लेकर मात्र 'घी का घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है,...** आहाहा!

इसी प्रकार इस अज्ञानी लोक को... आहाहा! **अनादि संसार से लेकर 'अशुद्ध जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है,...** आहाहा! बादर और पर्याप्त और अपर्याप्त... इस प्रकार से अनादि से प्रसिद्ध है, इसकी दृष्टि वहाँ है न! आहाहा! **'अशुद्ध जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है, वह शुद्ध जीव को नहीं जानता,...** जैसे उसे घी का घड़ा प्रसिद्ध है, वह अन्य घड़े को नहीं जानता और

घी को नहीं जानता। घी का घड़ा। घड़ा है तो मिट्टी का; उसे जानता नहीं। घी का घड़ा, घी का घड़ा... घी का घड़ा नहीं, घड़ा तो मिट्टी का है। घी का घड़ा कहकर मिट्टीमय घड़ा है, ऐसा कहा। आहाहा! **'घी का घड़ा' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है; इसी प्रकार इस अज्ञानी लोक को अनादि संसार से लेकर 'अशुद्ध जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है, वह शुद्ध जीव को नहीं जानता, उसे समझाने के लिए शुद्ध जीव का ज्ञान कराने के लिए ''जो यह 'वर्णादिमान जीव' है, सो ज्ञानमय है,...** आहाहा! वर्णादिमान जीव है-ऐसा कहकर, वह ज्ञानमय है (ऐसा कहना है)। वर्णादिमान तो उसे प्रसिद्ध है तो (ऐसा कहा कि) वर्णादिमान जीव है, वह ज्ञानमय है। लो! यह तो गौतम ने कहा, भाई! ऐई! चेतनजी! धवल में समझाने के लिये व्यवहार से कहा है। आहाहा! वहाँ ऐसा कहे, देखो! व्यवहार से भी लाभ होता है। अरे! आहाहा! क्या हो? जगत की स्वच्छन्दता का पार नहीं होता। आहाहा!

वह शुद्ध जीव को नहीं जानता, उसे समझाने के लिए शुद्ध जीव का ज्ञान कराने के लिए... देखा? शुद्ध जीव का ज्ञान कराने के लिये, **जो यह 'वर्णादिमान जीव' है, सो ज्ञानमय है,...** वर्णादिमान जीव है, वह ज्ञानमय है - ऐसा व्यवहार से बताया। आहाहा! वह **वर्णादिमय नहीं...** वह ज्ञानमय भगवान है। भेद नहीं, राग नहीं, रंग नहीं। आहाहा! **इस प्रकार (सूत्र में) जीव में वर्णादिमानपने का व्यवहार किया गया है,...** वर्णादिमान का व्यवहार किया गया है। **क्योंकि उस अज्ञानी लोक को 'वर्णादिमान जीव' ही प्रसिद्ध (ज्ञात) है।** इस कारण से—उसे प्रसिद्ध है इसलिए, वर्णादिमान कहकर, वह ज्ञानमय है (ऐसा) यह व्यवहार कहा गया है। परन्तु व्यवहार कहा है, इसलिए वह सत्य है और उससे लाभ है, ऐसा नहीं है। उसका ज्ञान होता है न? परन्तु ज्ञान होता है, वह तो उसे समझ में आता है। वर्णादिमान नहीं, ज्ञानमय है, यह व्यवहार से ज्ञान हुआ परन्तु उसे व्यवहार आदरणीय है और अनुसरण करनेयोग्य है, ऐसा नहीं है।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

२६

श्री समयसार, गाथा ६८, प्रवचन-१३९
दिनांक - १८-११-१९७९

समयसार, ६८ गाथा, दूसरा पैराग्राफ। **इसी प्रकार राग,...** पहले कहा न? कि गुणस्थान, जो चौदह गुणस्थान हैं, वे पुद्गलपूर्वक होते होने से वे अचेतन / पुद्गल हैं; आत्मा नहीं। आहाहा! जौ पूर्वक, जौ का दृष्टान्त दिया था न? जौ पूर्वक जौ होता है। जौ होने में जौ कारण है और जौ उसका कार्य है। इसी प्रकार आत्मा में जितने गुणस्थान के भेद पड़ते हैं, वे पुद्गल कर्म के कारण से भेद पड़ते हैं, इसलिए वे पुद्गल ही हैं; वे आत्मा नहीं। आहाहा!

इसी प्रकार राग,... राग **भी पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से,...** तीसरी लाईन लेना। **राग, भी पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से...** आहाहा! शुभ और अशुभराग, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि का राग या हिंसा, झूठ, चोरी का राग, वह राग **पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से...** आहाहा! तीसरी लाईन है। **सदा ही अचेतन होने से...** आहाहा! राग अचेतन है। राग में चैतन्य ज्ञायकस्वरूप का अंश नहीं है। भगवान चैतन्य अनादि-अनन्त नित्यानन्द प्रभु है, उसका अंश राग में नहीं है। चाहे तो व्रत, तप, भक्ति आदि का राग हो, चाहे तो विषय, कमाने आदि का राग हो, वह राग पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, पुद्गलपूर्वक होते होने से... ऐसा है न? **सदा ही अचेतन होने से...** इस कारण राग सदा ही अचेतन है। आहाहा! यहाँ तो अभी (लोग कहते हैं,) शुभराग से धर्म होता है। अरे रे! यह राग पुद्गलपूर्वक होते होने से पुद्गल-सदा अचेतन है। आहाहा! है? **पुद्गल ही है...** विशेष इतना कहा। पुद्गलपूर्वक होते होने से **सदा ही अचेतन होने से पुद्गल ही हैं, जीव नहीं - ऐसा स्वतः सिद्ध हो गया।** आहाहा! ऐसी बात।

इसी प्रकार **द्वेष,...** द्वेष जो होता है, अरुचि-प्रतिकूलता के प्रति द्वेष। अनुकूलता में राग, प्रतिकूलता में द्वेष। वह द्वेष, पुद्गलपूर्वक होते होने से... आहाहा! सदा ही पुद्गल ही है। इस कारण अचेतन होने से, पुद्गल ही है। आहाहा! ऐसी बात है।

मोह,... मिथ्यात्व अथवा परसन्मुख की सावधानी का भाव। आहाहा! वह भी पुद्गलपूर्वक होता होने से, सदा ही अचेतन होने से, पुद्गल ही है। पुद्गल ही है-ऐसा यहाँ कहा। पुद्गल

ही है। कथंचित् आत्मा और कथंचित् (पुद्गल, ऐसा नहीं) । आहाहा! क्योंकि भगवान आत्मा तो चैतन्य अनादि-अनन्त चैतन्यद्रव्य है, वह तो अभेद है, उसमें ये जितने भेद दिखते हैं, वे सब अचेतन हैं। आहाहा! जीव नहीं।

प्रत्यय,... आस्रव। मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, योग ये चार भाव हैं, वे पुद्गलपूर्वक होते होने से पुद्गल हैं। सदा ही अचेतन होने से पुद्गल हैं। **पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से पुद्गल ही हैं...** ऐसे तीनों सिद्ध किये। आहाहा! मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, और योग ये आस्रव हैं। आहाहा! ये आस्रव **पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से...** आहाहा! **पुद्गल ही हैं-जीव नहीं...** यह जीव-अजीव अधिकार है न? आहाहा! आगे कहेंगे, जीव तो अनादि-अनन्त नित्यानन्द प्रभु... आहाहा! स्वसंवेदन-अपनी निर्मलदशा ज्ञात द्वारा जानने में आता है, वेदन में आता है। आहाहा! ऐसी बात है। श्लोक है, फिर श्लोक कहेंगे।

कर्म,... कर्म तो जड़ है, वे तो पुद्गलकर्म हैं। **नोकर्म,...** मन, वाणी, देह, वह भी जड़ है। **वर्ग, वर्गणा,...** वह तो जड़ है। **स्पर्धक, अध्यात्मस्थान,...** आहाहा! अध्यवसाय के प्रकार। आहाहा! रागादि की एकताबुद्धि का जो अध्यवसाय, उसके जो असंख्य स्थान, वे सब पुद्गलपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से पुद्गल ही हैं। आहाहा! उन्हें जीव नहीं कहते-ऐसा कहते हैं। आहाहा! कहाँ सुना है? यहाँ तो कहते हैं, यात्रा का भाव, भगवान की भक्ति का राग आस्रव... आस्रव है। आहाहा! वह अध्यवसाय, एकत्वबुद्धि, सब पुद्गलपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से पुद्गल ही हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : सभी शुभ और अशुभभाव पुद्गल है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह फिर आयेगा, अब आयेगा। अभी आयेगा। यहाँ तो अभी अध्यात्मस्थान।

अनुभागस्थान,... यह जड़ में। **योगस्थान,...** कम्पन के योग प्रकार। **बन्धस्थान, उदयस्थान,...** लो! ठीक! जितने उदयस्थान हैं, रागादि के अनेक प्रकार, वे सब पुद्गलकर्म -पूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से, पुद्गल ही है। आहाहा! **मार्गणास्थान,...** ठीक! चौदह। आहाहा! ये मार्गणास्थान पुद्गलपूर्वक होते होने से, पुद्गल सदा अचेतन होने से पुद्गल ही है। आहाहा!

स्थितिबन्धस्थान,... कर्म में स्थिति पड़ती है न? वह तो पुद्गल है ही। **संक्लेश** -

स्थान,... यह अशुभयोग, हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना, काम-क्रोध, आदि के भाव जो अशुभ हैं, वे पुद्गलपूर्वक होते होने से, पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से पुद्गल ही हैं। आहाहा! जितना व्यवहार पंच महाव्रत और दया, दान, व्रतादि के भाव हैं, वे सब पुद्गलपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से अर्थात् पुद्गलपूर्वक हुए हैं, इसलिए सदा ही अचेतन हैं, ऐसा कहा। अर्थात् उनमें चेतन का भाव नहीं, इसलिए पुद्गल ही है। आहाहा! आहाहा! शान्ति से क्या वस्तु है, वह समझते नहीं और झगड़ा... झगड़ा... झगड़ा... व्यवहारनय से यह संक्लेशपरिणाम उसमें है। निश्चय से स्वभावदृष्टि से देखें तो वे पुद्गलपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से, पुद्गल ही हैं; जीव नहीं। यह अशुभभाव जीव नहीं। आहाहा! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : जीव में से निकल जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी चीज़ ही कहाँ है वह? इसकी चीज़ हो तो वस्तु में शाश्वत् रहनी चाहिए। आहाहा! यह तो आ गया न? प्रत्येक अवस्था में हो और किसी अवस्था में न हो वह इसकी चीज़। यह तो निर्मल अवस्था (में) यह चीज़ रहती नहीं, यह चीज़ इसकी नहीं।

अब यहाँ तो यह लेना है, **विशुद्धिस्थान,...** राग की मन्दता के दया के, दान के, व्रत के, भक्ति के, पूजा के, नामस्मरण के, वाँचन के... आहाहा! ऐसे जो शुभभाव-विशुद्धिस्थान-शुभ के असंख्य प्रकार-शुभराग के असंख्य प्रकार, पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, अकेला पुद्गल नहीं, यहाँ कर्म लेना है। पुद्गलकर्मपूर्वक, ऐसा। **पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से... क्योंकि पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से पुद्गल ही हैं...** आहाहा! कहो, पण्डितजी! यह पंच महाव्रत के परिणाम पुद्गल हैं-ऐसा कहते हैं। आहाहा!

शास्त्र का ज्ञान, वह शब्दज्ञान, वह पुद्गल है। आहाहा! नवतत्त्व की श्रद्धारूप राग पुद्गल है। छह काय की दया और पंच महाव्रत का भाव (पुद्गल)। आहाहा! चैतन्यपूर्वक चैतन्य के स्वभावपूर्वक वे होते हैं? भगवान चैतन्यस्वभाव तो निर्मल शुद्ध आनन्द है। उस चैतन्यपूर्वक यह विकार होता है? (नहीं)। आहाहा! इस कारण से शुभभाव... आहाहा! वे सब **पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से,...** होते हुए, ऐसा। **सदा ही अचेतन होने से, पुद्गल ही है...** आहाहा! लोगों को ऐसी बात कठिन पड़ती है।

मुमुक्षु : हमें करना क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह करना। त्रिकाली द्रव्य पर दृष्टि करना-ऐसा करना, यह कहते हैं। चैतन्यद्रव्य भगवान जलहल ज्योति... अभी आयेगा। प्रकाश की मूर्ति अन्दर प्रभु त्रिकाल है। आहाहा! जिसमें पर्याय के भेद नहीं। आहाहा! वहाँ दृष्टि देना, उसने आत्मा जाना है और माना है, ऐसा कहने में आता है - ऐसी बात है। आहाहा! (यह) विशुद्धिस्थान (हुए)।

संयमलब्धिस्थान,... ठीक! रंग, राग और भेद। भाई ने तीन नाम दिये हैं। ये तीनों इसमें हैं। आहाहा! रंग, राग और भेद भगवान आत्मा में नहीं; निराला है। इनसे प्रभु आत्मा अन्दर निराला है। आहाहा! व्यवहारनय से पर्याय में इसके हैं। पर्यायनय से पर्याय में इसके हैं परन्तु द्रव्यदृष्टि के स्वभाव की अपेक्षा से, ये स्वभावपूर्वक नहीं हुए। स्वभाव कारण और शुभ, लब्धिस्थान आदि हुए, ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? भगवान आत्मा पूर्णानन्द प्रभु, उस आनन्दपूर्वक संयमलब्धिस्थान नहीं। कारण यह नहीं, ऐसा कहते हैं। यह तो संयमलब्धिस्थान (कहकर) ठेठ ले गये।

पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से,... आहाहा! अभेद में भेद नहीं, यह बताना है। पर्याय में जो कोई भेद दिखते हैं... आहाहा! वह व्यवहारनय का विषय है। परमार्थदृष्टि से वे पुद्गल के हैं। आहाहा! है? ये लब्धिस्थान भी, ऐसा। इसलिए पूर्व में जो गुणस्थान कहे, वैसे ये स्थान भी, रागादि सब **भी पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से पुद्गल ही हैं- जीव नहीं, ऐसा स्वतः सिद्ध हो गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादिभाव जीव नहीं हैं।** राग—दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव, वे जीवस्वरूप नहीं। आहाहा! पर्याय में हैं, परन्तु जीवस्वरूप जो त्रिकाली है, उसके ये नहीं। आहाहा! आहाहा! क्योंकि भगवान चैतन्यस्वभाव आत्मा, उस चैतन्यस्वभावपूर्वक भेद पड़े हैं? आहाहा! यदि चैतन्यस्वभावपूर्वक भेद पड़े तो भेद सदा ही रहे। आहाहा! सर्वत्र लोगों को अभी बस, शुभभाव करते-करते संयम व्रत, तप, प्रतिमा लेते-लेते, करते-करते निश्चय शुद्ध हो जायेगा (ऐसी मान्यता है)। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि वह करते-करते पुद्गल हो जायेगा। कर्म बन्धन होगा अर्थात् पुद्गल हो जायेगा। आहाहा! यह सादड़ी-बादड़ी में कहीं नहीं है। सादड़ी में सादड़ी है मुम्बई की। आहाहा! यह तो सर्वत्र.. ओहोहो!

यहाँ तो परमात्मस्वरूप चैतन्य अनादि-अनन्त नित्यानन्द चैतन्यस्वभाव... आहाहा! और वह स्वसंवेद्य स्वयं से ज्ञात होता है। ये रागादि पुद्गल हैं, इनसे ज्ञात नहीं होता। आहाहा! बहुत स्पष्ट! बहुत स्पष्ट!! ओहोहो! सूर्य के चमत्कार जैसी स्पष्ट बात की है, भगवान! तू तो

चैतन्यस्वभावी वस्तु है न, प्रभु! उस चैतन्यस्वभावपूर्वक क्या होता है? चैतन्यस्वभावपूर्वक तो निर्मलदशा होती है, भेद नहीं। आहाहा! यह अन्दर कहेंगे।

भावार्थ - शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि में... क्या कहते हैं? शुद्ध द्रव्य अर्थात् त्रिकाली वस्तु, उसके प्रयोजन के नय से... आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध त्रिकाल, उसके द्रव्य अर्थात् वस्तु, उसके अर्थ अर्थात् प्रयोजन की दृष्टि से चैतन्य अभेद है। वस्तु अभेद है। राग भी नहीं, दया, दान भी नहीं, लब्धिस्थान आदि नहीं। आहाहा! शुद्धद्रव्यार्थिक-शुद्ध द्रव्य के प्रयोजन की दृष्टि से देखो तो वह चैतन्य तो अभेद है। आहाहा! चैतन्य अभेद और भेद... यह किस प्रकार का उपदेश? एकेन्द्रिया, द्वोइन्द्रिया, त्रीइन्द्रिया, चौइन्द्रिया... नहीं? सपाणी! इच्छामि पडिक्कमणां... तस्सुतरी करणेन...

यहाँ तो परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेन्द्रदेव ने कहा, वह सन्तों ने जगत में प्रसिद्ध / आत्मख्याति प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! प्रभु! तू तो शुद्ध द्रव्य की दृष्टि से अभेद है न! आहाहा! और वहाँ दृष्टि देने योग्य है न! आहाहा! यह करना यह। आहाहा! आहाहा! **शुद्धद्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में...** दृष्टि में। **चैतन्य अभेद है और उसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान-दर्शन हैं।** देखो! वे (पूर्वकथित) भेद हैं वे नहीं। इसके परिणाम एकदम अभेद ज्ञान-दर्शन-चारित्र। शुद्धस्वभाव, इसके परिणाम ज्ञातादृष्टा के परिणाम, आनन्द के परिणाम हों। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

उसके परिणाम... किसके? जो चैतन्य अभेद है, वस्तु अभेद है, उसके परिणाम ज्ञान-दर्शन आदि परिणाम हैं। आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम जीव के नहीं। चैतन्यस्वभाव का वह परिणमन नहीं। आहाहा! ऐसी बातें, अरे! निवृत्ति नहीं मिलती। एक तो पूरे दिन धन्धा और पाप में पड़ा, उसमें धर्म की बात सुनने जाये, वहाँ मिले सब पाप का। आहाहा! व्रत करो और अपवास करो, भक्ति करो और यात्रा करो... यह सब तो राग है और राग है, वह पुद्गल का परिणाम है, ऐसा यहाँ कहा है और उसे (लोग) धर्म मानते हैं।

श्रोता : ...पुद्गल हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पुद्गल ही है। आहाहा! भगवान आत्मा तो चैतन्यस्वभाव, जागृत स्वभाव... आहाहा! जागती ज्योतस्वरूप प्रभु अभेद है। शुद्ध द्रव्य की दृष्टि से तो वह अभेद है और उसके परिणाम हैं, वे जानन-देखन, आनन्द आदि परिणाम हैं। आहाहा! वे संयमलब्धिस्थान तो भेद थे। यह तो अभेद के अवलम्बन से जो ज्ञान-दर्शन हों, वे उसके परिणाम हैं। आहाहा!

उसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान-दर्शन हैं। देखो! **परनिमित्त से होनेवाले चैतन्य के विकार...** आहाहा! आत्मा की पर्याय में राग, द्वेष, दया, दान, काम, क्रोध, विकल्प, जो राग दिखता है, वह चैतन्य के विकार हैं। चैतन्यस्वभाव के भाव नहीं, चैतन्यस्वभाव के भाव नहीं, विकार हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भगवान आत्मा चैतन्यस्वभाव के नूर का पूर, तेज है, उसके परिणाम तो ज्ञान-दर्शन के परिणाम होते हैं। आहाहा! समझ में आया? आहा!

परनिमित्त से होनेवाले चैतन्य के विकार,... अब क्या कहते हैं? चैतन्यस्वभाव से जो परिणाम होते हैं, वे तो ज्ञान-दर्शन और आनन्द। अब उसकी पर्याय में परनिमित्त से जो विकार होता है... क्योंकि विकार करने-कराने का कोई गुण नहीं, कोई स्वभाव नहीं। तब वह विकृत पर्याय आत्मा में होती है, वह परनिमित्त से होती है। निमित्त का अर्थ, होता है अपनी पर्याय में, परन्तु निमित्त के लक्ष्य से, भेद से होता है। आहाहा! इस कारण से... आहाहा! **यद्यपि चैतन्य जैसे दिखाई देते हैं...** आहाहा! ये शुभ और अशुभभाव, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव; हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, काम का भाव, वह पर्याय में चैतन्य का विकार है। वह चैतन्य के स्वभाव के परिणाम नहीं। चैतन्यस्वभाव नहीं और चैतन्यस्वभाव के वे परिणाम नहीं, तो वह विकृत अवस्था जो होती है, वह कर्म के निमित्त से विकृत अवस्था जो है, वह चैतन्य जैसी दिखती है। मानो वह चैतन्य है, चैतन्य की पर्याय में है, ऐसी दिखती है। **तथापि, चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्यापक न होने से...** भगवान चैतन्यस्वरूप प्रभु की प्रत्येक अनादि-अनन्त अवस्थाओं में वह रहनेवाला नहीं है। विकार तो, अनादि-अनन्त जो स्वभाव है, उसकी पर्याय में वह अनादि-अनन्त रहनेवाला नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा उपदेश अब। आहा!

चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्यापक... अर्थात् रहते नहीं, इसलिए **चैतन्यशून्य हैं...** आहाहा! ये पुण्य और पाप, शुभ और अशुभभाव, गुणस्थान आदि सब चैतन्य से शून्य है, उनमें चैतन्य का अभाव है। अभाव है, इसलिये कर्मपूर्वक होते होने से उन्हें पुद्गल में डाल दिया है। आहाहा! ऐसा वीतरागधर्म! पहले सम्यग्दर्शन और उसका विषय क्या है, यह पहली समझने की आवश्यकता है, बाकी सब तो ठीक। आहाहा!

सम्यग्दर्शन-प्रथम धर्म की शुरुआत, उसका विषय चैतन्यस्वभावी अभेद वस्तु उसका विषय है। उसे शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय कहो या सम्यग्दर्शन का विषय कहो या पूर्ण स्वरूप भगवान, उसके परिणाम जो सम्यग्दर्शन आदि हैं, वे उसके परिणाम होने से वे जीव हैं। रागादि और भेदादि स्वभावपूर्वक नहीं होते होने से, निमित्तपूर्वक होते होने से, पुद्गलकर्म

के निमित्तपूर्वक होते होने से, सदा ही अचेतन होने से, पुद्गल हैं। आहाहा! ऐसी बात है, लो! यहाँ तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का भाव किया तो धर्म हो गया (ऐसा लोग मानते हैं)। मूढ़ है, वह तो मिथ्यादृष्टि है, उसे जैनधर्म की खबर नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : खबर भी नहीं और गन्ध भी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बन्ध है, पक्का बँधता है। पता नहीं, पता नहीं। उसे पता नहीं, इसलिए कहीं सत्य हो जायेगा? आहाहा! देखो न पण्डित जयचन्दजी ने कितना स्पष्टीकरण किया है?

परनिमित्त से होनेवाले चैतन्य के विकार,... क्योंकि चैतन्य के स्वभाव से वे विकार नहीं होते। जो कुछ गुणस्थान, पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे चैतन्यस्वभावपूर्वक नहीं होते। यदि चैतन्यस्वभावपूर्वक हों, वह तो निर्मल आनन्द, ज्ञान-दर्शन के परिणाम होते हैं। आहाहा! और वे चैतन्यस्वभावपूर्वक नहीं होते होने से, पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से उन्हें अचेतन कहा गया है। आहाहा! अब अचेतन जो राग और दया, दान के, प्रतिमा के, व्रत के परिणाम (होते हैं,) उनसे आत्मा को धर्म होता है, यह तीन काल में नहीं है। आहाहा! समझ में आया? पुद्गल से जीव को लाभ होता है, (यह तो) ऐसा हुआ। जड़ से चैतन्य की जागृति में लाभ हुआ – ऐसा हुआ, परन्तु ऐसा नहीं है। आहाहा! बहुत अन्तर है।

जड़ है... ये पुण्य और पाप के, दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव, चैतन्यस्वभाव से शून्य होने से और पुद्गलकर्म के कारण से इसकी विकृत अवस्था है परन्तु उसके कारण होती होने से-चैतन्यस्वभाव से राग शून्य है, शून्य होने के कारण वह जड़ है। चैतन्यस्वभाव से दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव, वह राग, चैतन्यस्वभाव से शून्य होने से जड़ है। अरे... अरे! ऐसी बात। शान्तिभाई! यह श्वास निकल जाये ऐसा है यह सब। जवाहरात का धन्धा, स्त्री, पुत्र को सम्हालने का भाव, अकेला पाप, वह चैतन्यस्वभाव से उत्पन्न नहीं हुआ। आहाहा! वे पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, अचेतन होने से पुद्गल और जड़ है। आहाहा!

और आगम में भी उन्हें अचेतन कहा है। देखा? **शुद्धद्रव्यार्थिक नय की दृष्टि में...** यह विकार है तो चैतन्य की पर्याय में, तथापि आगम में उस विकार को अचेतन कहा है। आहाहा! दो बातें हुई। **भेदज्ञानी भी उन्हें चैतन्य से भिन्नरूप अनुभव करते हैं,...** तीसरी बात। आहाहा! पहले तो न्याय से बात सिद्ध की, कि भगवान आत्मा जो है, वह तो चैतन्य निर्मलानन्द अभेद है। उसमें जो पर्याय में विकार होता है, वह चैतन्यस्वभावपूर्वक नहीं होता।

चैतन्य में कहाँ विकार है तो उस पूर्वक हो ? इसलिए यह पुण्य और पाप, दया, दान, रागादि के भाव, ये सब कर्मपूर्वक होते होने से चैतन्य का अभाव होने से, पुद्गल और जड़ कहे गये हैं। आहाहा! और आगम में भी ऐसा कहा है। पहले युक्ति से सिद्ध किया और आगम में भी ऐसा कहा है। दो (बातें)।

भेदज्ञानी भी... आहाहा! भेद का आश्रय न लेकर, अभेद का आश्रय लेकर अनुभव करते हैं, उसमें भेद और राग नहीं आते। आहाहा! आगम, युक्ति और भेदज्ञान तीनों से यह सिद्ध है-ऐसा कहते हैं। आहाहा! अब ऐसी बातें लोगों को एकान्त लगती है। यह कौन कहते हैं ? यह तो भगवान कहते हैं आगम कहते हैं, भगवान कहते हैं और... आहाहा! भेदज्ञान करनेयोग्य है, वे भी ऐसा देखते हैं कि उसमें भेद नहीं आते। राग से, भेद से भिन्न अभेद का अनुभव करने से... आहाहा! उसमें भेद और राग नहीं आते, इसलिए वह जड़ और अचेतन है। आहाहा! अरे! आहाहा!

हमारे सम्प्रदाय में गुरु थे, वे तो बस इतना कहते, हजारों सभा-हजारों लोग (आते)। अहिंसा-परजीव की दया पालना, पर को नहीं मारना, यह सिद्धान्त का सार है और ऐसा जिसने जाना, उसने सब जाना - ऐसा कहते बेचारे! आहाहा! क्रियाकाण्ड में बहुत प्रसिद्ध थे। काठियावाड़ में हीरो कहलाते परन्तु वस्तु का (पता नहीं) आहाहा! अरे रे! सुना नहीं, यह वस्तु नहीं थी। आहाहा!

भगवान! एक बार सुन तो सही, प्रभु! तेरा स्वभाव क्या है ? प्रभु! त्रिकाली शाश्वत् स्वभाव क्या है ? वह तो चैतन्यस्वभावी कायम है। चैतन्यस्वभावी कायम है, उस स्वभावपूर्वक विकार होता है ? स्वभावपूर्वक तो स्वभाव की निर्मल पर्याय होती है। आहाहा! न्याय से इसे कुछ समझना पड़ेगा न ? जिन्दगी चली जा रही है। आहाहा! एक के बाद एक देखो न! लोग चले जाते हैं। यह मर गया, यह मर गया। मरे कौन ? इस भव में से दूसरे भव में गया। आहाहा! ऐसा मनुष्यभव, उसमें तीर्थंकर तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव, आत्मा को कैसा कहते हैं, यह समझ में नहीं आये... आहाहा! वह जिन्दगी निष्फल है। पशु को मनुष्यपना मिला नहीं और इसे मिला परन्तु किया नहीं; (इस प्रकार) निष्फल है। आहाहा!

तीन बात ली है। चैतन्यस्वभाव असली शाश्वत् ज्ञान-आनन्द-शान्त वीतरागस्वभाव, उस स्वभावपूर्वक विकार नहीं होता, वह स्वभाव तो शुद्धनिर्मल है। आहाहा! तो उस पूर्वक विकार नहीं होता। पर्याय में विकार तो है सही, पर्याय में विकार है तो सही, तो वह क्या ? दया, दान, व्रत, काम, क्रोध के भाव तो हैं। तो कहते हैं **पुद्गल कर्मपूर्वक,** पुद्गल से नहीं; पुद्गल

कर्मपूर्वक होने से वे शुभ और अशुभभाव तथा भेदभाव, वे सब पुद्गल कर्मपूर्वक होते होने से उनमें चैतन्य का तो अभाव है; इसलिए उन्हें पुद्गल कहा। आहाहा! और चैतन्य की पर्याय में से निकल जाते हैं। यदि इसका भाव हो तो शाश्वत् रहे। आहाहा! सिद्ध में तो वह है नहीं। इसका हो तब तो सदा रहे। आहाहा! पर्याय में त्रिकाल द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से पर्याय में विकृत जो अवस्था है, वह स्वभावपूर्वक नहीं होती होने से, कर्मपूर्वक होने से सदा अचेतन कही गयी है; इसलिए वह जड़ है। आहाहा! लॉजिक से-न्याय से, आगम से और अनुभव से तीन प्रकार से बात करते हैं। आहाहा!

भेदज्ञानी धर्मी जीव आत्मा का अनुभव करता है, तो उसमें राग और भेद नहीं आता। आहाहा! इसलिए राग और भेद आत्मा के नहीं हैं। आत्मा के हों तो आत्मा के अनुभव में वे भी आना चाहिए। आहाहा! ऐसी बात है। अनजाने व्यक्ति को तो ऐसा लगे यह क्या है? ऐसा धर्म? यह सब व्रत, तप, और अपवास करना और भक्ति करना, यात्रा करना, भगवान के दर्शन करना, भगवान की मूर्ति स्थापित करना, रथयात्रा निकालना... अरे! सुन न भाई! यह क्रिया तो पर की है, तेरा भाव जो होता है तो वह राग है और वह राग स्वभावपूर्वक का-स्वभाव का कार्य नहीं है। आहाहा! वह तो पुद्गलपूर्वक होता होने से पुद्गल का कार्य है। आहाहा! गजब बात करते हैं।

अरे! ऐसा सुनने को मिले नहीं, उसे कहाँ जाना? भव को बदलकर कहीं जायेगा। आहाहा! जिसने आत्मा अभेद, पुद्गलपूर्वक के विकार से रहित (अनुभव नहीं किया) आहाहा! ऐसे स्वभाव की दृष्टि और ज्ञान नहीं किया, वह मरकर भटक जायेगा। निगोद और नरक आदि में जायेगा। आहाहा! आहाहा! एक-एक गाथा कितने लॉजिक, न्याय, आगम और अनुभवी को सौंप (दिया है)। यह आया है न उसमें? ४९ गाथा में नहीं? भेदज्ञानी को सर्वस्व सौंप दिया है। आहाहा! है न? अर्थात् क्या?

जो आत्मा अन्दर आनन्दस्वरूप प्रभु है, उसका जो अनुभव करता है तो उस भेदज्ञानी को राग और भेद (अनुभव में) नहीं आते। तब तो सर्वस्व सौंप दिया कि तेरी चीज़ में ये नहीं। अनुभव में आता है तो वहाँ ज्ञान, आनन्द और शान्ति आते हैं; वहाँ राग और भेद अनुभव में नहीं आते। इसलिए भेदज्ञानी को सर्व सौंप दिया है। आहाहा! यह तो हा... हो... हा... हो... ऐसी बड़ी यात्रायें हों और उनमें हजारों लोग एकत्रित हों। यहाँ शत्रुंजय कितने एकत्रित हुए होंगे? वहाँ कहाँ धर्म था? वह तो सब शुभराग है। वह राग है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं। आहाहा! वह तो पुद्गल का कार्य है। कठिन पड़ता है बापू!

प्रश्न - यदि वे चेतन नहीं हैं तो क्या हैं ? वे पुद्गल हैं या कुछ और ? प्रश्न –चेतन नहीं हैं। पुण्य, पाप, दया, दान, व्रत, काम, क्रोधभाव, वे चेतन आप नहीं कहते हैं, प्रभु! तो क्या है ? वे पुद्गल हैं या अन्य कोई ?

उत्तर - वे पुद्गलकर्मपूर्वक होते हैं, इसलिए वे निश्चय से पुद्गल ही हैं.... आहाहा! व्यवहार से पर्याय में हैं तो कहने में आते हैं, परन्तु पर्याय में रहते हैं, वे कायम नहीं रहते। आहाहा! आहाहा! द्रव्य और गुण में तो नहीं परन्तु पर्याय में भी कायम नहीं रहते। आहाहा! आहाहा! **पुद्गलकर्मपूर्वक होते हैं, इसलिए वे निश्चय से पुद्गल ही हैं क्योंकि कारण जैसा ही कार्य होता है।** यह पुद्गल कारण है और रागादि कार्य है तो इसके (पुद्गल के) कारण का यह कार्य है। आहाहा! वापस कोई ऐसा लगा दे कि देखो! कर्म के कारण राग होता है। यहाँ ऐसा नहीं, यहाँ तो जीवद्रव्य में-पर्याय में विकार होता है तो इसे स्वयं के कारण से, परन्तु त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि में वह नहीं, इस कारण पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से विकार को पुद्गल में डाल दिया, परन्तु कोई ऐसा मान ले कि कर्म के कारण हमें राग होता है, कर्म के कारण राग होता है तो ऐसा नहीं है। आहाहा! हमें तो अन्दर पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे कर्म के कारण होते हैं, ऐसा नहीं। होते हैं तो तेरे अपराध से, परन्तु अपराध कोई स्वभाव का कार्य नहीं है। समझ में आया ?

भगवान निरपराधी भगवानस्वरूप प्रभु अनाकुल आनन्द और अनाकुल ज्ञान की मूर्ति प्रभु का यह अपराध कार्य नहीं है। निरपराधी भगवान का कार्य यह अपराध नहीं है। आहाहा! इसलिए दृष्टि के विषय में-अभेद में वह नहीं है, क्योंकि दृष्टि का विषय तो अभेद चैतन्यस्वभाव है। सम्यग्दर्शन का विषय / ध्येय तो त्रिकाल अभेद है, तो अभेद की दृष्टि में वह स्वभाव है उसका पर्याय में भेद होता है परन्तु अभेद के कारण से, स्वभाव के अभेद के कारण से राग और भेद होता है – ऐसा नहीं है। इसकी पर्याय में होते होने पर भी... आहाहा! गजब है न! आहाहा!

पुद्गल ही है... आहाहा! **निश्चय से पुद्गल ही है।** देखा ? **क्योंकि कारण जैसा ही कार्य होता है।** आहाहा! जौ में से जौ होते हैं। जौ कारण और गेहूँ, बाजरा कार्य-ऐसा होता है ? जौ कारण और बाहर में बाजरा उग गया! बाजरा कहते हैं न ? क्या कहते हैं ? बाजरा! जौपूर्वक जौ (होते हैं)। जौ कारण और उसका कार्य भी जौ। इसी प्रकार पुद्गलकर्मपूर्वक विकार होता है तो उस पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से पुद्गल ही है। आहाहा! परन्तु इस कारण से, हों! ऐसा मान ले कि विकार अपने से नहीं होता, पर से होता है, वह बात यहाँ नहीं है। विकार की उत्पत्ति

तो अपनी पर्याय में वह जन्मक्षण है। विकार की उत्पत्ति का काल है तो अपने अपराध से उत्पन्न होता है परन्तु यहाँ तो स्वभाव की दृष्टि में नहीं अथवा स्वभाव का कार्य नहीं, स्वभाव नहीं, स्वभाव का कार्य नहीं। आहाहा!

इस कारण से पुद्‌गल, कारण है और विकार, कार्य है—ऐसा कहकर भेद कराया है। समझ में आया? आहाहा! अरे रे! यह कहाँ है? क्या कहलाता है तुम्हारे? बड़ा पर्वत? यह यात्रा का... शिखरजी! 'एक बार वंदे जो कोई...' आहाहा! सम्मेदशिखर, परन्तु वह क्या है? उसे वन्दन करने का भाव तो शुभभाव है, वह कोई धर्म नहीं, क्योंकि वह तो परलक्ष्यी भाव है। आहाहा! और वह शुभभाव कोई भगवान आत्मा त्रिकाली स्वभाव चैतन्यस्वरूप भगवान, उस ध्रुवस्वभावपूर्वक वह विकार, राग हुआ है? बस! तब वह ध्रुवस्वभावपूर्वक नहीं हुआ तो पर्याय में कर्मपूर्वक विकार हुआ है, इस अपेक्षा से (पुद्‌गल) कहने में आया है। है तो इसका अपराध, इसके स्वतन्त्र उपादान से होता है परन्तु अब डालना किसमें, यह बात है। आहाहा! कर्म कराता है, इसलिए विकार होता है, यह प्रश्न है नहीं, परन्तु यहाँ विकार है, वह त्रिकाली ज्ञानानन्द सहजानन्द प्रभु का वह कार्य नहीं। उसका कार्य तो आनन्द, शान्ति और ज्ञान-दर्शन का कार्य आना चाहिए। इसलिए त्रिकाल ज्ञानानन्दस्वभाव का वह कार्य नहीं तो पर्याय में तेरे अपराध से होता है, तथापि वह कर्मपूर्वक होता है; इसलिए उसे कर्म में डाल दिया। समझ में आया? आहाहा! अरे रे! लोगों को कहाँ पहुँचना? यहाँ तो अभी जीव किसे कहना, यह बात है।

अन्त:तत्त्व भगवान आत्मा... आहाहा! जो परमात्मस्वरूप है, वह अन्त: तत्त्व जो परमात्मस्वरूप जो भगवान अभी है, हों! आत्मा, तो परमात्मस्वरूप का कार्य राग है? है तो उसकी पर्याय में उसके अपराध से होता है। आहाहा! परन्तु वह परमात्मस्वभाव का कार्य नहीं है। इसलिए अध्धर से पर्याय में उत्पन्न हुआ, द्रव्य-गुण के आश्रय बिना अध्धर से उत्पन्न हुआ; इसलिए उसे पुद्‌गल का कार्य गिनने में आया है। ऊपर-ऊपर (हुआ है)। आहाहा! यद्यपि निर्मल भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन, उसके निर्मल परिणाम भी ऊपर-ऊपर रहते हैं, वे कहीं अन्दर प्रवेश नहीं करते। समझ में आया? परन्तु ये जो परिणाम हैं, वे ऊपर-ऊपर से कर्म के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से उत्पन्न हुए हैं, स्वभाव से उत्पन्न नहीं हुए। आहाहा! ऐसी बात सुनने को मिलती नहीं, वह कहाँ जाये? अरे! देह चली जाती है, एक के बाद एक। आहाहा! ये संस्कार अन्दर न पड़े तो कहाँ जायेगा? भाई! आहाहा! बहुत सरस! जीव-अजीव अधिकार यहाँ पूरा होता है न? जीव-अजीव अधिकार यहाँ ६८ (गाथा में) पूरा होता है। अन्तिम गाथा है न! आहाहा! छेल्ली, समझे? अन्तिम।

इस प्रकार यह सिद्ध किया कि पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से होनेवाले... यहाँ वे प्रश्न उठाते हैं, देखो! निमित्त से हुए या नहीं? किस अपेक्षा से बात है? निमित्त-पुद्गल है, उसके आश्रय से उत्पन्न हुए हैं। हुए हैं तो अपनी पर्याय में अपने कारण से, परन्तु निमित्त के आश्रय से हुए तो स्वभाव का कार्य नहीं, तो निमित्त का कार्य है-ऐसा कहा गया है। आहाहा! विवाद... विवाद... विवाद... झगड़ा... झगड़ा... उठे। देखो! है? **पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से होनेवाले चैतन्य के विकार...** लो! यहाँ स्वभाव का आश्रय नहीं तो इस पुद्गल का आश्रय कहने में आया है। ऐसी बातें अब। **इस प्रकार यह सिद्ध किया कि पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से...** यहाँ यह विकार है तो चैतन्य की पर्याय में, परन्तु यह स्वभाव का कार्य नहीं है, इस अपेक्षा से निमित्त के लक्ष्य से, आश्रय से हुए हैं तो ये निमित्त के हैं। **चैतन्य के विकार भी जीव नहीं,...** ऐसा। जड़ तो जड़ है ही, कर्म जड़ है, शरीर जड़ है, वह तो ठीक परन्तु यह तो पुद्गल कर्म के (निमित्त से) चिद्विकार हुए वे पुद्गल हैं, इस कारण से। विकृत अवस्था निमित्त के आधीन हुई होने से, पर्याय में त्रिकाल स्वभाव का आश्रय नहीं, इस कारण से पर के आश्रय से हुए तो पर से हुए, इस प्रकार पर के कहे गये हैं। आहाहा! भारी विवाद!

कहते हैं, पुद्गलकर्म तो जड़ है परन्तु उसके निमित्त से होनेवाले चैतन्य विकार भी जीव नहीं। ऐसा। आहाहा! कर्म जो पुद्गल हैं, वे तो पुद्गल हैं ही, परन्तु उनके निमित्त से यहाँ पर्याय में (विकार हुआ), द्रव्य-गुण में तो है नहीं, पर्याय में विकार अध्धर से उत्पन्न हुआ.. आहाहा! तो वह पुद्गल ही है। आहाहा! इस अपेक्षा से समझना चाहिए। उसमें ऐसी अपेक्षा लगा दे कि देखो! उपादान से होता है, निमित्त से नहीं होता और यहाँ तो कहते हैं कि निमित्त से होता है। क्या अपेक्षा है? प्रभु! उपादान से ही होता है, जीव में विकार अवस्था उपादान से होती है। पर्याय का उपादान, हों! द्रव्य-गुण का उपादान नहीं। आहाहा! पर्याय के उपादान में स्वयं से विकारभाव कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान से षट्कारक से पर्याय में विकार होता है, परन्तु वह विकार स्वभाव का कार्य नहीं और कायम रहनेवाली चीज़ नहीं, इसलिए पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से उसका कार्य है, इसलिए उन्हें पुद्गल कहने में आया है। इतनी सब बातें! आहाहा!

लोग मध्यस्थता से सुने नहीं, विचारे नहीं, पढ़े नहीं और अपनी दृष्टि रखकर पढ़े। शास्त्र को क्या कहना है, ऐसी अपनी दृष्टि न करे, अपनी दृष्टि से शास्त्र का विचार करे। शास्त्र

का हल अपनी दृष्टि से करे परन्तु शास्त्र की दृष्टि क्या है, इस दृष्टि से अपनी दृष्टि नहीं करते। पण्डितजी ! आहाहा !

यही प्रश्न उठा था न ? २०१३ के साल, २२ वर्ष हुए। वर्णीजी के साथ में। विकार है, वह अपनी पर्याय में अपने षट्कारक से उत्पन्न होता है, परकारक से निरपेक्ष है, देखो ! ६२ गाथा। सब बैठे थे। हिम्मतभाई, रामजीभाई, फूलचन्दजी, कैलाशचन्दजी सब थे। तुम थे ? नहीं ? आहाहा ! कहा, देखो ! यह ६२ गाथा तो ऐसा कहती है कि आत्मा के द्रव्य-गुण में तो विकार नहीं परन्तु पर्याय में जो विकार है, वह विकारी पर्याय षट्कारक से स्वयं से उत्पन्न होती है, द्रव्य-गुण से नहीं, परकारक-निमित्तकारक से नहीं। आहाहा ! अरे ! विकृत पर्याय, द्रव्य-गुण के कारण नहीं हुई, क्योंकि द्रव्य-गुण में कहाँ विकार है ? आहाहा ! और पर से कहाँ हुई है ? पर को तो स्पर्श ही नहीं करती। पर जो निमित्त है, उसका तो यहाँ विकार में अभाव है और विकार है, उसका कर्म पर्याय में अभाव है। आहाहा ! जब उसकी पर्याय ज्ञेय... यह ज्ञेय अधिकार है, यहाँ पंचास्तिकाय अधिकार है। पंचास्तिकाय, जीवास्तिकाय सिद्ध करना है। जीवास्तिकाय में जो पुण्य-पाप विकार होता है, वह जीवास्तिकाय का है। पर्याय का विकार पर्याय में स्वयं से है। आहाहा ! क्या हो ? आहा ! शुभ आचरण से जीव को धर्म हो, यह बात उसने ऐसी दखल कर दी है। बड़े मानधाताओं को भी वहाँ से हटना कठिन पड़ता है। आहाहा ! यदि तुम शुभभाव को धर्म न कहो तो क्या तुम्हें खाना-पीना है ? ऐसा कहते हैं। अरे ! भगवान ! यह बात कहाँ है ? ऐसा कहते हैं, उपवास करना और व्रत पालने में धर्म नहीं, तो क्या तुम्हारे खाना-पीना वह धर्म है ? अरे ! प्रभु ! क्या करता है तू यह ? खाना-पीना कौन कर सकता है ? उसमें राग होता है, वह राग अशुभ है। आहा ! और यह जो व्रत, तप का भाव है, वह शुभराग है। आहा ! दोनों (भाव) पर्याय में स्वयं से हुए होने पर भी... चैतन्य विकार कहा न ? चैतन्य की पर्याय में विकार है, ऐसा होने पर भी, स्वयं हुए हैं, तथापि स्वभाव की दृष्टि से देखो तो... पर्याय में विकार है, वह स्वयं से है, परन्तु स्वभाव की दृष्टि से देखो, त्रिकाल भगवान ज्ञायकस्वरूप प्रभु, उस अभेद की दृष्टि से देखो तो विकार अवस्था अपने में अपना है नहीं। स्वभाव भगवान अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण का पिण्ड प्रभु, अकेला पवित्र और शुद्ध है, कोई शक्ति और कोई गुण विकृत नहीं है। आहाहा ! इस कारण से अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, उस स्वभाव का कार्य राग नहीं है। पर्याय में राग होता है, वह द्रव्य-गुण से नहीं। पर्याय में होता है, वह स्वयं के अपराध से होता है। उसमें द्रव्य-गुण कारण नहीं; निमित्त, कारण नहीं; परकारक की अपेक्षा नहीं। अब यहाँ स्वभाव की दृष्टि सिद्ध करनी है। आहाहा !

भगवान! तेरा त्रिकाली स्वभाव क्या है? कायम रहनेवाला... कायम रहनेवाला... कायम रहनेवाला... आहाहा! वह तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता-ऐसा कायम रहनेवाला द्रव्य का स्वभाव तो वह है। आहाहा! उस स्वभाव का कार्य विकार है? स्वभाव का कार्य विकार है? पहले तो कहा था कि विकार, विकार से है; द्रव्य-गुण से हुआ नहीं। समझ में आया? द्रव्य स्वभाव का कार्य नहीं। पर्याय का-अध्धर का कार्य है। आहा! परन्तु अब यहाँ चैतन्यस्वभाव की अभेददृष्टि करानी है... आहा! तो इसकी पर्याय में होने पर भी, अपने त्रिकाली स्वभाव का वह कार्य नहीं है; इसलिए उसे निकाल देने के लिये कहा है। पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से उन्हें पुद्गल कहा गया है, ऐसी बात है प्रभु! आहाहा! समय हो गया।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

(२७) श्री नियमसार, श्लोक ५८, गाथा ४१, प्रवचन-१७६
दिनांक - १२-०९-१९६६

नियमसार अर्थात् नियम से मुक्ति का उपाय; उसे नियमसार कहते हैं। इस पूर्णानन्द की प्राप्ति का नाम मुक्ति है।

मोक्ष कहा निज शुद्धता वह पावे सो पंथ।
समझाया संक्षेप में सकल मार्ग निर्ग्रन्थ॥

यह श्रीमद् का वाक्य है। आत्मसिद्धि। बहुत संक्षिप्त शब्दों में (कहा है)। 'मोक्ष कह्यो निज शुद्धता' - यह पर्याय की शुद्धता। यह चलती है द्रव्य की शुद्धता। यह द्रव्य की शुद्धता है, वह पर्याय की शुद्धता है। 'मोक्ष कह्यो निज शुद्धता।' आत्मा की अवस्था में, अनुभव में पूर्ण शुद्धता का प्रगट होना, उसका नाम मोक्ष कहते हैं और 'वह पावे सो पंथ।' जो मुक्ति पूर्णानन्द और शुद्ध की पर्याय जिस कारण से-उपाय से प्राप्त हो, उसे मोक्ष का पंथ कहते हैं। 'समझाया संक्षेप में।' यह दो ही बात है। दूसरी गाथा है—'**मग्गो मग्गफलं**' दूसरी गाथा में है। '**मग्गो मग्गफलं**'—मार्ग और मार्ग का फल। मार्ग और मार्ग का फल कहो या मुक्ति कहो। दूसरी गाथा में आया है। 'समझाया संक्षेप में सकल मार्ग निर्ग्रन्थ'—वीतराग परमेश्वर ने त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव ने इन दो प्रकार से मोक्ष का उपाय और मोक्ष सारे सिद्धान्त में यह समझाया है।

यहाँ भी यह वहाँ कहते हैं। नियमसार उन्हें हाथ नहीं आया था। श्रीमद् को यह नियमसार और पंचाध्यायी दो हाथ नहीं आया था। बाद में प्रगट (प्रकाशित) हुए है न? इसलिए कहते हैं कि वह शुद्धता तो आत्मा में परम आनन्द और अतीन्द्रिय शुद्धता पूर्ण ध्रुव पड़ा है, उसके अवलम्बन से प्रगट होकर जो पूर्ण दशा होती है, उसे शुद्ध मोक्षदशा कहते हैं, परन्तु उस मोक्षदशा का कारण ध्रुवस्वभाव है, ऐसा यहाँ कहना चाहते हैं। शुद्धभाव। अपने यहाँ तक आया है, देखो! **लिंग तीन...** यहाँ तक आया है। उदयभाव में। तीन वेद का उदय, वह भी मोक्ष का कारण नहीं है। क्षायिकभाव मोक्ष का कारण नहीं है, तो फिर उदयभाव कहाँ से होगा?

सामान्य संग्रहनय की अपेक्षा से मिथ्यादर्शन एक... वैसे तो मिथ्यादर्शन के असंख्य

प्रकार हैं, परन्तु मिथ्या अर्थात् विपरीत मान्यता, को सामान्य संग्रहनय से कहें तो मिथ्यादर्शन एक है। उसके प्रकार स्थूलरूप से असंख्य हैं, सूक्ष्मरूप से मिथ्या अभिप्राय के अनन्त प्रकार हैं। समझ में आया? परन्तु सामान्य संक्षेप में संग्रहनय से देखें (तो) मिथ्यादर्शन एक उदयभाव है, एक कहीं मुक्ति का कारण नहीं है।

अज्ञान एक और असंयमता एक... अज्ञान है, वह ज्ञान का अभाव – वह कहीं मुक्ति का कारण नहीं है। **असंयमता** – असंयम, अव्रत, यह मुक्ति का कारण नहीं **असिद्धत्व एक...** उदयभाव.. असिद्धपना, वह कहीं मुक्ति का कारण नहीं है। देखो! अब यहाँ आया, **शुक्ललेश्या...** मुक्ति का कारण नहीं है; शुक्ललेश्या पुण्यबन्ध का कारण है; संवर और निर्जरा का किंचित् कारण नहीं है। यह सब विवाद उठाते हैं न! शुक्ललेश्या तो अभव्य को भी होती है। शुक्लध्यान नहीं, हों! शुक्लध्यान अलग और शुक्ललेश्या अलग। शुक्ललेश्या तो अभव्य को भी अनन्तबार आ गयी है। अभव्य शुक्ललेश्या प्राप्त करके नौवें ग्रैवेयक में अनन्त बार गया है। भव्य भी... जो छहढाला में आया।

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो;
पै निज आतम ज्ञान बिना, सुख लेश न पायो ॥

यह शुक्ललेश्या। भव्य जीव नौवें ग्रैवेयक गया। अभव्य को लागू पड़ता है – ऐसा (लोग) कहते हैं। अभी सब गप्प ही गप्प मारनेवाले निकले हैं। ऐई! पाटनीजी! यह अभव्य को लागू पड़ता है, ऐसा कहते हैं। वहाँ तो भव्य की बात है, सब जीवों की (बात है)। भव्य जीव भी अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक में, अनन्त पुद्गलपरावर्तन किये, ऐसा शास्त्र में लेख है। वह शुक्ललेश्या द्वारा जाता है। शुक्ललेश्या के बिना अन्तिम ग्रैवेयक में नहीं जाता। शुक्ललेश्या क्या, छठवें देवलोक में (नहीं जाता)। लांतव है न? लांतव। वहाँ भी शुक्ललेश्यावाला जाता है, दूसरा नहीं जाता। भले मिथ्यादृष्टि हो, भले अभव्य हो या भव्य हो, परन्तु जिसके परिणाम शुक्ल-उजले, परन्तु पुण्यबन्ध के कारण हैं, सर्वथा बन्ध का कारण है। किंचित् शुक्ललेश्या शुभभाव, किंचित् थोड़ा संवर और थोड़ी निर्जरा, ऐसा अभी बहुत कहते हैं। सम्यग्दृष्टि की शुक्ललेश्या सर्वथा बन्ध का कारण है। समझ में आया?

यह तो सवेरे आ नहीं गया था? प्रज्ञा में। प्रज्ञाछैनी.. यह शुक्ललेश्या बन्ध का कारण है; संवर और निर्जरा का जरा भी कारण नहीं है। उदयभाव, यह उदयभाव की बात है न! परन्तु उदयभाव में थोड़ा और जरा शुक्ललेश्या में क्षयोपशम थोड़ा हो, क्षयोपशम थोड़ा हो, ऐसा

कहते हैं। सर्वथा शुभभाव में बन्ध नहीं – यह सब विवाद इसमें उठे हैं न! अनेकान्त करो (परन्तु) अनेकान्त किस प्रकार? कथंचित् शुभभाव से निर्जरा, यह जयधवल में आता है या नहीं? जयधवल में पहले आता है। शुभ और शुद्ध के बिना यदि निर्जरा न होवे तो दूसरा उपाय नहीं है। वह तो प्रमाण का ज्ञान कराया है। शुद्ध से निर्जरा होती है, वहाँ शुभभाव उस भूमिका में मुनि को कैसा होता है, यह ज्ञान कराया है। समझ में आया? ऐई! पण्डितजी! हमारे हिम्मतभाई को वहाँ मुम्बई बहुत जवाब देने पड़े न! आहाहा! कहो, समझ में आया?

इस शुभलेश्या में पद्मलेश्यावाले पाँचवें देवलोक तक जाते हैं और शुक्ललेश्यावाले छठवें तक (जाते हैं)। लांतव देवलोक है न? नौवें ग्रैवेयक मिथ्यादृष्टि की बात है, हों! समकिती शुक्ललेश्यावाला हो, कोई मुनि हो तो सर्वार्थसिद्धि में चले जाएँ, परन्तु है शुक्ललेश्या बन्ध का कारण; किंचित् संवर–निर्जरा का कारण नहीं। अमरचन्दभाई! शुक्ललेश्या अभव्य को भी अनन्त बार आ गयी। नहीं दृष्टान्त उस वृक्ष का? वृक्ष (से पड़े हुए) के फल खाता है। उसमें क्या? शुभभाव, कषाय मन्द, कषाय मन्द वह कोई धर्म नहीं और धर्म का कारण भी नहीं; इसलिए यहाँ आचार्य, मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव मूल पाठ का, अर्थ का विस्तार करते हैं।

पद्मलेश्या... यह शुभ है, हों! **पीतलेश्या...** यह शुभ है। **कापोतलेश्या, नीललेश्या और कृष्णलेश्या...** यह अशुभ है। छहों लेश्या उदयभाव से है। शुभभाव भी उदयभाव है। शुभ, पंच महाव्रत के परिणाम, अट्ठाईस मूलगुण के परिणाम, यह उदयभाव है। सम्यग्दृष्टि को भी जो अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प उठते हैं, वे उदयभाव हैं। वह उदयभाव बन्ध का ही कारण है। 'बन्ध करा उदय।' पण्डितजी! 'उदया बंधकरा'। समयसार, द्रव्यसंग्रह सब जगह है। अब इसे शुभभाव को (मुक्ति का कारण सिद्ध करना है)। ऐई! देवानुप्रिया! धन्नालालजी! अब यह सब विवाद उठे हैं। एक तो विवाद यह कि कर्म से विकार नहीं मानो तो तुम बड़ी भूल करते हो। ऐ.. विवाद। परन्तु स्वयं विकार करे, तब निमित्त होता है। कर्म विकार (करावें)? 'कर्म बिचारै कौन भूल मेरी अधिकाई।' भगवान की स्तुति में बोले अवश्य, परन्तु जहाँ अर्थ करे (तो कहने लगते हैं कि) कर्म का उदय कठोर आवे तो विकार करना ही पड़ता है। उल्टा हाँकते हैं।

श्रोता : यह आर्षवाक्य नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या आर्षवाक्य नहीं!! नहीं। भक्ति का वाक्य है न, वह आर्षवाक्य नहीं – ऐसा लोग कहते हैं। पंचास्तिकाय में अमृतचन्द्राचार्य ६२वीं गाथा में कहते हैं। आर्ष।

मुनि ऋषि छठवें गुणस्थानवाले (कहते हैं) कि आत्मा के षट्कारक से विकार की पर्याय जीव में स्वयं से होती है। लो! आर्षवाक्य! निरपेक्ष, निश्चय से निमित्त की अपेक्षा बिना जीव में विकार षट्कारक से अपने से होता है। यह तो बड़ी चर्चा चली। क्या कहलाता है वह? मधुवन में, कमरे में, एक घण्टे दस मिनिट (चली)। बिलकुल विकार निश्चय से निरपेक्ष आत्मा से होता है। समझ में आया? यह विवाद। हाय.. हाय..! यह तो हम अभी तक मानते हैं तो हमारे हिसाब से तुम्हारी (सब बात) खोटी। हमारे हिसाब से तुम्हारी खोटी। लाख बार खोटी तेरे हिसाब से। ले! हमारे हिसाब से तेरी अनन्त बार खोटी। शान्तिभाई!

यह कहते हैं कि भाई! तुझे खबर नहीं, प्रभु! प्रवचनसार की तो बात की थी, १०१ गाथा में। परन्तु भाई कहते हैं न? दीपचन्दजी चिद्विलास में, उसमें से निकालकर। ***पर्याय का कारण, पर्याय की सत्ता, गुण बिना पर्याय का कारण पर्याय है। पर्याय की सत्ता का गुण बिना पर्याय, पर्याय का कारण है-ऐसा है। वस्तु ऐसी है। समझ में आया?*** क्या धन्नालालजी! ***एक समय की पर्याय, पर्याय की सत्ता-अस्तित्व, द्रव्य और गुण के बिना स्वयं से होने का कारण और कार्य है। ऐसा वस्तु का, पर्याय का स्वरूप है।*** प्रवचनसार में ऐसा कहा है, उसमें से दीपचन्दजी ने चिद्विलास में निकाला है। है या नहीं? ऐई! कहाँ गया चिद्विलास? नहीं यहाँ। यहाँ सब कहाँ से होंगे? परन्तु इस अलमारी में ही रखे हैं न, सब। कहो, समझ में आया?

भगवान आत्मा अपनी पर्याय, अपनी है न वह तो; पोतानी अर्थात् अपनी। भाषा गुजराती है। अपनी पर्याय में कहो या पोतानी पर्याय, पोतानी अर्थात् अपनी, ऐसा शब्द में थोड़ा अन्तर है। सोमवार से हिन्दी होगा। ये वहाँ से आनेवाले हैं न! ये थोड़े हैं तो अभी गुजराती है। यह कारण-कार्य का अधिकार है न? भाई! यह एक समय में कारण-कार्य तीन प्रकार से, ऐसा इन्होंने अधिकार लिया है। समझ में आया? एक समय में कारण-कार्य। एक समय में कारण-कार्य में तीन भेद। बहुत सरस बात ली है। प्रवचनसार, नय सिद्धान्त का स्पष्ट कर दिया है। एक समय में कारण-कार्य, देखो! पर्याय का कारण पर्याय ही है। रामस्वरूपजी! अमरचन्दभाई! यह चिद्विलास दीपचन्दजी का देखा (लिखा) हुआ था। पहले के ज्ञानी की तत्त्व की वस्तु यही लिखी है, परन्तु लोगों को वांचन नहीं और निस्पृह दृष्टि नहीं और अपना आग्रह रखकर (पढ़ते हैं)। पर्याय का कारण पर्याय ही है। यह सब चिह्न, पढ़कर सब कर रखे हैं।

पर्याय की सत्ता, पर्याय की सत्ता, पर्याय का अस्तित्व, गुण बिना ही पर्याय को कारण है। ऐ.. देवानुप्रिया! सुरेन्द्रजी! ये तो बहुत समय से आते हैं। यह तो (संवत्) १९७१ से

लगायी है। ५१ वर्ष हुए। समझ में आया? वहाँ तो यह पढ़ा भी नहीं था, यह सब शास्त्र-वास्त्र तब तो (पढ़े नहीं थे) एक भगवतीसूत्र देखा, वहाँ अन्दर से... ओहो! विकार स्वयं से होता है, पुरुषार्थ से (होता है), कर्म निमित्तमात्र है। कर्म विकार कराता नहीं। पुरुषार्थ से विकार मिटाया जा सकता है। उल्टे (पुरुषार्थ) से करता है और सुलटे से मिटा सकता है। यह बात! देखो! पर्याय.. एक-एक गाथा में यही है। भाई! तीन धर्म का अवलम्बन लिया न! उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीन अपने धर्म को अवलम्बता है, तीन अपने धर्म को अवलम्बता है। समझ में आया? १०१ में है, उसका यहाँ स्पष्टीकरण किया है। पर्याय की सत्ता, प्रत्येक द्रव्य की पर्याय की सत्ता, चाहे तो शुद्ध हो या अशुद्ध हो, पर्याय की सत्ता... फिर अल्प विराम किया है। गुण बिना ही, गुण बिना ही पर्याय को कारण है। आहाहा! गुण बिना ही पर्याय को होना, पर्याय का कारण गुण बिना ही, पर्याय का होना, पर्याय को कारण पर्याय है।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। अपनी पर्याय से बहुत है, कर्म तो क्या रहा? बात यह है।

श्रोता : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, है। स्वतन्त्र सत्ता है, देवानुप्रिया!

श्रोता : लिखा हुआ किसका?

पूज्य गुरुदेवश्री : लिखा हुआ भगवान का। ऐसा कहते हैं, यह तो दीपचन्दजी का लिखा हुआ है। प्रवचनसार... तुम्हारे, भाई! यह तो सत्ता शब्द पड़ा था न, इसलिए जरा तुम्हें यह बताया। समझे न? देखो १०१ 'भंग उत्पाद द्रव्य लक्षणे अपने धर्म को अवलम्बते।' उत्पाद, उत्पाद को अवलम्बता है, व्यय-व्यय को अवलम्बता है और ध्रुव, ध्रुव को अवलम्बता है, यह तीनपना टिक रहा है। ***'भंग उत्पाद द्रव्य लक्षणे अपने धर्म को अवलम्बते।...'*** इसका अर्थ यह है। ***ध्रुव को अवलम्बकर ध्रुव, पर्याय को अवलम्बकर पर्याय, उत्पाद को अवलम्बकर उत्पाद, व्यय को अवलम्बकर व्यय। सत् के तीन अंश हैं, वे स्वतन्त्र हैं। यह तो महासिद्धान्त है।*** कुन्दकुन्दाचार्य के शास्त्र अर्थात् मात्र अध्यात्म के, सत् के बड़े भण्डार हैं। खोलो, खोलो उतना खिल निकले ऐसा है। समझ में आया? परन्तु दृष्टि जरा सुधारकर मध्यस्थता से, क्या कहना चाहते हैं, ऐसा देखे (तो समझ में आये)।

श्रोता : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : होता नहीं, सत् अंश है और व्यर्थ भी नहीं कहा था? पर्याय का नहीं

कहा था ? कहा था न ? स्वयंसिद्ध अहेतुक है। अकारण रखा है न ? अकारण रखा है। देखो ! पाठ। सत्‌रूप अहेतुक ज्ञप्ति जिसकी एक क्रिया है। ***सत्‌रूप अहेतुक ज्ञप्ति जिसकी एक क्रिया है। (२७० गाथा समयसार) अहेतुक कहो, अकारण कहो, स्वयंसिद्ध कहो।*** नीचे पण्डितजी ने अर्थ किया है। जानना। ज्ञप्ति अर्थात् जानना, जाननक्रिया अथवा अहेतुक। ***जिसका कोई कारण नहीं इस प्रकार। अकारण स्वयंसिद्ध, पर्याय स्वयंसिद्ध, गुण बिना स्वयंसिद्ध।*** अरे ! शोर मचाये ऐसा है न !

अनन्त परमाणु हैं ऐसे, एक समय में अनन्त परमाणु में, एक समय में शीतपर्याय वर्तमान (हो), दूसरे परमाणु में उष्णपर्याय (हो), उस परमाणु में दूसरे समय में शीत का व्यय होकर उष्ण हुई, इसमें उष्ण का व्यय होकर शीत हुई, कारण कौन ? कारण कौन ? ऐसे तो निमित्त सबको समान है। द्रव्य, गुण सबके समान हैं ? समझ में आया ? यह कहा था, (संवत्) २००३ वर्ष में। तीसरे वर्ष में... सत् का स्वरूप ऐसा है। कारण कौन ? लाओ, तुम न्याय दो। अनन्त पुद्‌गल पड़े हैं, वर्तमान तक आये हैं, कोई दूसरे समय में गये हैं ? तो अनन्त पुद्‌गलों में कितने ही परमाणु वर्तमान शीतपर्यायरूप से परिणमित हैं। इतने ही परमाणु उष्णरूप से परिणमित हैं। इतनी बात। अब शीत की उष्णपर्याय दूसरे समय में हो, इसकी उष्ण की शीत हो, ऐसा परमाणुओं का स्वभाव है, कारण कौन ? काल तो सबको है। द्रव्य-गुण को कारण कहो तो द्रव्य-गुण सबका समान ही है, सदृश है। ऐ.. हीरालालजी ! भाई ! यह तो जैनदर्शन है। यह कहीं कोई कल्पित तत्त्व (नहीं है)। ***सत्, सत् का पुकार है। सत् प्रसिद्ध होता है। द्रव्य सत्, गुण सत्, पर्याय सत्, पर्याय सत् प्रसिद्ध होती है। हम अपने स्वतन्त्र से पर्याय सत् प्रसिद्ध होती है। धन्नालालजी! चन्दुभाई! इस प्रकार जड़ में जब ऐसा स्वभाव है (तो) सब द्रव्यों का ऐसा स्वभाव है, ऐसा समझना। समझ में आया ?***

यहाँ कहते हैं कि ऐसे उदयभाव के जितने प्रकार हों, वे सब बन्ध के कारण हैं। वह उदयभाव स्वयं से होता है, ऐसी यहाँ जरा भाषा आयी। उदयभाव है न यह ? अपनी पर्याय उदय की अपने से होती है। षट्कारक अपने से है। कर्तापर्याय का-विकार का, पर्याय में षट्कारक। आहाहा ! ऐई ! चन्दुभाई ! चिद्‌विलास में तो एक-एक गुण में षट्कारक उतारा है। एक-एक गुण में षट्कारक। एक ज्ञानगुण, एक दर्शनगुण, एक आनन्दगुण, ऐसे पर्याय के षट्कारक। ***गुण के षट्कारक हैं, वैसे पर्याय के षट्कारक हैं। उसके स्वतन्त्रकर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण। ऐसा ही कोई वस्तु का सत्, सत् प्रसिद्धस्वरूप है। उसे जब तक यथार्थ निर्णय नहीं करे, तब तक पूर्ण सत् पर इसकी दृष्टि नहीं जायेगी। समझ में आया ?***

मुमुक्षु : दिव्यध्वनि में यह कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दिव्यध्वनि में यह आया है। भगवान की वाणी में यह आया है। ऐई! न्यालभाई! इन सब भेद के कारण लेश्या, वह उदयभाव है, उदयभाव है। वह उदयभाव मोक्ष का कारण नहीं है। और उदयभाव स्वयं से स्वयं में हुआ है। भले कर्म निमित्त हैं, एक वस्तु, परन्तु वह निमित्त है; इसलिए हुआ, ऐसा नहीं है। दूसरी भाषा में देखो! एक जरा सिद्धान्त है कि उदय का सत्‌पना पर्याय का कर्म में है। यह उदय है, वह पर्याय है न? कर्म के उदय की एक पर्याय जड़ है, उदय; अत: एक के सत् के कारण यहाँ का अंश सत् हो, एक अंश को अंश के कारण यह अंश हो, ऐसा कभी नहीं हो सकता। एक अंश के कारण यहाँ सत् का अंश विकार का हो, (ऐसा नहीं होता) यहाँ उदय है, वह सत् है, वह पर्याय है कर्म की; द्रव्य-गुण नहीं। उदय है, वह जड़ की एक पर्याय है। उदय है, वह जड़ की एक पर्याय है। कर्मरूप परिणमित पुद्‌गल हैं, तो पुद्‌गलों में कर्म की पर्यायरूप परिणमित पर्याय है, उस एक-एक परमाणु में कर्मरूप से परिणमित पर्याय है। ऐसा नहीं कि अनन्त इकट्ठे हैं, इसलिए इकट्ठे होकर (होता है)। ऐसा नहीं है।

एक-एक परमाणु कर्मरूप परिणमित है, ऐसे अनन्त पर्यायरूप से परिणमित उस पर्याय का अस्तित्व है। तो दूसरे द्रव्य के अस्तित्व के अंश के कारण यहाँ गुण की विपरीतता का अंश उसके सत् के कारण यहाँ सत् हो, ऐसा नहीं है। वह तो उपादान हो जाता है। अपने कारण से है तब उस अंश को निमित्त कहने में आता है। आहाहा! पण्डितजी! बाल की खाल और खाल की खाल। आहाहा! यह वस्तु तो ऐसी है, बापू! है न! प्रभु! ऐसी वस्तु है, भाई! यह तुझे मानना पड़ेगा। क्या करें? इस वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। ऐ.. पाटनीजी! लो!

अब **पारिणामिकभाव के तीन भेद इस प्रकार हैं—** पहले क्षायिक के आ गये। क्षयोपशम के, उपशम के और उदय के। **जीवत्वपारिणामिक,...** यह त्रिकाली। **भव्यत्व-पारिणामिक और अभव्यत्वपारिणामिक।** यह त्रिकाली, है त्रिकाली परन्तु भव्यत्व का पाक होकर... **यह जीवत्वपारिणामिकभाव, भव्यों को तथा अभव्यों को समान होता है; भव्यत्वपारिणामिकभाव, भव्यों को ही होता है; अभव्यत्वपारिणामिकभाव, अभव्यों को ही होता है। इस प्रकार पाँच भावों का कथन किया।** अब पाँच भाव में होवे किसे, ऐसी बात करते हैं और फिर मोक्ष का कारण कौन है, यह बाद में कहेंगे।

पाँच भावों में क्षायिकभाव,... देखो! क्षायिकभाव जो ध्रुव में नहीं, शुद्धभाव में नहीं, परमपारिणामिकभाव में क्षायिकभाव नहीं और वह क्षायिकभाव मोक्ष का कारण नहीं, ऐसा सिद्ध

करना है। आहाहा! अभी तो वह शुभराग, उससे क्षायिकसमकित होता है, ऐसे लेख आते हैं। शास्त्र में-जैनगजट में, जैनगजट में। अरे! भगवान! क्या करता है? बापू! कठिन पड़ेगा, भाई! अभी का समाज बेचारा भोलाभट, कुछ खबर नहीं होती। उससे तू मनवाने जायेगा, बापू! कठिन पड़ेगा, हों! आहाहा! इस तत्त्व की दृष्टि का खून होता है, भाई! तुझे खबर नहीं। आहाहा! यह शुभयोग, भाई! उदयभाव है, प्रभु! उस उदयभाव से क्षायिक समकित नहीं होता। बापू! क्षायिक समकित, क्षयोपशमभाव से भी नहीं होता। क्षायिक समकित, पारिणामिकभाव के आश्रय से होता है। आहाहा! गजब बात, बापू! भाई! यह प्रभु! ऐसा स्वरूप है, ऐसा। तुझे स्वीकार करना पड़ेगा, वरना तो महातत्त्व का विरोधक जगत में चार गतियों में भटकेगा। समझ में आया?

भगवान तो कहते हैं कि तत्त्व का विराधक है, वह निगोद का आराधक है। तत्त्व का आराधक है, वह मोक्ष का आराधक है। बीच में चार गति जो है, वह तो शुभाशुभपरिणाम की गति है। क्या कहा? चार गति है, वह तो शुभाशुभभाव का फल है, अशुभ का नरक और तिर्यंच; शुभ का मनुष्य और देव, परन्तु मूलतः तो तत्त्वस्वरूप जो है, उसका आराधना, वह मोक्ष का कारण है। दो सामने-सामने चीज़ हैं। मोक्ष भी अनन्त जीव है, अनन्त आनन्द है। यहाँ निगोद में एक शरीर में अनन्त है, अनन्त दुःख है, अनन्त संख्या है, सामने-सामने दो है। तत्त्व का विराधक, वह निगोद का आराधक है। तत्त्व का आराधक, वह मोक्ष का आराधक है। बीच में शुभाशुभपरिणाम चार गति का कारण है। समझ में आया? आहाहा!

श्रोता : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो वस्तु ऐसी है, भाई! बापू! क्या हो? वह इस प्रकार वाद-विवाद करेगा तो बापू! उसमें पता नहीं खायेगा (कुछ ज्ञात नहीं होगा)। वस्तु की स्वतन्त्रता (है) और उसकी विरोधता की तो यहाँ जगत में चलेगा, परन्तु बापू! तुझे खटकेगा। उसका बन्धन बहुत कठोर है। प्रभु! भाई! यह दुनिया भले माने, पण्डित हाँ करे, त्यागी हाँ करे, उससे क्या हुआ? चीज़ कहीं पलट जायेगी? सत्य तो सत्य ही रहनेवाला है। समझ में आया?

मिथ्याश्रद्धा का फल प्रभु! बहुत कठोर है, भाई! यह निगोद की पर्याय, बापू! इस नरक के दुःख की अपेक्षा निगोद की पर्याय में अनन्त दुःख है। ऐसा न समझे कि उसे संयोग प्रतिकूल नहीं है, इसलिए दुःख थोड़ा है। ***संयोग का दुःख किसी को हो ही नहीं सकता। नारकी के दुःख पंचेन्द्रिय हैं, इसलिए लोगों को संयोग बहुत प्रतिकूल, इसलिए दुःख भासित होता है। संयोग का दुःख है ही नहीं। अपनी पर्याय में विपरीत मिथ्यात्व और राग-***

द्वेष का ही दुःख है और इससे निगोद में मिथ्यात्व की तीव्रता और राग-द्वेष की तीव्रता का उसे दुःख है। संयोग का दुःख है ही नहीं। इसलिए भगवान आचार्य कहते हैं 'भावकलंक पहुरा' निगोद में भावकलंक की प्रचुरता के कारण वे पड़े, दुःखी हैं, ऐसा कहा है। कर्म की प्रचुरता है, इसलिए (पड़े हैं), ऐसा नहीं है। कर्म तो परवस्तु है। समझ में आया? केशरीचन्दजी!

यह वस्तुस्थिति है। श्रद्धा में महान कीमत है। सम्यग्दर्शन... यहाँ बोले थे न? भाई! रत्नकरण्डश्रावकाचार। समकित समान ऐसा, मिथ्या समान ऐसा... ऐसा कुछ एक बार बोले थे। रत्नकरण्डश्रावकाचार। समकित सम नहीं... मिथ्यात्व समान कोई महादुःख का कारण नहीं, समकित समान कोई सुख का कारण नहीं। उसकी कीमत नहीं, बापू! समकित अर्थात् आत्मा पूरा मोक्षस्वरूप है, (वह) उसे स्वीकृत हो गया। समझ में आया? पर्याय में भावबन्ध मुझसे है, वह स्वरूप में नहीं। कहो, समझ में आया? मेरे स्वरूप में...

वह यह तो बात करते हैं। स्वरूप में निमित्त के गौरव तो नहीं परन्तु स्वरूप में क्षायिकभाव भी नहीं। आहाहा! यह तो कुछ स्वीकार कितना है!! श्रद्धा ने पूरा पर्वत उठाया है, पूरा। जैसे कहा न जयसेनाचार्य ने? हे नाथ! कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार प्राभृतरूपी महापर्वत उठाया है और उठाकर भव्य जीवों को भेंट किया है। है न उस टीका में? अन्तिम भाग में है, संस्कृत समयसार टीका। अपने तो उसमें से लेना है न! समयपाहुड़ में, हों... यह जयसेनाचार्य, 'जय हो ऋषि पद्मनन्दि' पद्मनन्दि अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य... जिन्होंने महातत्त्वरूपी प्राभृत का पर्वत ज्ञान में उठाया, अन्दर पर्याय में,... बुद्धिरूपी लक्ष्मी से जिन्होंने पूरा समयसार, भगवान की वाणी में से सार जिन्होंने उतारा... भव्य जीवों को दे दिया। ले यह मार्ग..! समझ में आया?

यह गाथा है, हों! चिह्न किया है। आहाहा! जय हो ऋषि! समझे न? कहो, कितनी बातें रखी है! पद्मनन्दि... बुद्धिरूपी लक्ष्मी से भगवान के चौदह पूर्व बारह अंग में से निकालकर समयसार... पात्र भव्य जीव को (समर्पित किया)। भाई! यह भेंट ले, प्रभु! यह समयसार ले! इस भेंट के बिना तेरी मुक्ति नहीं होगी। आहाहा! समझ में आया? ....ऐसा कहा है, हों! ...इसका अनुभव अन्दर अभ्यास करेगा, वह मुक्ति ललना को वरेगा। समझ में आया? अन्दर अभ्यास, हों! इस शास्त्र के अकेले पन्नों का नहीं। समझ में आया?

कहते हैं, इन **पाँच भावों में क्षायिकभाव, कार्यसमयसारस्वरूप है।** क्या कहा? क्षायिकभाव कार्यसमयसार है और ध्रुवभाव, शुद्धभाव कारणसमयसार है। क्या कहा? शुं कह्युं

अर्थात् क्या कहा, ऐसा समझना। गुजराती भाषा में बहुत अन्तर नहीं है। शुं कह्युं अर्थात् क्या कहा। एक क्षायिकभाव **पाँच भावों में...** पाँच भाव हुए न ? पारिणामिक, क्षायिक, उपशम, क्षयोपशम, और उदय। पाँच में कार्यसमयसाररूप क्षायिकभाव है। पर्याय में सिद्ध की या केवलज्ञानी की पूर्ण दशा प्रगट हुई, वह कार्यसमयसार है। पर्याय है न ? पर्याय अर्थात् कार्य, पर्याय अर्थात् कार्य और त्रिकाली ध्रुव, वह कारण। समझ में आया ? वह पूर्व की पर्याय कारण उड़ा देना, वह तो व्यवहार कारण है। त्रिकाल कारण भगवान शुद्ध प्रभु को हम कारणजीव कहते हैं, उसे कारणपरमात्मा कहते हैं कि जिसके आश्रय से कार्यदशा प्रगट होती है। वह कारण यह है। यह जो विवाद उठा (कि) व्यवहारकारण और निश्चयकार्य... धूल कारण यह अब, सुन न! चन्दुभाई!

कार्यसमयसारस्वरूप है। कौन ? क्षायिकभाव। यह नौ बोल कहे न ? क्षायिक समकित यथाख्यातचारित्र, दर्शन और पाँच लब्धि, वह क्षायिक कार्य है, पर्यायस्वरूप है, सिद्धदशा पर्यायस्वरूप है। केवलज्ञान, केवलदर्शन पर्यायस्वरूप है। पर्याय कहो या कार्य कहो। उस कार्य का कारण शुद्ध ध्रुव त्रिकाल द्रव्य है। समझ में आया ? उसका कारण कोई उदय, क्षयोपशम, उपशम है नहीं। आहाहा!

कैसा है क्षायिकभाव ? **त्रिलोक में प्रक्षोभ के हेतुभूत....** यहाँ तीर्थंकर को लिया है। आहा! 'प्रक्षोभ' समझ में आया ? खलबलाहट। भगवान को जहाँ केवलज्ञान होता है, (तब) चौदह ब्रह्माण्ड में जरा साता का (अनुभव होता है)। नरक के जीव को जरा साता हो जाती है। देखो! एक अलौकिक वस्तु है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। वहाँ भी ऐसा साता का उदय उस क्षण में उपादान में आता है। भगवान का केवलज्ञान, केवलज्ञान और अनन्त आनन्द जहाँ प्रगट हुआ कार्यस्वरूप, एक समय में... आहाहा! तीन काल, तीन लोक को एक समय में, कसकर पकड़ लिया। आता है न भाई! प्रवचनसार में। अक्रम से पकड़ा। ऐसा आता है। समयसार में, हों! लोकालोक को भगवान ने अक्रम से पकड़ा और लोकालोक भी अक्रम से अर्पित हुआ, समर्पण किया। लोकालोक एक समय में अर्पण किया, पूरा लोकालोक द्रव्य, गुण, पर्याय अर्पित कर दी और एक समय में पहुँच गया।

श्रोता : ग्रहण किया और परिणमा!

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ग्रहण करके परिणमा है। ग्रहण कहाँ पकड़ने में तो आता नहीं कहीं! उस रूप परिणमन हुआ। ये तो भाषा (ऐसी है)।

ऐसा कार्यसमयसार तीन लोक में प्रक्षोभ के हेतुभूत। **खलबली। तीर्थंकर के जन्मकल्याणकादि प्रसंगों पर तीन लोक में आनन्दमय खलबली होती है।** वह अतीन्द्रिय आनन्द नहीं, हों! साता। अतीन्द्रिय आनन्द हो जाये एक बार तो हो गया, वह तो मुक्ति हो जाये। भगवान के जन्मकल्याणक से जीव को अतीन्द्रिय आनन्द हो जाये, तब तो भगवान जन्मकल्याणकादि पाँच कल्याणक तो अनन्त तीर्थंकरों के हो गये हैं। एक समय अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हुआ तो उसकी मुक्ति हो जाये। वह आनन्द अर्थात् साता। समझ में आया?

तीन लोक में आनन्दमय खलबली... प्रक्षोभ के हेतुभूत तीर्थंकरत्व द्वारा प्राप्त होनेवाले सकल-विमल केवलज्ञान से युक्त... भगवान। सकल-विमल केवलज्ञान। **तीर्थनाथ को (तथा उपलक्षण से सामान्य केवली को) अथवा सिद्धभगवान को होता है।** तीनों को केवलज्ञान, कार्यसमयसार कहा है। कार्यपरमात्मा, कार्यसमयसार तीर्थंकर की पर्याय को कहा, सामान्य केवली की पर्याय को कहा और सिद्ध की पर्याय को कहा। यह एक बात ली है। ये चार किसे होते हैं, इतनी बात। क्षायिक इन्हें होता है। **औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिकभाव, संसारियों को ही होते हैं; मुक्त जीवों को नहीं।** मुक्त जीव को क्षायिकभाव है। फिर मुक्त केवली हो या मुक्त तीर्थंकर हो, वे तो मुक्त हैं, तेरहवें में भावमुक्ति है।

पूर्वोक्त चार भाव... लो! अब आया। पूर्व—उक्त, पूर्व में कहे गये चार भाव। **आवरणसंयुक्त होने से मुक्ति का कारण नहीं हैं।** गजब भाषा। पाठ में ऐसा है न '**णो खइयभाव**'.. '**णो खइयभावठाणा**' आहा! क्षायिकभाव जीव में नहीं, ध्रुव में नहीं, सच्चिदानन्द शुद्धभाव में नहीं। इसलिए वे चार भाव आवरणसंयुक्त; आवरण अर्थात् जिन्हें कर्म के निमित्त की और निमित्त के अभाव की अपेक्षा आती है। अथवा क्षायिकभाव का आश्रय-लक्ष्य करने जाये तो विकल्प उठता है। तो कहते हैं कि चार भाव। **आवरणसंयुक्त होने से...** गजब बात है या नहीं? आहाहा! क्षायिक केवलज्ञान आवरणसहित, किस अपेक्षा से? - कि केवलज्ञान सद्भूत-व्यवहारनय का विषय है, सद्भूतव्यवहारनय का विषय है और व्यवहारनय का विषय अंश है, त्रिकाली अंशी नहीं, अंश है। अंश का आश्रय करने जाये, स्वयं को नहीं परन्तु दूसरे का आश्रय करे तो उसे विकल्प उठता है और अपने में भी क्षायिक समकित हो, पोता मां समझे? अपने में। क्षायिक समकित का आश्रय करने जाये तो विकल्प उठता है। इसलिए **चार भाव आवरणसंयुक्त होने से मुक्ति का कारण नहीं हैं।** तब (मुक्ति का कारण?) कौन?

त्रिकालनिरुपाधि... देखो! त्रिकालनिरुपाधि। भगवान एक समय में, एक समय की अवस्था के अतिरिक्त **त्रिकालनिरुपाधि जिसका स्वरूप है...** जिसका स्वरूप अर्थात् शुद्ध।

ऐसे निरंजन निज परम पंचम भाव की... ऐसा निरंजन, निज-अपना परम पंचम भाव, ऐसा। वापस भगवान का पंचम भाव नहीं। **(पारिणामिकभाव की) भावना से...** इस पारिणामिकभाव की, पारिणामिकभाव वह शुद्धभाव ध्रुव। भावना से, यह क्षयोपशम, क्षायिक, उपशमभाव। क्या कहा? त्रिकाल निरुपाधि जिसका स्वरूप है, पूर्ण स्वरूप शुद्ध है, त्रिकाल निरुपाधि है। ऐसे निरंजन... कहो, हीराभाई! कौन त्रिकाल निरुपाधि है? द्रव्य। उसमें पर्याय आवे? नहीं आवे। पर्याय का तो निषेध किया।

श्रोता : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : सब पर्याय है, ***पर्याय द्रव्य में आती ही नहीं। विशेष में सामान्य नहीं और सामान्य में विशेष नहीं। नहीं तो (ऐसा न हो तो) दो सिद्ध नहीं होंगे।***

भगवान आत्मा सामान्यस्वरूप, ध्रुवस्वरूप, सदृशस्वरूप, एकरूप, त्रिकाल निरुपाधि जिसका स्वरूप है, ऐसा निरंजन, निरंजन—अंजनरहित, निज परम पंचम भाव, वह वस्तु, वह वस्तु, वह पदार्थ, वह ध्रुव, वह ज्ञायकभाव, शुद्धभाव। उसकी भावना से... रतनचन्दजी! यह अभी अर्थ किया था कि भावना है, वह संकल्प है। अभी भी आया था वापस, किसी ने पूछा था, भावना और उसमें अन्तर क्या? भावना, वह संकल्प है। भावना, वह विकल्प है। ऐसा नहीं है।

यहाँ तो पारिणामिकभाव की भावना से, निर्विकल्पदशा की भावना उसे कहा है। भावना अर्थात् विकल्प नहीं, भावना अर्थात् शुद्धपर्याय। त्रिकाल शुद्धभाव का आश्रय लेने से शुद्धपर्याय प्रगट हुई एकाग्रता, शुद्धश्रद्धा, शुद्धज्ञान, शुद्धचारित्र, शुक्लध्यान, उन सभी भावनाओं को कहा जाता है, पर्याय को। भाव की भावना, पंचम भाव की भावना, पंचम भाव ध्रुव -द्रव्य, उसकी भावना (अर्थात्) एकाग्रता, वह मोक्षमार्ग है। पंचम भाव, वह मोक्षमार्ग का कारण और भावना, वह मोक्ष का मार्ग। अरे अरे! गजब बात, भाई!

पंचम गति में.... वापस भाषा पंचम आयी न? परम पंचम भाव। परम पंचम भाव क्यों कहा है? - कि एक न्याय से शास्त्र में चार भाव को भी पारिणामिकभाव कहा। निश्चय से तो उदय को भी पारिणामिक कहा है। क्योंकि पारिणामिकभाव का-सामान्य का विशेष अंश है। इस मिथ्यात्व, राग-द्वेष को पारिणामिकभाव कहा है। परिणाम है न इसके? जयधवल में पाठ है, धवल में पाठ है। समझ में आया? अशुद्ध पारिणामिक परन्तु इसकी पर्याय है, इसकी पर्याय है। वह तो निमित्त की अपेक्षा से... अशुद्ध तो बाद में। अशुद्ध तो निमित्त की

अपेक्षा से, बाकी पारिणामिक की पर्याय है, इतना अभी सिद्ध करना है। वह तो कर्म की अपेक्षा से लें तो उसे उदय कहा जाता है। क्षयोपशम की अपेक्षा से क्षयोपशम। बाकी पारिणामिक त्रिकाल है, उसका एक समय का अंश है। वह पारिणामिकभाव ये चारों ही पर्यायें हैं। परमपारिणामिक नहीं, परमपारिणामिक सामान्य। आहाहा! गजब भाई! सामान्य और विशेष और कितना परन्तु इसमें... ?

परमपारिणामिक परम पंचम भाव यह ध्रुव.. ध्रुव.. ध्रुव.. एकरूप, एकरूप त्रिकाल एकरूप की भावना, मोक्ष का मार्ग। समझ में आया ? यह वास्तव में भावना, वह पारिणामिकभाव की निर्मल पर्याय है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र, वह पंचम भाव की सामान्य की विशेष पर्याय है। वह तो निमित्त की अपेक्षा से चार भाव को... उस पंचास्तिकाय में कहा है न ? निमित्त की अपेक्षा से चार भाव कर्मजन्य है। वापस कहा कि वे कर्म के कारण हों तो फिर कार्य इसका क्या ? – कि अपना कार्य है। वह तो निमित्त की अपेक्षा से कथन किया है। अपनी चार पर्याय कार्य अपना है, पर का नहीं। कहो, समझ में आया इसमें ? लड़के नहीं आये हों! नहीं आये होंगे। थक गये होंगे। लड़के नहीं आये ? छुट्टी है ? छुट्टी नहीं ? छुट्टी नहीं होगी। नहीं आये होंगे। कहो, समझ में आया इसमें ?

त्रिकालनिरुपाधि जिसका स्वरूप है.... परमात्मा शुद्ध निरंजन निराकार, निरावरण त्रिकाल प्रभु ध्रुव पड़ा है, जिसे यहाँ ऊपर शुद्धभाव कहा। पर्याय नहीं। **ऐसे निरंजन निज परम पंचम भाव (पारिणामिकभाव की) भावना से...** भावना–एकाग्रता। एकाग्रता में सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र अथवा वहाँ उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक। इस आत्मा की अपेक्षा का क्षयोपशम, हों! बाहर अनादि का क्षयोपशम है वह नहीं। अनादि का क्षयोपशम है, उदय है और पारिणामिकभाव। उदय, क्षयोपशम और क्षायिक... उदय, क्षयोपशम और पारिणामिक के बिना कोई निगोद जीव नहीं होता। समझ में आया ? क्या कहा ?

निगोद नहीं होता। क्षयोपशमभाव के बिना कोई छद्मस्थ नहीं होता। समझ में आया ? और उदय, क्षायिक और पारिणामिक, ऐसे तीन बोल केवली को होते हैं। उन्हें क्षयोपशम, उपशम नहीं होते। केवली को उदय, क्षायिक और पारिणामिक। क्योंकि उदय जरा असिद्धभाव है, क्षायिक केवलज्ञान आदि है, पारिणामिक त्रिकाल है। सिद्ध में क्षायिक और पारिणामिक, पहले गुणस्थान में उदय, पारिणामिक और क्षयोपशमभाव (होता है) और कोई इस सातवीं श्रेणी में चढ़े, उपशम समकित लेकर, क्षायिक समकित लेकर उपशमश्रेणी (चढ़े) तो एक

समय में पाँच भाव है। क्षायिक समकित, वह क्षायिकभाव है। उपशमश्रेणी है तो उपशमभाव है, पारिणामिकभाव द्रव्य है, क्षयोपशमभाव ज्ञान है, वीर्यादि क्षयोपशमभाव से है, उदय राग है अन्दर। आहाहा! समझ में आया?

इसलिए पहले कहा, चार भाव संसारी को है। क्षायिकभाव उसे है। एक साथ लेना हो तो यहाँ भी थोड़ा-थोड़ा है। ये बातें तो सब पहले सब बहुत हो गयी है। लड़के (संवत्) ७०-७१ में सब सीखे थे, यह सब, हों! यह भाव कौन से गुणस्थान में कितने और सब तब (सीखे थे)। बारहवें गुणस्थान तक उदय, क्षयोपशम, क्षायिक और पारिणामिक तथा किसी को उपशम श्रेणी हो उसे। समझ में आया? क्षपक श्रेणीवाले को चार हैं, उपशम नहीं। क्षायिक समकित, पारिणामिकभाव, क्षयोपशम ज्ञान, दर्शन, वीर्य समझ में आया? क्षयोपशम क्षायिक और उदय तो है, रागादि है। सूक्ष्म पड़ा। समझ में आया या नहीं इसमें?

इस भावना से, यहाँ तो यह कहा न? भावना। पंचम भाव की भावना में। उस भावना में उदय नहीं आता। क्षयोपशम, उपशम और क्षायिक। धर्मी को है न! यहाँ कहाँ उसकी बात कहाँ है? पंचम भाव की भावना है न अन्दर! उस क्षयोपशम ज्ञान का अनादि का तो निगोद को भी है, अभव्य को है। अभव्य को क्षयोपशमज्ञान, क्षयोपशम दर्शन, क्षयोपशम वीर्य निगोद में है, वह क्षयोपशम किस काम का? उदय (भाव) राग है, वह किस काम का? पारिणामिकभाव काम का है परन्तु दृष्टि नहीं करता। काम का क्या उसे? समझ में आया? मेरुपर्वत के नीचे स्वर्ण है, किस काम का? ऐसा कहा है इस नियमसार में। उसके जैसा है, परमपारिणामिकभाव पड़ा है, परन्तु दृष्टि नहीं करता। किस काम का उसे?

पंचम गति में... परम पंचम भाव की भावना से... देखो! अन्दर श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति की रमणता से। **पंचम गति में मुमुक्षु (वर्तमान काल में) जाते हैं,...** यहाँ से (नहीं) परन्तु अन्यत्र (विदेह से) जाते हैं या नहीं? महाविदेहक्षेत्र में अभी मोक्ष जाते हैं। छह महीने आठ समय में छह सौ आठ जीव (जाते हैं)। आहाहा! धारावाही जाते हैं, टूट (खण्ड) नहीं पड़ती। पड़े तो थोड़ा छह महीने का अन्तर पड़ा, तो आठ समय में एक साथ जाते हैं। छह महीने का अन्तर पड़े तो आठ समय में छह सौ आठ चले जाते हैं। आहाहा! समझ में आया? **मुमुक्षु (वर्तमान काल में) जाते हैं,...** मुमुक्षु। लो! मोक्ष में जानेवाले को मुमुक्षु कहा। **(भविष्य काल में) जायेंगे...** कहो! भविष्य काल में जायेंगे, इसी भाव से। किस भाव से? पंचम परमभाव की भावना से, पारिणामिकभाव की भावना से, भावना से। भावना पर्याय है,

एक कार्य है और कारण है द्रव्यशुद्ध त्रिकाल है। आहाहा! गजब बातें, भाई!

श्रोता : आत्मा भावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान रे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यह। यह श्रीमद् में गाते हैं, हमारे न्यालभाई बहुत गाते होंगे वहाँ। 'आत्म भावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान रे..' बोला करे, रटा करे। न्यालभाई! वहाँ आता है। श्रीमद् में आता है, हों! श्रीमद् का एक टुकड़ा (काव्यांश) आता है। 'आत्म भावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान रे..' परन्तु जिसमें आत्मा कौन? भावना कौन? और केवलज्ञान कौन? इसमें तीन बोल आ गये।

'आत्म भावना भावतां जीव लहे केवलज्ञान रे..' आता है? किसमें? श्रीमद् में पढ़ा है? यह तो बहुत वर्ष से पढ़ते हैं। अभी कहे बोलते हैं पहाड़े, अर्थ की खबर नहीं होती। यह प्रोफेसर। पन्द्रह वर्ष पहले छह सौ का वेतन, सात सौ का वेतन मासिक। बड़ोदरा के प्रोफेसर हैं। मासिक, हों! एक महीने का। ऐसे के ऐसे सब प्रोफेसर, एक वह नहीं प्रोफेसर, वह बड़ोदरा का या नहीं वह केशवलाल गोंडलवाला, वह वहाँ है न? कुशल कामदार, क्या कहा उसने?

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ....वे आये थे। यह बापू! मार्ग दूसरे प्रकार का है, भाई! अकेले शास्त्र पठन से कुछ पार पड़े, ऐसा नहीं है। अन्तर भगवान की आस्था, श्रद्धा। आहाहा! अनन्त-अनन्त परमात्मा जिसमें से प्रगटे, ऐसा भगवान शुद्ध ध्रुव है, उसकी भावना अर्थात् उसके सन्मुख की एकाग्रता, उदय और निमित्त की विमुखता। आहाहा! समझ में आया? यह कहीं बात से कुछ वड़ा हो (बने) ऐसा नहीं है। इस पंचम गति में जाते हैं, भविष्य में जायेंगे, भूतकाल में जाते थे। अनन्त काल में भी इसी प्रकार से गये हैं, तीन काल का एक मार्ग है। 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ।' गत कल में भी अनन्त मुक्ति को प्राप्त हुए भरत ऐरावत और महाविदेह। पन्द्रह कर्मभूमि है न मुक्ति! अथवा ढाई द्वीप में, ढाई द्वीप में कोई एक स्थल मात्र जगह खाली नहीं है कि जिसमें से अनन्त मोक्ष न गये हों। समझ में आया? मेरुपर्वत ऐसा ऊँचा है, सोगठी के आकार में। वहाँ भी एक-एक जगह से अनन्त मोक्ष गये हैं। क्योंकि ऊपर अनन्त विराजमान हैं, तो अनन्त विराजमान कहाँ से होंगे? कोई जगह खाली है वहाँ? तो मेरुपर्वत ऐसा है, वहाँ ऊपर अनन्त हैं। जाते हैं सीधे, तो वहाँ अनन्त कहाँ से आये? देवों ने पैर पकड़े, प्रमत्त में थे, हों! प्रमत्त में। अप्रमत्त में हों, तब तो सहन न कर सके। **पकड़कर मेरु के साथ पछाड़े एकदम अन्दर!** चैतन्य के साथ ढल गये। शरीर पड़ा रहा नीचे

और वहाँ से केवल (ज्ञान) प्राप्त करके वहाँ से सीधे मोक्ष गये, उस स्थान से मोक्ष गये। शरीर नीचे पड़ा। ऐसे-ऐसे एक मेरु की सोगठी समझते हैं ? यह सोगठी नहीं, यह खेलने की सोगठी, चौपाट की। वह मेरुपर्वत ऐसा है न ? नीचे दस हजार का, ऊपर ऐसे... परन्तु उसके कण-कण से अनन्त मोक्ष गये हैं। वे इस प्रकार से, कहा न, पछाड़े थे।

श्रोता : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : ....क्या कहा ? पटक दिया। पछाड़ने का अर्थ। ऐसे पकड़कर पटक दिया। एकाग्र हो गये अन्दर ध्यान में (और) केलवलज्ञान (प्रगट हुआ)। वहाँ से केवलज्ञान। पैंतालीस लाख योजन में सिद्ध में एक तिल जितनी जगह खाली नहीं कि जहाँ अनन्त न हों और वे अनन्त सीधी श्रेणी से जाते हैं, आड़े-टेड़े नहीं जाते। यहाँ सिद्ध हों और वहाँ जायें, ऐसा नहीं है, तो वहाँ से कैसे गये ? वह श्रेणी वहाँ से एक-एक पत्थर से, कण-कण से अनन्त (गये हैं)। यह तो अनन्त काल होकर अनन्त मोक्ष गये। वे सब गये, जाते हैं और जायेंगे। इस पंचम भाव की भावना से हुए हैं। आहाहा! समझ में आया ? कहो, इसमें इतने प्रतिकूल संयोग। संयोग कहाँ बाधक थे ?

यह पानी लो न पानी। दो लाख (योजन का) लवण समुद्र। बिन्दु ही बिन्दु से अनन्त मोक्ष गये। कहाँ से गये ? ऊपर अनन्त हैं, वहाँ से अनन्त गये हैं। मुँह में पानी डाला, वे नीचे पानी में... ऐसे श्रेणी माँडी, उपसर्ग मिट गया। मुर्दा गिरा पानी में, केवल (ज्ञान) पाकर मोक्ष गये। बापू! परमपारिणामिकभाव तो त्रिकाल पड़ा है। उसके सन्मुख नजर और अनुभव तो था और उसमें ऐसा उपसर्ग आया, इसलिए हटकर अन्दर में स्थिर हुए, एकदम... केवलज्ञान!! समझ में आया ? लो! भूतकाल में गये, वर्तमान में जाते हैं, भविष्य में जायेंगे। एक ही उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं।

अब, ४१वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं—

अञ्चितपञ्चमगतये पञ्चमभावं स्मरन्ति विद्वान्सः।
सञ्चितपञ्चाचाराः किञ्चनभावप्रपञ्चपरिहीणाः ।।५८।।

पाँच-पाँच लेना है न ? पंचम के साथ पाँच। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, यह निर्विकल्प आचार की बात है, हों! व्यवहार आचार की बात नहीं। व्यवहार आचार पराश्रय विकल्प है। निश्चय आचार, स्वाश्रय से निर्विकल्प है। ज्ञानाचार, आत्मा के शुद्ध स्वसंवेदन की ज्ञान की

दशा वह ज्ञानाचार। आत्मा के सम्यग्दर्शन की स्व की निर्विकल्प प्रतीति, वह दर्शनाचार। स्वरूप में रमणता, वह चारित्राचार। स्वरूप में इच्छा निरोधरहित अतीन्द्रिय आनन्द का प्रतपन, उग्र होना, वह और वीर्य–आत्मा की शुद्धपर्याय की रचनारूपी जो वीर्य।

पाँच आचारों से युक्त और किंचित् भी परिग्रह प्रपंच से सर्वथा रहित,... मुनि की बात लेनी है न ? मुनि की, मुनि की। जिनकी दिगम्बर दशा है, वे अभ्यन्तर विकल्प नहीं और बाहर शरीर के परिग्रहरहित और शरीर पर वस्त्र–पात्र भी उन्हें नहीं होते, वस्त्र भी नहीं होते, ऐसी दशा सहज हो जाती है, तब **किंचित् भी परिग्रह प्रपंच से सर्वथा रहित, ऐसे विद्वान...** उन्हें विद्वान कहा। आहाहा! **पूजनीय पंचम गति को प्राप्त करने के लिए...** पूजनीय पंचम गति प्राप्त करने के लिये... पूजने योग्य सिद्धदशा अथवा केवलज्ञान की गति, ऐसी पंचम गति, चार गति से रहित।

पूजनीय पंचम गति को प्राप्त करने के लिए पंचम भाव का स्मरण करते हैं। पंचम भाव ध्रुव को स्मरण करते हैं अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र होना, इसका नाम स्मरण करते हैं कहा। उसे—भगवान को अन्दर याद करते हैं। स्मरण करते हैं किसमें ? अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा अनुभव की हुई है, उसकी और उसी की अन्दर स्मृति, यह भगवान शुद्ध है, उसमें एकाग्रता (की है), वह उसका स्मरण करते हैं। परपरमात्मा का स्मरण नहीं। पंचम भाव को स्मरण करते हैं, पंचम भाव वह शुद्ध, ध्रुव है; स्मरण करते हैं, वह पर्याय है। जिसे यहाँ भावना कही थी, उसे यहाँ स्मरण करते हैं, ऐसा कहा। इस ज्ञायकमूर्ति प्रभु का ज्ञान, उसका दर्शन, उसका चारित्र आदि, उसे स्मरण करते हैं, स्वरूप में एकाग्र होते हैं। उससे पंचम गति को प्राप्त करते हैं। कहो, समझ में आया ? एक श्लोक बाकी....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

(२८)

श्री नियमसार, गाथा-३८, प्रवचन-१६७
दिनांक - ०२-०९-१९६६

शुद्धभाव अधिकार। शुद्धभाव किसे कहते हैं? यह आत्मा... पहले लिया **जीवादि सात तत्त्वों का समूह परद्रव्य...** भगवान आत्मा एक समय में अन्त:तत्त्वरूप द्रव्यस्वभाव शुद्ध, वह आत्मा है। उसे वास्तव में निश्चय से आत्मा कहते हैं और उसमें रागादि या उपशम, क्षयोपशम, संवर-निर्जरा (नहीं)। आत्मा में पुण्य-पाप के भाव हो, संवर-निर्जरा धर्म की पर्याय हो या मोक्ष की पर्याय हो, उन सबको यहाँ परद्रव्य कहा गया है। समझ में आया?

प्रश्न यह था कि इस संवर-निर्जरा का क्या? परन्तु संवर-निर्जरा पर्याय, द्रव्य चैतन्ध ध्रुव में से आती है। उस द्रव्य को यहाँ परमद्रव्य, परमस्वभावभाव, एकरूप ज्ञायकभाव को यहाँ स्वद्रव्य कहकर शुद्धभाव कहा गया है। ***इसके अतिरिक्त शरीर, वाणी, मन तो परद्रव्य है ही; कर्म आदि परवस्तु है ही, परन्तु पर्याय में जितने व्यवहाररत्नत्रय - दया, दान के विकल्प उत्पन्न हों या हिंसा आदि का राग हो या मोक्षमार्ग की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट हो या मोक्षपर्याय प्रगट हो; उन सबको त्रिकाल एक स्वद्रव्य की अपेक्षा से उन्हें परद्रव्य कहा गया है।*** आत्मद्रव्य सप्तम हो जाता है, आता है या नहीं? ४९ गाथा में आता है। द्रव्य द्रव्य व्यक्त, उनसे भिन्न आत्मा अव्यक्त है, ऐसा आता है। समझ में आया? समयसार - ४९ वीं गाथा में आता है और सम्यग्ज्ञान दीपिका में आता है कि छह द्रव्यों से ज्ञायकमूर्ति एकरूप भिन्न पड़ गयी, उसे सप्तम द्रव्य कहते हैं। सप्तम द्रव्य है नहीं, द्रव्य तो वही है। समझ में आया? है न? समयसार है या नहीं? ४९ गाथा में कहा है। अव्यक्त, व्यक्त। अव्यक्त में पहला बोल है।

छह द्रव्यस्वरूप लोक जो ज्ञेय है और व्यक्त है, उससे जीव अन्य है, इसलिए अव्यक्त है। आहाहा! इसका अर्थ-आत्मा एक स्वरूप ज्ञायक चैतन्य ध्रुव है, उसे यहाँ स्वद्रव्य कहा तो निर्मल पर्याय आदि (भी भिन्न रह गयी) क्यों? - कि पर्याय जो है, उसके आश्रय से धर्म की वृद्धि, शुद्धि नहीं होती। धर्म की वृद्धि शुद्धि और टिकना, वह त्रिकाल शुद्ध भगवान आत्मा के अन्तर अवलम्बन से निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है। समझ में आया? इस कारण यहाँ

कहते हैं, स्वद्रव्य अन्त:तत्त्व। अन्त:तत्त्व, एक पूर्ण स्वरूप और बहिर्तत्त्व ये सात। दोनों की श्रद्धा व्यवहार सम्यग्दर्शन है। भाई! अन्त:तत्त्व और बहि:तत्त्व, दो की मिलाकर श्रद्धा करना, वह व्यवहार सम्यग्दर्शन हुआ। विकल्प आया। समझ में आया? यह आया है, पहले आ गया है न? पहले कहीं आ गया है। पहले शुरुआत में आ गया है-अन्त:तत्त्व, बहिर्तत्त्व, जहाँ व्यवहार समकित की व्याख्या की है न? पाँचवीं गाथा। **तत्त्व बहि:तत्त्व और अन्त:तत्त्वरूप परमात्मतत्त्व ऐसे (दो) भेदवाले हैं।** इसका नाम व्यवहार समकित है। आहाहा! पाँचवीं गाथा में है, हिन्दी में १२वें पृष्ठ पर है, दूसरी लाईन है। तत्त्व, बहि:तत्त्व यहाँ देखो! बहि:तत्त्व कहा है वह। यहाँ बहि:तत्त्व कहा है न? **जीवादि सात तत्त्वों का समूह परद्रव्य...** मूल पाठ में बहि:तत्त्व है। कुन्दकुन्दाचार्य ने जीवादि बहि:तत्त्व कहा है, उसे यहाँ बहि:तत्त्व और अन्त:तत्त्वस्वरूप परमात्मतत्त्व (कहा)। अन्त:तत्त्व परमात्मा और बहि:तत्त्व दो की श्रद्धा करना, वह तो व्यवहार सम्यग्दर्शन है, राग है। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं कि अन्त:तत्त्व.. बाद में लेंगे। **'जीवादिबहित्तच्चं'** भगवान आत्मा... मैं जीव हूँ, विकल्प आदि सात तत्त्व के भाव को यहाँ परद्रव्य कहकर **वास्तव में उपादेय नहीं है।** वास्तव में संवर-निर्जरा की पर्याय भी आश्रय करनेयोग्य नहीं, इस अपेक्षा से उपादेय नहीं। सुरेन्द्रजी! क्या आया? संवर-निर्जरा की पर्याय भी आदरणीय नहीं। आहाहा! कल कहते थे न? कौन पूछता था? शुद्ध-अशुद्ध पर्याय इसमें आयी या नहीं? शुद्ध-अशुद्ध पर्याय पर में गयी। छोटाभाई! समझ में आया?

चैतन्य महाभगवान परमस्वभावभाव, जिसमें अनन्त परमात्मस्वरूप पड़ा है, वही स्वद्रव्य है। इसके अतिरिक्त जितनी वर्तमान मलिनदशा या निर्मलदशा है, उन सबको बहि:, बहि: अर्थात् अन्तर में नहीं तो बहि: (कहा); पर्याय में है तो बहि: कहा। उसे बहि:तत्त्व गिनने में आया है। समझ में आया?

कहते हैं कि **स्वद्रव्य में जिसकी तीक्ष्ण बुद्धि है।** ऐसा भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य पदार्थ, जिसकी पर्याय भी उसमें मिलाना नहीं, निर्मल पर्याय को भी उसमें मिलाना नहीं। छोटूभाई! बिलकुल मिलाना नहीं। वहाँ मिलान किया ही नहीं। वहाँ तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र को प्राप्त, ऐसा भेद बताया। भेद, अभेद में है ही नहीं। मिलाया ही नहीं। एक वस्तु के तीन भेद। अन्दर में कहाँ भेद है? वस्तु में भेद है? लकड़ी का दृष्टान्त नहीं दिया था? सुखड़ की, चन्दन की लकड़ी है, उसमें सुगन्ध, कोमलता भिन्न है? इसी प्रकार भगवान एक समय में अनन्त

गुण का एकरूप, उसे तीन बोलकर कहकर, दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त, ऐसे नाममात्र कथन से कहा, वह भेद से अभेद को समझाने के लिये (कहा है) । भेद कोई आदरणीय वस्तु नहीं है । समझ में आया ?

यहाँ तो विशेष कहते हैं कि आत्मा.. यहाँ तो वास्तव में आत्मा उसे कहते हैं, भाई ! संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य-पाप, दया, दान, व्यवहाररत्नत्रय, वह आत्मा ही नहीं है । आहाहा ! ऐ... देवीलालजी ! ऐसा कब सुना है ? दो बार आयेगा, देखो ! **स्वद्रव्य में जिसकी तीक्ष्ण बुद्धि है...** भगवान आत्मा एकरूप परम स्वभाव ध्रुव, अनन्त गुण का पिण्ड एक - उसमें जिसकी तीक्ष्णबुद्धि है, ऐसे आत्मा को, **ऐसे आत्मा को 'आत्मा' वास्तव में उपादेय है...** ऐसे आत्मा को यह आत्मा, एकरूप आत्मा उपादेय है । सूक्ष्म है, भाई ! पहले स्थूल अधिकार था, इसलिए छोड़ दिया । स्व-परप्रकाशक की बात थी न ? वह थोड़ी कही । यह वस्तु पहले चल गयी है, परन्तु यह तो फिर से लिया । तुम थोड़े दिन हो न यहाँ ? इसलिए फिर से लिया । बाद में चले जाओगे ।

कहते हैं, सुनो भाई ! यह वस्तु परम परम 'अप्पा सो परमप्पा ।' आत्मा, परमात्मा का रूप ही अन्दर परमात्मा साक्षात् भगवान पूर्ण है । उस परमात्मा को... संवर, निर्जरा, मोक्ष को भी द्रव्य स्पर्श नहीं करता । समझ में आया ? ऐ.. रतिभाई ! ऐसा कैसा ? जैनदर्शन में ऐसा होगा ? अन्य में था कब ? अज्ञानी में मार्ग था कब ? यह तो वीतराग में है । कहाँ गये शिवनन्दनजी ? आये हैं ? देरी से आये हों, इसलिए पीछे बैठें । लहर करनेवाले हों । यह वस्तु तो समय-समय से समझे, उसके काम की है । समझ में आया ? क्या कहते हैं ?

कहते हैं, यह आत्मा.. जिसकी तीक्ष्ण बुद्धि ज्ञायक चैतन्य ध्रुव पर पड़ी है, ऐसे आत्मा को आत्मा वास्तव में उपादेय है । समझ में आया ? **औदयिक आदि चार भावान्तरों को अगोचर होने से...** क्या कहा ? राग-द्वेष के, दया, दान के, व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प; सम्यग्दर्शन आदि उपशमभाव; ज्ञान-दर्शन आदि का क्षयोपशमभाव; समकित आदि का क्षायिकभाव - ये चार भावान्तर (हैं) । भगवान आत्मा परमस्वभावभाव से चार भावान्तर, इस भाव से अन्य चार भाव हैं । समझ में आया ?

श्रोता : कार्यपरमात्मा...

पूज्य गुरुदेवश्री : कार्यपरमात्मा इसमें है ही नहीं । यहाँ तो साधक की बात करते हैं, केवलज्ञान तो है नहीं । समझ में आया ? सुनो !

औदायिक आदि चार भावान्तरों.. आत्मा ध्रुव ज्ञायक प्रभु, यह भाव; यह भाव और

उदय—राग-द्वेष; उपशम; क्षयोपशम; क्षायिक—ये चार भाव भावान्तर। इस भाव से चार अन्य भाव। इस भाव से चार अन्य भाव। समझ में आया? यह तो नियमसार है, मोक्ष का मार्ग है। पर्याय की बात चलती है। नियमसार / मोक्षमार्ग पर्याय है, परन्तु वह पर्याय भी भाव जो परमस्वभाव है, उससे अन्य भाव है। आहाहा! समझ में आया? क्या कहा?

औदायिक आदि चार भावान्तरों.. भावान्तरों का स्पष्टीकरण नीचे किया है। भावान्तर अर्थात् अन्यभाव। अन्यभाव अर्थात् ज्ञायक एक समय का पूर्ण प्रभु स्वभाव, उससे चार भाव अन्य भाव। शरीर, वाणी, कर्म की बात तो यहाँ ली ही नहीं, वह तो कहीं रह गयी बाहर की धूल। रसिकभाई! यहाँ तो भगवान आत्मा में दो अंश हैं। एक अंश त्रिकाल ध्रुव सामान्य ज्ञायक प्रभु, जिसे यहाँ भाव कहा। यहाँ तो शुद्धभाव का अधिकार है न? शुद्धभाव, एकरूप भाव, ज्ञायकभाव, ध्रुवभाव, सत्-सत् सत्यार्थभाव। यह सबेरे (स्वाध्याय में) आता है। इस भाव से, यह भाव स्वभाव है। यह भाव अपना स्वभाव है, यह भाव आत्मा है और इससे चार भाव अन्य भाव हैं। समझ में आया?

क्षायिक समकित हो, क्षायिक समकित; उपशम समकित हो; क्षायोपशम समकित हो, वे सब स्वशुद्धभाव, शुद्धभाव, स्व-भाव—अपना भाव, निजभाव से क्षायिक समकित (आदि) अन्य भाव हैं। समझ में आया? आहाहा! लोगों ने मूल चीज़ पकड़ने का अनादि से प्रयास नहीं किया। वह किस प्रकार पकड़ में आयें? और क्या चीज़ है? - यह यथार्थ सुनने को मिला नहीं। यथार्थ, हों!

एक समय का प्रभु शुद्धभाव, ध्रुवभाव, ज्ञायकभाव, वह सम्यग्दर्शन का विषय है। वह द्रव्यार्थिकनय। द्रव्य अर्थात् सामान्य स्वभाव, ऐसे नय का प्रयोजन वह द्रव्य है। वह द्रव्य स्वद्रव्य है, स्वभाव है, शुद्धभाव है, सत्यभाव है; उससे चार भाव अन्य भाव हैं। समझ में आया? ***राग-द्वेष, दया, दान, व्यवहाररत्नत्रय, यह तो विकल्प-उदयभाव है, परन्तु निश्चयरत्नत्रय की पर्याय स्वद्रव्य के आश्रय से प्रगट हुई, उसे यहाँ परद्रव्य कहा गया है। आहाहा!*** गजब बात, भाई! सेठी! यह झट समझ में नहीं आयेगी। ये तुम्हारे लड़के आये हैं न? नये हैं। यह मानों क्या कहना चाहते हैं? कभी बाप-दादा ने सुना नहीं होगा। इनने भी जयपुर में वहाँ कब सुना है? समझ में आया?

कहते हैं, औदयिकादि चार भावान्तर। ये चार भावान्तर। अपने ध्रुव ज्ञायक प्रभु से विकारी या अविकारी पर्याय; अपूर्ण या पूर्ण विकारी पर्याय; अविकारी अपूर्ण पर्याय, अविकारी

पूर्ण पर्याय, वह अपने... यह शुद्धभाव अधिकार है। शुद्धभाव से अन्य चार भाव हैं। अमुलखचन्दजी! क्या बराबर है? इसी और इसी में अन्य भाव? पर्याय अन्य भाव? नयी बात है। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य महाराज फरमाते हैं। अपना, शब्द है न? देखो! **जीवादिबहित्तच्चं हेयम्... हेयम्** आहाहा! ये चार भाव हेय हैं। अभी तो राग को हेय कहने पर शोर मचता है। अमरचन्दजी! निमित्त तो कहीं रह गया। दया, दान के रागपरिणाम पुण्य है। भाई! पुण्य हेय है। पुण्य हेय? अब सुन तो सही! तेरा पुण्य तो कहीं हेय में नीचे गया। हेय में हेठे (नीचे) गया। हेठे को क्या कहते हैं? नीचे। परन्तु यहाँ तो क्षायिक समकित (जो) आत्मा के आश्रय से प्रगट हुआ; सम्यक् स्वसंवेदनज्ञान आत्मा के अवलम्बन से उत्पन्न हुआ, उसे भी यहाँ हेय कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

कुन्दकुन्दाचार्य क्या कहते हैं? **जीवादिबहित्तच्चं हेयम्** मूल पाठ है। व्यवहार... व्यवहार। उपादेय। व्यवहार से निश्चय होता है। अरे! सुन तो सही प्रभु! तेरे लाभ की बात है। तेरे लाभ की बात है, प्रभु। तूने कभी लाभ कहाँ से होता है, वह खान कौन है, उस खान की महिमा तुझे कभी आयी नहीं। समझ में आया? बाहर में ऐसा लगे... भक्ति-वक्ति करे, बराबर धमाल करे, पैर में बाँधे, आहाहा! कैसा लगे? डालचन्दजी! नजर से दिखता है, क्या दिखता है? वह तो जड़ की पर्याय है। उसमें भगवान के प्रति राग है, वह शुभभाव है। वह तो हेय है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो भगवान कुन्दकुन्दाचार्य महाराज अन्तर के रहस्य की बात करते हैं। भगवान उसे आत्मा पूर्णानन्द प्रभु, अनन्त आनन्द के कन्दरूप एक, वह उपादेय 'अप्पणो अप्पा' है। **उवादेयमप्पणो अप्पा जीवादिबहित्तच्चं हेयम्** इन दो पद के अन्दर हेय और उपादेय की बात कर दी है। ऐई! माणिकलालजी! अन्दर है या नहीं? क्या करना पर्याय का? अध्यात्म अर्थात् सत्य। सिद्धान्त कुछ इससे दूसरी बात करता है? समझ में आया? ज्ञान करने के लिये अनेक बात करे। निश्चय मोक्षमार्ग उपादेय है, ऐसा कहे। उपादेय का अर्थ (यह कि) प्रगट करनेयोग्य है, इस अपेक्षा से। समझ में आया? उपादेय वास्तव में भगवान है। देखो **उवादेयमप्पणो अप्पा।** समझ में आया? उपादेय नहीं, हेय है। पाठ में तो हेय है, ऐसा लिया है। (टीका में) उपादेय नहीं - ऐसा लिया।

कहते हैं **औदयिक आदि चार भावान्तरों...** इतने शब्दों का अर्थ होता है। भगवान आत्मा एक स्वरूप की पूर्ण खान ध्रुव, वह एक भाव, वह शुद्धभाव। उस शुद्धभाव की अपेक्षा

से चार भाव अन्य भाव हैं, अन्य भाव हैं। इस भाव में वे भाव नहीं हैं। समझ में आया? सामने गाथा है या नहीं? प्रश्न करते हैं, वही गाथा बराबर आयी है, देखो! अब स्पष्टीकरण। स्पष्ट होता है न? स्पष्ट होता है न? इसमें क्या है? आहाहा!

औदयिक आदि चार भावान्तरों को अगोचर... अब अगोचर की व्याख्या। पहले तो इतना कहा कि परम भगवान ध्रुव सनातन सत्‌प्रभु, वह अपना शुद्धभाव है। उसकी अपेक्षा से चार भाव—मोक्ष की पर्याय भी अन्य भाव है। शुद्धभाव की अपेक्षा से अन्य भाव है। क्षायिक समकित, क्षायिक चारित्र, इस शुद्धभाव की अपेक्षा से अन्य भाव है। क्योंकि एक समय की पर्याय, त्रिकाली द्रव्य में नहीं है। समझ में आया? अब अगोचर नीचे लिखा है। देखो! भावान्तर (अर्थात्) अन्य भाव। **भावान्तर=अन्य भाव। (औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक — ये चार भाव परमपारिणामिकभाव से...** परमपारिणामिकभाव ज्ञायक भाव, सत्.. सत्.. सत्.. सत्.. सत्.. अनादि-अनन्त सत् एकरूप स्वभाव है, उससे **अन्य होने के कारण, उन्हें भावान्तर कहा है।** है नीचे? परमपारिणामिकभाव जिसका स्वभाव है। 'परमपारिणामिकभाव जिसका स्वभाव है, ऐसा कारणपरमात्मा...' भगवान कारण प्रभु इन चार भावान्तरों को अगोचर है। अर्थात् चार भाव के आश्रय से प्रगट नहीं होता। समझ में आया? अथवा चार भाव उसमें नहीं हैं और चार भाव का आश्रय करने से स्व का आश्रय नहीं होता। स्व का आश्रय करने से मोक्ष और मोक्षमार्ग की उत्पत्ति होती है। समझ में आया?

(कारणपरमात्मा) द्रव्यकर्म,... जड़कर्म ये बाह्य के लिये। आठ कर्म से रहित। **भावकर्म...** औदयिकभाव में आ गया, विकारी भाव। **नोकर्म,...** शरीर, वाणी, इन **उपाधि से जनित...** उपाधि से जनित। देखो! **विभावगुणपर्यायों रहित है...** कर्म के निमित्त से अपनी पर्याय में उपाधि हुई है। समझ में आया? यह तुम्हारे आयेगा। बहुत विस्तार है, तीन बोल में बहुत विस्तार है, हों! एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य में मिलावे, एक द्रव्य के भाव को दूसरे द्रव्य के भाव में मिलावे, एक कारण को दूसरे कारण में मिलावे, (वह) व्यवहारनय है। ऐसा (ही) माने तो मिथ्यादृष्टि है।

श्रोता : शास्त्र में कहा है और फिर उसे...

पूज्य गुरुदेवश्री : शास्त्र में व्यवहार से कहा है। ज्ञान कराने के लिये (कहा है)। मिलाकर ऐसा मान ले तो मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? गुण भेद को मानकर अभेद माने, भेद है, वह अभेद में है, ऐसा माने तो मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहते हैं।

श्रोता : फिर से कहो।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, अन्दर गुण-भेद नहीं हैं, तथापि गुण-भेद माने। अन्दर अभेद में भेद है, ऐसे अभेद में भेद माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया ? आहाहा ! गजब बात, भाई ! अभी तो यहाँ से आगे कहेंगे। कारणपरमात्मा वही वास्तव में आत्मा है, वास्तव में वही आत्मा है, दूसरा आत्मा है ही नहीं, ऐसा कहेंगे। 'वास्तव में' शब्द पड़ा है न ? **कारणपरमात्मा, वह वास्तव में 'आत्मा' है।** है न ? संस्कृत की अन्तिम लाईन है। कारणपरमात्मा ही आत्मा है। यह बाद में कहेंगे। जड़कर्म, भावकर्म, नोकर्मरूप **उपाधि से जनित...** भाषा देखो ! यह निमित्त है। यहाँ अध्यात्मदृष्टि सिद्ध करनी है तो निमित्त से उत्पन्न हुए, ऐसा कहने में आया है। उत्पन्न तो उसकी पर्याय में स्वयं के कारण से राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। समझ में आया ? परन्तु यहाँ तो कर्म, नोकर्म—वाणी, शरीर और कर्म के निमित्त से अपने में उत्पन्न होनेवाले विकार, ऐसे विभावगुण-पर्याय से भगवान आत्मा रहित है। समझ में आया ?

श्रोता : विभावभाव अर्थात् विकृतभाव।

पूज्य गुरुदेवश्री : विकृत नहीं। यहाँ विभाव अर्थात् विशेष भाव, विशेष भाव। विशेष भाव, वे चारों विभावभाव हैं, चारों विभावभाव हैं अर्थात् विशेष भाव हैं। समझ में आया ? आहाहा ! वहाँ द्रव्य का आया है न ? दूसरे में आया है न ? पचासवीं गाथा में आया है न यह ? पचासवीं गाथा नहीं ? १०५ पृष्ठ पर है, देखो ! वहाँ भी **हेय-उपादेय अथवा त्याग-ग्रहण के स्वरूप का कथन है। जो कोई विभावगुणपर्यायें हैं, वे पहले (४९वीं गाथा में) व्यवहारनय के कथन द्वारा उपादेयरूप से कही गयी थीं, किन्तु शुद्धनिश्चयनय के बल से (शुद्धनिश्चयनय से) वे हेय हैं। किस कारण से ? क्योंकि वे परस्वभाव हैं और इसीलिए परद्रव्य हैं।** तीन शब्द लिये हैं। पाठ में ऐसा है। **'परदव्वं परसहावमिदि हेयं'** गुलांट खाकर टीकाकर ने भी यथार्थ बात की है। भगवान आत्मा के अतिरिक्त जो कोई रागादि या पर्याय आदि हैं, वे परस्वभाव हैं; इसलिए परद्रव्य है, हेय है, हेय है। परस्वभाव है, इसलिए वह परद्रव्य है। देखो ! यहाँ परद्रव्य ले लिया। **सर्वविभाव-गुणपर्यायों से रहित शुद्ध-अन्तःतत्त्वस्वरूप स्वद्रव्य उपादेय है।** शुद्ध अन्तः तत्त्वस्वरूप भगवान ज्ञायक एकरूप अन्तर्मुख, वह स्वद्रव्य उपादेय है। वह स्वद्रव्य ही आदरणीय है। अभी तो यहाँ व्यवहाररत्नत्रय को हेय कहते हैं तो शोर मच जाता है। हाय.. हाय.. ! अरे !

श्रोता : उससे भी संवर-निर्जरा होती है और आगे बढ़ा जाता है तो क्या आपत्ति है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं बढ़े उसमें से। धूल अर्थात् अच्छा पुण्य भी नहीं बँधे।

तीर्थंकरगोत्र भी उसे नहीं बँधता। जिसने राग को उपादेय माना है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। यह तो बहुत वर्ष पहले कहा था, तीतर बँधेगा, तीर्थंकर की जगह। यह तो एक बार (संवत्) १९८५ में सम्प्रदाय में कहा था, हों! तीतर समझते हैं? वह जीव नहीं खाता? तीतर। पिंजड़े में रखते हैं। मुसलमान लोग शाम को निकालते हैं। तीतर कहते हैं। वह तीतर एक दिन में बहुत छोटे-छोटे जीव खाता है। भगवान तीर्थंकर बहुतों को तिराने में निमित्त हैं, यह (तीतर) बहुतों को मारने में निमित्त है। (संवत्) १९८५ सभा में कहा था, हों! स्थानकवासी सम्प्रदाय में १९८५ में कहा, जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बँधे, वह भाव धर्म नहीं है, अधर्म है और कोई ऐसा माने कि राग को आदरणीय मानकर हमारे तीर्थंकरगोत्र का भाव आ जायेगा तो वह तीतर गोत्र बाँधेगा, तीर्थंकरगोत्र नहीं। वहाँ सम्प्रदाय में तो बहुत मान था न! सम्प्रदाय में इतनी खलबलाहट नहीं होती, हमारा विश्वास था न! उस समय विश्वास बहुत था, हमारे ऊपर बहुत विश्वास था। अब खलबलाहट हो गयी। हाय.. हाय..! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव धर्म नहीं। यदि धर्म से बन्ध पड़े, तो अबन्ध परिणाम का फल क्या? धर्म से बन्ध नहीं; अधर्म से बन्ध पड़ता है। सेठी! क्या बराबर? षोडश (कारण भावनारूप) तीर्थंकरभाव, वह अधर्म है। अरर! उदयभाव है, आदरणीय है नहीं। उसे आदरणीय माने, उसे ऐसा भाव होता नहीं। कहो, समझ में आया? माने न माने, वह उसकी बात। यह तो उस समय कहा था। बहुत बड़ी सभा थी। लोग खचाखच भरे हुए थे। उस समय बहुत मान था न! कानजी मुनि अर्थात् बस, हमारे प्रभु! यह मुँहपत्ती जहाँ उतरी, वहाँ भाग गये। पहले तो... थूँक बहुत उड़ता था। भागे, अरे! ऐई! '....' इनके भाई और सब भागे थे। यहाँ आये थे। सब भागे, प्रभु! प्रभु कहते थे, वे सब भागे। भागे कहते हैं, क्या कहते हैं? भ्रष्ट हो गये, भ्रष्ट हो गये।

यहाँ तो भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं **वास्तव में सहजज्ञान-सहजदर्शन-सहजचारित्र-सहजपरमवीतरागसुखात्मक शुद्ध-अन्तःतत्त्वस्वरूप इस स्वद्रव्य का...** देखो! यह तो ५०वीं गाथा है, हों! जिसमें राग तो ठीक, क्षायिकभाव को परद्रव्य, हेय और परस्वभाव कहा है। यही बात यहाँ ली है। समझ में आया? भगवान! तेरे माहात्म्य की तुझे खबर नहीं है। इस क्षायिक समकित की पर्याय का भी माहात्म्य नहीं। यहाँ तो केवलज्ञान भी सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। केवलज्ञान भी अंश है, त्रिकाली का एक अंश, भेद पड़ गया। भेद पड़ा, वह सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। वह विषय आदरणीय नहीं। आहाहा! समझ में आया? केवलचन्दजी! यह केवल (ज्ञान) प्राप्त करने का उपाय है। सूक्ष्म है। आहाहा!

कहते हैं कि **अनादि-अनन्त..** अब कहते हैं, देखो! कैसा है भगवान आत्मा? अनादि-

अनन्त। केवलज्ञान सादि-अनन्त; मति-श्रुत सादि-सान्त। सम्यग्ज्ञान—मति-श्रुतज्ञान या अवधि, मन:पर्यय हो, वह सादि-सान्त है। उत्पन्न होता है और अन्त आ जाता है। केवलज्ञान सादि-अनन्त है। अज्ञान अनादि-सान्त है। अनादि-अनन्त द्रव्य है। समझ में आया? एक -रूप वस्तु भगवान आत्मा.. अरे! इसने कभी सुना ही नहीं। सुनकर कभी इसने... आहाहा! यह प्रभु कौन है? (ऐसा माहात्म्य नहीं आया) समझ में आया? जिसका सर्वज्ञ प्रभु भी पूर्ण कथन नहीं कर सके। आहाहा! जो स्वरूप सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में... श्रीमद् कहते हैं।

जो स्वरूप देखा जिनवर ने ज्ञान में,
कह न सके पर वह भी श्री भगवान जब।
उस स्वरूप को अन्य वचन से क्या कहूँ,
अनुभवगोचार मात्र रहा वह ज्ञान जब॥
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा?॥

आहाहा! भगवान का विरह पड़ा। अरे! यह मार्ग ऐसा हो गया। समझ में आया? साक्षात् परमात्मा के भेंट में से निकलकर कहाँ आ गये? आहाहा! सबेरे इसका खेद हुआ था। कहाँ त्रिलोकनाथ! बहिन का जन्मदिन और यह याद आया। व्याख्यान में अन्त में याद आया। अरे! कहाँ से यह आत्मा कहाँ था? कहाँ आया? कहाँ छोड़कर क्या किया? समझ में आया? जहाँ साक्षात् भगवान विराजते थे। अरे! वहाँ भी विराधक... समझ में आया? आहाहा! अरे! भरतक्षेत्र के अवतार विराधक बिना नहीं हो सकते। सम्यग्दृष्टि भरत में नहीं आ सकता। समझ में आया? आहाहा! ऐसे त्रिलोकनाथ परमात्मा की उपस्थिति, उनका विरह पड़ा। महाविदेह में और भरत में, दोनों जगह ऐसी भगवान की वाणी...

कहते हैं, ओहो! प्रभु! तेरे स्वरूप को सर्वज्ञ की वाणी (भी नहीं कह सकी।) वाणी में स्व-पर वार्ता कहने की ताकत है परन्तु वाणी की क्या ताकत है? शत्रु सज्जन का कितना गुणगान करे? चैतन्य से विरुद्ध जड़, उस जड़ में कितनी ताकत कि चैतन्य भगवान की बात करे? आहाहा! समझ में आया? कोई कहे, शत्रु को कहना कि हमारे भाई के गुणगान करना। शत्रु को कहे तो वह कितना करे? भगवान चैतन्य ज्योत अरूपी आनन्दकन्द परमात्मा स्वयं, स्वयं का स्वरूप, उसकी वाणी को गन्ध नहीं, खबर नहीं। वाणी नजदीक से निकलती है। वाणी को खबर नहीं कि यहाँ अन्दर परमात्मा कौन है! डालचन्दजी! खबर है? वाणी को खबर नहीं और वाणी चैतन्य से विरुद्ध जड़ है। आत्मा में बिल्कुल अज्ञान का और अल्पज्ञान का रहने का अवकाश नहीं है, ऐसा आत्मा पूर्णानन्द है। वाणी में एक अंश भी ज्ञान रहे, ऐसा उसमें

अवकाश नहीं है। पूर्ण जड़ है और भगवान यह सर्वज्ञ पूर्ण ज्ञानी। आहाहा! उन पूर्ण ज्ञानी की बात, जो आत्मा को अनुभव में देखा, उसे वाणी से कैसे कह सकें? तो भी इतनी वाणी आयी है। अत्यन्त अवक्तव्य नहीं है, ऐसा बताने के लिये यहाँ बात है। कथंचित् वक्तव्य भी है। सप्तभंगी है न? व्यक्त-अव्यक्त की सप्तभंगी होती है न? बिल्कुल न कहे तो वाणी न निकले। साधारण उसके इशारा करे, इशारा, हों! जैसे चन्द्र दिखलाते हैं न? वह ...चन्द्र है। समझ में आया? वह वृक्ष के ऊपर है। वह वृक्ष के ऊपर, डाली के ऊपर है। डाली के ऊपर और वृक्ष के ऊपर है ही नहीं। वहाँ से दृष्टि दूर ले जाये तो चन्द्र को देखे। इसी प्रकार युक्ति से, न्याय से बात करे परन्तु उससे पार चैतन्य भगवान है। समझ में आया? अहो!

भगवान आत्मा अनादि-अनन्त... देखो! यह द्रव्य। **अमूर्त...** जिसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श की गन्ध नहीं। **अतीन्द्रियस्वभाववाला...** अतीन्द्रियस्वभाववाला। भगवान आत्मा अतीन्द्रियस्वरूप प्रभु है। शुद्ध। शुद्धभाव (अधिकार) चलता है न? **शुद्ध-सहज-परम-पारिणामिकभाव...** स्वाभाविक परमपारिणामिक वस्तु। **जिसका स्वभाव है...** आहाहा! **ऐसा कारणपरमात्मा, वह वास्तव में 'आत्मा' है।** देखो भाषा। समझ में आया? यह कारणपरमात्मा, वही वास्तव में आत्मा है। ओहोहो! शरीर को आत्मा कहना, पर के गुणभेद को कहना, उसकी क्षायिक पर्याय को आत्मा कहना?—कि नहीं। वह सब व्यवहार आत्मा है। आत्मा में दो भेद। समझ में आया? एक समय की केवलज्ञान की पर्याय, वह वास्तविक आत्मा नहीं है। आहाहा! वास्तव में आत्मा नहीं है। वास्तव में, यह (शब्द) हिन्दी में रखा है। अपने गुजराती में खरेखर शब्द है। गुजराती में खरेखर रखा है, वहाँ ख्याल रह गया है कि इस जगह है। गुजराती में अपने 'ही आत्मा' है न? परमात्मा ही आत्मा, ऐसा पाठ है न? गुजराती में खरेखर शब्द है। ही अर्थात् खरेखर, निश्चय से। निश्चय कहो।

कारणपरमात्मा, वह निश्चय आत्मा है। कारणपरमात्मा, वह वास्तविक आत्मा है। त्रिकाल आत्मा, वह वास्तविक आत्मा है। वास्तविक। आत्मा में भी वास्तविक और नहीं वास्तविक। रसिकभाई! अरे..अरे! ऐसी बात है, भाई! एक समयमात्र की दशा, यह भगवान... आहाहा! अनन्त-अनन्त जिसकी निधि में गुण पड़े हैं। ऐसा भगवान अनादि-अनन्त एकरूप सहज परमपारिणामिकभाव, परमपारिणामिकभाव। क्यों? किसी समय पर्याय को भी पारिणामिकभाव कहते हैं। समझ में आया? राग-द्वेष हैं, वे भी वास्तव में पारिणामिकभाव की पर्याय है। वास्तव में तो विकारी है। वह तो निमित्त की अपेक्षा से उदय कही, परन्तु जयधवल में विकार को पारिणामिकभाव की पर्याय कही है। उसकी पर्याय है न? पर्याय कहाँ पर की

है ? पारिणामिकभाव परन्तु ध्रुव, पारिणामिकभाव, वह वास्तविक आत्मा है। आहाहा! उपशम, क्षायिक, क्षयोपशम को तो पारिणामिकभाव की पर्याय कहे, पर्यायरूप पारिणामिक, हों! पर्यायरूप पारिणामिक। औदयिक को भी पारिणामिकभाव कहा, परन्तु वह पारिणामिक एक अंश का है। इस त्रिकाल आत्मा को वास्तव में आत्मा कहा जाता है। समझ में आया ? वंशमोर कहते हैं, भाई! तुम्हारे पिताजी कहते हैं। कहाँ गये तुम्हारे आये हैं या नहीं दूसरे ?

देखो! **अनादि-अनन्त...** भगवान आदि नहीं, अन्त नहीं, एकरूपस्वरूप। देखो! केवलज्ञान तो आदि और अनन्त। केवलज्ञान आदि-अनन्त है। वह अनादि-अनन्त नहीं रहा। केवलज्ञान भी अन्य-अन्य भाव है। केवलज्ञान भी वास्तविक आत्मा नहीं है। आहाहा! ऐ माणिकलालभाई! है या नहीं इसमें ? भाई! आवे तब तो बात आवे न! देखो! **परम-पारिणामिकभाव जिसका स्वभाव है — ऐसा कारणपरमात्मा,...** ओहो! केवलज्ञान एक समय की पर्याय है। भले प्रगट होकर सादि-अनन्त रहे परन्तु यह द्रव्य तो अनादि-अनन्त है। अनादि-अनन्त को यहाँ आत्मा कहा गया है। आहाहा! समझ में आया ? राग को तो कहीं डाल दिया, केवलज्ञान पर्याय भी वास्तविक आत्मा नहीं है। एक समय की दशा एक समयमात्र रहती है। केवलज्ञान भले ऐसा का ऐसा सदृश चला आवे, परन्तु केवलज्ञान रहने की स्थिति आत्मा में एक समय की है। समझ में आया ? चारों भाव एक समयमात्र ही रहते हैं। राग भी एक समय में दूसरा, दूसरे समय में दूसरा, तीसरे समय में तीसरा... क्षयोपशम भी एक समय में जो पर्याय है, वह पर्याय दूसरे समय में नहीं रहती। केवलज्ञान भी एक समय में है, वह दूसरे समय में वह नहीं रहता। वैसा हो, परन्तु वह नहीं। एक समय का आत्मा, केवलज्ञान भी सिद्ध पर्याय आत्मा वह वास्तविक आत्मा नहीं। ऐ.. छोटाभाई! गजब, भाई! ऐसी बात। ऐसा यह जैन परमेश्वर का धर्म होगा ? कोई कहे, अपने जैन में ऐसा नहीं होता। अपने जैन में तो हरितकाय नहीं खाना, कन्दमूल नहीं खाना, रात्रि में चारों प्रकार का आहार छोड़ना। ऐ.. मयाचन्दभाई! ऐसा करना, धूल करना, अमुक करना... उसे जैन (धर्म कहा जाता है)। अरे भगवान! सुन तो सही, बापू! यह जैन परमेश्वर का मार्ग अपूर्व अलौकिक है। भाई! यह वास्तविक सुनने को मिला नहीं, इसलिए कहा है न ?

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥४॥

पर से विभक्त और स्व से एकत्व चीज़ क्या है-ऐसी बात अन्दर यथार्थरूप से, वास्तविक दृष्टि से रुचि करके कभी सुनी नहीं। क्या कहते हैं ?

ऐसा कारणपरमात्मा,... ऐसा अर्थात्? जिसमें चार भाव नहीं। उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक नहीं और जो त्रिकाल परमस्वभावभाव भगवान, **वह वास्तव में 'आत्मा' है।** आत्मा में और वास्तविक आत्मा तथा अवास्तविक उसमें ऐसे दो भेद? सबेरे स्पष्टीकरण किया था न? वास्तव में तो खोटा-असत्य आत्मा है। सत्यभूत त्रिकाल, वह सत्य आत्मा है और पर्याय है, वह असत्य आत्मा है, इस त्रिकाल की अपेक्षा से। समझ में आया? परन्तु पर्याय की अपेक्षा से नहीं, ऐसा नहीं। पर्यायनय का विषय है ही नहीं, ऐसा नहीं। यह तो सबेरे स्पष्टीकरण आ गया है।

कहते हैं अरे! कारण प्रभु, जिसमें अनन्त सिद्धपर्यायरूप भगवान पड़ा है। अनादि-अनन्त, हों! अनादि-अनन्त एकरूप। त्रिकाल निरावरण कहा नहीं? किसमें कहा? अपने अभी निकाला वह? ५० गाथा में निकाला। ११९ गाथा है न? २४० पृष्ठ, २४० पृष्ठ। हिन्दी, तीसरी लाईन है। **समस्त परद्रव्यों के परित्यागरूप लक्षण से लक्षित अखण्ड नित्य निरावरण...** निकालना आता है या नहीं नेमिदासभाई को? या कोई निकाल दे? समझ में आया? तीसरी लाईन, तीसरी। टीका की तीसरी लाईन। लीडी समझे? लाईन। २४० पृष्ठ, टीका की तीसरी लाईन। **समस्त परद्रव्यों के परित्यागरूप लक्षण से लक्षित...** ऐसे लक्षण से लक्षित **अखण्ड नित्य निरावरण...** अखण्ड नित्य निरावरण, अखण्ड नित्य निरावरण, त्रिकाल नित्य निरावरण, उसे यहाँ द्रव्य आत्मा कहा गया है। आहाहा! समझ में आया? उसमें पर्याय-बर्याय नहीं आती। **अखण्ड नित्य निरावरण सहज परमपारिणामिकभाव की भावना से औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन चार भावान्तरों के परिहार करने को अति-आसन्न भव्य जीव समर्थ हैं...** पर का आश्रय नहीं लेने में और स्व का आश्रय लेने में ज्ञानी समर्थ है। समझ में आया? पर्याय का आश्रय भी नहीं लेने में ज्ञानी समर्थ है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक को वास्तविक आत्मा नहीं मानने में समर्थ है और चार का आश्रय नहीं लेने में समर्थ है। आहाहा! देवीलालजी! यह तो अलौकिक बात है। देखो! फिर कहते हैं, देखो!

इसलिए ही उसी जीव को पापाटवीपावक कहा है। ऐसा होने से पंच महाव्रत... भगवान ज्ञानानन्द त्रिकाल आनन्दमूर्ति अनादि-अनन्त नित्य निरावरण के आश्रय से निर्विकल्प दशा उत्पन्न हो, उसे पंच महाव्रत कहते हैं। विकल्प के पंच महाव्रत, वे वास्तविक महाव्रत हैं ही नहीं। अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प हैं, वे वास्तविक महाव्रत हैं ही नहीं। आहाहा! यहाँ देखो! .... देवानुप्रिया समझते हो? मनुष्य को देवानुप्रिया कहा जाता है। देव को मनुष्य देह

प्रिय है न ? देव को मनुष्य देह बल्लभ है-प्रिय है, इसलिए देवानुप्रिय कहते हैं। तुम देव के बल्लभ हो, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? श्वेताम्बर में ऐसा सब बहुत आता है। है... देवानुप्रिया! राजा नौकर को कहे न ? देवानुप्रिय! यह काम करोगे ? ऐसे कहे। हे देव के बल्लभ! मनुष्य देह तो देव को बल्लभ है। मीठी भाषा है। समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं कि, ऐसे पंच महाव्रत **सब ध्यान ही है।** ऐसा कहते हैं। भगवान आत्मा अखण्डानन्द नित्य निरावरण प्रभु का आश्रय लेने से जो ध्यान उत्पन्न होता है, वीतरागी पर्याय उत्पन्न हुई, वह ध्यान पंच महाव्रत है। वह ध्यान पंच समिति है। ऐसे देखकर चलना, वह विकल्प वास्तव में व्यवहार समिति है ही नहीं। आहाहा! **तीन गुप्ति, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त, आलोचना, इत्यादि सब ध्यान ही है...** समझ में आया ? भगवान पूर्णानन्द प्रभु का ध्यान, अन्तर में ध्यान लगाना, वह पर्याय निर्मल है; उसे ही भगवान ने पंच महाव्रत, समिति, गुप्ति उसे कहा है। व्यवहारसमिति, गुप्ति को यहाँ यथार्थ में कहा नहीं। यह तो बाहर में चिपटे.. ऐसा किया और वैसा किया। क्यों बाबूलालजी ? आहाहा! देखो! उसमें कहा है न यह ?

यहाँ तो लेना था, **परित्यागरूप लक्षण से लक्षित...** पर के लक्षण से लक्ष्य छोड़कर, पर के त्यागरूप लक्षण से लक्षित। **अखण्ड नित्य निरावरण-सहज-परमपारिणामिकभाव...** उसकी एकाग्रता। अन्तर आनन्द में एकाग्रता, वही धर्मध्यान की क्रिया भगवान के मार्ग में कही है। समझ में आया ? वह धर्मध्यान की क्रिया भी परमपारिणामिकभाव से अन्य भाव है। आहा! उसके आश्रय से धर्म नहीं होता। धर्मध्यान प्रगट हुआ, उसके आश्रय से धर्म नहीं होता, धर्म नहीं होता। अरे! गजब मार्ग भाई ऐसा! आहाहा!

सर्वज्ञ परमेश्वर ने एक समय में... आहाहा! एक ज्ञान की पर्याय तीन काल-तीन लोक का पता अपने उपयोग में ले लेती है। बाहर में तो देखने का है ही कहाँ ? ऐसी ताकत सर्वज्ञ कहते हैं, सर्वज्ञ में है, ऐसा हमने जाना है। सर्वज्ञ की पर्याय वास्तविक आत्मा नहीं है। ओहोहो! देवीलालजी! कितनों को तो ऐसा लगता है (कि) यह क्या कहते हैं ? कहाँ ले जाते हैं ? तुम हमें कहाँ ले जाते हो ? भगवान आत्मा में ले जाते हैं। आहा! समझ में आया ? बाहर से लक्ष्य छोड़ दे। शरीर का लक्ष्य छोड़ दे, कर्म का लक्ष्य छोड़ दे, राग का लक्ष्य छोड़ दे और अस्तित्व गुण, वस्तुत्व गुण की पर्याय तो अनादि से निर्मल ही है। कितने ही गुणों की तो निर्मल पर्याय ही है। अस्तित्व गुण की विकारी पर्याय नहीं होती। ऐसे अनन्त गुण हैं, जिनकी पर्याय निर्मल है और कितने ही गुण हैं, उनकी पर्याय विकारी है। सभी पर्यायें आत्मा में नहीं हैं। समझ में आया ? ऐसा यथार्थ कारणपरमात्मा ही वास्तव में सत्य आत्मा है। सत्य आत्मा और असत्य

आत्मा, दो कहाँ से आये ? त्रिकाल आत्मा सत्य की अपेक्षा से एक समय की पर्याय असत्य है। समझ में आया ? तो असत्य को सत्य में मिलाना, यह वस्तु की स्थिति नहीं है।

श्रोता : कारण अर्थात् उपाधि...

पूज्य गुरुदेवश्री : कारणपरमात्मा वह तो त्रिकाली है, उपाधि नहीं। वह त्रिकाल, बस! त्रिकाल को कारणपरमात्मा कहा। यहाँ तो त्रिकाल वस्तु को ही कारणपरमात्मा कहा है। त्रिकाल वस्तु को कारणपरमात्मा कहा है। यह नाम ऐसा है। कारण क्यों कहा ? – कि उसके आश्रय से कार्यपरमात्मा होता है, इसलिए उसे कारणपरमात्मा कहा। यहाँ तो यह वस्तु है। वस्तु त्रिकाल कारण प्रभु है, उस कारण भगवान में से कार्य उत्पन्न होता है। यह लोग कहते हैं, भगवान में से सृष्टि उत्पन्न हुई, भगवान सबका आधार है। समझ में आया ? ऐसा तीन काल में नहीं है, सुन! यह बताने के लिये बात है।

तेरा भगवान कारणपरमात्मा तेरे पास अनादि-अनन्त पड़ा है। उसमें से केवलज्ञान, सिद्ध की कार्यपर्याय उसमें से उत्पन्न होती है। यह तो बताना है कि मोक्षमार्ग से भी कार्यपरमात्मा नहीं होता। समझ में आया ? कारणपरमात्मा क्यों कहा ? – कि सिद्धपद भी मोक्षमार्ग की पर्याय से नहीं होता क्योंकि मोक्षमार्ग की पर्याय व्यय होती है। व्यय होकर सिद्धपर्याय उत्पन्न होती है। अभाव में से भाव नहीं आता। मोक्षमार्ग की पर्याय का अभाव होकर मोक्ष की पर्याय का भाव त्रिकाल कारणपरमात्मा में से आता है। समझ में आया ? आहाहा! ठीक पण्डितजी ने पूछा कि कारण क्यों कहा ? यहाँ तो त्रिकाल कहना है, वह भी रहता नहीं। वस्तु तो एक ही है। शब्द का अर्थ...

यह तो एक रूप वस्तु त्रिकाल है। कारण क्यों कहा ? कार्य की भूमिका वह है। केवलज्ञानरूपी कार्य और सिद्धपदरूपी कार्य का कारण भगवान है। उस भूमिका में से यह सब आता है। मोक्षमार्ग की पर्याय में से कार्यपरमात्मा उत्पन्न नहीं होता। निश्चयमोक्षमार्ग कारण और व्यवहारमोक्षमार्ग कार्य, यह भी व्यवहार का कथन है। त्रिकाल भाव को कारणपरमात्मा कहा है। समझ में आया ?

यहाँ तो अधिक वजन कहाँ है ? 'ही आत्मा' है। भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, जिसमें क्षायिक पर्याय का स्पर्श नहीं। स्पर्श नहीं। सामान्य को पर्याय का स्पर्श नहीं। सामान्य पर्याय को स्पर्श नहीं करता। पर्याय को स्पर्श करे तो सामान्य, विशेष एक हो जाये। वह तो सबेरे कहा था न ? अलिंगग्रहण। पर्याय को द्रव्य कभी स्पर्श नहीं करता। अनआलिंगित शब्द है न ?

अनालिंगित कहो, अचुम्बन कहो। द्रव्य, पर्याय को चुम्बन नहीं करता, स्पर्श नहीं करता। हमारी काठियावाड़ी भाषा में द्रव्य, पर्याय को अड़तुं नथी। तुम्हारी भाषा में छूता नहीं। समझ में आया ? आहाहा ! पोपटभाई ! यह तो अलौकिक बातें हैं। भगवान के दरबार में जाने की बात है। 'आनन्दघन प्रभु के घर द्वारे रटण करूँ गुणधामा, आनन्दघन प्रभु के घर द्वारे रटण करूँ रे गुणधामा, अवधु ऐसो ज्ञान विचारी, ऐमां कौण पुरुष कौण नारी अवधु ऐसो ज्ञान विचारी।' इसमें पुरुष कौन ? स्त्री कौन ? राग कौन ? क्या है वस्तु में ? किस दृष्टि से तू देखता है कि यह स्त्री है और यह पुरुष है। समझ में आया ? स्त्री, पुरुष जड़ की पर्याय को देखकर तू आत्मा मानता है, तो तू मूढ़ है। समझ में आया ? आहाहा !

एक बात मीराबाई में आती है। मीराबाई में एक दृष्टान्त आता है तब नाटक देखा था न ! लगभग (संवत्) १९६४-६५ का वर्ष होगा। मीराबाई के नाटक में एक बाबा था, बाबा। नाटक में बाबा मिलने आता है। फिर कहता है, तुम स्त्री हो तो आड़ा पर्दा डाल दो। पर्दा समझे ? पर्दा डालो तो हम आयेंगे। मीराबाई कहती है, चर्मचक्षुवाला तू बाबा है ही नहीं। तेरी दृष्टि स्त्री पर पड़ी है ? आत्मा है, उसकी तुझे खबर नहीं ? ऐ...सेठी ! यह नाटक में देखा था, हों ! बाबा कहता है-मीराबाई से मिलना है। तुम पर्दा डालना, तुम स्त्री हो तो तुम पर्दा डालना। तुम्हें किसे देखना है ? स्त्री देह को देखना है ? आत्मा क्या है, उसकी खबर नहीं ? स्त्री को देखता है तो तू चर्मचक्षुवाला सन्त-बाबा मूढ़ है। तुझसे हम नहीं मिल सकेंगे, जा ! सेठी !

यहाँ भगवान कहते हैं, तू परम परमात्मा को दृष्टि में देखता नहीं और इस चक्षु से देखता है, यह आत्मा, यह स्त्री का आत्मा, यह नपुंसक का आत्मा, यह राग का आत्मा। यहाँ तो कहते हैं, क्षायिकभाव भी आत्मा नहीं है। आहाहा ! तू किसे आत्मा मानता है ?... तुझे मानता है ऐसा तू पर को मानता है। यह आत्मा, यह आत्मा, यह आत्मा... क्या करता है तू ? समझ में आया ? ऐ.. माणिकलालभाई ! लो !

यह आत्मा अति आसन्न भव्य जीवों को ऐसे निज परमात्मा को छोड़कर कुछ उपादेय नहीं है। भव्य जीव-जिनकी मुक्ति निकट है, ऐसे आत्मा को, ऐसे आत्मा के अतिरिक्त... देखो ! इसके अतिरिक्त कुछ उपादेय नहीं है। पर्याय भी उपादेय नहीं है। भगवान तो कहाँ रहे ? इसका विशेष आयेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

२९

श्री नियमसार, श्लोक-५४, गाथा-३९, प्रवचन-१६८
दिनांक - ०७-०९-१९६६

यह नियमसार शुद्धभाव अधिकार चलता है। शुद्धभाव अर्थात् शुभपरिणाम को शुभ-उपयोग कहते हैं; अशुभ-परिणाम को अशुभ-उपयोग कहते हैं और शुद्धभाव को शुद्ध-उपयोग कहते हैं। यह बात है नहीं यहाँ?

श्रोता : वह तो चारित्रगुण की पर्याय है और यह तो त्रिकाल स्वभाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो फिर समझे बिना हाँ करे तो पकड़ में आ जाए न!

यहाँ शुद्धभाव अधिकार है तो शुद्धभाव का अर्थ, आत्मा के परिणाम जो तीन प्रकार के हैं—शुभ-अशुभ और शुद्ध—उनकी यहाँ बात नहीं है। वह तीन तो पर्याय की बात है। समझ में आया? क्या सेठी! तुम्हें पूछे तो तुम शुद्धभाव अधिकार का (अर्थ) क्या कहोगे? बोलते नहीं। यह ऊपर क्या है? देखो! शुद्धभाव अधिकार। शुद्धभाव का अर्थ क्या? यहाँ, हों! एक स्वरूप स्वभाव त्रिकाल ध्रुव सामान्यरूप को यहाँ ज्ञायकभाव, परमपारिणामिकभाव कारणपरमात्मा को यहाँ शुद्धभाव कहते हैं। समझ में आया? पर्याय का शुद्ध-उपयोग का भाव और उससे मुक्ति प्राप्त होती है, उसकी यहाँ बात नहीं है, क्योंकि शुद्ध-उपयोग भी पर्याय है और उसका फल मोक्ष भी पर्याय है। उस पर्याय को तो यहाँ बहि:तत्त्व कहा है।

श्रोता : इतनी सब मेहनत में पड़ना?

पूज्य गुरुदेवश्री : जिसे हित करना हो तो उसे पड़ना, न करना हो तो वह स्वतन्त्र है। समझ में आया? बोलो, श्लोक बोलो, फिर इसमें से निकालेंगे।

जयति समयसारः सर्वतत्त्वैकसारः
सकलविलयदूरः प्रास्तदुर्वारमारः।
दुरिततरुकुठारः शुद्धबोधावतारः
सुखजलनिधिपूरः क्लेशवाराशिपारः॥५४॥

क्या कहते हैं? यह शुद्धभाव किसे कहते हैं? **सर्व तत्त्वों में जो एक सार है,...** गाथा

है, उसका कलश है। सर्व तत्त्वों में-संवर पर्याय, निर्जरा पर्याय, शुद्ध-उपयोग पर्याय, मोक्षपर्याय और एक शुद्धभाव त्रिकाल भाव—इन सब तत्त्वों में एक सार शुद्धभाव एकरूप त्रिकाल जो द्रव्यनय का विषय है, जो सम्यग्दर्शन का ध्येय है। समझ में आया ? सर्व तत्त्वों में अर्थात् संवर, निर्जरा, मोक्ष, आस्रव, बन्ध - ये सब तत्त्व तो पर्यायतत्त्व हैं और पर्यायतत्त्व को यहाँ बहि:तत्त्व कहा है। समझ में आया ?

अन्त:तत्त्व एक समय में सामान्य एकरूप प्रभु, कारणपरमात्मा, कारणजीव, ध्रुवस्वभाव, ज्ञायकभाव परमस्वभावभाव एकरूप; जिसे पर्याय का स्पर्श नहीं। पर्याय को यहाँ व्यवहार तत्त्व कहा है, बहि:तत्त्व कहा है। ओहो! समझ में आया ? यहाँ मोक्ष को भी बहि:तत्त्व कहा है। क्योंकि वह पर्याय है, एक समय की दशा है और शुद्ध-उपयोग जो मोक्षमार्ग है, शुद्ध-उपयोग, वह मोक्षमार्ग है; वह शुद्ध-उपयोग जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, ***जो अपना भगवान पूर्णानन्द सामान्य है, उसका आश्रय करके निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, उसे भी यहाँ बहि:तत्त्व गिनने में आया है। समझ में आया ?*** तो वह बहि:तत्त्व जो संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि है, उसमें एक सार, सर्व तत्त्वों में एक सार है। ओहो! समझ में आया ?

श्रोता : बाकी सब असार ?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक न्याय से सब असार। यह सार तो वे असार; यह अन्त:तत्त्व तो वे बहि:तत्त्व; यह निश्चय तो वे व्यवहार; (यह) सत्य तो (वे) असत्य; यह सच्चा, वे झूठा। लो! सेठी! समझ में आया ?

एक समय का भगवान आत्मा, उसमें तो अनन्त-अनन्त गुण रहे हुए हैं और एक-एक गुण की अनन्त सामर्थ्यता और एक-एक गुण की तीनों काल की पर्यायों का सामर्थ्य गुण में रहा हुआ है। - ऐसे अनन्त गुणों का एकरूप सामान्य, ध्रुव - वह सर्व तत्त्वों में एक सार है। लो! यह संसार में सार-सार कहते हैं न ? धूल में भी सार नहीं है, कहते हैं।

यहाँ तो मोक्ष और संवर-निर्जरा जो मोक्ष का मार्ग और उसका फल मोक्ष, वह भी बहि:तत्त्व है। त्रिकाल की अपेक्षा से, त्रिकाल की अपेक्षा से बात है न ? त्रिकाल की अपेक्षा से। प्रगट पर्याय की अपेक्षा से उसे हितकर कहो, हित का फल कहो, परन्तु वह पर्याय है। यहाँ तो एक समय की पर्याय को गौण करके, हेय कहकर, उसे उपादेय में नहीं मिलाकर (बहि:तत्त्व कहा है)। समझ में आया ?

सर्व तत्त्वों में जो एक सार है,... भगवान ने कहे, वे नवतत्त्व, हों! उनमें एक सार ध्रुव है। जिसे सामान्य कहते हैं, वे एक ही सार है। कहो, समझ में आया? इसमें सिद्ध क्या करना है? तुझे आनन्द की प्राप्ति करना हो तो आनन्द की प्राप्ति में सामान्य ध्रुवस्वभाव एक ही आश्रय करनेयोग्य है। समझ में आया?

श्रोता : गुण और पर्याय दोनों....

पूज्य गुरुदेवश्री : भेद-बेद नहीं। यहाँ कहा न अभी, सुना नहीं? पर्याय की तो बात भी नहीं।

श्रोता : यह तो कहते हैं, तुम गुण और पर्याय निकाल डालो तो रहा क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह रहा अकेला अभेद। गुणभेद नहीं; गुण भेद हो अन्दर, परन्तु यह गुण है – ऐसा कहना, वह असत्यार्थ है, झूठ है। पहले कहा न? एकरूप आत्मा; उसमें 'यह गुण'-ऐसा कहना, भेद डालकर जानना, वह व्यवहार हो गया, असत्यार्थ हो गया, झूठ हो गया, उपचार हो गया। आहाहा! भारी कठिन! जगत को मूल चीज़ की प्राप्ति (हुई नहीं)। पूरा प्रभु बड़ा पड़ा है महा; अब यह तो अभी बाहर के झगड़े, ऐसे करना और ऐसे करना, दया पालना, भक्ति करना, और पूजा करना, उससे मोक्ष हो जाएगा। झगड़ा वहाँ अभी। बहिर्लक्ष्यी (दृष्टि)। समझ में आया? छोटालालभाई!

अब कहते हैं.... **सर्व तत्त्वों में जो एक सार है,...** प्रभु परमात्मस्वरूप, जिसमें पर्याय-वर्तमान तो है नहीं, मोक्ष की पर्याय नहीं और शुद्ध-उपयोग की पर्याय अन्दर नहीं। शुद्ध उपयोग की पर्याय को यहाँ बहि:तत्त्व कहा है। आहाहा! कहो हिम्मतभाई! हमारे पण्डित हैं न? मुख्य पण्डित हैं। बात सच्ची है। समझ में आया? आहाहा!

भाई तुझे हित करना है न? हित अर्थात् सुख करना है न? तो सुख की खान कहाँ है? सुख की खान कोई निमित्त है? सुख की खान राग है? सुख की खान, जो एक समय की पर्याय अनादि की है, उस पर्याय में सुख है? देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा वह राग है, उसमें सुख कहाँ आया? अपने पण्डितजी हैं न! ठीक, रामजीभाई ने प्रश्न किया। अपने पण्डितजी को ठीक यहाँ रखा है। समझ में आया? अरे! भगवान! यहाँ तो कहते हैं संवर, निर्जरा, मोक्ष एक ओर रखो, अनादि के तो हैं नहीं। इसकी एक समय की पर्याय में ज्ञान का विकास है, दर्शन का क्षयोपशम है। अपने क्षयोपशम अर्थात् विकास। वीर्य का क्षयोपशम है, राग-द्वेष तो दुखरूप है, चलो! समझ में आया? परन्तु एक समय की पर्याय है, उसमें सुख है? आनन्द की पर्याय

व्यक्त है ? क्यों ? कि पर्याय पर दृष्टि है तो दुःख की पर्याय व्यक्त है। क्या कहा ? एक समय की जो पर्याय है, ज्ञान-दर्शन वीर्य का विकास-उघाड़-क्षयोपशम है, राग-द्वेष तो दुःखरूप है ही, वह तो ठीक, उसे निकाल डालें परन्तु यह क्षयोपशम की पर्याय जो है, उस पर्याय में सुख है ? सुख है ? राग-द्वेष विकल्प उठता है, उसमें सुख है ? पर्याय में सुख है ?

श्रोता : शुभराग में सुख है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी सुख नहीं। ऐई ! थोड़ा सा संवर हो अज्ञानी के घर में। आहाहा ! अरे ! भगवान !

यहाँ तो दूसरा सिद्ध करना है कि अज्ञानी को वह पर्याय का विकास है, संवर-निर्जरा, मोक्ष बाद में रखो, समझ में आया ? अनादि काल से जीव को निगोद में भी ज्ञान-दर्शन-वीर्य का क्षयोपशम तो है ही, यदि क्षयोपशम न हो तो वह पर्याय में जड़ हो जाये। समझ में आया ? तो यहाँ तो कहते हैं, भगवान ! एक बार सुन तो सही ! तेरी निधि एक समय की पर्याय ज्ञान, दर्शन, वीर्य का उघाड़ है, विकास है, उस पर दृष्टि देने से वह तो दुःखरूप है तो दुःख का विकल्प खड़ा होगा। उसका आश्रय करने से तुझे राग होगा, वह तो दुःखरूप है। समझ में आया ?

एक रूप सर्व तत्त्वों में सार ऐसी दृष्टि की तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट हुई, तो कहते हैं कि उसमें भले आनन्द हो परन्तु नया आनन्द उसमें से उत्पन्न नहीं होता। वह आनन्द की खान है ? समझ में आया ? शुभ-अशुभराग है, उसमें तो आनन्द नहीं। यह तो बराबर है या नहीं ? पैसे में आनन्द है, यह बात तो रही नहीं। बाहर रह गये ? ये सब पैसेवाले देखो न ! यहाँ सब औषध का बड़ा क्या करते हैं ? तुम्हारे क्या कहलाता है ? मेडीकल हॉल। यह भाई रहे हमारे, डॉक्टर। कितने कमाते हैं बारह महीने में ! ऐसी बातें करते हैं। हम कहाँ देखने गये थे ? बाहर में तो सुख, सुख और सुख तथा यहाँ आवें तो दुःख भासता है, ऐसा (ये) कहते हैं। ऐ.. नवरंगभाई ! ऐई ! रतिभाई ! क्या है ? तुम्हारे पैसे में सुख है ? स्त्री में सुख है ? बंगले में सुख है ? दो लाख का बंगला बनाकर यहाँ रहे हैं, उसमें सुख है ?

यहाँ तो दूसरी बात करनी है, वह तो पर-अजीव में गया। अपनी पर्याय में शुभ-अशुभ राग है, उसमें सुख है ? वह तो आकुलता है। अब रहा ज्ञान, दर्शन, वीर्य का विकास-क्षयोपशम, उस क्षयोपशम की पर्याय में सुख है ? और क्षयोपशम की पर्याय का आश्रय करने से सुख उत्पन्न होता है ? उस पर्याय का आश्रय करने से तो राग, दुःख ही उत्पन्न होता है। राजमलजी ! समझ में आया ?

आनन्द की निधि एक स्वरूप चिदानन्द ध्रुव है। यहाँ तो पर को निकाल दिया, राग-द्वेष को निकाल दिया, क्षयोपशम की पर्याय निकाल दी। अब स्वभाव का सार तत्त्व भगवान आत्मा का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन, चारित्र जो आनन्द की पर्याय प्रगट हुई... समझ में आया? क्या उसके आश्रय से आनन्द की वृद्धि होती है? वह नया आनन्द प्रगट होनेवाला है, वह पर्याय में पड़ा है? वह आनन्दरूप भले हो। समझ में आया? क्या कहा, समझ में आया? उसमें आनन्द पड़ा है कि उसमें से आनन्द निकले? आनन्द है तो एक समय का आनन्द है। बराबर है। केवलचन्दजी!

मोक्षमार्ग हुआ, सर्व तत्त्वों में सार चैतन्य प्रभु ज्ञायकभाव का अन्तर आश्रय करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुए। वे सम्यग्दर्शन-ज्ञान हैं आनन्द, परन्तु एक समय का आनन्द है या नये आनन्द की खान है? समझ में आया? त्रिकाल भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की खान है। आहाहा! तो कहते हैं कि **सर्व तत्त्वों में जो एक सार है,...** पुण्य-पाप नहीं, क्षयोपशमभाव नहीं, यह उघड़ा हुआ विकास, क्षायिक समकित चौथे गुणस्थान में हुआ, लो न! वह भी सुख की खान नहीं। वह सुखरूप दशा भले हो, परन्तु उसमें से सुख प्रगट हो, ऐसा नहीं है। अत: सर्व तत्त्वों में सार भगवान आत्मा अतीन्द्रिय.. अतीन्द्रिय अनन्त चतुष्टय जो भगवान को आनन्द प्रगट होता है, वह भी एक समय का आनन्द है। समझ में आया? मोक्ष की पर्याय का आनन्द एक समय का है। उस एक समय के अंश में से नया आनन्द प्रगट होता है? यह कहते हैं। देखो!

जो समस्त नष्ट होनेयोग्य भावों से दूर है,... भाषा.. समझ में आया? **सर्व तत्त्वों में जो एक सार है,...** भगवान ज्ञायकस्वरूप ध्रुव अभेद सामान्य, जिसमें पर्याय तो है नहीं परन्तु गुणभेद भी नहीं। गुणभेद करने जाये तो उपचार, असत्यार्थ, झूठ हो जाता है। भेद करके दृष्टि करे तो राग और दु:ख उत्पन्न होता है। समझ में आया?

कहते हैं कि **सर्व तत्त्वों में...** जो एक भगवान शुद्ध पूर्ण ध्रुव सार है। कैसा है? **समस्त नष्ट होनेयोग्य भावों से दूर है,...** यह संवर, निर्जरा और मोक्ष की पर्याय भी नाश होने योग्य है, शाश्वत रहनेवाली नहीं है। आहाहा! मोक्ष की पर्याय एक समय की है न? सिद्ध की पर्याय भी एक समय की है। वह गुण नहीं, ध्रुव नहीं।

श्रोता : सदृशता....

पूज्य गुरुदेवश्री : भले सदृशता हो परन्तु एक समय ही रहती है, दूसरे समय में नाश

को प्राप्त हो जाती है। समझ में आया? गजब बात, भाई! केवलज्ञान भी एक समय की उत्पाद पर्याय है। ***उत्पाद, व्यय से व्यतिरिक्त जो द्रव्य है, उसे यहाँ सार कहा गया है।*** यह बताया था न? भाई! ४३ गाथा में नहीं? क्या कहलाता है वह? परमात्मप्रकाश में से एक बार बताया था न? एक बार बताया था या नहीं? ४३ गाथा, देखो!

यद्यपि पर्यायार्थिकनयकर उत्पाद-व्ययकर सहित है तो भी द्रव्यार्थिकनयकर उत्पाद-व्ययरहित है, सदा ध्रुव (अविनाशी) ही है... उसे सार तत्त्व कहा गया है। आहाहा! समझ में आया? **वही परमात्मा...** भगवान ध्रुवस्वरूप **निर्विकल्प समाधि के बल से तीर्थंकरदेवों ने देह में भी देख लिया है...** पहले अधिकार की ४३ गाथा और दूसरे में भी ४३ में है। यह तो पहले में स्पष्टीकरण स्पष्ट है। **भावाभावाभ्यं** शब्द मूल पाठ में है न? भाव अर्थात् उत्पाद और अभाव अर्थात् व्यय। '**भावाभावहिं संजुवउ भावाभावहिं जो जि। देहि जि दिट्ठउ**' उससे रहित भगवान आत्मा एक समय में ध्रुव वस्तु कायम एकरूप पड़ी है, वह वर्तमान उत्पाद और व्यय से रहित है। वर्तमान एक समय की पर्याय से रहित है। क्योंकि उत्पाद-व्यय नाश पाने योग्य है। यह ध्रुव है। आहाहा! गजब बात, भाई! समझ में आया?

भावाभावहिं संजुवउ भावाभावहिं जो जि।
देहि जि दिट्ठउ जिणवरहिं मुणि परमउप्पउ सो जि॥४३॥

दूसरे में भी ऐसा है।

दूसरे अधिकार की ४३ गाथा। तब कहा था बहुत-बहुत बातें हैं। परमात्मप्रकाश समयसार आदि अलौकिक बातें हैं। देखो, ४३! **यद्यपि पर्यायार्थिकनय से उत्पाद-व्ययध्रौव्यकरसहित है...** तीन भेद हुए। भेद करना, वह व्यवहारनय का विषय हो गया। **तो भी द्रव्यार्थिकनयकर टंकोत्कीर्ण ज्ञान के अखण्ड स्वभाव से ध्रुव ही है।** तीन भेद डालना, वह अंश अपेक्षा से व्यवहार हो गया। वह भेद नहीं डालकर एक सामान्य.. सामान्य.. सामान्य, उत्पाद-व्यय नहीं। समझ में आया? ए... मांगीलालभाई! यह दो बोल पहले आये थे। समझ में आया? मोक्ष की पर्याय भी उत्पाद-व्ययवाली है। अरे! गजब बात, भाई! आहाहा! बेचारे लोगों को यह तत्त्व सुनने को नहीं मिलता। मोक्ष की पर्याय उत्पाद-व्ययरूप है। संवर, निर्जरा उत्पाद-व्ययरूप है। वह (शुद्ध तत्त्व) उत्पाद-व्ययरहित। समझ में आया?

जो समस्त नष्ट होनेयोग्य... समस्त शब्द लिया है न? भाई! संवर-निर्जरा मोक्ष सब ले लेना है। आहाहा! भगवान आत्मा **समस्त नष्ट होनेयोग्य भावों से...** एक समय की पर्याय का

उत्पाद, पूर्व की पर्याय का व्यय, वस्तु ध्रुव एकाकार रह गयी। वह चीज़ जो है, वह सर्व तत्त्वों में सार है। उसे यहाँ शुद्धभाव कहते हैं। उसे शुद्धभाव (कहते हैं)। यहाँ पर्याय की बात नहीं है। शुद्धोपयोग भाव, वह पर्याय है, नाश पाने योग्य है। पर्याय नाश पाती है, शुद्धोपयोग भी नाश पाता है। समझ में आया? केवलज्ञान सादि-अनन्त भले रहे परन्तु वह तो सदृशता की अपेक्षा से। उसकी स्थिति तो एक समय की है। समझ में आया? सिद्ध की पर्याय की निर्मलता का प्रगट होना, वह प्रगट एक समय की दशा है। सिद्ध की दूसरे समय में उस पर्याय का व्यय होकर नयी पर्याय उत्पन्न होती है, क्योंकि उत्पाद-व्यय से सिद्ध है और आत्मा जो त्रिकाल उत्पाद-व्यय से रहित ध्रुव है, वह सम्यग्दर्शन का विषय है।

श्रोता : ध्रुवस्वभाव कूटस्थ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ***कूटस्थ है, अपरिणामी है। कूटस्थ है, अपरिणामी है, पलटने से रहित है। पारिणामिकभाव कहते हैं, तथापि उसमें परिणमन नहीं है।*** वह स्वरूप है। परिणाम का अर्थ वह स्वरूप है, आत्मस्वरूप है, आत्मा का निजस्वरूप है। एक समय की पर्याय, मोक्षतत्त्व के अतिरिक्त एक स्वरूप भगवान ऐसा त्रिकाल अनादि-अनन्त है। काल की उपाधि अनादि-अनन्त कहना, वह तो ध्रुव रहता है इस अपेक्षा से, बाकी एक समय में सामान्य ध्रुव है, उसे यहाँ शुद्धभाव कहने में आया है, वह सम्यग्दर्शन का विषय है और उसे कारणपरमात्मा कहा गया है। ***वास्तव में कारण जीव ही वह है। कारणपरमात्मा ही वह है।*** आहाहा! समझ में आया?

समस्त नष्ट होनेयोग्य... जरा सूक्ष्म पड़े परन्तु समझने योग्य यह चीज़ है। बाकी तो ग्यारह अंग 'पढ़ डाला', नव अंग 'पढ़ डाला' परन्तु उसमें क्या चीज़ कहनी थी, वह इसने दृष्टि में ग्रहण नहीं की। शास्त्र में से निकाला नहीं और दृष्टि में लिया नहीं। समझ में आया? अनादि काल से इसने ऐसा ही स्वच्छन्द का सेवन किया है।

कहते हैं, अहो! सर्व तत्त्वों में जो एक सार भगवान, **समस्त नष्ट होनेयोग्य भावों से दूर...** भाव अर्थात् पर्याय। बदल जानेवाली जो उत्पाद-व्यय-पर्याय है, उससे दूर है, दूर है। जैसे यहाँ कहा न कि उत्पाद-व्ययसहित है। उसी प्रकार यहाँ संवर-निर्जरा आदि उत्पाद-व्यय नाश पाने योग्य से दूर है। यह गजब बात, भाई! पर्याय इसकी और पर्याय से दूर है। समझ में आया? ऐसा शुद्धभाव दृष्टि में लेने योग्य है तो यह है। यह जब तक दृष्टि में नहीं ले, तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होगा। धर्म की पहली सीढ़ी की शुरुआत यहाँ से होती है। इसके बिना

सम्यग्ज्ञान नहीं, इसके बिना चारित्र-फारित्र, व्रत-तप कुछ नहीं होता। रण में शोर मचाने जैसा अरण्य रुदन है। समझ में आया ? यह आत्मा ध्रुवस्वभाव, शुद्धभाव की दृष्टि किये बिना, सम्यग्दर्शन बिना जो कुछ करे, वह सब चार गति में भटकने के भाव हैं। आहाहा !

श्रोता : यह किस गुणस्थान की बात है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : चौथे गुणस्थान की। बाबूभाई निर्णय कराते हैं, भाई ! चौथे गुणस्थान की बात है, बापू ! यह तो चौथे गुणस्थान की बात है।

सम्यग्दर्शन... आहाहा ! सम्यग्दर्शन '**भूदत्थमस्सिदो खलु**' सबेरे अपने चलता है न ? '**सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥ भूदत्थमस्सिदो खलु,.. भूदत्थमस्सिदो खलु**' यह शुद्ध तत्त्व जो सार कहने में आया है, इसका आश्रय करने से ही सम्यग्दर्शन होता है। समझ में आया ? यह कभी सुना ही नहीं, केवलचन्दजी ! भगवान परमात्मा की पेढ़ी है, प्रभु ! यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर, जिनकी खान में अनन्त सर्वज्ञ परमात्मा पड़े हैं। भेदरूप नहीं, हों ! शक्तिरूप, समझ में आया ?

जिसने दुर्वार काम को नष्ट किया है,... आहाहा ! देखो ! दुर्वार काम। इच्छा भोग जिसमें है ही नहीं, ऐसा कहना है, हों ! नष्ट किया है अर्थात् है ही नहीं। है ही नहीं। भगवान ध्रुव शुद्धभाव परमात्मभाव में दुर्वार काम, इच्छा के भोग के दुर्वार-निवारण न किये जा सकें, ऐसे भोग की वासना जिसमें तीन काल में नहीं है। भगवान आत्मा में है ही नहीं। समझ में आया ? दुर्वार काम, राग, भोग की वासना की मिठास। अनुभव कहना है, हों ! यहाँ राग का अनुभव दुर्वार है। लोगों को अन्दर मिठास.. मिठास.. भोग की मिठास (आती है)। मिठास कहते हैं ? क्या कहते हैं ? हिन्दी में मिठास कहते हैं ? लक्ष्य स्त्री पर, भोग पर, खाने पर, पीने पर, मौसम्बी, लड्डू पर लक्ष्य जाये तो... आहाहा ! राग मिठास (लेता है), कहते हैं, मूढ़ है। उसे राग में मिठास लगती है। ऐसी राग की मिठास स्वरूप में है ही नहीं। समझ में आया ?

सम्यग्दृष्टि को राग में सुख नहीं भासित होता, स्त्री के विषय में सुख भासित नहीं होता। आहाहा ! भोग में दिखने पर भी सम्यग्दृष्टि को अपने आनन्दस्वरूप की खान में आनन्द दिखता है। समझ में आया ? चाहे तो छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द में सम्यग्दृष्टि बैठा हो, चाहे तो इन्द्र के इन्द्रासन में करोड़ों अप्सराओं के वृन्द में दिखायी दे परन्तु सम्यग्दृष्टि को कहीं सुख का आभास दिखायी नहीं देता। समझ में आया ? ऐसी सबके ऊपर से दृष्टि उठ गयी है। पूरे लोक के ऊपर से दृष्टि उठ गयी है। इज्जत कीर्ति, महिमा और मान और अभिनन्दन के पत्र देते हैं या नहीं ? क्या कहते हैं ? अभिनन्दन दे। आहा ! तुम... धूल में भी सुख नहीं। सुन न अब। तेरे

अभिनन्दन पत्र में-कागज के टुकड़े में महिमा करते हैं। तुम बहुत बड़े हो और तुम बहुत बड़े हो और तुम बहुत बड़े हो और तुमने बहुत काम किये हैं। ऐसे अभिनन्दन में धूल में भी सुख नहीं है। सुन तो सही! ऐई! मणिभाई! आहाहा!

सम्यग्दृष्टि को इन्द्र मान देने आवे तो सुख नहीं मानते। सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती हो और इन्द्र आकर उसके सिंहासन में साथ में बैठ जाये। इन्द्र ऊपर से आकर, बत्तीस लाख विमान का पहले देवलोक का स्वामी, शक्रेन्द्र, बत्तीस लाख विमान उसके पास है। किसी विमान में असंख्य-असंख्य देव, असंख्य अरब देव हैं। वह सम्यग्दृष्टि को कहीं सुख भासित नहीं होता। (वह इन्द्र) चक्रवर्ती का मित्र होता है। साथ में बैठ जाये। ओहो! बड़ा मान आया। लोगों को बहुत सुख भासित होता है। नहीं.. नहीं.. नहीं.. मेरा आनन्द मेरे पास है। यह आनन्द बाहर में तीन काल में कहीं नहीं है। समझ में आया?

श्रोता : यह सम्यग्दृष्टि!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शन ऐसा मान ले, इसलिए वह कहीं सम्यग्दर्शन है? समझ में आया? पूरी दुनिया की दृष्टि उठ गयी। सुखबुद्धि चली गयी। समझ में आया? जहाँ विकल्प उठता है तो दुःख ही भासित होता है। दुःख.. दुःख..। आनन्द की खान आत्मा है। उसके साथ तुलना करने से शुभराग भी दुःख भासित होता है। आहाहा! जैसे मछली पानी में से निकलकर रेत पर आवे तो दुःखी है परन्तु वह मछली निकलकर अग्नि में जाये तो बहुत दुःख है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूप में आनन्द.. आनन्द.. आनन्द.. अनुभव करता है। वह शुभभाव में आता है तो मछली जैसे रेत में जाये, उसी प्रकार दुःख अनुभव करता है और अशुभ में तो जैसे अग्नि में गिरे, उतना दुःख है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा सारतत्त्व सम्यग्दृष्टि को तो भगवान आत्मा ध्रुव दिखता है। कहो, समझ में आया? रतिभाई!

जो पापरूप वृक्ष को छेदनेवाला कुठार है,... संसार पूरा पाप है। संसार दूर नहीं रहता, हों! इसकी पर्याय में विकार, उदयभाव है, वह संसार है। पुण्य, वह पुण्य नहीं; पुण्य भी पाप है। यहाँ तो पुण्य और पाप दोनों पाप है। समझ में आया? 'पाप को पाप सब कहे, अनुभवी जन पुण्य को भी पाप कहे।' पण्डितजी! आता है न? योगसार में आता है। पाप को पाप सब कहे, परन्तु अनुभवी पुण्य को भी पाप कहे। आहाहा! शास्त्र में तो यहाँ तक चला है, भगवान! आत्मा आनन्दस्वरूप है न! उसे छोड़कर रत्नत्रय का जो विकल्प आता है न, वह पाप में आया, ऐसा कहते हैं, हों! जयसेनाचार्य की टीका में जहाँ पुण्य-पाप अधिकार पूरा हुआ, वहाँ

संस्कृत में है कि व्यवहाररत्नत्रय पाप है। क्योंकि भगवान अतीन्द्रिय आनन्द प्रभु में से पतित हुआ, विकल्प आया, शुभराग आया, (इसलिए वह पाप है)। समझ में आया ? है या नहीं यहाँ ? निश्चय से पाप है, व्यवहार से पुण्य है, ऐसा हम कहते हैं। उसमें क्या ? देखो ! लाइन की है।

'**व्यवहारमोक्षमार्गो**' प्रश्न पूछता है कि महाराज ! '**कथं पापाधिकार**' तुम तो पुण्य की बात करते हो। व्यवहाररत्नत्रय को पाप अधिकार कैसे कहा ? '**व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपरादेयभूतस्य कारणभूतत्वादुपादेयः परंपरया जीवस्य पवित्रताकरणात् पवित्रस्तथापि बहिर्द्रव्यालंबनत्वेन**' व्यवहाररत्नत्रय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में '**बहिर्द्रव्यालंबनत्वेन**' बहिर्द्रव्यों का आलम्बन है। आहाहा ! यहाँ तो अभी व्यवहाररत्नत्रय से चौथे में मोक्षमार्ग शुरु होता है, ऐसा कहते हैं। अरे भगवान ! तुझे बहुत दुःख, होगा, हों ! ऐसी विपरीत दृष्टि का तुझे बहुत दुःख होगा। आहाहा ! समझ में आया ?

भगवान जयसेनाचार्य कहते हैं, यह बहिर्तत्त्व की बात चलती है। व्यवहाररत्नत्रय बहिर्तत्त्व आस्रवतत्त्व है। आहाहा ! '**बहिर्द्रव्यालंबनत्वेन पराधीनत्वात्पतति**' एक कारण। पतति-पराधीन। स्वाधीनता से पतन होता है। आहाहा ! इसकी दृष्टि में खबर नहीं। समझ में आया ? '**नश्यतीत्येकं कारणं। निर्विकल्पसमाधिरतानां**' भगवान आत्मा निर्विकल्प स्वरूप की स्थिरता निर्विकल्प शान्ति, '**व्यवहारविकल्पालंबनेन स्वरूपात्पतितं**' समझ में आया ? पहले कहा '**बहिर्द्रव्यालंबनत्वेन पराधीनत्वात्पतति**' यहाँ कहा, '**निर्विकल्पसमाधिरतानां व्यवहारविकल्पालंबनेन स्वरूपात्पतितं भवतीति**' स्वरूप, आनन्दस्वरूप की निर्विकल्प शान्ति से पतित होते हैं, तब विकल्प उत्पन्न होता है। अमरचन्दजी ! ये लोग शोर मचाते हैं कि देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा को मिथ्यात्व कहते हैं। मिथ्यात्व नहीं कहते भगवान ! सुन तो सही ! वह तो राग है। उसे परमार्थ धर्म मानना, वह मिथ्यात्व है। अरे ! इतना विपरीत अर्थ यहाँ का कर दे, फिर कहे, देखो ! ऐसा कहते हैं, ऐसा कहते हैं। अरे ! प्रभु ! तुझे कठिन पड़ेगा, नाथ, प्रभु ! ऐसा विपरीत अर्थ करके दूसरे का अनर्थ करता है। समझ में आया ? देवीलालजी ! '**भवतीति द्वितीयं कारणं।**' है न ? '**इति निश्चयनयापेक्षया पापं।**' आहाहा ! वह पाठ यहाँ कहते हैं, देखो यहाँ। समझ में आया ?

जो पापरूप वृक्ष को छेदनेवाला कुठार है,... भगवान आनन्दकन्द की जहाँ दृष्टि हुई और स्थिरता हुई तो वह तो पर्याय में छेद हुआ। यह तो वस्तु में ही वह नहीं। अनादि काल से व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प जो पाप है, उसे छेदनेवाला कुठार अर्थात् उसमें यह बात है नहीं। समझ में आया ?

जो शुद्धज्ञान का अवतार है,... आहाहा ! अवतार अर्थात् जन्म की बात नहीं, हों ! वह

तो शुद्धज्ञान अवतारस्वरूप प्रभु है। अनादि-अनन्त ध्रुव शुद्ध ज्ञान का अवतार है। शुद्धज्ञान का रूप है, शुद्धज्ञान का स्वरूप है। त्रिकाल शुद्ध भगवान आत्मा ध्रुव है, जो सम्यग्दर्शन का विषय है। समझ में आया ?

जो सुखसागर की बाढ़ है... आहाहा! वस्तु, हों! अभी पर्याय में बाद में। उसमें पूर्णानन्द ध्रुव में सुखसागर उछलता है। ध्रुव, जो यह शुद्धभाव कहा, उसमें सुखसागर का पूर है। तुम्हारे बाढ़ नहीं कहते ? बाढ़... ज्वार। समुद्र में ज्वार आता है न ? बाढ़। यहाँ तो द्रव्य में सदा ही बाढ़ ही पड़ी है, ऐसा कहते हैं। पर्याय में बाढ़ आवे, वह नहीं, वह तो बाढ़ ही द्रव्यस्वभाव पड़ा है। एकरूप भगवान सामान्य स्वभाव, वह सुखसागर का पूर है। उसका आश्रय करने से पर्याय में ज्वार आता है, वह दूसरी बात है। समझ में आया ? वह चीज़ ही सुखसागर का पूर है। समझ में आया ? ओहोहो!

पूरा सुख का सागर भरा है न! चैतन्य भगवान सुखसागर का पूर है। समझ में आया ? सुखसागर का पूर... पूर... भरा है। इतना आत्मा, इतने क्षेत्र में, असंख्यात प्रदेश में सुखसागर का पूर! पूर तो बाधक! पानी का पूर आवे तो बाधक... समझे। बाधक है, स्पर्शता है। भाई! भगवान आत्मा एक समय की पर्याय बिना का सुखसागर का पूर है। उसे यहाँ शुद्धभाव और उसे वास्तव में आत्मा कहने में आता है।

जो क्लेशोदधि का किनारा है,... यह क्लेशरूपी समुद्र। यहाँ सुखसागर कहा और ऐसे क्लेश उदधि का किनारा अर्थात् उसमें है नहीं। क्लेश का-दुःख का ढेर उसमें है ही नहीं। त्रिकाल आनन्द भगवान आत्मा में, वह क्लेश नहीं है। आहाहा! गजब बात, भाई! समझ में आया ?

वह समयसार (शुद्ध आत्मा) जयवन्त वर्तता है। ऐसा भगवान आत्मा त्रिकाल जयवन्त वर्तता है। त्रिकाल ऐसा का ऐसा भगवान ने देखा है, वैसा ही जयवन्त वर्तता है। तेरी दृष्टि वहाँ करनेयोग्य है। आहाहा! समझ में आया ? यह ३८ गाथा पूरी हुई। ३८ एक गाथा पूरी हुई। अब ३९।

यह, निर्विकल्पतत्त्व के स्वरूप का कथन है। यह शुद्धभाव, ध्रुव शुद्धभाव,

णो खलु सहावठाणा णो माणवमाणभावठाणा वा।
णो हरिसभावठाणा णो जीवस्साहरिस्सठाणा वा॥३९॥

मानापमान, स्वभाव के नहिं स्थान होते जीव के।
होते न हर्षस्थान भी, नहिं स्थान और अहर्ष के॥३९॥

देखो! यह शब्द टीकाकार का। जो भगवान आत्मा शुद्ध ध्रुव **त्रिकाल-निरुपाधि जिसका स्वरूप है,...** त्रिकाल निरुपाधि जिसका स्वरूप है। उसे कभी उपाधि स्पर्श नहीं करती। आहा! इस एक स्वरूप में रागादि तीन काल में नहीं। शुद्धपर्याय भी है नहीं। वह सब बाह्य तत्त्व में गया। समझ में आया? बाह्य तत्त्व, अन्य तत्त्व, व्यवहार विषय का तत्त्व, निश्चय का विषय नहीं। आहाहा! लोगों को यह कुन्दकुन्दाचार्य का वास्तविक तत्त्व ऐसा लगता है कि यह कहाँ ले जाते हैं? यह कहाँ ले जाते हैं? वेदान्त में ले जाते हैं? एक व्यक्ति ऐसा कहता था। वे भीमजीभाई थे न? क्या कहलाते हैं? सुशील तुम कहते थे न? कोई कहता था, भाई कहते थे। सुशील यहाँ थे न? भाई! आश्रम में। ऐसा कहते, जैन लोगों ने आचार्य लगभग वेदान्त जैसी बात करते हुए अटक गये। अरे! सुन न सुन! बात करते-करते ले गये अवश्य, फिर रुक गये, आगे नहीं गये। ऐसी भाषा हमने सुनी थी। यहाँ रहते थे और कभी आते थे। सुधरे हुए व्यक्ति, बाहर के सुधरे हुए। समझ में आया?

यह तो जैन परमेश्वर का कहा हुआ तत्त्व है। वेदान्त के साथ एक अंश भी मेल नहीं है। समझ में आया? द्रव्य और पर्याय, वस्तु का स्वरूप प्रमाण का विषय है। उसमें द्रव्यस्वरूप क्या, उसका कथन है। उसमें वेदान्त आया कहाँ? वेदान्त में अनन्त द्रव्य और अनन्त आत्मा और एक आत्मा में अनन्तानन्त गुण तथा एक-एक समय में अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें ये बात कहाँ है? समझ में आया? तीन काल-तीन लोक और यह वस्तु का स्वरूप वर्णन करते हैं। वेदान्त के साथ मेलवाली (नहीं है)। अभूतार्थ कहते-कहते वापस पर्याय को भूतार्थ कहकर अटक गये। अरे भगवान! तुझे जैनदर्शन की खबर नहीं। समझ में आया? यह तो सर्वज्ञ का कहा हुआ वस्तु का स्वरूप ऐसा है। समझ में आया?

धर्मभावना में सर्वज्ञ को पहले लिया है न? स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में। धर्म का मूल सर्वज्ञ है। एक समय में तीन काल-तीन लोक देखे, ऐसा पर्यायवान द्रव्य न माने तो उसके एक भी तत्त्व सच्चा नहीं होता। भगवान परमेश्वर...

श्रोता : थोड़ा नियत और थोड़ा अनियत...

पूज्य गुरुदेवश्री : थोड़ा नियत-अनियत, ऐसा कुछ है ही नहीं। अनेकान्त ही है। नियत है और अनियत नहीं। समझ में आया? भाई पूछते थे न? भगवान ने क्रमबद्ध देखा है, उसमें पुरुषार्थ कहाँ रहा? रात्रि को प्रश्न था न? अरे! भगवान! तेरी चीज़ का सामर्थ्य देखे.. ओहो! भगवान के ज्ञान की एक पर्याय तीन काल-तीन लोक पर के लक्ष्य बिना अपनी पर्याय

में देखते हैं। आहाहा! जैसे जल को देखने से पूरा तारा मण्डल जल में दिखता है, तुझे ऊपर लक्ष्य करना नहीं पड़ता। जल की स्वच्छता पर नजर करने से पूरा तारा मण्डल दिखता है, वह पानी का स्वरूप है, तारा मण्डल का नहीं। ***लोकालोक का ज्ञान, वह अपनी पर्याय का स्वरूप है, लोकालोक का नहीं। समझ में आया?*** लोकालोक का ज्ञान, वह लोकालोक का नहीं। निमित्त का कथन है। अपनी पर्याय में लोकालोक को जानने की ताकत परिणम गयी है, उसे देखते हैं। समझ में आया? इतनी जिसकी ताकत है... आहाहा! ऐसी पर्याय को जहाँ स्वीकार करने जाये... फिर देखा है... सुन तो सही! स्वामी कार्तिकेय में कहा नहीं? उसे भी मिथ्या करते हैं। स्वामी कार्तिकेय में कहा है न? है न? वहाँ स्पष्ट कहा है। वे भाई विवाद करते हैं न, कौन सी गाथा है? देखो!

सर्वज्ञदेव.. पण्डित जयचन्दजी का अर्थ है। ३२१-३२२ गाथा का अर्थ है। भावार्थ- सर्वज्ञदेव सर्व द्रव्य, सर्व क्षेत्र, सर्व काल, भाव की अवस्था को जानते हैं। सर्वज्ञ के ज्ञान में जो प्रतिभासित होता है, वह नियम से होता है। देखो! यह तो भावार्थ है। चिह्न किया है। जो सर्वज्ञ के ज्ञान में जो प्रतिभासित हुआ है, वह नियम से होता है परन्तु उसमें हीनाधिक कुछ नहीं होता। ऐसा सम्यग्दृष्टि विचार करता है। ऐसा निर्णय करता है, एक समय में तीन काल-तीन लोक देखे, ऐसी ज्ञान की पर्याय का सामर्थ्य है, एक पर्याय का इतना सामर्थ्य है तो मेरे द्रव्य की सामर्थ्य कितनी! अपने द्रव्य के सामर्थ्य पर दृष्टि होने से उसे सम्यग्दर्शन होता है। तब केवलज्ञान की प्रतीति यथार्थ आयी, ऐसा उसे कहा जाता है। आहाहा! भारी विवाद, भाई! मूल तत्त्व और सर्वज्ञ के धर्म का मूल वह है। समझ में आया या नहीं? पहली गाथा है न, उसका कुछ लिखा है, देखो!

जो जाणदि पच्चक्खं तियालगुणपज्जएहिं संज्जुत्तं।
लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देवो॥३०२॥

(श्री स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

धर्मानुप्रेक्षा की पहली गाथा ली है। सर्वज्ञ, वह धर्म का मूल है। जिसे सर्वज्ञ का निर्णय नहीं है, उसे कोई धर्म का निर्णय नहीं है।

श्रोता : विपरीत निर्णय हो तो बाधा नहीं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : विपरीत निर्णय में मिथ्यादृष्टि है। पहले लिखा है, देखो! ३०२ गाथा है। **जो जाणदि पच्चक्खं तियालगुणपज्जएहिं संज्जुत्तं।** तीन काल के गुण-पर्यायसहित

भगवान की एक समय की पर्याय में ज्ञात होते हैं। **लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देवो।** इसका नाम सर्वज्ञदेव है। धर्मानुप्रेक्षा में धर्म की शुरुआत करते हुए स्वामी कार्तिकेय ने सर्वज्ञ को सिद्ध किया है। सर्वज्ञ धर्म का मूल है। सर्वज्ञ ने देखा है, वैसा कहा है। ऐसे सर्वज्ञ का जिसको निर्णय नहीं है, उसे सर्वज्ञ कथित धर्म का निर्णय नहीं होता। 'केवली पण्णत्तो धम्मो शरणं' 'केवली पण्णत्तो धम्मो शरणं'... भाषा बोले परन्तु सर्वज्ञदेव द्वारा कहा हुआ ऐसा धर्म... सर्वज्ञ तीन काल-तीन लोक देखते हैं, तेरी पर्याय कहाँ कैसी होगी, वह भी देखा है, परन्तु ऐसा निर्णय करनेवाले को पर्याय का निर्णय करने में अपने द्रव्य का निर्णय होता है। अपनी पर्याय के निर्णय में भगवान की पर्याय का निर्णय उसमें आ गया। समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं, **त्रिकाल-निरुपाधि जिसका स्वरूप है,...** भगवान शुद्धभाव। देखो! ऐसी सर्वज्ञ पर्याय जैसी शक्ति तो अनन्त पड़ी है। शक्तियाँ, हों! यह पर्याय ऐसे है, ऐसा कुछ अन्दर भेद नहीं है। **त्रिकाल-निरुपाधि...** भगवान आत्मा तीनों काल निरुपाधि है। तीन काल में वर्तमान भी आ गया या नहीं ? वर्तमान में निरुपाधि ? समझ में आया ?

ऐसे शुद्ध जीवास्तिकाय को... भाषा देखो! मुनिराज की भाषा तो देखो! अकेला जीव कहे तो और वेदान्त में चला जाये। शुद्ध जीवास्तिकाय। त्रिकाल निरुपाधिस्वरूप जीव अस्ति और काय, असंख्य प्रदेशस्वरूप, ऐसा भगवान ने देखा है। समझ में आया ? असंख्य प्रदेश शुद्धभाव एकरूप। प्रदेश लिये, अस्तिकाय लिया परन्तु है अभेद एकरूप। समझ में आया ? सर्वज्ञ के अतिरिक्त ऐसी बात कहाँ है ? असंख्य प्रदेशी एक आत्मा, ऐसे अनन्त आत्मा-कहाँ बात है ? सर्वज्ञ के अतिरिक्त यह बात तीन काल में कहीं होती नहीं है और सर्वज्ञ ने कहा, वह धर्म का मूल है, उसका जिसे निर्णय नहीं, उसका कोई धर्म सच्चा नहीं।

शुद्ध जीवास्तिकाय को वास्तव में... वास्तव में शुद्ध जीवास्तिकाय, शुद्धभाव। यहाँ शुद्धभाव को शुद्ध जीवास्तिकाय कहा है। जो पहले अन्तःतत्त्व कहा था, सर्व तत्त्वों में सार कहा था, उसे यहाँ शुद्ध जीवास्तिकाय कहा। शुद्ध जीवास्तिकाय। शब्द बदलकर वस्तु बताते हैं। पाठ में तो ऐसा है, **'णो खलु सहावठाणा'** परन्तु स्वभाव का अर्थ यहाँ विभाव लेना क्योंकि बाद में ४३ गाथा में क्षायिकभाव आदि आयेंगे। क्षायिकभाव भी आत्मा के द्रव्य में नहीं है। शुद्धभाव में क्षायिकभाव नहीं, यह तो बाद में ४३ गाथा में आयेगा। ४३ है न ? ४१ है। **'णो खइयभावठाणा'** जीव में क्षायिकभाव भी नहीं है। है ? पढ़-पढ़कर पढ़े, साधु होकर थोथा पढ़े।

यहाँ कहते हैं, शुद्धभाव एकरूप भगवान में क्षायिकभाव नहीं है। क्षायिकभाव तो सिद्ध

में है, ऐसा कहते थे। सुन तो सही! यहाँ तो शुद्धद्रव्यस्वभाव की बात चलती है। आहाहा! और बड़े आचार्य नाम धरावे, बड़ी सभा इकट्ठी हो, अरे! धूल इकट्ठी हो, चींटियाँ बहुत इकट्ठी हो, उसमें क्या आया? लोग इकट्ठे हों, उसके साथ क्या सम्बन्ध है? समझ में आया? भेगा समझते हो? इकट्ठे होते हैं।

यहाँ '**णो खलु सहावठाणा**' का अर्थ... कोई कहे, विभाव कैसे कहा? क्योंकि यहाँ विभाव की बात है। पश्चात् क्षायिकभाव का निषेध ४१ में आयेगा। समझ में आया? **शुद्ध जीवास्तिकाय को वास्तव में विभावस्वभावस्थान...** देखो, पाठ में लिया है। '**सहाव**' क्योंकि अपनी पर्याय का भाव है न? पर्याय स्व स्पष्ट भवनं स्वभाव। पर्याय में है। राग, दया, दान, भक्ति, पूजा आदि के भाव पर्याय में हैं, परन्तु वे विभावभाव हैं। वे स्थान नहीं, शुद्धभाव में वे है ही नहीं। शुद्धभाव समझे? शुद्ध उपयोग नहीं। त्रिकाल ध्रुव शुद्धभाव। समझ में आया? उसमें वे नहीं। पाठ में है, '**णो खलु सहावठाणा**' किसी को तर्क होता है परन्तु '**सहावठाणा**' का अर्थ ही यह है। समझ में आया? स्थान तो उसको कहेंगे, क्षायिक स्थान ४१ में कहेंगे। '**णो खइयभावठाणा**' परन्तु यहाँ क्षायिकभाव पीछे लेना है। वहाँ भी **ठाणा** अर्थात् प्रकार है न? सब क्षायिक के स्थान, वे द्रव्य में नहीं हैं। **ठाणा** तो सर्वत्र कहेंगे। समझ में आया? '**सहावठाणा**' '**क्षायिकठाणा**' '**उदयठाणा**' सब द्रव्य में है। यहाँ स्वभाव को विभाव क्यों कहा, यह जरा सिद्ध किया है। क्षायिकभाव आयेगा, उपशम, क्षयोपशम आदि भाव (आयेंगे) तो यहाँ विभावभाव की बात चलती है।

विभावभाव का कोई प्रसंग भगवान शुद्ध में है ही नहीं और विभाव की पर्याय के साथ द्रव्य तीन काल में तन्मय नहीं है। समझ में आया? उसे तो कर्ता-कर्म में संयोगी भाव कहा है - विकार को संयोगी भाव (कहा है)। जैसे संयोगी चीज़ है, वैसे विकार व्यवहाररत्नत्रय आदि संयोगी भाव है। वह संयोगी भाव शुद्ध ध्रुव में है ही नहीं। शुद्ध जीवास्तिकाय भगवान में नहीं है। समझ में आया? एक बोल आया।

और एक ओर कहे कि पर्याय में विभाव है। उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र की दूसरी गाथा / सूत्र लो तो वहाँ कहे जीव में पाँच तत्त्व, पाँच भाव होते हैं। जीव के पाँच भाव हैं। वह तो पर्याय और द्रव्य, प्रमाण से बताया है। समझ में आया? कुन्दकुन्दाचार्य के शिष्य कहे, राग वह जीवतत्त्व है; मिथ्यात्व, जीवतत्त्व है; पाप, जीवतत्त्व है। परिणाम, परिणाम की बात है न? परिणाम की बात है न? समझ में आया? भाई! यह त्रिकाल द्रव्य और पर्याय दो को बताने की

बात है, पर से भिन्न कराने की बात है। पर से भिन्न, यह तो पर्याय से भिन्न बताने की बात है। उसमें नहीं आवे। यहाँ तो पारिणामिकभाव जीव का भाव। क्षायिकभाव जीव का भाव; दया, दान, पापभाव, वह जीव का भाव, ऐसा कहा है। समझ में आया? यह तत्त्वार्थसूत्र मोक्षशास्त्र बहुत चलता है। दशलक्षण पर्व में दस दिन बहुत चलता है। उसमें तो ऐसा लिखा है, वहाँ चिपट जाता है, देखो! उमास्वामी ने कहा है। ताराचन्दजी! भाई! यह तो व्यवहारनय की प्रधानता से कथन है तो जीव में पारिणामिकभाव जैसे जीव है, वैसे राग-द्वेष मिथ्यात्व वह जीव है, ऐसा कहा है। वह पर्याय का तत्त्व है न? उसका पर्याय तत्त्व है न? वह परद्रव्य से भिन्न बताने को जीव की बात की। यहाँ पर्याय से भिन्न बताने को पर्याय का अंश व्यवहारनय का विषय है। समझ में आया?

अपना द्रव्य, द्रव्य शब्द से द्रव्य-पर्याय दोनों, उसे निश्चय कहे तो पर को व्यवहार कहते हैं, भाई! क्या कहते हैं? सुनो! अपने द्रव्य-पर्याय को निश्चय कहा तो पर को व्यवहार कहा। यहाँ अपने सामान्य को जब निश्चय कहा तो पर्याय को व्यवहार कहा। समझ में आया? जब निश्चय स्व लो तो द्रव्य-गुण-पर्याय निश्चय स्वतत्त्व है। निश्चय का ज्ञान कराया, परद्रव्य व्यवहार कहकर प्रमाण किया, परन्तु जब अपने में प्रमाण कहना हो तो द्रव्य ध्रुव त्रिकाल एकरूप है, वह निश्चय का विषय है; पर्याय के चार भाव हैं, वह व्यवहारनय का विषय है। दो होकर प्रमाण का विषय हो गया अपने ही अपने में। समझ में आया?

कहते हैं, भगवान आत्मा जिसे यहाँ जीवतत्त्व कहा; यहाँ कहते हैं, जीवतत्त्व जो सारतत्त्व है, उसमें वह है ही नहीं। समझ में आया? पर्यायबुद्धि छुड़ाने को, अंशबुद्धि छुड़ाने को, व्यवहारबुद्धि छुड़ाने को, निश्चयबुद्धि कराने को। नहीं! भगवान आत्मा में संसार की गन्ध नहीं। आहाहा! और संसारतत्त्व जीव में है या संसारतत्त्व जड़ में है? वह तो एक समय के अंश में संसारतत्त्व है। ध्रुव शुद्ध भाव त्रिकाल, जो सम्यग्दर्शन का विषय है, उसमें संसार की गन्ध नहीं है। उसके आश्रय से संसार का नाश होता है। उसका आश्रय करने से मोक्ष की उत्पत्ति होती है, संसार का नाश होता है। ऐसे तत्त्व में संसार है नहीं। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

३० श्री वचनामृत, बोल ११२-११३, प्रवचन ४०
दिनांक १७-०७-१९७८

१११ हुआ न? ११२ बोल।

सहज तत्त्व अखण्डित है। क्या कहते हैं? जो आत्मा स्वाभाविक द्रव्य / वस्तु है, द्रव्यवस्तु, वह सहज तत्त्व स्वाभाविक है और वह अखण्ड है। आहा..हा..! उसमें पर्याय का भेद भी नहीं, खण्ड-खण्ड ज्ञान की दशा नहीं तथा राग नहीं, ऐसी अखण्ड चीज, वह वस्तु है। अखण्ड कहो, अभेद कहो, वस्तु अनादि-अनन्त अखण्ड चीज है।

चाहे जितना काल गया,... इसके ऊपर चाहे जितना काल गया। **चाहे जितने विभाव हुए,...** आहा..हा..! विकार, मिथ्यात्व के भाव—गृहीत मिथ्यात्व, अगृहीत मिथ्यात्व, ३६३ पाखण्ड का मिथ्यात्व और विभाव—पुण्य और पाप के भाव चाहे जितने हुए; वस्तु में कुछ हुआ नहीं। वे तो पर्याय में थे। आहा..हा..! वस्तु जो अखण्ड द्रव्यस्वभाव जो तत्त्व है-चैतन्यतत्त्व, उसका अखण्डपना, उसकी पर्याय में चाहे जितने विभाव मिथ्यात्व आदि हुए, अरे! 'मैं आत्मा नहीं' नास्तिक का ऐसा मिथ्यात्वभाव पर्याय में हुआ परन्तु अखण्ड तत्त्व में उसका प्रवेश नहीं। आहा...हा...! वह तो इसकी सब पर्याय ऊपर-ऊपर है, उसमें सब है। अन्तर्वस्तु जो अखण्ड तत्त्व सहज वस्तु है, जो सम्यग्दर्शन का विषय है, जो सम्यग्दर्शन का ध्येय है, ध्यानी के ध्यान का जो ध्येय है, वह तो अनादि-अनन्त अखण्ड (तत्त्व) है।

चाहे जितना काल गया, चाहे जितने विभाव हुए,... दो बातें (की हैं) वह तो अखण्ड है वह है। आहा...हा...! ऐसा कैसे जँचे? मिथ्यात्व की, अज्ञान की पर्याय तो इसकी है न? परन्तु वह पर्याय अंश है। वह अखण्ड तत्त्व के अन्दर में नहीं है। सूक्ष्म विषय है। अनन्त काल में, अनन्त भव में यह अखण्ड तत्त्व है, उस पर इसकी दृष्टि ही गयी नहीं। वर्तमान पर्याय की क्रीड़ा में इसने मुनिपने की क्रियायें की, हजारों रानियाँ छोड़ी, घरबार छोड़े, छह-छह महीने के उपवास किये, वे सभी क्रियायें राग की मन्दता की हैं। उनके साथ मिथ्यात्व है, तीव्र मिथ्यात्व-झूठी श्रद्धा है; तथापि अखण्ड तत्त्व में उनका प्रवेश नहीं है। आहा...हा...! ऐसी

वस्तु है। है? **चाहे जितना काल गया, चाहे जितने विभाव हुए, तथापि परमपारिणामिकभाव...** अर्थात् ज्ञायकभाव, स्वाभाविक सहज परम स्वभावभाव। उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक यह तो पर्यायभाव है। उदय—राग-द्वेष; उपशम समकित, क्षायिक समकित या क्षायिक केवलज्ञान, ये सब पर्यायें हैं। अखण्ड वस्तु में ये पर्याय है नहीं। आहा...हा...! **चाहे जितने विभाव हुए, तथापि परमपारिणामिक...** प्रभु, आहा...हा...! क्योंकि वह तो तत्त्व है, द्रव्य है, वस्तु है, अनन्त-अनन्त गुणरूपी ध्रुवधाम प्रभु है। वह तो चाहे जितना काल (गया) और विभाव (हुए) परन्तु वह तो है वह है। आहा...हा...! ये सब क्रीडायें पर्याय पर है, द्रव्य में नहीं। अरे! ऐसी बात है। यह द्रव्यदृष्टि और इस द्रव्य को पकड़ना, पर्याय द्वारा द्रव्य को पकड़ना और पकड़कर अनुभव करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहा...हा...! इसका नाम प्रथम धर्म की शुरुआत है। इसके बिना सब व्यर्थ है। आहा...हा...!

परमपारिणामिकभाव ज्यों का त्यों अखण्ड रहा है;... सत् है न? वस्तु है न? तत्त्व है न? मौजूदगीवाली चीज है न, अस्ति? वह तो अखण्ड ही है। आहा...हा...! चाहे जितना काल बीत गया और चाहे जितने विभाव—गृहीतमिथ्यात्व के भी, अनन्त बार हुए, तथापि वह वस्तु तो अखण्ड है वह है। यह विश्वास (कैसे आवे)? आहा...हा...! तत्त्व है, वस्तु है, सहजस्वाभाविक वस्तु है। यहाँ सहजस्वाभाविक पारिणामिक कहा, वरना पारिणामिक (भाव) तो परमाणु में भी होता है। इससे वास्तव में परमपारिणामिकभाव अर्थात् परम ज्ञायकभाव, उसरूप जो तत्त्व सत् है, वह तो अखण्ड है।

पंचास्तिकाय में टीका में उसे ऐसा कहा है। 'परिणामिभाव, परिणामि गह' सहजभाव से होता है वह पारिणामिक, ऐसा। 'परिणामिभाव, परिणामिभाव' संस्कृत पाठ है। पंचास्तिकाय में अमृतचन्द्राचार्य की टीका में परिणामीभाव है इसमें? पंचास्तिकाय में है। '**द्रव्यात्म-लाभहेतुकः परिणामः**' संस्कृत है। अमृतचन्द्राचार्य... जो यह सबेरे समयसार में अमृतचन्द्राचार्य की टीका पढ़ते (हैं।) न? उनकी कही हुई यह टीका है। '**द्रव्यात्मलाभ-हेतुकः**' वस्तु के स्वरूप का लाभ अर्थात् है, वह '**परिणामः**' यहाँ परिणाम अर्थात् पर्याय ऐसा नहीं। समझ में आया? पंचास्तिकाय की ५६ गाथा है, '**द्रव्यात्मलाभ**' द्रव्य के स्वरूप का लाभ अर्थात् है, द्रव्य का स्वरूप है—ऐसा जो द्रव्य का लाभ हेतु, वह परिणाम-वह पारिणामिकस्वभाव।

पश्चात् कहा '**परिणामेन युक्तः पारिणामिकः**' सहजस्वभाव से सहित, वह पारिणामिकभाव। उसमें पर्याय भी नहीं और कोई बिगाड़ या सुधार उसमें कुछ नहीं। वह तो पवित्र अखण्डानन्द प्रभु एकरूप शुद्ध है। '**परिणामेन युक्तः पारिणामिकः**' ऐसा हुआ।

सहजस्वभाव से सहित, वह भाव-तत्त्व होता है। ५६ (गाथा में) है। आहा...हा...! '**तत्रोपाधिचतुर्विधत्वनिबंधनाश्चत्वारः, स्वभावनिबंधन एकः**' चार उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक, ये तो '**उपाधिचतुर्विधत्वनिबंधनाश्च**' उदय का निमित्त और उदय का अभाव—ऐसे उपाधिभाव दोनों। और इसी के ऐसे चार भाव-उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक... उदय, उपशम क्षायोपशम, क्षायिक और '**स्वभावनिबंधनम्**' स्वभाव का एकरूप जो है। '**एकः**' त्रिकाली स्वभाव '**एकरूपः**' वह ज्ञायकभाव। आहा...हा...! ऐसी बात है।

वह पारिणामिकभाव, वह अखण्ड तत्त्व; उस तत्त्व की पर्याय में चाहे जितना काल गया और चाहे जितने मिथ्यात्व के विभाव आदि हुए, तथापि वह तो अखण्ड है। आहा...हा...! कैसे इसका विचार आवे? आहा...हा...! इस प्रकार ऐसा कहलाता है कि 'द्रवति इति द्रव्यम्' जो पर्याय को द्रवे। जैसे पानी है, वह तरंग को उठावे, द्रवे; इसी प्रकार द्रव्य उसे कहते हैं जिसमें द्रवति—विभाव और स्वभाव की पर्यायरूप परिणमे परन्तु वह तो पर्याय की अपेक्षा से बात की है। समझ में आया? आहा...हा...!

एक ओर भगवान ऐसा कहते हैं कि उसे द्रव्य क्यों कहा? कि 'द्रवति इति' वह इस पंचास्तिकाय नौवीं गाथा में (कहा है)। पंचास्तिकाय की नौवीं (गाथा)। स्वयं विभावरूप से परिणमे और स्वभावरूप से परिणमे (अर्थात्) द्रवे, द्रवे। आहा...हा...! जिसकी पर्याय में हलचल हो, गतिमान परिणमन हो, वह द्रव्य। वह तो एक अपेक्षा से उसे बतलाया है। वरना वस्तु है, वह स्वयं परिणमन में नहीं आती, विभाव या स्वभाव की पर्याय में वह वस्तु नहीं आती।

अब एक ओर ऐसा कहा न, अथवा छह गुण सामान्यगुण नहीं? यह तो अपने साधारण लड़कों को आते हैं। छह गुण—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, (प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व) तो द्रव्यत्वगुण का अर्थ यह है, द्रव्यत्व उसमें एक गुण है, वह द्रवता है। द्रवना अर्थात् परिणमना, बदलना, अन्दर दशा का उथल-पुथल होना, इसका नाम द्रव्य। आहा...हा...! यह तो एक इसकी पर्याय का वर्णन किया परन्तु वस्तु है, वह स्वयं परिणमति नहीं; वह तो त्रिकाल ध्रुव अखण्डरूप से है। अरे... अरे...! देवीलालजी! ऐसा मार्ग! यह तो अभी पहले सम्यग्दर्शन, उसका विषय अखण्ड द्रव्य है, उसमें पर्याय की चाहे जितनी उपाधि गयी, तथापि वस्तु में खण्ड नहीं पड़ा। उसके ऊपर दृष्टि देने से सम्यग्दर्शन होता है। आहा...हा...! धर्म की शुरुआत तब होती है। समझ में आया? ऐसा अखण्ड रहा है।

कोई गुण अंशतः भी खण्डित नहीं हुआ है। लो, ठीक! पर्याय में परिणमन कर विकाररूप हुआ, वह कोई भी गुण उस प्रकार अंश भी खण्डित नहीं हुआ। यह तो पर्याय की

बात हुई। आहा...हा... ! समझ में आया ? प्रवचनसार में तो पर्याय को अंश कहते हैं। यहाँ कहते हैं कोई भी गुण अंश भी, पर्याय का अंश भी खण्ड नहीं हुआ। आहा...हा... ! भाषा बहुत मीठी है, सादी है, गुजराती है। परन्तु समझने के लिये जरा... आहा...हा... !

वह अखण्ड तत्त्व वस्तु है, सहज है, अकृत्रिम है, अकृत है, सहजस्वभाव से है; उस चीज को चाहे जितना काल लागू पड़े। आहा...हा... ! अनन्त काल पहले सिद्ध हुए, वे भी उसे विकारों का काल भले थोड़ा गया तो वस्तु तो अखण्ड है, (वे) भी अखण्ड पर दृष्टि रखकर, समकित करके स्वरूप में स्थिर होकर मोक्ष को प्राप्त हुए और बाद में भी उनका अनन्त काल बीत गया। कितना विभाव उसमें ? आहा...हा... ! और अनन्त काल पश्चात् भी पर्याय में कितना ही विभाव अभी बहुतों को वर्तेगा। आहा...हा... ! तथापि वस्तु खण्डित नहीं, कहते।

आहा...हा... ! क्योंकि अनन्त काल पहले सिद्ध तो हुए हैं न ! त्रिकाली, (तीन) काल में त्रिकाली को जाननेवाले का तो कभी विरह नहीं होता। आहा...हा... ! जैसे अनादि काल से छह द्रव्य और लोक है, वैसे अनादि काल से केवली भी अनादि से है। आहा...हा... ! पहले लोक और फिर जीव को केवलज्ञान हुआ (-ऐसा नहीं)। ऐसी बात है। यह लोक भी अनादि है और इसके जाननेवाले सर्वज्ञ केवली भी अनादि से है। आहा...हा... ! ऐसी अनादि से निर्मल दशा जिसकी है, उसे ऊपर भी अनन्त काल, भूतकाल में विभाव का वर्ता, तथापि वस्तु तो अखण्ड है और उसके पश्चात् जो आत्मा पर मिथ्यात्व से, राग से, द्वेष से अनन्त काल बीता, तथापि वस्तु तो जो है वह है, अखण्ड है। अभी भी अज्ञानी को-कितनों को ही अनन्त काल विभाव में, क्रीड़ा में जिसे रमना है, उसे रमते हुए भी वस्तु तो अखण्ड है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

भाई ! सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन का विषय वह अलौकिक है। लोगों को अभी उसका ख्याल ही नहीं आता। बस, यह करना यह छोड़ना, यह लेना और देना... कर्ताबुद्धि। यह मैंने छोड़ा, यह मैंने रखा और मैंने लिया... कर्ताबुद्धि तो मिथ्यात्व है। आहा...हा... ! यह तो पर्याय का कर्ता द्रव्य नहीं। राग की पर्याय (का) कर्ता होवे तो भी मिथ्यात्व है और ऐसे मिथ्यात्व अनन्त काल में ऊपर बीत गये हैं, तथापि वस्तु तो अखण्ड, अभेद पड़ी है वह है। आहा...हा... ! क्या कहते हैं यह ? समझ में आया ?

यह पर्याय, स्वभावभाव-पारिणामिकभाव, द्रव्यभाव के ऊपर तैरती है। पानी के दल पर तरंग (तैरती है)। तरंग ऊपर तैरती है। पानी का दल होता है न ? उसकी तरंग उठती है, वह ऊपर-ऊपर है, उसमें अन्दर (नहीं उठती)। आहा...हा... !

इसी प्रकार सहज भगवान आत्मा, चाहे जितना काल और विकारी दशायें व्यतीत हो गयीं और जिसे अभी वर्तती है, तथापि वह वस्तु तो अखण्ड है। आहा...हा...! कैसे जँचे? तीव्र मिथ्यात्व कहे, मैं आत्मा हूँ ही नहीं - ऐसा जो पर्याय में भाव हुआ, तथापि वस्तु तो अखण्ड है। आहा...हा...! देखो! सहजस्वरूप का तत्त्व! भगवान जिनेश्वरदेव परमेश्वर की दिव्यध्वनि की आवाज है। समझ में आया? कि भगवान आत्मा—भग अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द आदि; वान—जिसका रूप, वह द्रव्य को अनादि-अनन्त अखण्ड ही है, अभेद है। जिसमें पर्याय के अनेक भेद बीत गये, तथापि उसके वस्तु में कहीं भेद आ गये या खण्ड हो गया—ऐसा नहीं है। अरे! यह क्या? आत्मा नहीं—ऐसा माननेवाले के मिथ्यात्वभाव के काल में भी... आहा...हा...! वस्तु तो अखण्ड है।

यह अखण्ड वस्तुतत्त्व सहजस्वभाव है। इस पर दृष्टि करना, वह अनन्त पुरुषार्थ - सापेक्ष है। वीर्य को अन्दर में ढालना... आहा...हा...! जो वीर्य, पुण्य और पाप में ढलकर नपुंसकतारूप से कार्य करता है... आहा...हा...! उस वीर्य को अर्थात् उसकी पर्याय को। वीर्यगुण तो त्रिकाल है। त्रिकाल गुण में तो खण्ड है नहीं परन्तु वर्तमान पर्याय जो वीर्य की है, उसे अन्तर में अखण्ड में झुकाना तो उसे अखण्ड का पता दृष्टि में लगेगा और इससे तुझे आनन्द और शान्ति मिलेगी। आहा...हा...!

धर्म प्राप्त किये हुये का लक्षण यह है कि अखण्ड पर दृष्टि जाने से उसकी पर्याय में अनन्त काल में नहीं हुई (ऐसी) अपूर्व शान्ति आती है। आहा...हा...! वह शान्ति अपूर्व हुई, तथापि वस्तु तो अखण्ड है। आहा...हा...! इतना शान्ति का अंश जो अन्दर में शक्तिरूप से उसके साथ-स्वस्वभाव के साथ अंश था... अंश था ऐसा किसलिये कहते हैं? सर्वज्ञ तो ऐसा जानते हैं कि यह अंश बाहर आया और यह अंश अन्दर गया। सूक्ष्म बातें हैं। आहा...हा...! परन्तु एकरूप स्वरूप है। आहा...हा...! बाहर आया और अन्दर गया, यह भी भेद का कथन है। आहा...हा...! एकरूप ही वह परमपारिणामिकभाव वस्तु रही है। जिसमें चार भाव का प्रवेश नहीं और चार भाव को वह द्रव्य स्पर्श भी नहीं करता। राग को भी वह द्रव्य स्पर्श नहीं करता। स्पर्श नहीं करता (अर्थात्) छूता नहीं। केवलज्ञान हो तो भी द्रव्य, केवलज्ञान की पर्याय को छूता (स्पर्शता) नहीं। आहा...हा...!

मुमुक्षु : आनन्द उसी समय आता है या बाद में आता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : उस समय में आता है, तथापि उस आनन्द को द्रव्य नहीं छूता। किसने कहा? यह आनन्द तो कहा, यह बात तो बहुत बार कही, यह तो बहुत बार कहा गया

है, तथापि इस आनन्द की पर्याय को द्रव्य छूता नहीं। आहा...हा...! उस समय भी आनन्द की पर्याय का वेदन हुआ, उस समय में वस्तु तो अखण्ड है। आहा...हा...! मिथ्यात्व टलकर सम्यग्दर्शन हुआ और आनन्द हुआ, दुःख का अंश थोड़ा टला और आनन्द का अंश आया, तथापि वह वस्तु तो अखण्ड की अखण्ड है। आहा...हा...! ऐसी बात कहाँ? समझ में आया?

भाई! यह तो वस्तु का स्वभाव, पर्याय का स्वभाव, क्षेत्र का स्वभाव, काल का स्वभाव, भाव का स्वभाव, बापू! आहा...हा...! इसकी गम्भीरता, इसकी गहनता, इसकी गहराई / तल में जाना। आहा...हा...! क्योंकि जो पर्याय है, वह असंख्य प्रदेश में है। असंख्य प्रदेश है न? तो वह ऊपर-ऊपर है। ऊपर का अर्थ यह प्रदेश यहाँ है, इसलिए यह ऊपर है यह पर्याय, ऐसा नहीं है। अन्दर पेट के मध्य में भी जीव के असंख्य प्रदेश हैं, उन असंख्य प्रदेश के मध्य में भी ऊपर पर्याय है। अरे... अरे...! आहा...हा...! शरीर, वाणी, मन तो नहीं परन्तु कहते हैं कि यह ऊपर पर्याय अर्थात् असंख्य प्रदेश है, इनके ऊपर-ऊपर इतने में पर्याय है-ऐसा नहीं। जहाँ-जहाँ मध्य और ऊपर प्रदेश रहे हैं... आहा...हा...! वहाँ-वहाँ उसकी पर्याय उसके ऊपर-ऊपर है। अन्तर में, ध्रुव में वह पर्याय गयी नहीं। समझ में आया इसमें? कनुभाई!

ईश्वरभाई ने एक बार प्रश्न किया था कि ये सब समकिती होते हैं और तीन तीन गद्दों पर सोवे वह समकिती! पूछा था न कनुभाई? (संवत्) १९९४, स्वाध्यायमन्दिर, तुम (एक ओर) समकिती कहते हो और तीन-तीन मुलायम मखमल के तलायु (गद्दे), तलायु समझे? गद्दे! उन पर सोवे और समकिती और कहे कि हम एक गोदड़ी बिछाकर सोते हैं तो कहे तुम मिथ्यादृष्टि। कनुभाई! कहो, हंसमुख आया है? समझ में आया? आहा...हा...! बापू! यह चीज कोई अलग है, इसके साथ कुछ (लेना देना नहीं है)। आहा...हा...!

जिसे छियानवें हजार स्त्रियों का संयोग हो, इन्द्र को करोड़ों अप्सराओं का सम्बन्ध होता है परन्तु उसे आत्मा में उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। सम्यग्दृष्टि को अकेली दृष्टि द्रव्य पर पड़ी है, वह पर्याय में राग को भी स्पर्श नहीं करता। आहा...हा...! जिसे निरन्तर राग से भिन्न भेदज्ञान की धारा बहती है। वह भेदज्ञान की धारा धर्मी को, राग को छूती नहीं। अरे रे! ऐसी बातें हैं। अभी मूल वस्तु को समझे बिना... आहा...हा...!

यह यहाँ कहते हैं। **कोई गुण अंशतः भी खण्डित नहीं हुआ है।** अंशतः अर्थात् उसकी पर्याय में विकार चाहे जो हो परन्तु गुण में खण्ड नहीं है, वह तो पर्याय में विकार है। गुण कहो या गुणी-द्रव्य कहो दोनों ध्रुव है। जैसे द्रव्य अखण्ड है, वैसे गुण भी अखण्ड है।

समझ में आया ? पहले तो द्रव्य लिया। है न ? अखण्डित तत्त्व लिया, फिर यहाँ कहा कोई गुण अंशत: भी खण्डित नहीं हुआ। यह गुण है, उसका एक अंश भी विकृतरूप (नहीं हुआ)। गुण, वह गुण ऐसा ही है। जैसे वस्तु अनादि एकरूप है, वैसे गुण भी अनादि एकरूप है। आहा...हा... ! उसमें विकृत अवस्था प्रवेश नहीं की और विकृत अवस्था हुई; इसलिये गुण हीन हो गया है (-ऐसा नहीं है)। शक्ति ऐसा सत्त्व का सत्त्व जो है, सत् ऐसा जो तत्त्व, उसका जो सत्त्व गुण है, उसका एक अंश भी खण्ड नहीं हुआ। आहा...हा... ! समझ में आया ? ऐसा यह गहन शब्द है। मेरे हिसाब से तो लोग मध्यस्थता से पढ़ेंगे, तब तो उन्हें ऐसा लगेगा कि कुछ बात तो लगती है परन्तु अब आग्रह छोड़कर (पढ़े तो) आहा...हा... ! सब सादी भाषा में पूरा तत्त्व अन्दर में आ गया है। आहा...हा... ! ११२ (बोल पूरा हुआ)। आहा...हा... ! अब मुनि (की बात करते हैं)।

मुनि एक-एक अन्तर्मुहूर्त में स्वभाव में डुबकी लगाते हैं। आहा...हा... ! मुनि उन्हें कहते हैं कि अल्प काल में... अन्तर्मुहूर्त शब्द से (आशय) अल्प काल में-अल्प काल में छठवें से अन्दर आनन्द में चले जाते हैं, सातवें गुणस्थान में अप्रमत्तदशा में चले जाते हैं। आहा...हा... ! गुण का सागर भगवान, गुण का अगाध सागर, जिसके तल को दृष्टि पहुँच गयी है, दृष्टि ध्रुव को पहुँच गयी है और तदुपरान्त जिनकी स्थिरता—मुनि है, इसलिए जिनकी आनन्द की स्थिरता जम गयी है। आहा...हा... ! उस आनन्द की दशा में अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त में अर्थात् अल्प काल-अल्प काल में **स्वभाव में डुबकी लगाते हैं।** आनन्द में जाते हैं। आहा...हा... ! अर्थात् उग्र आनन्द प्रगट होता है। आहा...हा... !

शुरुआत में मुनि विकल्प में हों, तब तक विकल्प का बोझ है। अतीन्द्रिय आनन्द का जहाँ अनुभव हुआ, उन्हें भी जब पंच महाव्रत का विकल्प आवे, वह भी बोझ है, दु:ख है। इससे वे बाहर में आवे, तब भी दृष्टि तो ध्रुव पर ही त्रिकाल पड़ी है, तथापि एक क्षण में अन्दर में वापस चले जाते हैं। दृष्टि जहाँ है, उस द्रव्य पर लीनता करते हैं। समझ में आया ? आहा... !

मुनि... आहा...हा... ! उन्हें मुनि कहते हैं। **अन्तर्मुहूर्त में....** अर्थात् अल्प काल में। रतनचन्दजी ने ऐसा स्पष्टीकरण किया है कि छठवें गुणस्थान की स्थिति पौन सैकेण्ड के अन्दर है, क्योंकि एक मुहूर्त में हजारों बार आवे ऐसा शास्त्र में पाठ है। मुनिपना छठवाँ-सातवाँ गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त में वहाँ श्रेणी की अपेक्षा से है परन्तु वह श्रेणी चढ़ते कालवाले को भी अन्तर्मुहूर्त में हजारों बार आता है। हजार बार नहीं, हजारों—ऐसा लिखा है। धवल में पाठ है। अडतालीस मिनिट में छठवें-सातवें की भूमिका हजारों बार आती है। आहा...हा... !

यह मुनिदशा कहते हैं कि अन्दर से विकल्प आया परन्तु वापस उसे छोड़कर तुरन्त अन्दर में डुबकी मारते हैं। आहा...हा...! यह राग में आये वहाँ उन्हें रुचता नहीं, रुचता नहीं। आहा...हा...! पंच महाव्रत के विकल्प में भी आये परन्तु वहाँ उन्हें रुचता नहीं, वहाँ दु:ख है। आहा...हा...! व्रत का विकल्प उठे वह दु:ख है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह ऐसा कहते हैं। यह तो पाठ है सही न? रात्रि में बहुत लम्बा विचार किया, नहीं रात्रि में? तुम नहीं थे? रात्रि में बहुत चर्चा हुई। अड़तालीस मिनिट में २८८० सैकेण्ड होते हैं, अड़तालीस मिनिट में। एक मिनिट के ६० सैकेण्ड (होवे) तो अड़तालीस मिनिट में २८८० इतने सैकेण्ड होते हैं। आहा...हा...! और इन इतने सैकेण्डों में हजारों बार मुनिपना आवे और जावे। आहा...हा...! हजारों बार तो पाठ है, हुआ, अब अड़तालीस मिनिट में, तब अड़तालीस मिनिट को हमने इन २८८० के ३००० सैकेण्ड गिनो, (इतनी देर में) हजारों बार आवे। ३००० सैकेण्ड, उसमें हजारों बार आवे तो एक सैकेण्ड में कितनी बार आवे? ऐसा हुआ न? भाई! वहाँ तो ऐसा हुआ। २८८० है तो इनको हम संक्षेप में ३००० गिनें। ४८ मिनिट में ३००० सैकेण्ड और ४८ मिनिट में हजारों बार मुनिपना आवे— छठवाँ-सातवाँ, छठवाँ-सातवाँ... धवल में ऐसा पाठ है।

बापू! मुनिपना किसे कहते हैं? आहा...हा...! वह वस्तु कोई लोगों ने अभी सुनी नहीं। तत्त्व की बातें नहीं। बातें सब यह करो और यह करो और यह करो। मर गया करना इसमें मानकर। समझ में आया? वहाँ तीन हजार सैकेण्ड में हजारों बार मुनिपना छठा-सातवाँ (गुणस्थान आता है)। तीन हजार सैकेण्ड में छठा-सातवाँ (गुणस्थान) हजारों बार (आता है) तो इसका अर्थ हो गया भाई! एक सैकेण्ड में भी बहुत बार आया। इसलिए फिर लो! आहा...हा...! रात्रि को विचार (आते थे)।

यहाँ यह कहते हैं कि मुनि छठवें में आते हैं परन्तु मुनि वापस एकदम अन्दर में चले जाते हैं। अतीन्द्रिय आनन्ददशा में डुबकी मारते हैं। आहा...हा...! उसे मुनिदशा कहा जाता है। आहा! (वे) णमो लोए सव्व साहूणं में या णमो लोए सव्व आयरियाणं में, णमो लोए सव्व उवज्झायाणं में मिलते हैं। आहा...हा...! जिन्हें ४८ मिनिट में अर्थात् २८८० सैकेण्ड में हजारों बार मुनिपना आवे तो एक सैकेण्ड में भी बहुत बार आया, ऐसा हो गया। आहा...हा...! और फिर कोई ऐसा लेता हो कि अन्तिम स्थितिवाला है और उसे ऐसा होता है और पहले में जरा

अधिक काल भी, तथापि अधिक काल उन्हें गिना है। पौन सैकेण्ड में भाई ने ऐसा गिना है। रतनलाल मुख्तार ने गिनती का विषय गिनकर। आहा... !

जिसे अनुभव की अन्तर्दृष्टि हुई है, आनन्द का नाथ जिसे जगा है और उसने फिर चारित्रदशा। आहा...हा... ! वह तो आनन्द में जिसका चरना, रमना हो गया है—ऐसे सन्तों को, बाहर में से एकदम स्वभाव में डुबकी मारते हैं। आहा...हा... ! वे हिलते-चलते दिखने पर भी, उस समय में भी अन्दर में क्षण में आनन्द में डुबकी मारते हैं। वे बोलते दिखें, घण्टे भर व्याख्यान (देते हुए दिखें) परन्तु अन्दर में डुबकी (मारकर) तुरन्त ही अन्तर आनन्द में जाते हैं। आहा...हा... ! ऐसी स्थिति है।

मुमुक्षु : मुनि को बहुत सरल हो गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या हो गया है ? सरल, परन्तु किस प्रकार हुआ ? स्वयं पुरुषार्थ से चारित्र को प्रगट किया है; इसलिए सरल हो गया है। आहा..हा.. ! सम्यग्दर्शन के उपरान्त जिसने स्वरूप का तीव्र आश्रय लेकर अन्दर चारित्र प्रगट किया है। आहा...हा... ! जिन्हें चार ज्ञान और चौदह पूर्व के धारक, गणधर भी चार ज्ञान और चौदह पूर्व की रचना अन्तर्मुहूर्त में करते हैं, बाहर अंग की रचना अन्तर्मुहूर्त में करते हैं, वे गणधर भी इन सन्तों को पैर लगते हैं (नमस्कार करते हैं)। णमो लोए सव्व अरिहंताणं ऐसे णमो लोए सव्व सिद्धाणं, णमो लोए सव्व आयरियाणं, णमो लोए सव्व उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व त्रिकालीवर्ती साहूणं। बाहर नमस्कार नहीं करते। अपने से छोटी दीक्षा हो, उसे बाहर में (नमस्कार नहीं करते) परन्तु णमो लोए सव्व साहूणं - ऐसा विकल्प आता है। आहा...हा... ! जो इसी भव में मोक्ष जानेवाले हैं, इसी भव में जिनकी बारह अंग की रचना की सामर्थ्य जगी है। बारह अंग की रचना अन्तर्मुहूर्त में करते हैं ! आहा...हा... ! और उस उपयोग में शास्त्र का करोड़ों (शास्त्र का) अगाध शास्त्र फट... फट... फट... फट... फट... पारायण कर डालते हैं। ओहो ! ऐसा ज्ञान का उपयोग तीव्र काम करता है ! ऐसे गणधर भी सन्तों के चरणों में नमते हैं। वह सन्तपना कैसा होगा ! बापू ! हैं ! आहा...हा... !

केवलज्ञानी भगवान राजा, गणधर उनके दीवान। भगवान ज्ञान में बादशाह। आहा...हा... ! तब गणधर उनके पट्ट दीवान और अन्तर्मुहूर्त में बारह अंग और चार ज्ञान की उत्पत्ति करे और बारह अंग की रचना करे। आहा...हा... ! वे गणधर भी णमो लोए सव्व साहूणं (का उच्चार करे तब) दो घड़ी पहले जो मुनि हुआ हो और स्वयं को अरबों वर्षों से मुनिपना हो, (तथापि नमस्कार पहुँचता है)। आहा...हा... ! अब तेरापंथी (तुलसी) है वह कहता है लोए निकाल

डालो। अरे! बापू! तुझे पता नहीं बापू! णमो लोए नहीं चाहिए तब फिर एक स्थानकवासी (साधु है) वह कहता है सव्व साहूणं है, उसमें सभी साधु आते हैं। जैन के अतिरिक्त भी अन्य आते हैं। अरेरे! जैन के अतिरिक्त के सभी साधु तो सब मिथ्यादृष्टि है।

मुमुक्षु : साधु तो है ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : साधु है नहीं, मिथ्यादृष्टि है। आहा...हा...! वे लोए सव्व साहूणं में आयेंगे? आहा...हा...! अरे रे! स्वार्थ के कारण शास्त्र के अर्थ भी विपरीत करना...! ऐसा ही जगत अनादि से अन्धकार में पड़ा है। आहा...हा...!

'लोए' का अर्थ यह है कि अरिहन्त हैं और वे एक ही जगह (नहीं हैं)। अरिहन्त हैं वे एक विजय है। नौ सौ योजन गहरा उतरा हुआ, जम्बूद्वीप में यह बत्तीस विजय है न? बत्तीस विजय, एक-एक विजय में एक-एक चक्रवर्ती होता है। ऐसा एक-एक, ऐसे महाविदेह में बत्तीस विजय हैं। बत्तीस पहाड़ है। उस एक-एक विजय में एक ही चक्रवर्ती, तीर्थंकर होते हैं। अब उस विजय में एक विजय ऐसा है कि ऐसे तिरछे नहीं परन्तु ९०० योजन ऐसे नीचे उतर गया है।'सरिलावती' नामक एक विजय है, वह अधोगम ऐसे उतर गया है। वहाँ केवल (ज्ञान) पाकर मोक्ष जाते हैं। एक ऊर्ध्व में जाकर केवल (ज्ञान) पाकर मोक्ष जाते हैं और एक मध्य में रहकर केवल (ज्ञान) पाकर मोक्ष जाते हैं। वे सब णमो लोए सव्व साहूणं—ऐसा कहा है और सिद्ध को भी णमो लोए सव्व क्यों कहा? कि यहाँ से सिद्ध होते हैं न? तो रास्ते में एक समय ऐसा होता है न? वे भी वहाँ पहुँचते हैं एक समय में, यहाँ है वहाँ उन्हें नमस्कार करते हैं। लोए सव्व सिद्धाणं। जो सिद्ध अभी १०८ यहाँ से जाते हुए उस समय के समय को भी मैं तो नमस्कार करता हूँ। आहा...हा...!

आचार्य, उपाध्याय, साधु तो कोई नीचे हों या कोई मध्य में हों, कोई मेरुपर्वत में ध्यान करने गये हों। मेरुपर्वत! तो णमो लोए, ऐसा होना चाहिए, हों! अन्यमति के साधु की यहाँ बात है ही नहीं। यह तो लोक में सव्व नाम ऐसे प्रकार के भिन्न-भिन्न क्षेत्र में और इस प्रकार वर्तते हों, उन सबको नमस्कार करता हूँ - ऐसी बात है। इसलिए लोए भी यथार्थ है और सव्व भी यथार्थ है। सव्व अर्थात् जो जैनदर्शन के सन्त हैं, भिन्न-भिन्न क्षेत्र और भिन्न-भिन्न काल में होते हैं उन्हें वह लागू पड़ता है। अज्ञानी को वह लागू नहीं पड़ता। समझ में आया? आहा...हा...!

मुनि एक-एक अन्तर्मुहूर्त में स्वभाव में डुबकी लगाते हैं। डुबकी समझे, तुम्हारी भाषा में? आहा...हा..! आनन्द से सराबोर हो जाते हैं। विकल्प में हों तब आनन्द है परन्तु जहाँ अन्तर में जायें तब तो आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... का

अनुभव करता हूँ—ऐसा भी जहाँ ख्याल नहीं। आनन्द को वेदते हैं। आहा...हा...! ऐसा स्वरूप उनका-प्रभु का है। आहा...हा...! उनकी महत्ता, उनकी महिमा जब तक न आवे, तब तक बाहर के राग और दया, दान के विकल्प की महिमा नहीं छूटती। आहा...हा...! अरे! इस द्रव्य की ऐसी शक्ति और ऐसा सत्त्व अखण्ड है—ऐसा जिसे ख्याल में महिमा और आश्चर्यकारी वस्तु ख्याल में न आवे, तब तक उसकी पर्यायबुद्धि नहीं छूटती, पर्याय प्रगट कर महिमा नहीं छूटती। आहा...हा...!

एक समय की पर्याय के पास अखण्ड तत्त्व पड़ा है। एक समय की पर्याय के पास उसी क्षेत्र में, उस क्षेत्र का अंश भले विकार का या पर्याय का भिन्न हो, परन्तु उस अंश का यह दूसरा वहीं का वहीं है। उसमें का अंश का क्षेत्र वहीं का वहीं है। आहा...हा...! उसमें जो बिराजमान है... आहा...हा...! उसमें जो स्थिर है, उन्हें बाहर आना रुचता नहीं परन्तु कमजोरी के कारण वापस विकल्प उठे परन्तु वहाँ उसे रुचता नहीं। आहा...हा...!

दूसरे में आ गया है न? अपने इसमें अब आयेगा, नहीं? १४९ पृष्ठ पर। इसमें आ गया है। १४९ पृष्ठ है। बोल ४०१, उसमें यह अंक नहीं है, इसमें ४०१ बोल होगा, है, अंक इसमें है? अंक है इसमें? उसमें नहीं, उसमें नहीं। ४०१ है?

ज्ञानी का परिणमन विभाव से पराङ्मुख होकर स्वरूप सन्मुख ढल रहा है। है? **ज्ञानी निजस्वरूप में परिपूर्णरूप से स्थिर हो जाना चाहते हैं।** स्थिर हो जाना चाहते हैं। यदि अभी स्वरूप में पूर्ण होकर केवलज्ञान होवे तो दूसरी घड़ी नहीं चाहिए। आहा...हा...! जिसने दृष्टि में भगवान देखा, पूर्णानन्द का नाथ अचिन्त्य अखण्ड तत्त्व का जहाँ भान हुआ, ज्ञान में जिसका प्रत्यक्षपना स्वाद आया... आहा...हा...! (वे) उसे अन्तर में जाने को तरसते हैं।

यह विभावभाव हमारा द्वेष नहीं। ये पंच महाव्रतादि का कोई भी विकल्प उठा... आहा...हा...! वह हमारा देश नहीं। आहा...हा...! **इस परदेश में हम कहाँ आ पहुँचे?** आहा...हा...! ये पंच महाव्रत का या भक्ति (इत्यादि के) विकल्प में आते हैं न? अरे! यह तो परदेश है। इसमें हम कहाँ आ पहुँचे? हमारा देश तो अन्तरस्वरूप आनन्द है, वह हमारा स्वदेश है। आहा...हा...! **हमें यहाँ नहीं रुचता।** आहा...हा...! सम्यग्दृष्टि को राग में आना नहीं रुचता, यह तो परदेश है। आहा...हा...! **यहाँ हमारा कोई नहीं।** यह दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम में हमारा कोई नहीं। आहा...हा...! है? वह आयेगा तब विस्तार करेंगे।

जहाँ ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, आनन्द, वीर्यादि अनन्त गुणरूप हमारा परिवार बसता है, वह हमारा स्वदेश है। लाडनूँ में से निकल गये तो कलकत्ता परदेश है, ऐसा कहते हैं।

आहा...हा... ! देखो ! यह स्वरूप ! अनन्त गुण हमारा परिवार है । **वह हमारा स्वदेश है ।** अनन्त आनन्द और अनन्त गुण का धाम मेरा नाथ, वह मेरा स्वदेश है । आहा...हा... ! **हम अब उस स्वरूप-स्वदेश की ओर जा रहे हैं ।** आहा...हा... ! उस तरफ हमारा झुकाव हो गया है अब, उसमें हम जा रहे हैं । **हम शीघ्रता से हमारे मूल वतन में जाकर....** मूल वतन हमारा वह है । बाहर से चाहे जितना कमाये परन्तु वापस उसके निज वतन में आता है न ? आहा...हा... ! वतन अर्थात् देश, मूलस्थान । आहा...हा... ! हमारा वतन तो यह असंख्य प्रदेशी अनन्त गुणधाम, यह हमारा वतन है, यह हमारा स्थान है, यह हमारा देश है । आहा...हा... ! वहाँ हमारा परिवार बसता है । आहा...हा... !

ऐसी वस्तु है, उसका जहाँ अनुभव हुआ तो उसे आनन्द में से बाहर निकलने पर (ऐसा लगता है कि) यह क्या हुआ ? अरे ! हम तो परदेश में आ पड़े । यह सब देश-यह भाव हमारे नहीं । यह परिवार हमारा नहीं । आहा...हा... ! **शीघ्रता से हमारे मूल वतन में जाकर निश्चिन्त बसना है, जहाँ सब हमारे हैं ।** आहा...हा... ! नियमसार में आता है न ? ज्ञाननिधि को पाकर स्वयं गुप्त होकर स्वदेश में रहे । नियमसार में है । कोई परदेश में गया और दो-पाँच करोड़ रुपये आये, एकदम आमदनी हो गयी, फिर स्वदेश में चला आवे और गुप्त (रखे) । फिर उसका ढ़िंढ़ोरा नहीं पीटे कि हम बहुत पैसा लाये हैं । तो फिर सब खा जायेंगे । नियमसार में ऐसा पाठ है । नियमसार, कुन्दकुन्दाचार्य ! कोई भी पैसे को प्राप्त करके, परदेश में से पैसा मिला तो देश में चला आवे । देखो न, ये यह लाखाणी है न ? है कोई लाखाणी ? यह लाखाणी । मूलजीभाई और दामोदरभाई के पिता, बाहर से-मुम्बई से पैसा ले आये । सोलह लाख या अठारह लाख, फिर दुकान बन्द कर दी और यहाँ देश में आये । यह तो बहुत वर्ष पहले की बात है, हों ! बहुत वर्ष पहले । तुम्हारे जन्म से पहले की बात है । एक साथ पैसे की आमदनी हो गयी । सोलह लाख, अठारह लाख उस समय, अर्थात् ? पचास वर्ष, साठ वर्ष पहले । छोड़ दिया । दुकान छोड़कर देश में (आ गये) ।

इसी प्रकार यहाँ नियमसार में कहते हैं कि जैसे बाहर में बहुत पैसा मिल गया, और स्वदेश में आकर गुप्तरूप से स्वयं अनुभवे-खावे—पीवे, बाहर (ढ़िंढोरा) पीटे नहीं तब तो कुटुम्बी आकर कहें कि दो हमको । गाँव के चंदा करनेवाले आकर (माँगेंगे) । ऐसा होता है न ? भाई ! इसलिए स्वयं गुप्तरूप से (रहे) । इसी प्रकार ज्ञाननिधि को पाकर... आहा...हा... ! नियमसार में है । आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु इसे मिला है जहाँ, उसे पाकर स्वयं एकान्त में अनुभवे, बाहर में उसका ढिंढ़ोरा नहीं पीटे । आहा...हा... ! बाहर प्रसिद्ध होने के लिये (कि)

कोई हमें पहचाने और हमारा मान बढ़े, यह सब बातें बाहर में प्रसिद्ध होने की हैं, अन्दर में जाने की नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...! यह अपने यहाँ लिया है। यह तो यहाँ दृष्टान्त दिया, हों! अपने तो यहाँ चलता है न?

अन्तर में निवास के लिये महल मिल गया है,.... अपने चलता हुआ अधिकार। मुनि को अन्दर में निवास के लिये महल मिल गया है। आहा...हा...! कहाँ बसना, इसका पता नहीं था। जहाँ भान हुआ, वहाँ इसमें बसनेयोग्य है, यही निवासस्थान है। अन्तर आनन्द के धाम में बसनेयोग्य है, वहाँ निवास करनेयोग्य है। आहा...हा...! **उसके बाहर आना अच्छा नहीं लगता।** महल मिल गया, उससे बाहर आना अच्छा नहीं लगता। **मुनि किसी प्रकार का बोझ नहीं लेते।** आहा...हा...! क्या शब्द आया - प्रक्रम? सर्वविशुद्ध में नहीं? प्रक्रम, कोई काम सिर पर (नहीं लेते।) भाई! इस पाठशाला का तुम्हें ध्यान रखना पड़ेगा या इस पाठशाला के लिये पैसा एकत्रित करने के लिये तुम्हें जाना पड़ेगा। इस तीर्थ के लिये अभी करते हैं न? तीर्थ के लिये तुम्हें पैसा इकट्ठा करना पड़ेगा—मुनि ऐसा काम सिर पर नहीं लेते। आहा...हा...! यहाँ समवसरण बनाना है, उसके लिये पच्चीस लाख खर्च करना है तो तुम ध्यान रखो तो वह पैसा आवे। मुनि ऐसा बोझ सिर पर नहीं रखते। आहा!

मुनि किसी प्रकार का बोझ नहीं लेते। अन्दर जायें तो अनुभूति और बाहर आयें तो तत्त्वचिन्तन आदि। आहा...हा...! स्वाध्याय और ध्यान - दो काम लिये हैं न? मुनि को दो (काम हैं)। ध्यान में रहे और ध्यान में नहीं रह सके तो शास्त्र-स्वाध्याय (करें)। है शुभभाव। आहा...हा...! दूसरा काम उन्हें नहीं होता। भाई! हमें यह पंच कल्याणक करना है, अमुक दिन तुम्हें मेरे यहाँ आना पड़ेगा—ऐसा बोझ मुनि को नहीं होता। आहा...हा...! उन्हें अन्दर में जहाँ आनन्द वर्तता हो, उन्हें जो विकल्प उठता है, वह बोझ लगता है, इसके बदले, इसके बदले तुम्हें आना पड़ेगा और इस जगह तुम्हें जाना, यह काम मुनि को नहीं होता। आहा...हा...!

साधकदशा इतनी बढ़ गई है कि द्रव्य से तो कृतकृत्य हैं ही.... वस्तु तो कृतकृत्य अखण्ड कृतकृत्य ही है। **परन्तु पर्याय में भी अत्यन्त कृतकृत्य हो गये हैं।** आहा...हा...! जिसमें तीन कषाय के अभाव की, आनन्द की दशा की वीतरागता / प्रचुर स्वसंवेदन (प्रगट हुआ है)। पर्याय में भी कृतकृत्य, बहुत कृतकृत्य हो गये हैं। पूर्ण कृतकृत्य तो केवली होते हैं परन्तु बहुत कृतकृत्य हो गये हैं। ऐसे मुनि को अन्दर में जाना वह उनका निवास है, बाहर में आना वह उन्हें बोझ लगता है।

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

(३१) श्री वचनामृत, बोल २०१, प्रवचन ७९
दिनांक २९-०८-१९७८

वचनामृत २०१। कल २०० चला न? जरा सूक्ष्म है। **अपरिणामी निज आत्मा का आश्रय लेने को कहा जाता है...** क्या कहते हैं? जो पारिणामिकभाव त्रिकाल है, उसे यहाँ अपरिणामी कहने में आया है। जो त्रिकाल ज्ञायकभाव है, उसे यहाँ अपरिणामी कहने में आया है क्योंकि पर्यायरूप नहीं होता, इस अपेक्षा से। और **अपरिणामी निज आत्मा...** भगवान के आत्मा का यहाँ कोई काम नहीं। आहा.हा..! निज आत्मा अपरिणामी अर्थात् पर्याय में पलटता है, वह चीज़ नहीं। यह तो परम पारिणामिकस्वभावभाव जिसका लक्षण है, उसे यहाँ अपरिणामी कहने में आया है। उसका आश्रय लेने को (कहने में आता है) आश्रय लेती है, वह पर्याय है। पर्याय उसका आश्रय लेती है। आहा..हा..!

निज आत्मा का... त्रिकाली अपरिणामी स्वभावभाव, अपना पारिणामिकभाव स्वभाव का आश्रय लेने का **कहा जाता है...** सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा में और शास्त्र में अपरिणामी त्रिकाली स्वभाव का आश्रय लेने को कहने में आता है। आहा..हा..! मुद्दे की रकम की बात है। **वहाँ अपरिणामी मानें...** अपरिणामी अर्थात् **पूर्ण ज्ञायक;...** 'अपरिणामी' शब्द लिया है वह तो परिणमन / पर्याय से भिन्न है, इस अपेक्षा से बाकी है तो पारिणामिक स्वभाव। 'परिणामे भव पारिणामिक: ' ऐसा पाठ पंचास्तिकाय की ५६ गाथा की टीका में है। सहज स्वभाव जो त्रिकाल एक समय की पर्यायरहित है.. आहा..! ऐसा **अपरिणामी मानें पूर्ण ज्ञायक;...** पूर्ण ज्ञान, आनन्द पूर्ण स्वरूप ध्रुव।

शास्त्र में निश्चयनय के विषयभूत... अपने स्वभाव को जाननेवाली जो ज्ञान की पर्याय है, उसे यहाँ निश्चयनय कहते हैं। आहा..हा..! जिस पर्याय से स्वभावसन्मुख झुकाव हो, उस निश्चयनय का विषय ध्रुव है। पर्याय, निश्चयनय ज्ञान की पर्याय है। आहा..हा..! परन्तु उसका विषय जो त्रिकाली अखण्ड आनन्द है... आहा..हा..! उसे **अखण्ड ज्ञायक कहा है...** निश्चयनय का विषय, परमार्थनय का विषय, अखण्ड ज्ञायक अपारिणामिक भाव को यहाँ अखण्ड ज्ञायक कहा है। आहा..हा..! **वही यह 'अपरिणामी' निजात्मा।** ...है। वही

अपरिणामी निजात्मा है। अखण्ड जो ज्ञायक, परमार्थ निश्चयनय का विषय जो ध्रुव, उसे यहाँ अपरिणामी कहने में आया है। वह अपरिणामी निजात्मा ध्रुव है। आहा..हा..!

प्रमाण-अपेक्षा से... पहले निश्चय की अपेक्षा से कहा। निश्चय अर्थात् जो नय स्वद्रव्य के आश्रय ले, उसे यहाँ निश्चयनय कहते हैं। आहा..हा..! उस निश्चयनय की अपेक्षा से भगवान त्रिकाली ज्ञायकभाव सम्यग्दर्शन का विषय है, उसे यहाँ अपरिणामी ज्ञायकभाव कहने में आया है। आहा..हा..! **प्रमाण-अपेक्षा से...** पहले निश्चय की अपेक्षा से कहा था। त्रिकाल ज्ञायक अपरिणामी पारिणामिकभावस्वरूप, ज्ञायकभावस्वरूप, भूतार्थ स्वरूप, सत्यार्थ त्रिकाल स्वरूप, वह निश्चयनय का विषय है अर्थात् वह सम्यग्दर्शन का विषय है। आहा..हा..! **प्रमाण -अपेक्षा से...** निश्चय की अपेक्षा से तो अखण्ड ज्ञायक त्रिकाली, वह उसका विषय है।

अब **प्रमाण-अपेक्षा से...** आहा..हा..! **आत्मद्रव्य मात्र अपरिणामी ही नहीं...** प्रमाण की अपेक्षा से आत्मा मात्र अपरिणामी पारिणामिकभावस्वरूप ज्ञायकभावमात्र नहीं है। आहा..हा..! **अपरिणामी तथा परिणामी है।** प्रमाण की अपेक्षा से नहीं पलटनेवाला अपरिणामी द्रव्य भी है और पर्याय पलटती है, वह भी है, वह प्रमाण का विषय है। दोनों है। आहा..हा..! **परन्तु अपरिणामी तत्त्व पर दृष्टि देने से...** आहा..हा..! परमस्वभावभाव नित्यानन्द एकरूप रहनेवाले भाव पर दृष्टि देने से... आहा..हा..! अन्तर्मुख तत्त्व है, उस पर दृष्टि देने से... बहिर्मुख तो पर्याय है, रागादि बहिर्मुख है। आहा..! अन्तःतत्त्व जो ज्ञायकभाव, उस पर दृष्टि देने से **परिणाम गौण हो जाते हैं;...** पर्याय का लक्ष्य नहीं रहता। आश्रय लेती है पर्याय परन्तु पर्याय का आश्रय नहीं रहता है... आहा..हा..! ऐसी बात है। समझ में आया? यह तो प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की कला यह है। आहा..हा..! जो अपरिणामी स्वभाव है, उस पर दृष्टि देने से.. (पर्याय) आश्रय लेती है तो परिणाम का लक्ष्य नहीं रहता। परिणाम का लक्ष्य नहीं रहता तो परिणाम गौण हो जाते हैं - ऐसा कहने में आता है, अभाव (कहने में) नहीं आता। आहा..हा..! समझ में आया?

(समयसार की) ग्यारहवीं गाथा में ऐसा कहा न? व्यवहारनय अभूतार्थ है अर्थात् पर्याय अभूतार्थ-झूठी है, ऐसा वहाँ तो कहा है। गौण करके कहा है, अभाव करके पर्याय असत्य है - ऐसा नहीं है। आहा..हा..! भगवान आत्मा पूर्ण ध्रुवस्वभाव है, उसे मुख्य करके निश्चय कहा और पर्याय को गौण करके व्यवहार कहा - एक बात। त्रिकाली स्वभाव को मुख्य करके भूतार्थ वह ही है - ऐसा कहा और पर्याय को गौण करके 'नहीं - असत्य है' ऐसा कहा। आहा..हा..! **'ववहारोऽभूदत्थो'** पर्याय, वह व्यवहार है और द्रव्य, वह निश्चय है। आहा..हा..! और 'नयचक्र' में यहाँ तक लिया है कि प्रमाण पूज्य नहीं है क्योंकि प्रमाण में

पर्याय का निषेध नहीं आता। आहा..हा..! निश्चयस्वभाव में पर्याय का निषेध आता है। असत्य है, इसलिए निषेध आता है - ऐसा नहीं। है, परन्तु आश्रय करने योग्य नहीं है; इसलिए उसे गौण करके 'नहीं है' ऐसा कहा और '**भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ**' वहाँ ग्यारहवीं गाथा में दूसरे पद में तो ऐसा कहा कि सत्यार्थ प्रभु त्रिकाल ज्ञायक एकरूप स्वभाव को हम शुद्धनय कहते हैं। उस वस्तु को ही शुद्धनय कहते हैं - ऐसा कहा है।

'**भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ**' भगवान परमात्मा की वाणी में भूतार्थ को शुद्धनय कहा गया है। नय - शुद्धनय तो ज्ञान का एक अंश है और वह एक अंश को स्वीकार करता है। शुद्धनय एक अंश को स्वीकार करता है। अंश कौन ? त्रिकाली ध्रुव। आहा..हा..! समझ में आया ? नय का विषय अंश है। प्रमाण का विषय (अंश) दोनों हैं, दोनों अंश हैं। आहा..हा..! निश्चयनय का विषय एकरूप त्रिकाल है, परन्तु है वह अंश। उसमें पर्याय नहीं आयी। आहा..! निश्चयनय का विषय जो है, वह पर्याय का निषेध करता है। प्रमाण में पर्याय और द्रव्य दोनों ख्याल में आते हैं; और दूसरे प्रकार से कहें तो ज्ञायक का ज्ञान और पर्याय का ज्ञान— ऐसा जो प्रमाण, वह प्रमाण स्वयं सद्भूतव्यवहारनय है। वह प्रमाण स्वयं... पंचाध्यायी में है। पण्डितजी ! पंचाध्यायी में उस प्रमाण को व्यवहारनय का विषय कहा है। दोनों साथ में आये न (इसलिए)। द्रव्य और पर्याय दो। आहा..हा..! सूक्ष्म बात है। समझ में आये ऐसी है। यह कहीं समझ में न आये, ऐसी नहीं है। और बात तो जो ज्ञानस्वरूप है, उसे कहते हैं न! यह कहते किसे हैं ? राग को कहते हैं ? शरीर को कहते हैं ? जो जाननेवाला है, उसे कहते हैं। समझ में आया ?

भगवान ! तू जाननेवाला है न ! तो उस जाननेवाले का विषय जो 'त्रिकाली' है, उसे हम सत्यार्थ कहते हैं और एक समय की 'पर्याय' है, वह है तो अवश्य, परन्तु गौण करके 'नहीं' ऐसा कहने में आया है, परन्तु 'पर्याय' है ही नहीं - ऐसा करे तो मिथ्यादृष्टि हो जाये। समझ में आया ? ऐसी बात है।

कहते हैं कि **अपरिणामी तत्त्व पर दृष्टि देने से परिणाम गौण हो जाते हैं; परिणाम कहीं चले नहीं जाते।** पर्याय है, वह कहीं चली जाती है - ऐसा नहीं है। आश्रय लेनेवाली पर्याय भी है परन्तु आश्रय लेनेवाली पर्याय ने आश्रय लिया है त्रिकाली का। आहा..हा..! ऐसी कठिन बात! **परिणाम कहीं चले नहीं जाते। परिणाम कहाँ चले जायँ ? परिणमन तो पर्यायस्वभाव के कारण होता ही रहता है,...** आहा..हा..! बदलने के स्वभाव के कारण, **परिणमन तो पर्यायस्वभाव के कारण होता ही रहता है,..** आहा..हा..! आज पण्डितजी

लाये थे न? शुद्धपर्याय है। पर्यायनय से पर्याय शुद्ध है, किस अपेक्षा से? एक आत्मा है, उसमें अनन्त गुण हैं। उसमें कितने ही गुणों की पर्याय तो अनादि से शुद्ध ही है। अस्तित्वगुण, वस्तुत्वगुण, प्रमेयत्वगुण की पर्याय शुद्ध ही है। आहा..हा..! समझ में आया? अभव्य को भी वह पर्याय शुद्ध है। अस्तित्वगुण की पर्याय अशुद्ध होवे तो अस्तित्व कम हो जाये, ऐसा है? आहा..हा..!

जो अस्तित्वगुण है, एक आत्मा में सामान्य गुण अनन्त हैं और विशेष गुण अनन्त हैं। सामान्य (गुण) छह कहने में आये हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व.. परन्तु ये छह तो सामान्य समझाने में आये हैं, बाकी हैं तो भगवान परमात्मा में सामान्य गुण जो हैं, वे दूसरे में भी हैं और अपने में भी हैं, ऐसे सामान्यगुण अनन्त हैं और विशेष (गुण) अपने में हैं और दूसरे में नहीं – ऐसे विशेष गुण भी अनन्त हैं। आहा..हा..! परन्तु दृष्टि करनेवाले को त्रिकाली पर दृष्टि देनी है। आहा..हा..! समझ में आया? वहाँ परिणाम गौण हो जाते हैं। परिणाम कहीं चले नहीं जाते। सिद्ध में भी परिणति तो होती है। सिद्ध में भी पर्याय तो है, वह सिद्ध स्वयं पर्याय है। द्रव्य-गुण त्रिकाल है और सिद्धपर्याय स्वयं (पर्याय) है। पोते समझे? स्वयं। मोक्षमार्ग पर्याय है, संसारपर्याय है सिद्धपर्याय है। आहा..हा..! समझ में आया? केवलज्ञान भी पर्याय है। केवलज्ञान गुण नहीं। समझ में आया? तो पर्याय कहीं चली नहीं जाती। पर्याय तो है परन्तु पर्याय का आश्रय छुड़ाकर त्रिकाल ज्ञायक का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन और अनुभूति होती है, इसलिए त्रिकाली को भूतार्थ कहा, पर्याय को गौण करके अभूतार्थ और असत्य कहा। समझ में आया? ऐसा है।

परन्तु अपरिणामी तत्त्व पर—ज्ञायक पर... दोनों एक शब्द हैं। त्रिकाली ज्ञायकभाव पर या अपरिणामी तत्त्व पर **दृष्टि ही सम्यक् दृष्टि है।** आहा..हा..! समझ में आया? **इसलिये 'यह मेरी ज्ञान की पर्याय'...** है। मेरी ज्ञान की पर्याय है। ऐसे इतना जोर क्यों देता है। पर्याय पर तेरा जोर क्यों चला जाता है कि यह मेरी ज्ञान की पर्याय है। **'यह मेरी द्रव्य की पर्याय'...** है। एक गुण की पर्याय और पूरे द्रव्य की पर्याय। यह पर्याय है, यह है – ऐसा तेरा लक्ष्य क्यों वहाँ जाता है? यहाँ तो कहते हैं कि जितना विकल्प आदि व्यवहार है, वह भी है तो अवश्य, परन्तु उस पर लक्ष्य करने से सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहा..हा..! अरे! सम्यग्दर्शन की पर्याय उत्पन्न हुई, उसके लक्ष्य से चारित्रपर्याय उत्पन्न नहीं होती। आहा..हा..! चारित्र की पर्याय तो त्रिकाली ज्ञायकभाव के आश्रय से ही उत्पन्न होगी। ऐसा मार्ग है। आहा..हा..!

अरे..! आठ-आठ वर्ष के बालक भी आत्मज्ञान पाकर केवलज्ञान पाते हैं। आहा..हा..! भाई! तुझमें महा सामर्थ्य है। यह काल या क्षेत्र कुछ रोकते नहीं हैं, इसे विघ्न नहीं करते।

आहा..हा.. ! सातवें नरक का नारकी जन्म से रोग और दु:ख.. दु:ख... दु:ख.. दु:ख.. और आया है मिथ्यादृष्टि लेकर, सातवें नरक का नारकी, परन्तु उसमें वह सम्यग्दर्शन पाता है। आहा..हा.. ! भले वहाँ से निकले तब वह वापस मिथ्यादृष्टि हो जायेगा। आया है मिथ्यात्व लेकर, सातवें नरक में जाता है न ? कोई समकित लेकर वहाँ जाता है ? परन्तु उसकी स्थिति में प्रतिकूलता का पार नहीं है। अनन्त-अनन्त प्रतिकूलता, जिसके क्षण के दु:ख की व्याख्या करोड़ों भव में, करोड़ों जीभ से नहीं कही जा सकती - ऐसे तो पहले नरक के दस हजार (वर्ष की) स्थिति के दु:ख। तैंतीस सागरवाले के दु:ख तो प्रभु.. ! आहा.. ! उस क्षण भी वह जीव.. आहा..हा.. ! अन्तर में दृष्टि देता है। आहा..हा.. ! उस दु:ख और ज्ञान की पर्याय का लक्ष्य छोड़ देता है। आहा..हा.. ! लोग ऐसा कहते हैं न कि सुविधा हो तो हम धर्म कर सकते हैं। यह बात मिथ्या है। समझ में आया ? क्या कहा ? पैसा-वैसा ठीक हो, लड़का व्यापार में लग जाये तो हमें निवृत्ति मिले, यह बात मिथ्या है। ऐसी प्रतिकूलता का पार नहीं, प्रभु ! उस समय में भी भगवान आत्मा, पूर्व में सुना था कि तू तो ज्ञायक है न नाथ ! परन्तु स्मरण में पहले याद नहीं रहा और इसमें (नरक में) ख्याल आ गया। आहा..हा.. !

मुमुक्षु : वहाँ तो बहुत जोरदार निर्णय होता होगा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जोरदार स्वभाव में से जोरदार है, जोरदार पुरुषार्थ अन्दर में घुस जाता है। दु:ख और रोग और तैंतीस सागर में एक कण आहार का नहीं, एक बूँद पानी की नहीं ! भाई ! यहाँ दो दिन पानी न मिले तो चीखने लगे। अर..र.. ! अरे ! मुझसे यह दु:ख सहन नहीं होते।

मुमुक्षु : शरीर में जलन हो तो चीख न निकले ?

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर को जलन तैंतीस सागर की है। तथापि उस समय उसका लक्ष्य छोड़कर.. आहा..हा.. ! भगवान आनन्द का नाथ अन्तर में अपने स्वभाव की सम्हाल लेने जाता है और सम्यग्दर्शन पाता है। आहा..हा.. !

यहाँ तो ऐसी बात करते हैं कि यह मेरी ज्ञान की पर्याय—ऐसा तेरा जोर वहाँ क्यों जाता है ? द्रव्य पर जोर होना चाहिए। आहा..हा.. ! है ? **'यह मेरी ज्ञान की पर्याय' 'यह मेरी द्रव्य की पर्याय' इस प्रकार पर्याय में किसलिये रुकता है ?** आहा..हा.. ! यह तो तत्त्व की मूल बात है, भाई ! समझ में आया ? मेरे ज्ञान का बहुत क्षयोपशम हो गया। तेरी पर्याय पर लक्ष्य देकर तू वहाँ जोर क्यों देता है ? समझ में आया ? आहा..हा.. ! **'यह मेरी द्रव्य की पर्याय'..** है। यह मेरा द्रव्य है, उसकी यह व्यंजनपर्याय आदि पर्याय है। आहा..हा.. ! आहा..हा.. ! **इस प्रकार पर्याय**

में किसलिये रुकता है? पर्याय में ऐसा लक्ष्य करके क्यों रुकता है? त्रिलोकनाथ भगवान विराजते हैं, वहाँ चला जा! आहा..हा..! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! परम पुरुषार्थ अपेक्षित है वहाँ। आहा..हा..! कहते हैं कि तुझे कोई क्षयोपशम विशेष हुआ कि यह पर्याय मेरी है, यह द्रव्य की पर्याय है, मुझे राग की बहुत मन्द पर्याय हुई, यह क्या है? ऐसा लक्ष्य किसलिए करता है? जोर क्यों देता है? यहाँ तो कहते हैं, व्यवहार से निश्चय होता है—ऐसा माननेवाले को मिथ्यादृष्टि कहकर इस राग से मुझे लाभ हुआ, राग मन्द किया तो मुझे (लाभ हुआ) परन्तु उस पर दृष्टि किसलिए देता है? आहा..हा..! अभी तो सब इसका जोर चलता है। व्यवहार कषाय मन्दता हो तो निश्चय में पहुँचा जा सकता है। यह पण्डितजी को यह ख्याल है। इस पुस्तक में है। ऐसा है नहीं, भगवान! आहा..हा..! सब पण्डितों में इनका (फूलचन्दजी का) नम्बर पहला है।

(संवत्) २०१३ के साल में कहा था कि विकार अपने षट्कारक से एक समय की पर्याय में होता है, पर की अपेक्षा नहीं। उस चर्चा के समय सब बैठे थे। तब पण्डितजी इतना बोले, ये अकेले बोले कि स्वामीजी ऐसा कहते हैं कि विकार होने में, निश्चय से विकार होने में पर की अपेक्षा नहीं है, ऐसा बोले थे। शिखरजी में सब बैठे थे। हमारे पण्डितजी हिम्मतभाई, रामजीभाई, बंशीधरजी, वर्णीजी, कैलाशचन्दजी सब बैठे थे। भाई! ऐसी विपरीतता आ गयी है कि कर्म निमित्त से होता है, निमित्त से होता है, कर्म है तो यहाँ विकार होता है। ऐसी बात है ही नहीं। ***विकार पर्याय में होता है, वह अपनी योग्यता से, अपनी लायकात से और उस समय का निजक्षण उत्पत्ति का काल है, उससे विकार उत्पन्न होता है। कर्म से नहीं, पूर्व की पर्याय से नहीं। आहा..हा..! द्रव्य से नहीं, गुण से नहीं, आहा..हा..! एक समय की पर्याय, पर्याय से उत्पन्न होती है, ऐसा ही उसका स्वभाव है। आहा..हा..!***

मुमुक्षु : अद्धर से होती है?

पूज्य गुरुदेवश्री : ***पर्याय अद्धर से होती है। द्रव्य और गुण का आश्रय नहीं, पर का आश्रय नहीं।*** पण्डितजी! प्रवचनसार की १०२ गाथा है, उसमें लिया है कि निजक्षण। वह-वह पर्याय उत्पन्न होने का निजक्षण है, निज काल है और प्रवचनसार गाथा १०१ में तो यहाँ तक लिया है कि ***जो विकृत अवस्था होती है, उसे व्यय की अपेक्षा नहीं, द्रव्य की अपेक्षा नहीं, स्वतन्त्र उत्पाद होता है।*** १०१ गाथा है। ***तीनों बोल स्वतन्त्र हैं। उत्पाद, उत्पाद से होता है; उत्पाद, व्यय से नहीं; उत्पाद, ध्रुव से नहीं; ध्रुव, उत्पाद नहीं; ध्रुव, व्यय से नहीं; व्यय, उत्पाद से नहीं (व्यय, ध्रुव से नहीं) आहा..हा..!*** यह ज्ञेय अधिकार है तो ज्ञेय का स्वरूप ही

ऐसा है ऐसा बताया है। आहा..हा..! ज्ञेय अधिकार है। वास्तव में तो जयसेनाचार्यदेव ने उसे सम्यग्दर्शन का अधिकार कहा है। ज्ञेय का-छह द्रव्य का स्वरूप ही ऐसा है। आहा..हा..! जिस समय में जो पर्याय उत्पन्न होने का काल है, उस समय में वह स्वयं से उत्पन्न होती है, विकृत या अविकृत। आहा..हा..!

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि मुझमें ज्ञान की पर्याय खिली, मेरे द्रव्य की पर्याय ऐसी हुई, मुझे आनन्द विशेष आया - ऐसे पर्याय पर जोर, लक्ष्य क्यों देता है? समझ में आया? आहा..हा..! ऐसा है, बापू! यह कहीं वाद-विवाद से पार पड़े, ऐसा नहीं। नियमसार में कहा है न? ***ज्ञाननिधि प्राप्त करके स्वसमय और परसमय के साथ वाद-विवाद करना नहीं, प्रभु! क्योंकि अनेक प्रकार के जीव हैं, अनेक प्रकार की लब्धि है, कर्म अनेक प्रकार के हैं तो उसमें तू किस प्रकार से वाद करेगा?*** '**णाणा जीव, णाणा लब्धा, णाणा कम्मा**' हम तो ऊपर से अर्थ करते हैं। आहा..! समझ में आया? आहा..हा..!

जिनेश्वर त्रिलोकनाथ की यह वाणी और सन्तों की यह वाणी है। आहा..हा..! कहते हैं कि प्रभु! तेरी पर्याय में ज्ञान का बहुत क्षयोपशम हुआ तो उस पर्याय पर जोर क्यों देता है। अरे! मुझे बहुत मन्द राग हुआ, ऐसे पर्याय पर तेरा लक्ष्य क्यों देता है? आहा..हा..! **इस प्रकार पर्याय में...** इस प्रकार से **किसलिये रुकता है?** वहाँ क्यों रुक जाता है? भगवान! आहा..हा..! **निष्क्रिय तत्त्व पर...** निष्क्रिय। परिणमन नहीं, इस अपेक्षा से निष्क्रिय। उसमें पर्याय की क्रिया नहीं, (इसलिए) निष्क्रिय है। आहा..हा..! समझ में आया? यह तो ऐसी बात है। इसलिए लोगों को लगता है यह सोनगढ़ का निश्चयाभास है, ऐसा कहते हैं। भाई! तुझे खबर नहीं। वस्तु की स्थिति ऐसी है। आहा..हा..! अपने द्रव्य के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है। व्यवहार से होता है, यह मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। समझ में आया? आहा..हा..!

यहाँ तो पर्याय में क्षयोपशम विशेष हुआ और यह द्रव्य की पर्याय है और यह श्रद्धा की पर्याय है, सम्यग्दर्शन की पर्याय है, यह चारित्र की पर्याय है - ऐसे पर्याय पर जोर क्यों देता है? प्रभु! आहा..हा..! भगवान अनन्त गुण का सागर अन्दर विराजमान है। बाल-गोपाल-बालक और वृद्ध। यह (समयसार) १७ वीं गाथा में आता है। ***आबाल-गोपाल - बालक से लेकर वृद्ध सबको ज्ञान की पर्याय में द्रव्य ज्ञात होता है। आहा..हा..!*** यह क्या कहा? समयसार १७ वीं गाथा में आबाल-गोपाल पाठ है। आबाल अर्थात् बालक से लेकर, गोपाल - वृद्ध, सबको ज्ञान की पर्याय में आत्मा ज्ञात होता है। समझ में आया? क्योंकि ज्ञान की पर्याय का स्व परप्रकाशक (स्वभाव है)। पर्याय भले हो परन्तु स्व-परप्रकाशक स्वभाव है; अत:

स्व-परप्रकाशक स्वभाव के कारण, ज्ञान की पर्याय में स्व ज्ञात होता है परन्तु अज्ञानी की दृष्टि वहाँ नहीं है। आहा..हा..! पर्याय ऐसी है और मुझे ऐसा हुआ और मुझे कषाय मन्द हुई, मुझे ज्ञान का बहुत क्षयोपशम हो गया। ***यह क्षयोपशम की पर्याय भी आत्मा में नहीं। क्षयोपशमभाव भी खण्ड-खण्ड ज्ञान है, वह वस्तु में है नहीं। आहा..हा..!*** यहाँ तो थोड़ा जानपना विशेष हो जाता है तो.. आहा..हा..! मुझे कैसा ज्ञान है? अरे! सुन तो सही, प्रभु! तू कहाँ रुक गया? आनन्द का सागर भगवान अन्दर है, वहाँ दृष्टि नहीं करके तू कहाँ रुक गया? आहा..हा..!

वेदान्त में एक आता है, वह क्या कहलाता है? बड़ी पुस्तक है वेदान्त की? नाम भूल गये। पहले नहीं कहते थे? चन्द्रकान्त। उसमें ऐसा लिया है, उसे कहा कि सायंकाल से पहले तुझे यह चीज़ करोड़ों अरबों रुपयों की वहाँ है। वहाँ शाम से पहले जाये तो बांस बाँध देना, ले लेना। लेने निकला, बीच में एक वैश्या नाच रही थी, वहाँ रुक गया, कोई लड़का आकर माँगने लगा कि मुझे पैसा दो, वहाँ रुक गया। ऐसे करते-करते शाम पड़ गयी। रुकते-रुकते शाम पड़ गयी। वहाँ समाप्त हो गया। इसी प्रकार यहाँ पर्याय में रुकते-रुकते द्रव्य का स्वभाव ख्याल में नहीं आया। चन्द्रकान्त.. चन्द्रकान्त। चन्द्रकान्त नामक पुस्तक है, हम तो सब देखते हैं। नाम भूल जाते हैं। चन्द्रकान्त नामक वेदान्त की मुख्य पुस्तक है। उसमें यह बात है। लेने जाने निकला, वहाँ शाम पड़ गयी और समाप्त हो गया। यह देखूँ, और यह देखूँ और यह मकान और यह वृक्ष तथा यह ऐसा और वैसा। ***इसी प्रकार अज्ञानी अनादि से यह मेरी ज्ञान की पर्याय खिली, यह मेरा राग मन्द हुआ - ऐसे लक्ष्य में रुककर द्रव्य पर दृष्टि नहीं करता।***

मुमुक्षु : रास्ते में ही रुक गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह रास्ता ही नहीं है। आहा..हा..!

इस प्रकार पर्याय में किसलिये रुकता है? आहा..हा..! **निष्क्रिय तत्त्व पर—तल पर...** तल.. तल.. तल। ध्रुवतल है। पर्याय ऊपर-ऊपर है। यह तो कल आया था। पर्याय ऊपर-ऊपर रहती है, अन्दर प्रवेश नहीं करती। चाहे तो केवलज्ञान की पर्याय हो तो भी वह अन्दर में प्रवेश नहीं करती। प्रवेश नहीं करती - इसके दो अर्थ हैं, एक तो वर्तमान पर्याय प्रवेश नहीं करती परन्तु पहली पर्याय थी, वह अन्दर गयी तो पारिणामिकभाव हो गयी। यहाँ तो वर्तमान पर्याय अन्दर में प्रवेश नहीं करती, इतना कहना है। यह क्या कहा?

फिर से कहते हैं, क्षायिक समकित की पर्याय हुई। दूसरे समय में वह पर्याय नहीं रहती तो वह पर्याय गयी कहाँ? द्रव्य में गयी। समझ में आया? परन्तु वर्तमान पर्याय अन्दर नहीं

गयी, यह बताना है और वर्तमान पर्याय प्रगट है, वहाँ ही लक्ष्य करके रुकता है तो द्रव्यस्वभाव की दृष्टि नहीं होती। आहा..हा..! बाकी तो पर्याय... अरे! उदयभाव है न, भगवान! वह उदयभाव विकृत है, तथापि उस उदयभाव का नाश होता है तो अन्दर योग्यता जाती है। विकार अन्दर नहीं जाता परन्तु उसकी योग्यता अन्दर पारिणामिकभाव में जाती है। उदयभाव विलय हो गया तो कहीं वह चीज असत् थी? वह तो सत् था। वह अन्दर जाता है। विकार अन्दर नहीं जाता परन्तु ऐसी योग्यता द्रव्यस्वभाव में जाने पर पारिणामिकभाव हो जाती है। आहा.हा..! अरे ऐसी बातें हैं। यहाँ तो पर्याय पर जोर नहीं देना, द्रव्य पर जोर देना – इस अपेक्षा से बात चलती है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : पाँच भाव में चार भाव पर्याय है और एक भाव द्रव्य है। क्षायिकभाव, उपशमभाव, क्षयोपशमभाव, उदयभाव, वह पर्याय है और उस पर्याय की एक समय की अवधि है। वह एक समय की पर्याय पलटकर अन्दर जाती है। अन्दर में जाती है, उसका अर्थ पारिणामिकभाव हो जाती है। आहा..हा..! क्षयोपशम की पर्याय है, वह एक समय रहती है न! दूसरे समय में उस पर्याय का व्यय होता है, तो व्यय होकर गयी कहाँ? सत् था न! अन्दर गयी। पानी की तरंग पानी में डूबती है। आती है न ऐसी भाषा? ऐसा समयसार नाटक में आता है। आहा..हा..! परन्तु यह बात अभी यहाँ नहीं कहनी है।

यहाँ तो वर्तमान पर्याय जो प्रगट है, उसमें मुझे इतना क्षयोपशम हुआ और मुझे ऐसा हुआ और मुझे वैसा हुआ – ऐसे किसलिए तू रुकता है? जहाँ भण्डार भरा है भगवान पूर्णानन्द का नाथ.. आहा..हा..! भाई! मार्ग तो यह है। अभी तो ऐसी प्ररूपणा चलती है कि व्यवहार करो, दया पालो, व्रत करो, तप करो, परीषह सहन करो... आहा..हा..! 'कुरावड' था न? कुरावड न? क्या कहलाता है? कुरावड गये थे न पंच कल्याणक था? लोग बहुत थे, दस-बारह हजार लोग थे। भिण्डर में धर्मसागर थे। एक ब्रह्मचारी आया था, वह लड़का यहाँ आया था। ज्ञानसागर क्षुल्लक। पहले यहाँ आया था। क्षुल्लक हो गया तो अभिमान प्रस्फुटित हो गया। बात करते-करते बात सुने नहीं। ऐसा होता है और वैसा होता है, परीषह सहन करे और उपसर्ग सहन करेगा तो सम्यग्दर्शन होगा। इतने-इतने परीषह सहन करते हैं और तुम कहते हो कि यह सम्यग्दर्शन नहीं है।

मुमुक्षु : समाचार पत्र में आया था।

पूज्य गुरुदेवश्री : समाचार पत्र में आया था न!

मुमुक्षु : उसमें लिखा था गुरुदेव ने पूछा, क्या तुझे सम्यग्दर्शन है? तो कहे – गुरु की सेवा करूँगा तो हो जायेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : मैंने तो यहाँ तक कहा था कि तुम हमारे साथ बात करने के योग्य नहीं हो। समाचार पत्र में आया था। समाचार पत्र में आया था। हमारे पास पहले वह लड़का आया था। भाषण करता था परन्तु क्षुल्लक होने के बाद अभिमान चढ़ गया। साधु है, उनके पास रहता है। मैंने तो कहा – भाई! तुम्हारे साथ बात करने को मैं योग्य नहीं हूँ। समाचार पत्र में आया था। प्रभु! आहा..हा..! अरे! तू लाख परीषह सहन कर परन्तु परीषह (सहन करना) कब कहलाता है? सम्यग्दर्शन होने के बाद प्रतिकूलता का निमित्त हो, उस समय आत्मा की शान्ति में घुस जाता है तो उसने परीषह सहन किया – ऐसा कहा जाता है। अज्ञानी को परीषह सहन है ही नहीं। समझ में आया? बाईस परीषह किसे होता हैं? समकिती को, ज्ञानी को, मुनि को होते हैं, उनकी बात है। अज्ञानी को परीषह कैसा? वह तो कष्ट सहन करता है। आहा..हा..! अरे! वह तो रुँधा हुआ कषाय पड़ा है। आहा..हा..!

यहाँ कहते हैं, निष्क्रिय तत्त्व भगवान परिणमनरहित चीज़ है और तल है, ध्रुवतल; तल अर्थात् तलिया अन्दर ध्रुवस्वभाव। जैसे पाताल में तल है, वैसे ध्रुवस्वभाव तल में है। आहा..हा..! उस पर **दृष्टि स्थापित कर न!** उसमें दृष्टि स्थापित कर न! कर न! अर्थात् कर न, तुम्हारी हिन्दी भाषा। कर न! अर्थात् नहीं (–ऐसा नहीं) वहाँ दृष्टि कर न, प्रभु! भगवान पूर्णानन्द ज्ञायक विराजमान है। आहा..हा..!

परिणाम तो होते ही रहेंगे। परिणाम तो होते ही रहेंगे। **परन्तु, यह मेरी अमुक गुणपर्याय हुई,...** आहा..हा..! मुझे ज्ञान की पर्याय निर्मल हुई, श्रद्धा की क्षायिक पर्याय उत्पन्न हुई, आहा..हा..! आनन्द की पर्याय ऐसी वेदन में आयी। आहा..हा..! **यह मेरे ऐसे परिणाम हुए—ऐसा जोर किसलिये देता है?** आहा..हा..! पर्याय को देखने पर किसलिये जोर देता है? प्रभु! भगवान परमात्मस्वरूप से अन्दर विराजमान है। अन्तर आत्मा कहते हैं न? अन्तर आत्मा अर्थात् अन्दर आत्मा। पर्याय के अतिरिक्त अन्दर आत्मा, वह अन्तर आत्मा। उसकी दृष्टि हुई तो उसे अन्तरात्मा कहा जाता है। आहा..हा..! समझ में आया? भाव जरा कठिन है, भाषा तो सरल है। अभी तो बहुत गड़बड़ हो गयी है। क्या कहे?

राग की मन्दता का लक्ष्य तो छोड़ दे, परन्तु ज्ञान की पर्याय में क्षयोपशम विशेष हुआ, उसका भी लक्ष्य छोड़ दे। तेरा जोर पर्याय पर क्यों जाता है? मुझे इतना ज्ञान हुआ, मैं करोड़ों

श्लोक जानता हूँ, कण्ठस्थ करता हूँ। परन्तु उसमें क्या आया ? आहा..हा.. ! समझ में आया ? यह कहते हैं। देखो !

परन्तु, यह मेरी अमुक गुणपर्याय हुई, यह मेरे ऐसे परिणाम हुए—ऐसा जोर किसलिये देता है ? पर्याय में—पलटते अंश में... पर्याय में-पलटते अंश में। पर्याय का अर्थ किया। पर्याय अर्थात् ? पलटता अंश। ध्रुव अर्थात् नहीं पलटता अंश। उत्पाद-व्यय और ध्रुव तीनों में उत्पाद-व्यय पलटता अंश है; ध्रुव, वह नहीं पलटता अंश है। आहा..हा.. ! धवल में तो ऐसा लिया है, उत्पाद और व्यय दोनों को विरोध है क्योंकि एक भावरूप है, एक अभावरूप है। ध्रुव त्रिकाल भावरूप है; अतः उत्पाद-व्यय विरुद्ध और ध्रुव अविरुद्ध है - ऐसा धवल में कहा है। आहा..हा.. ! समयसार, तीसरी गाथा में आया न ? विरुद्ध और अविरुद्ध कार्य होने पर भी जगत टिक रहा है। समझ में आया ? विपरीत कार्य हो या अविरुद्ध कार्य हो परन्तु अपने में पूरा जगत इस प्रकार टिक रहा है। किसी का अंश किसी में नहीं जाता और किसी का अंश किसी में से नहीं आता। विरुद्ध और अविरुद्ध शब्द पड़ा है। समयसार। समझ में आया ? तीसरी गाथा में विरुद्ध-अविरुद्ध शब्द है। विरुद्ध-अविरुद्ध कार्य से पूरा जगत टिक रहा है अर्थात् अपने में अपने कारण से विरुद्ध हो या अविरुद्ध हो परन्तु वह अपने में है। कोई पर से है पर में है - ऐसा नहीं। पूरा जगत इस प्रकार टिक रहा है - ऐसा पाठ है।

यहाँ कहते हैं कि पर्याय पर तेरा लक्ष्य जाता है, जोर देता है कि मुझे ज्ञान का बहुत क्षयोपशम हो गया, मेरी क्षायिक समकित पर्याय हुई, परन्तु इतना सब जोर पर्याय पर क्यों देता है ? समझ में आया ? आहा..हा.. ! मुझे चारित्र की पर्याय हुई। भाई ! पर्याय होती है, परन्तु उस पर जोर किसलिए देता है ? जोर तो भगवान त्रिकाल ज्ञायक निष्क्रिय तत्त्व अन्दर तल में है, (उस पर दे)। आहा..हा.. ! ऐसी भाषा ! कोई कहता है कि नया धर्म निकाला। भाई ! अनादि का वीतराग परमात्मा त्रिलोकनाथ अनन्त काल से (ऐसा कहते हैं)। त्रिकाल में त्रिकाल को जाननेवाले का अभाव कभी नहीं होता।

मुमुक्षु : ऐसा कहते हैं कि साहेब ! ऐसी सूक्ष्म बात करते हो तो साधु क्यों नहीं हो जाते ?

पूज्य गुरुदेवश्री : साधु किस प्रकार होवें ? बाहर वस्त्र छोड़ दे तो साधु हो जाता है ? आहा..हा.. ! अन्तरद्रव्य में उग्र पुरुषार्थ होकर स्थिरता हो, तब साधु होता है। द्रव्य के आश्रय से जो सम्यक्त्व हुआ, उसी द्रव्य का उग्र आश्रय करे, तब चारित्र प्रगट होता है। वस्त्र छोड़ दिया, इसलिए चारित्र हो गया ? आहा..हा.. ! बापू ! अलौकिक बात है, भाई ! आहा..हा.. ! व्रतादि तो आस्रव है। पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण आस्रव है। यहाँ तो उसकी बात तो

छोड़ दे परन्तु उस समय आस्रव जाननेवाली ज्ञान की पर्याय विशेष उघड़ी है, उस पर जोर किसलिए देता है ? मेरे ज्ञान का विकास हुआ, मुझे इतना ख्याल नहीं था, अब बहुत क्षयोपशम हुआ। उस क्षयोपशम पर इतना जोर किसलिए देता है ? आहा..हा.. ! समझ में आया ? मैं दो घड़ी में सैंकड़ों श्लोक कण्ठस्थ कर सकता हूँ। उसमें क्या हुआ ? आहा..हा.. ! उसमें क्या है ? वह तो मजदूरी है। अरे ! सन्त तो एक घड़ी में, दो घड़ी में ग्यारह अंग पारायण कर जाते हैं। बापू ! ऐसी लब्धि-शक्ति होती है। दो घड़ी अन्तर्मुहूर्त में ग्यारह अंग का पर्यटन कर लेते हैं, ऐसा पाठ है। तत्त्वार्थ राजवार्तिक (में है)। समझ में आया ? परन्तु वह क्या चीज़ है ? इतना अधिक जोर क्यों ? मैं ऐसा बहुत कर सकता हूँ। अरे प्रभु ! अन्दर भगवान तीन लोक का नाथ है, वहाँ जोर दे न ! ...भाई !

पलटते अंश में—द्रव्य का परिपूर्ण नित्य सामर्थ्य थोड़ा ही आता है ? क्या कहते हैं ? जो ज्ञान की क्षयोपशम आदि की पर्याय खिली, उसमें द्रव्य का परिपूर्ण नित्य सामर्थ्य थोड़े ही आता है ? उस द्रव्य का जो सामर्थ्य है, वह पर्याय में आता है ? पर्याय में उसका ज्ञान होता है। पूरा द्रव्य ऐसा है, उसका ज्ञान होता है परन्तु द्रव्य का सामर्थ्य, द्रव्य चीज़ कहीं पर्याय में आ जाती है ? आहा..हा.. ! यह क्या कहते हैं ? कि पर्याय अल्प हो तो भी द्रव्य का सम्पूर्ण सामर्थ्य है, पूर्ण सामर्थ्य है और पर्याय विशेष हुई तो भी द्रव्य का तो पूर्ण सामर्थ्य है। विशेष पर्याय हुई, इसलिए द्रव्य में कुछ कम हो गया (-ऐसा नहीं है।) आहा..हा.. ! क्या है यह ! समझ में आया ? अक्षर के अनन्तवें भाग ख्याल (ज्ञान) था, उसे एकदम क्षयोपशमज्ञान ग्यारह अंग का हो गया। आहा..हा.. ! तो क्या हुआ ? कहते हैं। उस पर्याय में क्या द्रव्य आ जाता है ? हाँ, सम्यग्दर्शन की पर्याय में, द्रव्य जितनी ताकत और सामर्थ्यवाला है, उतना ज्ञान आ जाता है, वह चीज़ नहीं आती। आहा..हा.. ! ऐसा गम्भीर मार्ग है, प्रभु ! अरे ! इसे जन्म-मरणरहित होने का पंथ तो यह है, प्रभु ! आहा..हा.. ! जिसमें जन्म-मरण और जन्म-मरण का भाव नहीं, अरे ! जिसमें क्षयोपशम की पर्याय भी नहीं.. आहा..हा.. ! ऐसे भगवान पर (दृष्टि दे)।

द्रव्य का परिपूर्ण नित्य सामर्थ्य थोड़ा ही आता है ? उस परिपूर्ण नित्य सामर्थ्य का अवलम्बन कर न! पर्याय में द्रव्य का सामर्थ्य, पूरा द्रव्य आ नहीं जाता। पूरा द्रव्य जो है, वह परिपूर्ण भगवान स्वरूप है, निष्क्रिय है, तल है, पर्याय का वह तल है, तल है। जैसे भोंवरे तल में जाते हैं न ? ऊपर से भोंवर तल में जाते हैं न ? भोंवरा में। इसी प्रकार एक समय की पर्याय को छोड़कर अन्तर तल में जा न ! अन्दर जा न ! आहा..हा.. ! ऐसी बात है। इसकी टीका (आलोचना) करते हैं। ऐसा कहते हैं, कुन्दकुन्दाचार्य का छोड़कर चम्पाबेन का पढ़ने लगे।

अरे प्रभु ! परन्तु.. यह पूरे सिद्धान्त हैं। समयसार में जो कहा है, वे ही सिद्धान्त अनुभव से इसमें आये हैं। आहा..हा.. ! मोक्षमार्गप्रकाशक टोडरमलजी, वह गृहस्थी ने बनाया है, तो क्या नहीं पढ़ना ? आहा..हा.. ! नियमसार की टीका मुनि ने की है। चलता है, यह कोई नयी चीज़ नहीं है – ऐसा ही चलता है।

एक बार तो ऐसा लिखा था, दिल्लीवाले कैसे कहलाते हैं ? सन्मति सन्देश। हितैषी ने ऐसा पत्र में लिखा था, भगवान के विषय में कुछ लिखा था। हमारे ख्याल में आया नहीं। जहाँ-जहाँ भगवान जाते थे, वहाँ-वहाँ हजारों विरोधी विरोध करने जाते थे। हितैषी ने कहीं से डाला है। उसके पत्र में आया था। सन्मति सन्देश है न ? उसमें आया था। भगवान जहाँ-जहाँ जाते थे, वहाँ-वहाँ उनके विरोधी उनका विरोध करने जाते थे। यह तो जगत में चला आता है। यह लीमड़ीवाला... क्या कहलाता है ? पूनमचन्दजी। जहाँ-जहाँ हम जाते हैं, वहाँ सामने विरोध करने आते, अन्त में भ्रष्ट हो गया, सम्प्रदाय से ही भ्रष्ट हो गया।

उस परिपूर्ण नित्य सामर्थ्य का अवलम्बन कर न! भगवान त्रिकाली सामर्थ्य जो द्रव्य है, वह पर्याय में नहीं आता, उस द्रव्य का अवलम्बन कर न ! पर्याय का अवलम्बन क्यों लेता है ? समझ में आया ? आहा..हा.. ! ओहो..हो.. ! लम्बा है, हों ! **ज्ञानानन्दसागर की तरंगों को न देखकर...** आहा..हा.. ! समुद्र में जो तरंग उठती है, वैसे ज्ञानानन्दसागर, भगवान ज्ञानानन्दसागर की पर्याय / तरंग उठती है। आहा..हा.. ! उसे न देख, तरंगों को न देख ! अन्दर ज्ञानानन्दसागर पड़ा है। आहा..हा.. ! बहिन की तो सादी गुजराती भाषा है, हों ! ज्ञानानन्दसागर ! वह तो ज्ञान और आनन्द का सागर प्रभु है। उसमें तरंग जो पर्याय उठती है.. आहा..हा.. ! उसे न देख। उसे नहीं देखकर **उसके दल पर दृष्टि स्थापित कर।** समझ में आया ? उसके दल पर दृष्टि स्थापित कर, तरंग पर नहीं। आहा..हा.. ! अन्दर पूरा दल पड़ा है न ! चैतन्य दल ध्रुव अन्दर अनन्त ज्ञान और आनन्द का सागर भरा है। आहा..हा.. ! तुम्हारे तो नहीं, हमारे यहाँ काठियावाड़ में दल के लड्डू होते हैं। दल के लड्डू। गेहूँ के दल के लड्डू घी पीलाकर बनाते हैं। दल के लड्डू कहते हैं, तुम्हारे भी कुछ भाषा होगी। यही कहते हैं ? दल के लड्डू। इसी प्रकार यह दल पड़ा है। अन्दर लड्डू.. आहा..हा.. ! उस पर दृष्टि दे न ! आहा..हा.. !

मुमुक्षु : दल के लड्डू तो देखने मिले।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल है, मिट्टी है। हमने तो सब देखा है। देखा भी है और बाहर में खाया भी है। एक शक्करपारा होता है। सुना है ? चने का आटा होता है न ? एक सेर चने के

आटे को चार सेर घी पिलाये, उसे मेसूर कहते हैं। मेसूरपाक। परन्तु गेहूँ के आटे को एक सेर में चार सेर घी पिलाकर बनावे तो उसे शक्करपारा कहते हैं। हमने तो सब देखा है। हमारा (संवत्) १९८१ में गडढा में चातुर्मास था। लोग तो हमें प्रसिद्धरूप से मानते थे न! संघ जीमण करते हैं, संघ जीमण। एक व्यक्ति ने संघ का जीमण शक्करपारा से किया। १९८१ के साल की बात है। कितने वर्ष हुए? ५३। एक सेर गेहूँ का आटा, चार सेर घी और शक्कर, उसे शक्करपारा कहते हैं। वह धूल है, उसमें है क्या? आहा..हा..!

यहाँ पर्याय में शक्करपारा अर्थात् ज्ञान की पर्याय उत्पन्न होती है तो भी तुझे वह ध्यान में लेने की वस्तु नहीं है, जानने की चीज़ है। दृष्टि का जोर तो यहाँ दे। आहा..हा..! आहा..हा..! है? **उसके दल पर दृष्टि स्थापित कर।** दल जो भगवान पूर्णानन्द ज्ञायकभाव / अपरिणामीभाव पर दृष्टि दे न! आहा..हा..! जहाँ भगवान विराजते हैं, उस भगवान की भेंट कर न! पर्याय की भेंट.. **तरंगें तो उछलती ही रहेंगी;...** पर्याय तो उछलती ही रहेगी। **तू उनका अवलम्बन किसलिये लेता है?** पर्याय का अवलम्बन क्यों लेता है? यहाँ तो व्यवहार से होता है, यह बात (तो) कहीं चली गयी परन्तु व्यवहार राग को जाननेवाली जो ज्ञान की पर्याय है, उसका भी अवलम्बन किसलिए लेता है? आहा..हा..! कठिन मार्ग है, भाई! इसे एकान्त कहते हैं। निश्चय से भी होता है और व्यवहार क्रियाकाण्ड से भी होता है, यह अनेकान्त है (-ऐसा आजकल कहते हैं)। यह अनेकान्त कहाँ हुआ? यह तो एकान्त हुआ। सप्तभंगी में पहले क्या आया? अपने से है, पर से नहीं। ऐसे निश्चय से आत्मा उत्पन्न होता है और व्यवहार से नहीं, इसका नाम अनेकान्त है। निश्चय से भी है और व्यवहार से भी है, यह अनेकान्त कहाँ है? दो कहाँ आये? अस्ति-नास्ति में दो आते हैं। आहा..हा..! समझ में आया? बात तो ऐसी है। **तू उनका अवलम्बन किसलिये लेता है?** एक पैराग्राफ रह गया।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

(३२) श्री समयसार, गाथा-१, प्रवचन ५
दिनांक ०३-१२-१९७५

समयसार, पहली गाथा है। जीव-अजीव अधिकार। कुन्दकुन्द आचार्य भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की गाथा है। **अब मूलगाथासूत्रकार श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं -**

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं॥१॥

ध्रुव अचल अरु अनुपम गति, पाये हुए सब सिद्ध को,
मैं वंद श्रुतकेवलिकथित, कहूँ समयप्राभृत को अहो॥१॥

पहले इसका गाथार्थ, अन्वयार्थ। **आचार्य कहते हैं कि मैं ध्रुव...** यह सिद्धगति की बात है, पर्याय की बात है। **मैं ध्रुव, अचल, अनुपम इन तीन विशेषणों से युक्त गति को प्राप्त हुए...** ऐसे तीन (विशेषणयुक्त) गति को जो प्राप्त हुए, **ऐसे सर्व सिद्धों को नमस्कार करके...** समस्त सिद्धों को नमस्कार करके, अहो! यह शब्द प्रयोग किया है। **'श्रुतकेवलिभणितम्'** श्रुतकेवली और केवली दोनों, उनके **उनके कहे हुए इस समयसार नामक प्राभृत को कहूँगा।** भगवान श्रुतकेवली और केवली ने जो यह कहा, वह मैं कहूँगा, ऐसा कहते हैं।

यहाँ (संस्कृत टीका में) 'अथ' शब्द मंगल के अर्थ को सूचित करता है। अर्थात् साधकधर्म की शुरुआत होती है - ऐसा मांगलिक करते हैं। अनादि से जो अज्ञान में भाव था, उसका नाश करके साधकभाव; द्रव्य के आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान हो, वह साधक की शुरुआत होती है। यहाँ से मांगलिक होता है और शुरुआत होती है। आहाहा! समझ में आया? **'अथ' शब्द मंगल के अर्थ को सूचित करता है।** यहाँ संस्कृत में 'प्रथम' शब्द पड़ा है। **ग्रन्थ के प्रारम्भ में...** यह आदि-प्रथम। **उन सर्व सिद्धों को भाव-द्रव्य स्तुति से अपने आत्मा में...** आहाहा! अनन्त सिद्धों को अपने आत्मा में भाव से स्थापित कर और द्रव्यस्तुति दोनों है। यह भाव और द्रव्य दोनों स्तुति से करते हैं।

आत्मा में तथा पर के आत्मा में... आहाहा! सुननेवाले के आत्मा में भी अनन्त सिद्धों को स्थापित करके.... ज्ञान की पर्याय अल्पज्ञ है, परन्तु उसमें अनन्त सिद्धों का सत्कार करते हैं। आहाहा! अनन्त-अनन्त केवलज्ञान प्राप्त परमात्मा का एक समय में स्थापन करते हैं, यह उन्हें वन्दन करते हैं, उसे यहाँ **वंदित्तु** कहा गया है। आहाहा! समझ में आया? **वंदित्तु** का अर्थ यह कि अनन्त सिद्धों को पर्याय में स्थापित करे, वह **वंदित्तु** है। आहाहा!

श्रोता : पर्याय में सिद्धों को किस प्रकार स्थापित करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्थापित करे अर्थात् यहाँ ज्ञान की पर्याय में उन्हें ऐसे रखे। रखे अर्थात् इसका साध्य है न, सिद्ध? सिद्ध साध्य है न? इसलिए साध्य को पर्याय में स्थापित करता है। ज्ञायकपने की पर्याय में उन्हें स्थापित करता है, रखता है.... इसलिए उस सुननेवाले को और कहनेवाले को दोनों को सिद्ध की पर्याय का स्थापन करके सुनाने की बात करते हैं। साध्य... है न? समझ में आया? आगे आयेगा न? ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सेवा करना, ऐसा आया न? आता है न? कल आया था न? कल आया था न? भक्त दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भक्ति करते हैं, यह व्यवहार का कथन है। लोग पर्याय के भेद से जानते हैं, इसलिए पर्याय से कथन किया है। ऐई! सेवन करना है तो आत्मा; तीन भेद नहीं। तीन भेद तो पर्याय हो गयी, व्यवहार हो गया। आहाहा! समझ में आया? भगवान शुद्ध चैतन्यघन जो एक स्वरूप है, उसे सेवन करना है, एक को सेवन करना है, परन्तु लोग पर्याय व्यवहार जीव, पर्यायबुद्धि से समझते हैं; इसलिए भेद से, पर्यायबुद्धि से कथन किया है, जानने के लिये कथन किया है। आहाहा! आदरने के लिये नहीं। आहाहा! धन्नालालजी! समझ में आया? इसी प्रकार इन सिद्ध को पर्याय में स्थापित किया है, वह ज्ञान करने के लिये स्थापित किया है। उनका ज्ञान ऐसा पूर्ण हुआ। ध्येय तो द्रव्य है। आहाहा!

श्रोता : भेद क्या किया?

पूज्य गुरुदेवश्री : भेद किया यह कि वस्तु का ज्ञान करने के लिये यह सब बराबर है, परन्तु ध्येय के लिये तो एक ही द्रव्य है। नवलचन्दभाई कल, कल रात्रि में स्पष्टीकरण लाये थे न? कल रात्रि को लाये थे न? कहा था, मैंने कहा, सर्व परिणाम कहीं आता है। बराबर ख्याल नहीं आया कुछ। सविकल्प में आया, मोक्षमार्गप्रकाशक में। मोक्षमार्गप्रकाशक में आया। मैंने कहा, आया अवश्य था, कुछ दृष्टान्त दिया था, देवीलालजी ने, परन्तु आधार दिया था तो कौन सा ग्रन्थ, वह अन्दर रह गया। वहाँ तो ऐसा ही कहा है कि चिन्मय आत्मा भगवान एक स्वरूप

है, उसमें सर्व परिणाम वहाँ आगे एकाग्र होते हैं। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई!

सविकल्पी, निर्विकल्पध्यान में जाता है, उसका स्वरूप कथन किया है। वह चिन्मात्र भगवान तो एक स्वरूप ही भगवान है। उसके तीन रूप नहीं हैं। आहाहा! तीन रूप से परिणमना, वह भी एक असत्यार्थ कहा जाता है। आहाहा! द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता करने से उस एक के ही सेवन की व्याख्या होती है। तब पर्याय में तीन रूप से परिणमना, वह गौण करके, उसे व्यवहार कहकर, उसे असत्यार्थ कहा है। समझ में आया? गजब बात, भाई! तीन रूप परिणमन-निर्मल दशा, हों! वह भी एकपने की दृष्टि कराने में मुख्यरूप से द्रव्यार्थिक, शुद्धद्रव्यार्थिक का विषय करके, परिणाम के तीन भेदों का, उसका सेवन करना वह कहा, यह तो पर्याय से व्यवहारी लोग समझते हैं; इसलिए कहा। बाकी तीन का सेवन करना, वह असत्यार्थ है। आहाहा! ऐसी बातें, बापू! यह तो... है १६वीं गाथा में। असत्यार्थ कहा है। भाई! १६वीं के श्लोक में कहा है। है न?

आत्मा एक है, तथापि व्यवहारदृष्टि से देखा जाये... श्लोक (१७) है। पृष्ठ ४८। **आत्मा एक है, तथापि व्यवहारदृष्टि से देखा जाये तो तीन स्वभावरूपता के कारण...** देखा? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह व्यवहारदृष्टि से कथन है। आहाहा! समझ में आया? द्रव्य के साथ उस पर्याय को नहीं मिलाया जाता। क्योंकि उन तीन का परिणमन व्यवहार है। **तीन स्वभावरूपता के कारण अनेकाकाररूप (मेचक) है, क्योंकि वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र - इन तीन भावों में परिणमन करता है।** भावार्थ में स्पष्टीकरण है, देखो!

शुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा एक है;... शुद्धद्रव्यार्थिकनय से आत्मा एक है, तीनपने का परिणमन भी व्यवहार में जाता है। आहाहा! समझ में आया? **इस नय को प्रधान करके कहा जाता है, तब पर्यायार्थिकनय गौण हो जाता है, इसलिए एक को तीन रूप परिणमित होता हुआ कहना, सो व्यवहार हुआ,...** आहाहा! सद्भूतव्यवहार है न यह? राग है, वह तो असद्भूतव्यवहार, परन्तु ये तीन भी व्यवहार—सद्भूतव्यवहार है। आहाहा! यह वस्तु। समझ में आया? और उन तीन रूप परिणमित हुआ कहना, तीन रूप परिणमित हुआ कहना, सम्यग्दर्शन-ज्ञान निर्मल पर्यायरूप परिणमित हुआ कहना... नवलचन्दभाई! **सो व्यवहार हुआ, असत्यार्थ भी हुआ।** है? है अन्दर? ***आहाहा! तीन रूप से परिणमन की निर्मल दशा, वह भी असत्यार्थ हुई। आहाहा! समझ में आया? यह द्रव्य और निर्मल पर्याय को साथ में लेकर विषय बनाना, वह तो बहुत स्थूलदृष्टि हो गयी, विपरीत-बहुत विपरीत दृष्टि। समझ में आया?***

श्रोता : जब नय से कथन करे, तब कुछ बाकी रहना चाहिए न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बाकी रहा न! पर्याय के तीन भेद गौण रहे, यह मुख्य हो गया। एक नय का विषय यह आया, तो एक नय रह गया तो पर्याय के भेद वहाँ गौण में रह गये। समझ में आया? यदि द्रव्य और निर्मल पर्याय को इकट्ठा लें, तब तो एक विषय बाकी नहीं रहा, अशुद्धता का बाकी रहा परन्तु पर्याय का बाकी नहीं रहा, वह नय ही नहीं हुआ। समझ में आया?

निश्चयनय का विषय एक अंश है, वह प्रमाण नहीं है। अर्थात् द्रव्यार्थिकनय का विषय जो एकरूप है, वह इसका विषय है। यह तो स्पष्ट करने की आवश्यकता पड़ी। सब गड़बड़ी उठी है न! बात ऐसी है, भाई! कल्पना करके चाहे जिस प्रकार से अपनी दृष्टि से माने, वस्तु पूरी दूसरी है। समझ में आया? एक वस्तु को द्रव्यार्थिकनय से जब एक कहा, तब एक नय बाकी रह गया। क्योंकि नय का विषय तो एकरूप त्रिकाल एक हुआ, वह एक अंश हुआ, दूसरा अंश बाकी रहा, नहीं तो नय कहलाये ही नहीं। दूसरा नय कौन सा बाकी रहा? - कि तीन रूप से जो परिणमित होता है, उसका जो नय, व्यवहारनय का विषय, उसको गौण करके, वह नहीं है-असत्यार्थ है—ऐसा कहने में आता है। आहाहा! धन्नालालजी!

इसलिए यहाँ सविकल्प में कहा कि अन्तर में चिन्मात्र अकेला आत्मा भासित होता है। वह चिन्मात्र भासित होता है, ऐसा भी विकल्प नहीं। भासित होता है पर्याय में अन्दर यह चिन्मात्र द्रव्य, पर्याय का विषय चिन्मात्र द्रव्य, अकेला द्रव्य। उसमें सर्व परिणाम एकाग्र होते हैं। निर्मल परिणाम आदि उस द्रव्य में एकाग्र होते हैं। यह पाँच-सात दिन पहले निकाला था, परन्तु वापस भूल गये। नवलचन्दभाई रात्रि को लाये। सविकल्प द्वारा निर्विकल्प (होता है)। मैंने कहा, परिणाम कहाँ आया था? सर्व परिणाम। और जब भूतार्थनय में पहले आया था... समझ में आया? तब भी यह विचार तो अन्दर आया था कि यह एक पर्याय झुकती है या सब (झुकती हैं)? अब कोई आधार बिना... समझ में आया? परन्तु बात तो ऐसी कि सब पर्यायें नमती हैं, आता है, आना तो ऐसा चाहिए। और यहाँ तो ऐसा कहा, भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है, तब अकेली सम्यग्दर्शन की पर्याय ही उस ओर ढली है? पूरे परिणाम ढले हैं। आहाहा! जितने निर्मल परिणाम हैं... मलिन परिणाम तो बाहर रह गये। अब जितने निर्मल परिणाम हैं, वे सर्व द्रव्य में एकत्र हुए। एकत्र हुए, यह आया न, कहा न।

श्रोता : इसलिए दो भेद हो गये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : एक नहीं, एक होने की कहाँ बात है ? वे तो भिन्न रहते हैं। उसका कुछ नहीं, वे तो दो भिन्न हैं, उसमें कुछ दिक्कत नहीं, परन्तु यह पर्याय जो है, इस एक में तीन जो कहना, वह असत्यार्थ हो गया। तीन निर्मल पर्याय को वह तीन होकर एक पर्याय गिने तो भी वह पर्यायभेद हो गया, सद्भूतव्यवहारनय हो गया; इसलिए उसे असत्यार्थ कहा। त्रिकाल सत्यार्थ भगवान पूर्णानन्द चिन्मय एकरूप स्वरूप है, उसे सत्यार्थ कहकर और उसे द्रव्यार्थिकनय का विषय, उसे निश्चयनय का विषय, उसे सम्यग्दृष्टि का विषय कहा। समझ में आया ? यह वस्तु, बापू! ऐसी सूक्ष्म है। अन्तर वस्तु को समझे बिना सब गड़बड़ उठे बिना रहती ही नहीं। आहाहा! देखो! इसमें कहा, क्या कहा ? ...परन्तु यह गड़बड़ उठी थी न, इसलिए बाहर यह स्पष्ट करना पड़ता है। **एक को तीनरूप परिणमित होता हुआ कहना...** दर्शन-ज्ञान-चारित्र को परिणमित हुआ कहना, वह व्यवहार हुआ। द्रव्य अकेला दृष्टि में लेना, वह निश्चय हुआ। आहाहा! द्रव्य के साथ पर्याय को इकट्ठा लेना, वह व्यवहार हो गया। दो हुए, इसलिए व्यवहार हुआ। दूसरे प्रकार से कहें तो पर्याय सद्भूतव्यवहार है और (द्रव्य) निश्चय है तो दो हो गये, तो वह प्रमाण का विषय (हुआ)। प्रमाण है, वह व्यवहार का विषय हो गया। प्रमाण, वह व्यवहार का विषय है। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा! प्रमाण स्वयं व्यवहार है, प्रमाण स्वयं व्यवहारनय का विषय है। आहाहा! पंचाध्यायी में लिया है न ? प्रमाण स्वयं व्यवहारनय का विषय है। आहाहा! दो हुए, ऐसा प्रमाण, व्यवहारनय का विषय है। आहाहा! समझ में आया ? भाई! यह तो वीतराग का अपूर्व मार्ग। अनन्त काल में नहीं पकड़ा, ऐसा मार्ग अलौकिक है। आहाहा! समझ में आया ?

देखो! क्या कहा यह ? कि उसे असत्यार्थ (कहा)। ***तीन पर्यायरूप से परिणमे, पर्याय निर्मलरूप से परिणमे, वह असत्यार्थ है। आहाहा! समझ में आया ? उसे द्रव्य और पर्याय को इकट्ठा डालकर विषय बनाना, वह तो बहुत स्थूल मिथ्यादृष्टि है, अत्यन्त विपरीतदृष्टि है। यहाँ तो स्पष्ट बात है, भाई! समझ में आया ? माने चाहे जिस प्रकार से परन्तु वस्तु तो यह है। आहाहा!***

तीन रूप परिणमित होता हुआ कहना, सो व्यवहार हुआ, असत्यार्थ भी हुआ। इस प्रकार व्यवहारनय से आत्मा को दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप परिणामों के कारण 'मेचक' कहा है। आहाहा! समझ में आया ? बहुत जगह इस पर्याय का सेवन कहना है, वह सब लोग इस व्यवहारनय से समझते हैं, इसलिए इस प्रकार से कहा है। बाकी सेवन करना है तो एक ही आत्मा। समझ में आया ? उसका योगफल यह है। आहाहा! चलेगा इसमें बहुत जगह,

१६वीं गाथा में, एक ही सेवन करना... एक ही सेवन करना, ऐसा है। यह तो तीन प्रकार से पर्याय से, व्यवहार से लोग समझते हैं तो समझाया है। ये तीन आश्रय करने योग्य हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा मार्ग है, भाई! सर्व परिणाम उसमें एकाग्र होते हैं। निर्मल परिणाम भी उस ओर द्रव्य पर ऐसे ढल गये हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! उन परिणाम में अकेला चिन्मात्र आत्मा भासित होता है। समझ में आया? चिन्मात्र द्रव्य एकरूप भासित होता है। निर्मल पर्याय को भासित होता है परन्तु निर्मल पर्याय और चिन्मय दो, ऐसे परिणाम में भासित होते हैं, ऐसा नहीं है। बहुत सूक्ष्म बात, बापू! आहा! यह तो मूल मार्ग की शुरुआत की बात यह तो है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो कहा न देखो न! आहा! इसलिए यहाँ कहते हैं कि हम सिद्ध को नमस्कार करते हैं, वह तो व्यवहार से बात उठायी है। समझ में आया? वन्दन अनन्त सिद्ध, आहाहा! पर्याय में स्थापन किया है न! अनन्त-अनन्त केवली, अनन्त-अनन्त केवलियों (को) मति की पर्याय में अनन्त-अनन्त केवलियों को स्वीकार किया। आहाहा!

श्रोता : इसका लाभ क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका लाभ है, वह ढलता है द्रव्य पर इसलिए। उस पर इतना अधिक जोर आता है, तब उस द्रव्य पर इसका लक्ष्य जाता है। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है।

यहाँ तो यह बात है, भाई! एक ही है। पहले से कहते आये हैं, यह कोई नया नहीं है। यह तो स्पष्ट करने की आवश्यकता पड़ी। लेख में बहुत विपरीत आया न! बहुत विपरीत आया, इस बार (ब्रह्मचारी हरिभाई के) अन्तिम आत्मधर्म में तो बहुत विपरीत है। आगे-पीछे के मेलरहित था। लोगों को भ्रम उपजे परन्तु लोग तो अब समझ गये हैं। उसमें यह लेख आया भाई का (नागरभाई मोदी का) कार्तिक महीने का आत्मधर्म, उसमें सब स्पष्टीकरण हो गया। समझ में आया? आहा! ऐसा मार्ग, बापू! यह तो कोई वीतराग का मार्ग है। इसमें धणी पढ़े से पढ़ता है, वह विपरीत दृष्टि यहाँ नहीं चलती। आहाहा!

यहाँ कहते हैं '**अथ**' नाम **मंगल के अर्थ में...** आहाहा! जो अनन्त काल में हुआ नहीं, उसकी शुरुआत हो गयी, द्रव्य के आश्रय से साधकभाव की (शुरुआत हो गयी)। आहाहा!

श्रोता : इसका नाम मांगलिक।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका नाम मांगलिक है। समझ में आया? आहाहा! टीका, वह

टीका है न! यह तो भाई! अठारहवीं बार पढ़ा जाता है। नौतमभाई! शुरुआत में तो पढ़ा गया है न! बहुत पहलू आये न, इसलिए अधिक स्पष्ट होगा। आहाहा!

ग्रन्थ के प्रारम्भ में... संस्कृत में यह 'प्रथम' शब्द है न? '**अथ प्रथमतः**' ये दो शब्द, वहाँ से शुरु करते हैं। प्रथम कहाँ आया? ग्रन्थ की आदि में प्रथम आता है, इसके बिना तो कहीं आता नहीं। प्रत्येक शब्द का अर्थ जो टीकाकार ने किया, अमृतचन्द्राचार्य महामुनि। आहाहा! उनकी टीका अर्थात् भरतक्षेत्र में ऐसी टीका, दिगम्बर में ऐसी टीका नहीं है, यहाँ है, ऐसी दूसरे ग्रन्थों में नहीं। दूसरे अन्यमत में श्वेताम्बर और स्थानकवासी में तो किसकी हो? आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं कि **ग्रन्थ के प्रारम्भ में सर्व सिद्धों को...** भाव से नमस्कार करता हूँ। देखा? अन्दर निर्मल एकाकार होकर भाव से नमस्कार करता हूँ। सन्मुख होकर। द्रव्य से-विकल्प से, दोनों है। **स्तुति से अपने आत्मा में...** ऐसी स्तुति से अपने आत्मा में स्थापित करके। **वंदित्तु** शब्द है न? आहाहा! भाव से नमस्कार और द्रव्य से नमस्कार। शुद्ध चैतन्यघन की ओर का निर्मल परिणमन होना, वह भाव नमस्कार और विकल्प उठना कि भगवान ये सिद्ध ऐसे हैं, वह द्रव्य नमस्कार है। आहाहा! यह तो तीर्थंकर परमेश्वर के पथानुगामी सन्तों की टीका अर्थात् क्या! यह कोई साधारण बात है? समझ में आया? 'वचनामृत वीतराग के, परम शान्त रसमूल।' कल कहा नहीं था? दवा। जिन वचन की दवा; औषध दुःख का, विषय की वासना का विरेचन करा दे। पर में सुखबुद्धि उड़ा दे, ऐसी जिन वचन की दवा है। आहाहा! समझ में आया? और अमीभूत, ऐसा आया था न? अमृतरूप, अमृतस्वरूप। यह वाणी है, वह अमृतस्वरूप है। अमृत को बतावे, इसलिए वह अमृतस्वरूप ही है। आहाहा! समझ में आया? कल आया था न दोपहर को? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, उस भाव और द्रव्यस्तुति से **अपने आत्मा में तथा पर के आत्मा में...** भाषा क्या? तुम्हारे यह क्या काम है? भाई! मैं कहना चाहता हूँ इसलिए... क्योंकि **वोच्छामि** कहना है न? मैं कहता हूँ, कहता हूँ। किसे? - श्रोता को। श्रोता को क्या करता हूँ? - अनन्त सिद्धों को वहाँ स्थापित करता हूँ, स्थापना करता हूँ। यह आगे उसे सिद्ध होना है और मुझे भी आगे सिद्ध होना है। यह स्थापना नहीं करते, चलते है तब? मंगलवार या ऐसा हो, फिर स्थापना करते हैं न गली में! गली में कर रखते थे। वार-कुवार हो न, बाहर जाना हो तो। वहाँ बाहर रख छोड़ते हैं। फिर दूसरा वार आवे तब वहाँ से लेकर चले जाते हैं। नहीं सुना? प्रस्थाना प्रस्थाना। वह प्रस्थाना कहलाता है, रमेशभाई! आता है न? वार-कुवार ऐसा हो, तब प्रस्थाना

रख आते हैं। फिर वहाँ से लेकर चले जाते हैं। यह प्रस्थाना रखते हैं। पर्याय में अनन्त सिद्धों का प्रस्थाना रखते हैं अब, अब में सिद्ध में जानेवाला हूँ। आहाहा! समझ में आया?

श्रोता को भी कहते हैं, पाँचवीं गाथा में आया है न वहाँ? प्रमाण करना। '**जदि दाएज्ज पमाणं**' यदि मैं दिखाऊँ, तुझे दिखाने का बन जाये तो प्रमाण करना। अनुभव से प्रमाण करना, द्रव्य का आश्रय करके अनुभव करके प्रमाण करना। हाँ करने के विकल्प से, ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया? पर्याय को द्रव्य सन्मुख झुकाकर अनुभव से प्रमाण करना। आहाहा! समयसार और उसकी टीका साक्षात् केवली उतरे हैं धरती पर। ऐसी बात है। आहाहा!

दुकान में भी लाभ होता है न? बिक्री हुई है दस लाख की, अब पैसा.. अठारह आने लाभ में उतरा है? ऐसे गिने। रुपये दो आने का लाभ। दो आने का लाभ। अठारह आने हुआ है? हमारे दुकान में ऐसा करते थे। कुँवरजीभाई! वह बड़ी दुकान थी। इतने लाख की (बिक्री) हुई, उसमें सब टोटल होकर रुपये में दो आने का लाभ आया? ऐसा गिने। अठारह आने हुए हों तो बहुत अच्छा कहलाये। वहाँ हमारे दुकान में करते थे। रुपये में दो आने का लाभ। रुपये का माल बेचे, उसके अठारह आने। ए.. भगवानभाई! आहाहा! यहाँ अठारह आने का लाभ होनेवाला है। आहाहा! यह तो दुकान का याद आया। दुकान में करते थे न! तीन वर्ष में सोलह हजार का (लाभ)। तब तो यह तो बहुत वर्ष पहले। दुकान में तीन वर्ष में सोलह हजार कमाये। बारह महीने में टोटल करते थे परन्तु एक बार तीन वर्ष का निकाला। सोलह हजार की आमदनी तीन वर्ष हुई। यह तो बहुत वर्ष की बात है, हों! खुशालभाई इकट्ठे थे तब। फिर तो दो-दो लाख की आमदनी थी। वर्ष की तीन लाख की आमदनी थी।

श्रोता : आपको अधिक आमदनी हुई या उन्हें अधिक आमदनी हुई?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल की आमदनी नहीं वहाँ। यह तो...

यहाँ तो भगवान आत्मा। आहाहा! अब कहते हैं कि हम सिद्ध का स्थापन, सिद्ध का प्रस्थाना रखते हैं, भाई! तुझे और मुझे दोनों को, हों! इसलिए मुझे पहले रखा है। **अपने आत्मा में तथा पर के आत्मा में...** आहाहा! हम सिद्धपना पर्याय में प्रस्थाना में रखते हैं, भाई! आहाहा! समझ में आया? यह तो सन्त, मुनि, बापू! मुनि किसे कहना, यह लोगों को खबर नहीं। मुनि परमेश्वर हैं, जिन्हें तीन कषाय का अभाव हुआ, बापू! यह क्या चीज़ है!! समझ में आया? सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है, यह तो अलौकिक, परन्तु चारित्र क्या है? वह तो इससे भी अलौकिक! वह तो महा अलौकिक!! ओहोहो! वह चारित्रदशावन्त सन्त जो यह टीका करते हैं...

आहाहा! अमृत बरसाते हैं। आहाहा! श्रीमद् में आता है न?

जो स्वरूप समझा बिना, पाया दुःख अनन्त;
समझाया उन पद नमूँ, श्री सद्गुरु भगवन्त।
हे गुणवंता रे ज्ञानी अमृत बरस्या रे पंचम काल मां,
हे गुणवंता रे ज्ञानी अमृत बरस्या रे पंचम काल मां।

ऐसे ये अमृतचन्द्राचार्य के अमृत वचन हैं। समझ में आया? आहाहा! **इस समय नामक प्राभृत का...** अब इस प्रकार अनन्त सिद्धों को पर्याय में प्रस्थानारूप से रखकर (शुरु करते हैं)। क्योंकि सिद्ध होने का काल अभी मुझे नहीं है। समझ में आया? ऐसे सुननेवाले को भी सिद्ध होने का काल नहीं है, परन्तु सिद्ध का प्रस्थाना तो हम रखते हैं। आहाहा! उसे **इस समय नामक प्राभृत का...** आहाहा! **भाववचन...** भाववचन अर्थात् निर्मल दशा **और द्रव्यवचन...** अर्थात् विकल्प। आहाहा! **परिभाषण प्रारम्भ करते हैं...** आहाहा! परिभाषण शुरु करते हैं, कहते हैं। यह तो वाणी है न! आहाहा! समझ में आया? **इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं...** आहाहा! ऐसा श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं।

अब **वे सिद्ध भगवान, सिद्धत्व के कारण,...** सिद्ध पूर्ण दशा प्राप्त हो गयी है, उसके कारण। **साध्य जो आत्मा उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर है...** हे सिद्ध! ऐसा बोले न? तब आत्मा भी हे सिद्ध! तू सिद्ध है। आहाहा! हे भगवान! आप तिराना। सामने ऐसे आत्मा में आवाज आती है कि हे भगवान! आप तिराना। प्रतिच्छन्द कहा न? क्या कहा? **प्रतिच्छन्द के स्थान पर...** प्रतिच्छन्द समझ में आता है? प्रतिध्वनि। हे भगवान! ऐसा कहे, वहाँ सामने से प्रतिध्वनि आवे, हे भगवान! राणपुर में है न? 'मीठी विरडी' पाँच सौ वर्ष की। राजा का महल है, पुराना महल मात्र पत्थर का नदी के किनारे है। यहाँ से आवाज करे तो वहाँ से आवाज आवे। बन्दूक यहाँ गाँव में गरजे, आवाज वहाँ से वापस आवे बन्दूक की। प्रतिध्वनि, प्रतिघात, आवाज का वापस पड़ना-आना। इसी प्रकार हे सिद्ध! इसी प्रकार हे सिद्ध! प्रतिध्वनि वहाँ से यहाँ आती है। समझ में आया? आहाहा! **वे सिद्ध भगवान सिद्धत्व के कारण...** वे क्यों सिद्ध भगवन्त प्रतिच्छन्द के स्थान पर हैं? - वह सिद्धपना प्रगट हुआ है, इस कारण से। आहाहा! **साध्य जो आत्मा...** साधना है तो आत्मा को, उसके प्रतिस्थान में हैं, उसकी प्रतिध्वनि स्थान में हैं। आहाहा!

श्रोता : उसका नमूना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नमूना। आहाहा! प्रसिद्ध यहाँ करना है न! हे सिद्ध! 'सिद्धा सिद्धिं

मम दिसंतु' आता है न? लोगस्स में आता है। लोगस्स किया है? नहीं किया? ठीक। नये सीधे इसमें आये हैं। उसमें (विपरीत मान्यता के) आग्रह नहीं थे। लोगस्स में आता है न? श्वेताम्बर में आता है। 'सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु' हे सिद्ध भगवान! मुझे सिद्धपद देना। हे सिद्ध भगवान! यहाँ कहते हैं, मुझे सिद्ध पद पर्याय में दो। समझ में आया? आहाहा!

वे सिद्ध भगवान, सिद्धत्व के कारण, साध्य जो आत्मा उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर हैं—जिनके स्वरूप का संसारी भव्यजीव चिन्तवन करके,... सिद्ध भगवान के स्वरूप का चिन्तवन ज्ञान में करके। **उनके समान अपने स्वरूप को ध्याकर...** देखो! अब आया? आहाहा! उन समान अपना स्वरूप है, ऐसा ध्यावे, ध्यान करे। आहाहा! उन समान भगवान 'सिद्ध समान सदा पद मेरौ' आता है न? **अपने स्वरूप को ध्याकर...** अपना स्वरूप शुद्ध चैतन्यघन, आनन्दघन सिद्धस्वरूप, उसका ध्रुव, उसे ध्याकर, उसका ध्यान करके। समझ में आया? आहाहा! भाई! यह कोई कथा नहीं है। यह तो अमृत का प्रवाह बहाया है यह तो! आहाहा! इस टीका के भाव रह गये हैं। जगत का भाग्य कि ऐसा समयसार रह गया। आहाहा! समझ में आया? **जिनके स्वरूप का...**

श्रोता : सिद्ध जितना या सिद्ध जैसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : सिद्ध जैसा ही द्रव्य है। पर्याय की बात नहीं है वहाँ? सिद्ध समान मेरा द्रव्य है। पर्याय कहाँ है? सिद्धस्वरूप ही मेरा द्रव्य है, शक्तिरूप से स्वभावरूप से मैं सिद्ध ही हूँ। यह तो आया नहीं? नियमसार में नहीं आया? सभी संसारी जीव, सिद्ध समान हैं। अष्ट मूलगुण से पुष्ट हैं, भाई! भाई ने अर्थ नहीं किया? अष्ट मूलगुण से पुष्ट हैं। यह स्वभाव! आया है न नियमसार में? अन्तिम गाथा पीछे है। सिद्ध समान है अर्थात् सिद्ध जैसी पर्याय है? द्रव्य सिद्ध समान है। ऐसा सिद्धस्वरूप जो भगवान आत्मा, उसका ध्यान करके, उसे ध्याकर। आहाहा!

उनके समान अपने स्वरूप को ध्याकर... अपने स्वरूप का ध्यान करके। समझ में आया? आहा! ध्यान में अपना त्रिकाल स्वरूप है, ऐसा ध्यान करके-ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **उन्हीं के समान हो जाते हैं...** आहाहा! **उनके समान अपने स्वरूप को ध्याकर...** पर्याय को निर्मल पर्याय में उनका ध्यान करके। किसका? -द्रव्य का, हों! आहा! समझ में आया?

श्रोता : किस द्रव्य का?

पूज्य गुरुदेवश्री : इस द्रव्य का। आहाहा! पूर्ण आनन्दस्वरूप एकरूप जिसका स्वरूप

है। आहाहा! उसका ध्यान अर्थात् पर्याय। पर्याय में उसका विषय बनाकर। आहाहा! ध्यान 'विषय कुरु' आता है। परमाध्यात्म तरंगिणी में तीन जगह आता है। पर्याय में द्रव्य को विषय बना। आहाहा! उसका अर्थ कि यह पर्याय है, उसे द्रव्य में झुकाता हूँ, ऐसा भी नहीं। वह पर्याय, द्रव्य में झुकी है, वही द्रव्य का ध्यान है। आहाहा! अब तो निश्चिन्त हो गये, धीरे-धीरे चलता है यह तो। पौने चालीस वर्ष हो गये,.. धीरे-धीरे फिर सुननेवालों को विचार में रुकना पड़ेगा या नहीं ? आहा!

उन्हीं के समान हो जाते हैं... आहा! यहाँ तो सिद्ध का ध्यान (करनेवाला) ऐसा मैं और ध्यान करनेवाला सिद्ध जैसा हो जाता है, न हो यह प्रश्न नहीं है। आहाहा! परन्तु इस प्रकार से होवे तो। समझ में आया ? **और चारों गतियों से विलक्षण...** चार गतियाँ हैं, उनसे यह विलक्षण **जो पंचम गति मोक्ष को प्राप्त करते हैं।** लो! पंचम गति ऐसा जो मोक्ष, उसे प्राप्त करता है। दूसरी गति तो विकारवाली है और वहाँ से वापस आना पड़ता है। यह गति तो हुई सो हुई। आहाहा! सादि-अनन्त.. अनन्त.. समाधिसुख में-ऐसी जो सिद्धगति, प्राप्त करके, पंचम गति मोक्ष को प्राप्त करता है।

अब कैसी है वह पंचम गति ? उसकी यह सब व्याख्या है। आहाहा! ध्रुव तो शुरु किया पहले, परन्तु पर्याय की ध्रुवता। आयी है अन्दर ध्रुव में से। समझ में आया ? ध्रुव में से ध्रुव पर्याय, सिद्धपर्याय हुई है। आहाहा! शुरु किया है पर्याय ध्रुव, हों! सिद्धपर्याय ध्रुव। यहाँ सिद्ध को वन्दन करना है न! सिद्ध की व्याख्या चलती है। आहाहा! **कैसी है वह पंचम गति ? स्वभावभावरूप है...** वह तो स्वभावभावरूप है। है पर्याय परन्तु स्वभावभावरूप वह पर्याय है। चार गति तो विभावभावरूप विकारी अवस्था है। आहाहा! समझ में आया ? स्वभावभावरूप, भाषा देखो! अर्थात् स्वभावभाव जो जीव का-आत्मा का था, उसमें से स्वभावभाव पर्याय आयी है। आत्मा का त्रिकाल स्वभावभाव। यहाँ तो इस पर्याय की बात है। आहाहा! स्वभावभावरूप है, निर्मल पर्याय। सिद्ध भगवान स्वभावभावरूप है।

यह पर्याय भी **स्वभावभावरूप है, इसलिए ध्रुवत्व का अवलम्बन करती है।** अर्थात् ध्रुवपना रखती है। स्वभावभावपने के कारण ध्रुवपना रहता है, ऐसा कहते हैं। वे गतियाँ तो अध्रुव हैं, क्षण में बदल जाती हैं। आहाहा! **ध्रुवत्व का अवलम्बन करती है।** अर्थात् ध्रुवरूप रहती है। आहाहा! क्योंकि स्वभावभावरूप है इसलिए। आहा! समझ में आया ? **चारों गतियाँ परनिमित्त से होती हैं, इसलिए ध्रुव नहीं...** लो! उसके सामने कहा। चारों गति, स्वयं स्पष्टीकरण किया है। **परनिमित्त से होती हैं, इसलिए...** कर्म के निमित्त से चार गति (होती

है)। स्वर्ग की गति (होवे तो भी) कर्म के निमित्त से (होती है), वह कहीं स्वभावभाव की पर्याय नहीं है। आहाहा! **परनिमित्त से होती हैं, इसलिए ध्रुव नहीं किन्तु विनाशीक हैं।** चारों गतियाँ विनाशीक हैं। आहाहा!

'ध्रुव' विशेषण से पंचम गति में इस विनाशीकता का व्यवच्छेद हो गया।... 'ध्रुव' विशेषण से पंचम गति में इस विनाशीकता का व्यवच्छेद हो गया। विनाशीक कुछ है नहीं अब। लो! पर्याय विनाशीक है, एक ओर पर्याय अविनाशी कही। मोक्ष की पर्याय भी नाशवान है, ऐसा आया था। वहाँ नाशवान का अर्थ पर्याय है, इस अपेक्षा से। यह पर्याय अब ऐसी की ऐसी रहनेवाली है, इसलिए विनाशीक नहीं। ऐसा। है? **पंचम गति में इस विनाशीकता का व्यवच्छेद हो गया।...** वे जो चार गतियाँ हैं, वे बदलती हैं, वैसा बदलना यहाँ नहीं है। उसकी गति का परिणमन भले हो सिद्ध का, परन्तु ऐसा का ऐसा है, इसलिए उसे विनाशीकतारहित कहा गया है। आहाहा!

और वह गति कैसी है?... सिद्ध, सिद्ध। **अनादिकाल से परभावों के निमित्त से होनेवाले पर में भ्रमण,...** अचल लेना है न? अचल। '**ध्रुवमचलमणोवमं**' गति ऐसे चार बोल हैं। ध्रुव का विशेषण हुआ। **और वह गति कैसी है? अनादिकल से परभावों के निमित्त से होनेवाले पर में भ्रमण, उसकी विश्रान्ति (अभाव) के वश...** यह विश्रान्ति हो गयी है अब। पर में भ्रमण का अभाव हुआ, इसलिए (पर में) विश्रान्ति का अभाव होता है, पर में विश्रान्ति का अभाव (होकर) **अचलता को प्राप्त है।** अचल हो गयी। आहाहा! सिद्धगति अचल है, गति की बात है, हों! यह पर्याय की बात है। आहा!

इस विशेषण से चारों गतियों में पर निमित्त से जो भ्रमण होता है, उसका (पंचम गति में) व्यवच्छेद हो गया। लो! पर निमित्त से व्यवच्छेद होता है, गति बदल जाती है, यह कहीं बदलती नहीं, इसलिए अचल है। सिद्धगति को अचल कहा जाता है। सिद्धगति को ध्रुव कहा जाता है। आहाहा! स्वभावभाव हुआ न! स्वभावभाव। ध्रुव स्वभाव में से आयी है इसलिए पर्याय सिद्ध पूर्ण हो गयी, ध्रुव हो गयी। अचल स्वभाव में से आयी है, इसलिए वह पर्याय अचल है, बदलती नहीं। यहाँ जैसे अचल है, वैसे वहाँ पर्याय अचल हो गयी। '**धुवमचलम**' दो पढ़े न! '**वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलम**' दो पद हुए।

और कैसी है वह? वह जगत में जो समस्त उपमायोग्य पदार्थ हैं, उनसे विलक्षण-अद्‌भुत महिमावाली है... यह तीसरा विशेषण? '**धुवमचलमणोवमं**' अनुपम है। ओहो!

सिद्ध पर्याय, बापू! आहा! **समस्त उपमायोग्य पदार्थ हैं, उनसे विलक्षण-अद्‌भुत महिमावाली है...** ओहोहो! गति के लक्षण से विपरीत लक्षणवाली अद्‌भुत माहात्म्य होने से। **उसे किसी की उपमा नहीं मिल सकती।** सिद्ध को उपमा सिद्ध की, दूसरे की उपमा उसे नहीं मिल सकती। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान की पूर्णता। आहाहा! एक समय में अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द, एक समय में अतीन्द्रिय केवलज्ञान अनन्त, एक समय में दर्शन अनन्त, वीर्य अनन्त! आहा! स्वच्छता अनन्त, प्रभुता अनन्त। उसका क्या कहना? उसे किसकी उपमा देना? उसे किसकी उपमा देना? अनुपम है। आहाहा!

इस विशेषण से चारों गतियों में जो परस्पर कथंचित् समानता पायी जाती है, उसका (पंचम गति में) निराकरण हो गया। चारों गतियों में जो कुछ कहा जाता है। बड़े चक्रवर्ती हैं,.. चक्रवर्ती को स्वर्ग जैसा सुख है, ऐसा कहा जाता है न?... इसे कोई उपमा दी जा सके, ऐसा नहीं है। आहाहा! कहीं समानता भी है। मनुष्यगति चक्रवर्ती। समझ में आया? स्वर्ग की, स्वर्ग के जैसे सुख नहीं कहते? चक्रवर्ती में आता है। ऐसी कथंचित् गति में परस्पर समानता है, सिद्ध में नहीं है। अनुपम गति है। आहा! ....व्यवच्छेद हुआ। अब आया, **'धुवमचलमणोवमं गदिं'... 'गदिं'** शब्द पड़ा है न? इस गति का अब अर्थ करते हैं। एक-एक शब्द का अर्थ करते हैं। **और वह कैसी है? उस गति का नाम अपवर्ग है।** सिद्ध गति का नाम अपवर्ग है।

श्रोता : मूल गाथा में अपवर्ग शब्द नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भले उस गति का अर्थ निकाला। मूल शब्द गति का अर्थ ही यह किया है। गति अर्थात् क्या यह? - कि अपवर्ग। धर्म, अर्थ और काम से भिन्न यह गति है। **धर्म, अर्थ और काम...** वर्ग में जाते हैं। वर्ग, वर्ग। यह अपवर्ग। आहाहा! धर्म अर्थात् पुण्य, पुण्य। धर्म अर्थात् पुण्य। अर्थ अर्थात् लक्ष्मी और काम (अर्थात्) विषय की वासना। ये तीन वर्ग हैं। पुण्य, लक्ष्मी, और काम ये तीन वर्ग कहलाते हैं। **मोक्षगति इस वर्ग में नहीं है,...** मोक्षगति इस वर्ग में नहीं है। **इसलिए उसे अपवर्ग कहा...** लो! आहाहा!

यह तो मांगलिक, अभी तो सिद्ध भगवान को वन्दन करके मांगलिक है। आदर किया है अन्दर में, उसका नाम वन्दन। समझ में आया? और उसका ज्ञान किया है कि ऐसे-ऐसे सिद्ध हैं। ज्ञान करके वन्दन किया है। ऊपर-ऊपर से णमो सिद्धाणं, णमो सिद्धाणं (करे), ऐसा नहीं है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहा! पूरे संसार का अभाव चौरासी के अवतार

का अभाव और जो सिद्ध गति उत्पन्न हुई, वह व्ययरहित उत्पन्न हुई है। आता है न प्रवचनसार में? प्रवचनसार में आता है। संसार का व्यय हुआ, वह उत्पादरहित सिद्ध को व्यय हुआ है। क्या कहा? संसार का जो नाश हुआ, वह उत्पन्नरहित (हुआ है), अब उत्पन्न नहीं होगा; इस प्रकार से व्यय हुआ है और सिद्धगति उत्पन्न हुई, व्ययरहित उत्पन्न हुई। अब वह उत्पन्न हुई, वह व्यय नहीं होगी। प्रवचनसार में है। समझ में आया? आहाहा!

अपवर्ग कही है। ऐसी पंचमगति को सिद्ध भगवान प्राप्त हुए हैं। लो! इस वर्ग में नहीं, ऐसी गति को प्राप्त हैं। आहाहा! गति का अर्थ-व्याख्या की है, गति है न? ध्रुव, अचल, अनुपम और गति प्राप्तम्। यह गति हुई। धर्म, अर्थ, काम से भिन्न ऐसा अपवर्ग, वर्ग से भिन्न ऐसा अपवर्ग, वह मोक्ष है। उसे वे प्राप्त हुए हैं। आहाहा! वह **ऐसी पंचमगति को सिद्ध भगवान प्राप्त हुए हैं।** लो! फिर से यह तो वहाँ लिया था न... स्पष्टीकरण करते हैं। **उन्हें अपने तथा पर के आत्मा में स्थापित करके, समय का (सर्व पदार्थों का अथवा जीव पदार्थ का) प्रकाशक...** आहाहा! सर्व पदार्थों का अथवा जीव पदार्थ का प्रकाशक; समय है न? **ऐसा जो प्राभृत नामक अर्हत्-प्रवचन का अवयव है...** आहाहा! अरहन्त भगवान के श्रीमुख से निकली हुई वाणी-दिव्यध्वनि-प्रवचन का एक यह अंश है। आहाहा! **उसका, अनादि काल से उत्पन्न हुए अपने और पर के मोह का नाश करने के लिये...** मेरे अर्थात् स्वयं को भी जो थोड़ी अस्थिरता है न? वह मोह लेना। दूसरे का मोह मिथ्यात्व और राग-द्वेष, वह लेना। समझ में आया? सामान्य रीति से मुझे भी अभी मोह है ऐसा कहते हैं। अस्थिरता है न राग की? उसके नाश के लिये, आहाहा! यह तो अमृतचन्द्राचार्य ने कहा, वह आया।

श्रोता : तीसरा कलश कहा था न?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ वह। मैं यह टीका करते हुए मेरी अशुद्धता नाश होगी। उन्हीं अमृतचन्द्राचार्य की यह टीका है। आहाहा! **अपने और पर के मोह का नाश करने के लिये परिभाषण करता हूँ।** आहाहा! मैं परिभाषण (करता हूँ), इसकी व्याख्या भावार्थ में करेंगे। परिभाषण क्या, क्यों शब्द लिया। अब यह अरिहन्त का प्रवचन कैसा है, वह विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

३३

श्री परमात्मप्रकाश, गाथा १२३-१२४, प्रवचन १५६
दिनांक २६-०६-१९६५

परमात्मप्रकाश, अध्याय दूसरा, १२३ गाथा। भावार्थ से फिर से। कल उतरा (रिकार्डिंग) नहीं न ? कल तो यह बिजली नहीं थी। उसे आना हो, वह आवे; होना हो, वह होवे, पर की पर्याय कौन करे ?

भावार्थ - ये घर वगैरह... बाह्य की वस्तु है पुत्र, कलत्र, घर आदि पैसा, लक्ष्मी, यह **शुद्ध चेतनस्वभाव अमूर्तिक निज आत्मा से भिन्न...** भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वभाव, ऐसा अमूर्तिक निज आत्मा, स्वभाववाला आत्मा, ऐसा। स्वभाव स्वरूप आत्मा। शुद्ध चैतन्यस्वभाव अमूर्तिक निज आत्मा। आत्मा की व्याख्या की। शुद्ध चैतन्यस्वरूप, निज, उससे भिन्न **जो शुभाशुभ कर्म...** उससे भिन्न अन्दर शुभ और अशुभ कर्म, **उसके उदय से उत्पन्न हुए हैं,...** घर इत्यादि कर्म के उदय से सब चीज़ें प्राप्त होती हैं। **इसलिए कर्माधीन हैं,...** कर्माधीन है। समझ में आया ? ... वे कृत्रिम हैं, ये सब, यह कर्मायतन - कर्म के आधीन है। कहा न ?

तत्त्वज्ञान तरंगिणी में लिखा है न ? भाई ! तेरे अलावा बाह्य चीजें अनन्त बार मिली, इस अपेक्षा से उन्हें सुलभ कहते हैं। अनन्त बार मिली, परन्तु एक अपेक्षा से उन्हें दुर्लभ कहते हैं, क्योंकि कर्म के आधीन है; वे कहीं तेरे प्रयत्न के आधीन नहीं है। समझ में आया ? शरीरादि बाह्य पदार्थ लक्ष्मी, कीर्ति, पुत्र-पुत्री इत्यादि बाह्य (पदार्थ) वे **शुद्ध चेतनस्वभाव (भगवान) अमूर्तिक निज आत्मा से भिन्न...** शुद्धात्मा से भिन्न, कर्म के आधीन हैं। ऐसा कहकर यह कहा है कि वे पराधीन है। तेरे प्रयत्न से यह वर्तमान में प्राप्त होते हैं - ऐसा नहीं है। समझ में आया ?

इसलिए दो बोल लिये हैं न इसमें ? बाह्य चीजें हैं, वे अनन्त बार मिली, इसलिए सुलभ; परन्तु कर्म के आधीन है और तेरे प्रयत्न के आधीन नहीं; इसलिए दुर्लभ है। सुलभ और दुर्लभ आत्मा में। आत्मा का धर्मपना, वह दुर्लभ है, क्योंकि अनन्त काल से प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए; परन्तु आत्मा का धर्म सुलभ है क्योंकि जिसमें पर की सहायता की आवश्यकता नहीं है, इसलिए। तत्त्वज्ञान तरंगिणी है न ? क्या नाम ? शुभचन्द्र (ज्ञानभूषण) भट्टारक। उसमें

दो बातें ऐसी पारस्परिक ली हैं। एक अपेक्षा से परचीज सुलभ है, क्योंकि अनन्त बार मिली। एक अपेक्षा से पर दुर्लभ है, तेरे आधीन नहीं है; वह कर्माधीन है। कर्म का उदय हो, तद्नुसार वह सामग्री प्राप्त होती है, दो बातें। अब आत्मा में दो बातें कि आत्मा का धर्म, वह अनन्त काल में समझा-पाया नहीं; इसलिए दुर्लभ है और दूसरे प्रकार से कहें तो भगवान आत्मा की प्राप्ति में कोई विकल्प और कर्मादि किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं पड़ती, इसलिए वह सुलभ है। समझ में आया?

श्रोता : दो में से एक....

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों समझना, दो में से एक क्या? स्वभाव से प्राप्त करना, यह सत् वस्तु है, सरल है। इसमें किसी निमित्त, मन-वाणी-देह की बिल्कुल आवश्यकता नहीं। स्वयंसिद्ध कर्ता होकर अपना काम अन्तर का कर सकता है, उसमें किसी की मदद की आवश्यकता नहीं है, इसलिए इसे सुलभ कहा है। अनन्त काल की अपेक्षा से बारह भावना में दुर्लभबोधि भावना कही। अपेक्षा से यह समझना चाहिए या नहीं? अनन्त काल से एक क्षण भी इस वस्तु को समझा नहीं, इस अपेक्षा से इसे दुर्लभ कहा है। दोनों बातें जैसी हैं, वैसी इसे लक्ष्य में लेना चाहिए न?

भगवान सहज स्वरूप है, सत् है, सरल है। सर्वत्र जहाँ देखे वहाँ तू स्वयं ही है। ऐसे स्वभाव की अन्तर में प्राप्ति करना, वह तो सहज स्वभाव का साधन वह तेरा है और कार्य भी तेरा है, इस अपेक्षा से इसे सुलभ कहा है। अनन्त काल में इसने वस्तु की... की नहीं, इस अपेक्षा से इसे दुर्लभ है। यहाँ तो कहते हैं कि परचीज़ कर्म के आधीन है, तेरे आधीन नहीं। बराबर होगा?

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल... क्या आधार होवे? दृष्टान्त दिया है न उसमें? मोक्षमार्ग-प्रकाशक में पागल का। एक पागल नदी के किनारे बैठा था। नदी के किनारे जाकर बैठा था। पागल, मस्तिष्क फेर होगा। बैठा था। वहाँ आया राजा, कहीं जाता होगा, पाँच-पच्चीस कोस दूर। दस बज गये और नदी में पानी.. पानी.. राजा आया, रानी आयी, हाथी आये, घोड़े आये। ओहोहो! खूब आये मेरे, हों! वह पागल बैठे-बैठे (विचारता है)। जहाँ सब खा-पीकर सो गये और चार बजे, उठो-चलो। फिर एक-एक चलने लगे तो वह पागल कहता है-कैसे जाते हो? वे कहते हैं - परन्तु हम कहाँ तेरे लिये आये थे! हम तो हमारे कारण से आये थे। यहाँ

पानी देखकर आहार-पानी किया, यह भोजन किया और अब समय है तो चले जायेंगे। यहाँ आये मेरे लिये, मैं बैठा, इसलिए तुम आये (-ऐसा पागल बोला)।

श्रोता : परन्तु वह बैठा था, तब आये न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सहज ही वह बैठा और सहज आने का हुआ, इसमें उसके कारण क्या आया है ? वहाँ पूरी स्थिति हुई। सो गये, उठे, नहाये-धोये, चलने लगे। चलने क्यों लगते हो ? पागल लगता है यह। इसी प्रकार यह जहाँ आकर नहीं जन्मा, पूर्व के कर्म के कारण सामग्री आकर खड़ी रही। वे कर्म जहाँ हटने लगे, तो वे चीज़ें भी जाने लगी। क्यों जाते हो ? भाई ! तेरे लिये कब हम आये थे ? बराबर है ? धर्मचन्दजी ! पागल। यह क्या कहते हैं आचार्य ? आचार्य कहते हैं, पागल है। तू आकर बैठा, वहाँ वे दूसरे उनके कारण से (आये)। यह क्या कहते हैं ? देखो न ! घर-मकान हुआ, पैसे हुए, गहने हुए, कपड़े हुए, यह सब शरीर-बरीर मोटा हुआ-स्थूल हुआ, जवानी हुई-यह सब कर्म के आधीन हुआ है। फिर जहाँ शिथिल पड़ने लगा, वहाँ कहता है-शिथिल क्यों पड़ता है ? मेरा है न ! परन्तु तेरा कब था ? वह तो कर्म के कारण (हुआ था)। कर्म, वह निमित्त है, हों ! उपादान तो उसका है उस प्रकार का आने का।

श्रोता : जावे तब दु:खी होता है, परन्तु आवे तब तो प्रसन्नता होती है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आवे तब खुशी होती है न ! लड़का आवे, तो खुश होता है, बनाओ आज लापसी। न हो तो गोद लेता है, देखो न ! मुफ्त का... एक करोड़ रुपये डाल दे न धर्म में। लड़के को देकर तो पाप बाँधेगा। बड़े लड़के को लड़का नहीं और छोटे का एक, लो ! गोद लिया। कौन जाने, उपाधि का पार नहीं होता। और वह बराबर बड़ा होता है। बापू ! पच्चीस लाख, पचास लाख बाँटने न दूँ अब मैं। मुझे किसलिए गोद लिया ? यह तुम्हारा लड़का बराबर है, मुझे इच्छा प्रमाण तुम्हारे प्रयोग करो, दूसरा नहीं प्रयोग करे। हाथ करके (अपने आप) उपाधि ओढ़ता है, कौन जाने। यह बैठा है, यह, मोटर लाया लगता है।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल तेरे कारण नहीं। वह परद्रव्य है, अन्दर रजकण पड़े थे, यह उनके कारण निमित्त हुआ। उपादान इसके आने की योग्यता, इसका सम्बन्ध होकर कर्म के कारण आये, ऐसा कहा जाता है। वास्तव में तो कर्म तो निमित्त है। एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य को लावे, ऐसा भी नहीं है। यहाँ तो तेरे कारण से नहीं है, इसलिए चीजों की सामग्री में निमित्त कर्म

है, उस कर्म के कारण चीज़ें आयी हैं – ऐसा कहा जाता है। बराबर होगा... भाई! यह देखो! शरीर स्थूल, पैसा-बैसा सब... कर्म के कारण आते हैं – ऐसा कहते हैं। तेरे कारण से बिल्कुल नहीं।

उदय से उत्पन्न हुए हैं, इसलिए कर्माधीन हैं, और विनश्वर होने से... यह पर्याय तो नाशवान है। **शुद्धात्मद्रव्य से विपरीत है।** भगवान शुद्धस्वरूप टंकोत्कीर्ण ध्रुव नित्यानन्द प्रभु, जो कायम रहनेवाली दृष्टि से देखें तो सब स्कन्धों की पर्यायें, स्कन्धों की अवस्था पलटती है। नाम, रूप का नाश होकर दूसरा रूप हो जाता है। **शुद्धात्मद्रव्य से विपरीत है। शुद्धात्मद्रव्य किसी का बनाया हुआ नहीं है,...** भगवान वस्तु (को) कौन बनावे? है सत्, सत् को कौन बनावे? न हो तो बने, तो न हो तो बने तो पर्याय बने, कहीं द्रव्य बने? वस्तु बने? **शुद्धात्मद्रव्य किसी का बनाया हुआ नहीं है,...** यह तो अनादि-अनन्त भगवान शुद्धस्वरूप चिदानन्द अनन्त-अनन्त शान्तरस और आनन्द का कन्द यह अनादि-अनन्त है।

इसलिए अकृत्रिम है,... किसी ने किया हुआ नहीं है। दो की पारस्परिक बात करते हैं; और **अनादिसिद्ध है,...** भगवान तो अनादि सिद्ध है, अनादि साबित है। **टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव है।** ऐसा का ऐसा अड़बड़नाथ। है न यहाँ शत्रुंजय में नहीं? अड़बड़नाथ पूरे कमरे प्रमाण उत्कीर्ण किया है न एक बड़ा? क्या कहते हैं? अड़बड़नाथ। पूरा कमरा है न, बड़ा कमरा? उसके प्रमाण में एक पूरी मूर्ति, उसमें से उत्कीर्ण की है। बाहर से लाकर रखे कितनी? हजारों लोग ऐसे के ऐसे खोलकर... बड़ी ऐसी मूर्ति है न? शत्रुंजय पर है। है न, हमने तो पहले बहुत वर्षों से देखा है। एक बड़ा कमरा है, उसमें पूरी पत्थर की अन्दर... उसे अड़बड़नाथ कहते हैं। मन्दिर है, वह पत्थर अन्दर ही उत्कीर्ण कर ऐसा का ऐसा पड़ा है। इसी प्रकार यह चैतन्य प्रभु ऐसा का ऐसा, किसी से पूरित नहीं, ऐसी की ऐसी चीज़ अनादि-अनन्त शुद्ध अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु अनादि-अनन्त है। अनादिसिद्ध अनादि-आदिरहित सिद्ध है। **टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाव है।** लो!

जो टाँकी से गढ़ा हुआ न हो, बिना ही गढ़ी पुरुषाकार अमूर्तिकमूर्ति है। अमूर्तिक मूर्ति है, लो! भगवान! बिना गढ़ी पुरुषाकार, पुरुष के आकार अमूर्तिक मूर्ति है। अर्थात् अमूर्तिक जिसका स्वरूप है, ऐसा। अमूर्तिक भी वस्तु है या नहीं? अरूप और अमूर्त। वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श रहित शरीरप्रमाण भगवान आत्मा भिन्न अरूपी, अमूर्तिक मूर्तस्वरूप अर्थात् कि स्वरूप है, ऐसा। उसका स्वरूप है, कोई अस्वरूप है-ऐसा नहीं। **अमूर्तिक मूर्ति है,...** अमूर्तिकस्वरूप है। आहाहा! ऐसा भगवान पूरा है। अन्तर में उसका विश्वास इसे नहीं आता।

ऐसा मैं एक महान पदार्थ, जिसमें अनन्त सिद्ध भगवान विराजते हैं, जिसके ध्रुव में अनन्त सिद्धपर्यायें प्रगट हुईं, वे अन्दर में बैठी हैं। समझ में आया?

ऐसे आत्मस्वरूप से ये देहादिक भिन्न हैं,... इस आत्मस्वरूप से देह-वाणी-मन सब, अरे! रागादि भी भिन्न है। **ऐसा सर्वज्ञकथित परमागम में...** सर्वज्ञ ने कहे हुए परम आगम में **परमज्ञान के धारी...** महा सम्यग्ज्ञान के धारक **योगीश्वरों ने देखा है।** भाषा ऐसी की, देखो! अन्दर परम ज्ञानियों ने देखा है कि यह आत्मा है। ज्ञान की दशा की कला द्वारा यह आत्मा अमूर्तिकस्वरूप शुद्धतत्त्व, अनादि-अनन्त, इस ज्ञान के अन्तर नेत्र से देखा है, वैसा प्रत्यक्ष अनादि-अनन्त है। भगवान ने तो कहा, परन्तु परमागम... बाद में ऐसा कहा न? परन्तु **परमागम में परमज्ञान के धारी योगीश्वरों ने देखा है।** ऐसा कहकर (कहते हैं), ऐसे सन्त परमागम में कही हुई बात सत्य सन्त समझे और अन्दर में आत्मा को देखा। इसके अतिरिक्त दूसरे ने कहा हुआ आत्मा, वह आत्मा सच्चा नहीं हो सकता। यहाँ दो बातें कहते हैं। सर्वज्ञ ने कहे हुए परमागम में जो वस्तु कही, ऐसे परमज्ञान के धारी सन्तों ने अन्तर में देहादि से भिन्न भगवान को धारा है। समझ में आया?

यहाँ पर पुत्र, मित्र, स्त्री, शरीर आदि सबको अनित्य जानकर... अध्रुव, अध्रुव, अध्रुव **नित्यानन्दस्वरूप निज शुद्धात्म स्वभाव में...** शाश्वत नित्य रहनेवाला, आनन्दस्वरूप ऐसा निज शुद्धात्मस्वभाव में **ठहरकर...** उसमें स्थिर होकर **गृहादिक परद्रव्य में ममता नहीं करना।** यह ममता नहीं करे, ऐसा नहीं बने - ऐसा कहते हैं। स्वभाव, शुद्ध द्रव्यस्वभाव दृष्टि में लेकर, उसमें स्थिर होकर गृहादिक की ममता छूट जाती है। इसके अतिरिक्त पर की ममता छूटती नहीं। समझ में आया? संयोग आये, चले जाते हैं, व्यर्थ का उनके लिये रुके, कमाने के लिये, उसके लिये... यह कहते हैं न? चिन्ता.. चिन्ता.. चिन्ता.. बराबर होगा यह?

यह किसी बात चलती है? शुद्ध द्रव्य चिदानन्द का अन्तर विश्वास कर और विश्वास (करने के) बाद उसमें स्थिर हो। जैसे यह... ऐसे मानता है, ऐसे यह एक बड़ा भगवान है अन्दर। यह है.. यह है... यह है.. यह है.. यह है.. यह एक है। पूर्णानन्द से भरपूर भगवान निज शुद्धात्मा अन्तर्दृष्टि से उसे निहार और उसमें स्थिर हो। तथा परवस्तु यह है.. यह है.. इसलिए मेरी है, यह ममता छोड़। समझ में आया या नहीं? लड़के का लड़का अच्छा आवे तो ऐसे अन्दर गलगलिया हो जाए। अच्छा कहना किसे? अच्छा-बुरा लड़का होगा? ज्ञेय अच्छा-बुरा होगा? जगत के ज्ञेय हैं। ज्ञेय में ऐसी छाप लगी है कि यह अच्छा - यह खराब? रूपवान हो, उसने भी पिता को जहर दे दिया, मार डाले। खबर नहीं? किसे कहना अच्छा-बुरा? यह

तो स्वार्थ का पुतला। जब तक उसकी ममता पोसाती हो, तब तक बापू.. बापू.. बापू करे। बाकी अवसर आवे तो मार दे।

राजा को देखो न! राजा को मार डालते हैं न? उसके पिता को। मार डालते हैं, जहर दे देते हें। राज किया, यह साठ-साठ वर्ष की उम्र हो गयी। बूढ़ा तो मरता नहीं, अस्सी वर्ष हुए तो भी। अब हमें राज कब करना? बूढ़े को अस्सी वर्ष हुए और उसको साठ हुए। अब उसे साठ-साठ वर्ष से गद्दी है और हमारे साठ हुए और अब गद्दी हमें कब देगा? चढ़ा दे, डॉक्टर को कहकर इंजेक्शन दे दे ठीक से। यह सब भी बना हुआ है न। यह बनता है और बना हुआ है न! एक उसकी माँ ने... बेचारा नहीं हुआ तो ऐसे विवाह कर आया मींढोल हो तो, हों! मींढोल हो तो विवाह कर लड़का। ऐसे कुछ ध्यान बाहर हुआ, तो विवाह करके आया, उस दिन मार दिया जहर से। परणीने समझे? शादी, लगन। ऐसी कुछ भाषा बोला, उसकी माँ को ठीक नहीं था, (कहा कि) स्वतन्त्र हूँ।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहाँ प्रश्न है? यह तो उसका भाव ऐसा था, इतनी बात है। समझ में आया? यह तो होनेवाली पर्याय होती है, यह कहाँ प्रश्न है? यह तो निमित्त है, परन्तु उसका भाव था न, मार डालने का? यहाँ लड़का था, उसे मार डाला। यहाँ अभी यह बात चलती है। लड़का यह और मार डाले जहर देकर।

एक लड़का था, इकलौता लड़का। दस लाख की पूँजी उसकी माँ को, हों! परन्तु लड़के को ठीक नहीं लगा। वह थी, माँ में गड़बड़ थी। सब नाम, स्थान की हमें खबर होती है न सब बातें। एक पाई लड़के को नहीं दी, दस लाख उड़ा दिये। सगा इकलौता लड़का, एक पाई नहीं दूँगी। मेरे विचार से बाहर क्यों (किया)? भाषा कैसी बोली? सगा लड़का, सगी माँ, दो जनें। कोई नहीं था। दस लाख की पूँजी, एक भी पाई नहीं दी। किसका लड़का? यह तो सब प्रेम हो न, तब तक ऐसा लगे, हों! जयचन्दभाई! मेरा लड़का... आहाहा!

श्रोता : अच्छा भी होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु अब अच्छा किसे कहना?

यहाँ तो कहते हैं, यह छोड़। यह मेरे... छोड़। यहाँ भगवान विराजता है, उसके साथ प्रेम कर या उसके साथ प्रेम कर? किसके साथ (प्रेम करता है)? क्या हुआ तुझे? ऐसा कहते हैं, देखो न! यहाँ तो (कहते हैं) स्वद्रव्य के स्वभाव की रुचि, दृष्टि करके। भगवान आत्मा

पूर्णानन्द से भरपूर, मुझमें क्या कमी खजाने में है कि पर की गुलामी हो ? मैं पूर्णानन्द से भरपूर पूर्ण शान्ति से भरपूर; शान्ति अर्थात् चारित्र, आनन्द अर्थात् सुख। पूर्ण श्रद्धा, पूर्ण वीर्य, पूर्ण स्वच्छता, पूर्ण अनन्त-अनन्त कर्ता-कर्म आदि शक्तियों का भण्डार - उसमें क्या कमी है कि मुझे पर में देखकर आशा करनी पड़े ? छोड़, कहते हैं। भगवान के सन्मुख देख! समझ में आया ? तेरा परमात्मस्वरूप पूर्णानन्द का तू विश्वास ला, विश्वास ला। वह कब आवे ? ये सब अस्थिर है, इनका विश्वास छोड़ दे। यह विश्वास ला।

पूर्ण प्रभु परमात्मस्वरूप से (विराज रहा है)। परमात्मप्रकाश है न ? पूर्ण परमात्मा तू स्वयं पूर्ण है; तुझमें कमी क्या है ? यहाँ देखता है क्या ? जो देखे अन्दर मिले, ऐसा है। समझ में आया ? उसकी श्रद्धा कर। यहाँ तो ममता छोड़ने की बात है न ? श्रद्धा छोड़-उनका विश्वास दोड़ दे कि उनसे मुझे लाभ होगा; और ऐसी ममता छोड़कर स्वरूप में स्थिरता कर, ऐसे गुलांट मारकर। यहाँ कहते हैं, वह ममता छूट जाती है।

परद्रव्य में ममता नहीं करना। ऐसे साधारण बात नहीं है, बाहर की ममता छोड़ी न... ऐसा नहीं। वस्तु एक समय में पूर्ण परमात्मा जहाँ दृष्टि में देखा, ज्ञान में देखा, अनुभव में वेदन किया, उसके कारण से परवस्तु मेरी नहीं और यह चीज़ मेरी त्रिकाल है। ऐसा करके, उसमें स्थिर होकर, पर की ममता टलती है, ऐसा कहते हैं। मात्र ऐसे छोड़कर स्त्री-पुत्र छोड़ दिये, इसलिए ममता छोड़ी है, यह बात इसमें है ही नहीं। सब भरा पड़ा है अन्दर। एक राग के कण को भी सच्चा, अच्छा ठीक मानता है, उसके अभिप्राय में पूरा संसार करने जैसा है-ऐसा बैठा है। यहाँ तो कहते हैं कि नित्यानन्दस्वरूप प्रभु भगवान निज शुद्धात्मा की अन्तर्दृष्टि (करके), उसे स्वज्ञेय बनाकर, स्थिर हो। ममता छूट जाएगी।

आगे घर-परिवारादिक की चिन्ता से मोक्ष नहीं मिलती, ऐसा निश्चय करते हैं-

मुक्खु ण पावहि जीव तुहुँ घरु परियणु चिंतंतु।
तो वरि चिंतहि तउ जि तउ पावहि मोक्खु महंत्तु॥१२४॥

हे जीव! तू घर, परिवार वगैरह की चिन्ता करता हुआ मोक्ष कभी नहीं पा सकता... आहाहा! आया नहीं अष्टपाहुड़ में ? ध्रुव मोक्ष तीर्थंकर का है। निश्चय मोक्ष भगवान को है, खबर नहीं ? जब से भगवान का जन्म हुआ, तब से खबर है, तब से क्या ? पूर्व से खबर है कि मैं तीर्थंकर होनेवाला हूँ, अन्तिम मेरा भव, उस समय मोक्ष है। वह जीव भी स्वरूप में स्थिर

होकर, चारित्र में लीन होकर ममता छोड़ देता है। उसे भी चारित्र अन्दर स्थिर होना, अंगीकार करता है। आहाहा! है न? यह गाथा है न? ध्रुव सिद्धि है, ऐसा पाठ है। तीर्थंकर को निश्चित मोक्ष है, तथापि वे स्वरूप में, अरे! हमारी मुक्ति है इस भव में, परन्तु हमें स्थिरता बिना हमारी मुक्ति नहीं मिलेगी। अकेले सम्यग्दर्शन और ज्ञान से तथा तीन ज्ञान लेकर आये हैं, इससे हमें मुक्ति नहीं मिलेगी। आहाहा! समझ में आया? क्षायिक समकित और तीन ज्ञान। ध्रुव सिद्धि, निश्चित मुक्ति है। इन्द्र कहता है, प्रभु! तुम्हारी मुक्ति है न! हम भी एकावतारी (हैं), हों! प्रभु! हम यह एक भव करके मुक्ति में जानेवाले हैं। इन्द्र भी कहते हैं, है न? पहले देवलोक का इन्द्र और इन्द्राणी। हमारे मनुष्य का एक ही देह है। प्रभु! आपको तो इस देह से ही पूर्णता!

जब भरत रोता है, जब भगवान का मोक्ष होता है, तब भरत आता है, ऐसे देखता है। ऐसे आँख में से आँसू की धारा निकलती है। राग है न? इन्द्र कहता है, भरत! तुम तो चरमशरीरी हो न! तुम्हें तो इस भव में केवल (ज्ञान) है, तुम्हें दूसरा देह नहीं है। हमें तो अभी एक मनुष्य का देह है। इन्द्र! ख्याल है, खबर है। हमें खबर है, इन्द्र! यह अन्तिम अवतार, देह है। भगवान के विरह में मुझे अन्दर राग आ जाता है। मेरी अस्थिरता आती है। मुझे ख्याल में लेना चाहिए या नहीं? मुझे ख्याल है कि मैं इस भव से केवल(ज्ञान) प्राप्त करके (मोक्ष जानेवाला हूँ) मुझे दूसरा देह नहीं है। भगवान ने कहा है, मुझे ख्याल है, इन्द्र जानते हैं। अभी मुझे यह राग आता है, भगवान का विरह पड़ा। अरे! भरतक्षेत्र का सूर्य आज अस्त हो गया। ऐसा प्रशस्त राग धर्मी को आता है (तो) रोता है, हों! क्षायिक सम्यग्दृष्टि है न? तीन ज्ञान है न? यह राग है, वह चारित्र दोष है। अरे! प्रभु! भरतक्षेत्र का सूर्य उदित हुआ था, आज अस्त हो गया। हम कहाँ पूछेंगे? कहाँ जायेंगे? रोता है, लो! ख्याल है कि हमारी अस्थिरता है, उसका राग है, हमारे स्वभाव में वह राग नहीं है। पृथक्रूप से ऐसा ज्ञान है, तथापि यह स्थिति खड़ी होती है। हमारा मोक्ष इस भव में है। अवतार नहीं है, अन्तिम रजकणों का यह सम्बन्ध है, छूट जायेगा, तो भी भक्ति का प्रेम आता है और उस दुःख को स्वीकार करता है। देखो! हम स्वरूप में स्थिर होंगे, तब हमें केवलज्ञान होगा, उसके बिना (नहीं होगा) समझ में आया? आहाहा!

उसमें आता है न? भाई! यह बाहुबली का आता है न उसमें? भरत चक्रवर्ती। बाहुबली में आता है। भरत चक्रवर्ती पूजा करने आते हैं। ऐसे नजर करते हैं, अहो! मुझे लगता है कि इस भरत को कुछ दुःख हुआ होगा, उसके कारण... ऐसा देखते हैं। उन्हें तो कुछ नहीं, पूजा करते हैं। एकदम श्रेणी चढ़े और श्वेताम्बर में दूसरी रीति से जरा आता है। ध्यान में खड़े होते हैं, तब ब्राह्मी और सुन्दरी, दो लड़कियाँ हैं न? वे उनके पास जाती हैं और जहाँ बारह-

बारह महीने हुए हैं और ऐसे होता नहीं ? इनमें दूसरी बात है। अपने में यह बात है। वहाँ उन्होंने गीत बनाया है, 'वीरा मोरा गज थकी उतरो' गज अर्थात् हाथी। जरा कषाय का हाथी है न, मान ?

'वीरा मोरा गज थकी उतरो
गज चढ़े केवल न होय रे,
ऐ... गज चढ़े केवल न होय रे।

अरे ! भाई ! इस विकल्प के हाथी पर चढ़े, बापू ! एक मान जरा तुम्हें खटकता है, यह केवलज्ञान अटका है, प्रभु ! समझ में आया ? ऐसे श्वेताम्बर में यह आता है। 'गज चढ़े केवल न होय रे, वीरा मोरा मान- गज थकी उतरो' मानरूपी हाथी से नीचे उतर जाओ। आहाहा ! ब्राह्मी और सुन्दरी ऐसे देखती है। अरे ! यह क्या ? कौन जाने कि भरत को... गुलाँट खा जाते हैं अन्दर। क्षपकश्रेणी (माँडते हैं)। श्रेणी का अर्थ धारावाही शुद्ध परिणति, धारावाही शुद्ध परिणति। समझ में आया ?

(यहाँ) कहते हैं, अरे ! छोड़, छोड़ इन घर इत्यादि की चिन्ता। **मोक्ष कभी नहीं पा सकता...** जब तक चिन्ता का विकल्प रहता है, तीर्थंकर भगवान जैसों को भी मोक्ष नहीं होता। धूल भी नहीं मिलती, क्या मिले ? चिन्ता से मिले ? चिन्ता विकल्प है, उस विकल्प से चीज़ नहीं मिलती, उस विकल्प से यहाँ लाभ नहीं होता। सुनो, क्या कहा ? इस चिन्ता का विकल्प है, इस विकल्प से चीज़ों की प्राप्ति नहीं होती और इस विकल्प से यहाँ स्वभाव की शान्ति नहीं मिलती, बीच में दखल-विघ्न करनेवाला है। यह यहाँ बात करते हैं। चिन्ता से कुछ चीज़ नहीं मिलती, चिन्ता से शान्ति यहाँ नहीं मिलती। व्यर्थ का विघ्न उपस्थित करता है। आहाहा ! समझ में आया ?

चिन्ता करता हुआ... देखो न ! शब्द है न ? **'चिन्तयन्' मोक्ष कभी नहीं पा सकता।** इस चिन्ता से तो वर्तमान शान्ति रुकती है और यह जगत की चिन्ता करने जाये तो कुछ जगत अनुकूलतारूप रहेगा; तेरा विकल्प किया; इसलिए जगत अनुकूलरूप रहेगा, यह तेरी बात एकदम झूठ है। विकल्प उठाया, इसलिए वह अनुकूल रहेगा और विकल्प उठाया, इसलिए यहाँ अन्दर में शान्ति मिलेगी, ऐसा तीन काल में नहीं है। समझ में आया ?

भगवान शुद्धस्वरूप परमात्मा अपना निजस्वरूप... यहाँ परमात्मप्रकाश है न ? बापू ! इस दुनिया की चिन्ता से तुझे ऐसा हो कि यह रोगी होगा, निर्धन होगा तो उसकी व्यवस्था तेरे

इस विकल्प के कारण हो जायेगी ? तब कहो न, कहे न, बोले न ! इसे अन्दर विपरीतता घुस गयी है। जयचन्दभाई ! यह क्या कहते हैं यह ? – कि विकल्प करने से चिन्ता करने से जरा पर में व्यवस्था में अन्तर पड़े, तेरी मान्यता में मूढ़ता है। जयचन्दभाई ! यहाँ भगवान ऐसा कहते हैं। त्रिलोकनाथ परमात्मा की वाणी में आया, उस प्रकार से सन्तों ने झेला और जाना, उस प्रकार से विकल्प हुआ और वाणी निकल गयी। अरे! जीवों! किसके लिये कल्पना? भगवान ! तेरी कल्पना से वह व्यवस्थित पदार्थ व्यवस्थित रहेगा, ऐसा तू विचारता है ? समझ में आया ? यह कल्पना करे, इसलिए 'प्रकाश' को वहाँ ठीक होता है और अमुक होता है, हराम बात है – ऐसा कहते हैं। यह कल्पना होती है, परन्तु होता नहीं, ऐसा कहते हैं। परन्तु प्रत्यक्ष है या नहीं ? तब लड़की का... ?

जगत में ऐसे दो पदार्थ—एक ओर भगवान पूरा पूर्णानन्द और एक ओर ये सब चीज़ें—स्त्री, पुत्र, परिवार, शरीर... धूल सब। अब यह बीच में खड़ी की कल्पना—अशुभ कल्पना, उस कल्पना के कारण से शरीर की अवस्था निरोग रहे, यह बिल्कुल हराम बात है। उसके कारण लड़का उसे बुलावे कि हाँ बेटा! यह कल्पना आयी, इसलिए वाणी आयी, इसलिए व्यवस्थित रहे और तेरा माने, हराम बात है। समझ में आया ?

श्रोता : कल्पना और कल्पना में...

पूज्य गुरुदेवश्री : किसकी बात चलती है यह ? उसके लिये तो यह (कहते हैं) आचार्य महाराज मुनि निर्ग्रन्थ हैं, दिगम्बर (हैं) जंगल में बसनेवाले। उन्होंने यह कहा है तो क्या व्यर्थ में कहा है यह ? आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं, इन बाहर की चीज़ों का यह कैसे होगा ? इस कल्पना से बाहर की चीज़ों में कहीं अन्तर पड़ेगा, तुझे ऐसा लगता है ? और इस कल्पना से तुझे कुछ आत्मा में अनुकूलता होगी, ऐसा लगता है ? क्या है यह ? मुफ्त की निरर्थक अनर्थकारी चिन्ता (करता है)। उस चिन्ता से अर्थ—बाहर में कुछ सिद्ध नहीं होता, उस चिन्ता से अन्तर की शान्ति का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, ऐसा कहना चाहते हैं। यह कहीं साधारण ऐसी बात नहीं है। भगवान आत्मा है न पूरा, वह चिन्तारहित है न ! उसमें स्थिर हो न ! यह तूने क्या लगा रखी है ? ...चिन्ता से कुछ न कुछ तो व्यवस्था होती होगी या नहीं ? जब यहाँ से तुम्हारे जाना पड़ता है, लो ! उन दो को अलग होना हो,... करना पड़ता है या नहीं ? अमृतलाल ! भाव किये। वह कहे, भाई ! मुझे अलग होना है, वह कहे मुझे ऐसा करना है, फिर हालोहाल चिन्ता करे व्यर्थ की। होना

होगा वह वहाँ होगा और यहाँ दुःख, नुकसान होता है। वहाँ भी वापस वह माने ऐसा नहीं, हों! ऐसा ही है। यह चौथे नम्बर का इसका लड़का आया। वह तो सबकी (बात है)। यह तो दृष्टान्त देते हैं, मलूपचन्दभाई की अकेली बात कहाँ है?

श्रोता : मानता तो है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं मानता, वह तो उसका मानता है, उसे रुचे वह उसका मानता है, तेरा नहीं। व्यर्थ का उलझ गया, ऐसा कहते हैं। उसे जो हाँ करता है और रुचता है, देखो! बात यह (कि) उसे ठीक पड़ता है, इसलिए मानता है। तूने कहा, इसलिए ठीक पड़ता है और मानता है, इस बात में एक भी प्रतिशत सच्चा नहीं है। आहाहा!

भाई! तुझे ऐसा होता हो कि मैंने ऐसा एक विकल्प किया और मैंने ऐसा किया तो कुछ काम ठीक पड़ा, काम में ठीक व्यवस्था हुई, हों! नहीं तो ये कोई मानते नहीं, हों! रहने देना, इस निरर्थक कल्पना में भ्रमणा डालना नहीं। यह तो होनेवाला हो, वहाँ होता है, उसके कारण से। पिताजी, पिताजी! यह उसकी अनुकूलता के कारण ऐसा बोलता है, तुम्हारी अनुकूलता के लिये नहीं। वह बोलता है अन्दर में कुछ नहीं, बापूजी! देखो! हम कहते हैं, ऐसा करना पड़ेगा, हों! क्यों अमृतलाल! खबर है या नहीं इसे? अभी दो व्यक्तियों का करने गया था। देखो! यह चौथा है। दो रहते हैं अहमदाबाद और दो रहते हैं बाहर, एक रहता है मुम्बई और एक रहता है बाहर भटकने। आहाहा! यह तो दृष्टान्त है, हों!

कहते हैं, भाई! तूने निर्णय-निश्चित किया है कभी? एक ओर भगवान पूरा आत्मा और एक ओर पूरी सब चीज़ें। अब ये दूसरी सब चीज़ें—घर, इज्जत, कीर्ति, ये पैसा, लड़के, बहुएँ तेरी कल्पना से उनमें कुछ होता होगा? जरा भी होता होगा कि मैंने ध्यान रखा न, इसलिए काम लाईन पर आ गया। सरेड़े समझ में आया? ठीक रास्ते, ठीक रास्ते। हमारे भाषा काठियावाड़ी है। हराम बात हो तो तेरी कल्पना में मिथ्या भ्रमणा है। बराबर होगा यह? आहाहा! अरे! तुझे यह चिन्ता पर की लगी, भूत! इस भूत से पर में कुछ नहीं होगा, हों! और तुझे उसमें शान्ति नहीं मिलेगी, हों!

ज्ञानी को अस्थिरता होती है। यह तो अज्ञानी की बात करते हैं, हों! ज्ञानी को जो अस्थिरता होती है, उसका भान है। मैं स्थिर नहीं हो सकता, इसलिए जरा सा (विकल्प) आ जाता है। वह उसके कारण नहीं। नहीं; कुटुम्ब के कारण विकल्प नहीं आता। समझ में आया? कुटुम्ब कर्ता हो जाता है और विकल्प कर्म हो जाता है, ऐसा नहीं हो सकता। अज्ञानी को ऐसा

हो जाता है कि मैं यह कल्पना करूँ न, यह कल्पना करता तथा वहाँ कहीं कार्य ठीक हो, वह इसका कार्य। हराम बात होवे तो। यह तो दिगम्बर सन्त हैं। छोटी बात परन्तु बहुत इसके मूलरूप में रखते हैं। भले छोटी वैराग्य की बात हो परन्तु इसका मूलरूप और हद-मर्यादा क्या - ऐसा समझाना चाहते हैं। समझ में आया?

वरम् उत्तम... देखो **प्रज्ञा इसलिए वरं तपः एव तपः** '...' देखो! **तप का ही बारम्बार चिन्तवन कर...** मुनिपना ऐसा, तप अर्थात् मुनिपना, हों! ऐसा संयम, एकाग्र स्वरूप में एकाग्र, संयम की बात है। तप अर्थात् मुनिपना। मुनिपना अर्थात् संयमभाव। स्वभाव.. स्वभाव.. स्वभाव की ओर संयम-सम्यकप्रकार से.. **क्योंकि तप से ही श्रेष्ठ मोक्षसुख को पा सकेगा।** यह संयमदशा। ममतारहित, चिन्तारहित, वह संयमदशा। ऐसे स्वभाव की दृष्टिपूर्वक स्वरूप में स्थिरता द्वारा ही तेरी मुक्ति होगी, इसके सिवाय मुक्ति नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान होने पर भी स्वरूप में स्थिरता बिना मुक्ति होती है, ऐसा नहीं है। क्या करना? तीर्थंकर निश्चित होकर जन्मे, तो भी उन्हें अन्तर में स्वरूप में स्थिर होंगे, तब मुझे चार ज्ञान होंगे। स्वरूप में स्थिर होंगे, तब शुक्लध्यान होगा। इसके बिना बाहर के विकल्पों में अटकाव में हैरान हूँ... हैरान हूँ... पुरुषार्थ निर्बल है। ऐसा जानते हैं।

भावार्थ- तू गृहादि परवस्तुओं का चिन्तवन करता हुआ कर्मकलंकरहित... देखो! कहते हैं कि भाई! जो परचीजें तुझसे दूसरी हैं, गृहादिक में पुत्र आ गये, हों! उसमें 'प्रकाश' आ गया। गृहादि (अर्थात्) पुत्र, पैसा, इज्जत, पुत्र का पुत्र। मोहनभाई! सब आता होगा या नहीं इसमें? पैसेवाले लोग। **गृहादि परवस्तुओं को...** पैसेवाला कहना किसे? कहते हैं। गृहादि, आदि शब्द है न? घर, पैसा, पुत्र, पुत्र का पुत्र, लड़कियाँ, अब इकलौती लड़की हो न, समझे न? उसे बहुत सम्हालना चाहिए। किसी को पढ़ावे, गुणावे, ठीक से लो! तो ठिकाने पड़े, नहीं तो ठिकाने पड़े नहीं और अभी के विवाह करना। ये लड़के अभिमानी। कोई पढ़ी हो एल.एल.बी. बी.ए. हुई हो तो कोई रखे, नहीं तो रखे? इसलिए अपने (उसे) पढ़ाओ तो रखे। यह तेरी कल्पना झूठी है, ऐसा कहते हैं। एकदम झूठी है।

श्रोता : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : ये लड़कियाँ भी अभी ऐसी ही हैं। आदमी को सब सहन होता है। समझ में आया? यहाँ तो दृष्टान्त इसने कहा, भाई! उसको ऐसा करूँगा और ऐसा होगा और ऐसा करूँगा तो ऐसा होगा। थोड़ी पढ़ावे, ठीक से करेंगे तो कोई लेगा, यह तेरी कल्पना शत-

प्रतिशत खोटी है। सत्य बात है ? चलता है ? यह इसलिए तो कहते हैं। इसे घर का अनुभव है न! लड़कियाँ बड़ी हुई हों, कहाँ डालना ? कैसे करना ? यह विचारने पर पार नहीं पड़ता। यही कहते हैं कि तू चिन्ता करेगा, इसलिए वहाँ व्यवस्था हो जायेगी ? क्या है ? निर्णय कर। वस्तु का स्वभाव क्या है ? समझ में आया ? राजमलजी! क्या है ? हम ध्यान रखते हैं। लड़की बड़ी हुई हो तो उसकी माँ ऐसी एकान्त में कहे, घर में यह अग्नि के... रखे हैं। झट करो। वह और कहती हो और इसे ठीक सा मिलता न हो तो वह... दाह। एकान्त में कहे, ये सांढढा जैसी हुई है, भान नहीं तुम्हें। बाहर तुम्हें कौन कहे ? तुम्हें चैन से नींद कैसे आती है ? वह कहे, बहुत सब करता हूँ परन्तु कुछ मिलता नहीं। धक्के खाते हैं, चक्कर लगाते हैं, एकान्त में कुछ कहें कि भाई कुछ... अब व्यर्थ की हैरान गति (भोगता है) । वह तो होना होगा, तब होगा— ऐसा कहते हैं। सम्यग्दृष्टि को यह कल्पना उसके कारण नहीं आती, कमजोरी के कारण आती है, वह स्वयं के कारण से नहीं, पर के कारण से नहीं। छोड़, छूट जाता है। समझ में आया ?

यहाँ तो उसमें ऐसा लग गया, चिपट गया। भाई! वह चिन्ता, चिन्तवन करते कर्मकलंकरहित भगवान, **केवल ज्ञानादि अनन्त गुणसहित...** लो! है ? १२४, समझ में आया ? १२४ है न ? हाँ, है अन्दर देखो! '**केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितं**' संस्कृत है। कैसा है भगवान आत्मा ? **केवल ज्ञानादि अनन्त गुणसहित मोक्ष को नहीं पावेगा...** लो, इस चिन्ता में पड़ा तो केवलज्ञानादि जो मोक्षस्वरूप, **अनन्त गुणसहित मोक्ष को नहीं पावेगा, और मोक्ष का मार्ग जो निश्चय-व्यवहाररत्नत्रय उसको भी नहीं पावेगा।** दोनों बात। ऐसी कल्पना से पूर्ण केवलज्ञान आदि दशा, पूर्ण शुद्धि तो नहीं मिलेगी परन्तु इस चिन्ता में एकाकार होगा तो निश्चय-व्यवहाररत्नत्रय भी नहीं मिलेगा। देखो, समझ में आया ?

मोक्ष का मार्ग जो निश्चय-व्यवहाररत्नत्रय... निश्चय वह सत्य मोक्षमार्ग है; व्यवहार, वह निमित्त मोक्षमार्ग है। निमित्तरूप से ऐसे ही विकल्प उसे होते हैं। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, पंच महाव्रत का विकल्प, उसे भगवान का कहा हुआ बारह अंग का ज्ञान, ऐसी भूमिका के योग्य विकल्प होते हैं। इसलिए उसे व्यवहाररत्नत्रय कहा है। **निश्चय-व्यवहाररत्नत्रय उसको भी नहीं पावेगा।** यहाँ तो कहते हैं, सम्यग्दर्शन नहीं पायेगा। ऐसी चिन्ता में ऐसे का ऐसा पड़ेगा तो। चिन्ता में एकाकार होकर उसे कहीं सुधार दूँ और इसे ऐसा कर दूँ, वह तो मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया ? ऐसा कहते हैं कि तेरी कल्पना के कारण बाहर में कुछ फेरफार हो, वह तेरी मान्यता मिथ्यात्व है। उससे तू सम्यग्दर्शन नहीं पायेगा, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? कहो, बराबर होगा यह ? भगवानभाई! ये पुराने व्यक्ति हैं, भाई! सब कल्पना का जाल,

उस कल्पना के जाल में ऐसा जोर दे कि इससे ऐसा होगा, समकित नहीं पायेगा – ऐसा कहते हैं। सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग को नहीं प्राप्त कर सकेगा। आहाहा! समझ में आया?

जहाँ बैठा हो, वहाँ कुछ सुधारना तो चाहिए न? नीचे बैठे तो ऊपर बावा-बावा निकाले। बावा होते हैं न? बावा को क्या कहते हैं? यह मकान में होते हैं न जाला, जाला। नीचे जाला, ऊपर जाला, कहीं बैठना हो तो ऊपर-नीचे सरीखा तो पढ़ना या नहीं? ऐसे जिस घर में रहना हो, उसका कुछ ठीक करना पड़ेगा या नहीं? कहते हैं कि सम्यग्दर्शन नहीं पायेगा। मात्र कल्पना में ऐसा मान बैठे कि इसने मेरी ऐसी कल्पना से यहाँ होगा। मर जायेगा मिथ्यात्व में। कहो, समझ में आया या नहीं? देखा?

निश्चय-व्यवहाररत्नत्रय... नहीं पायेगा। इसका अर्थ यह कि तू ऐसी कल्पना में जोर दे कि यह चिन्ता आयी और मैंने बराबर ध्यान रखा, मैंने बराबर विचार किया है, हों! कि इस लड़की को यहाँ डालना, इस लड़के को ऐसे पढ़ाना, इसे ऐसा करना और यह इतना करना और यह पैसा यहाँ डालना तथा इस पैसे का ब्याज यहाँ कमाना। बहुत पैसा हो तो इतना पैसा यहाँ माल में डालना और इतना पैसा ब्याज में कमाना... ऐसी कल्पना में तेरी मान्यता भ्रमणा है। धर्मचन्दजी! क्या करना?

श्रोता : तो रुपये का ब्याज नहीं कमाना।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन कमाता था? तेरा विकल्प आया, इसलिए वहाँ ब्याज उपजेगा टके का या बारह आने का, यह बात सत्य है? ऐई!

मोक्ष का मार्ग जो निश्चय-व्यवहाररत्नत्रय, उसको भी नहीं पावेगा। व्यवहार भी नहीं पावेगा। देव-गुरु-शास्त्र जो बात करते हैं कि तेरी कल्पना से कुछ नहीं होता, उसकी श्रद्धा भी तुझे नहीं होगी। समझ में आया? भगवान त्रिलोकनाथ भगवान की वाणी आगम, भगवान और गुरु ऐसा कहते हैं कि तेरी कल्पना से पर में कुछ नहीं होता। कल्पना से होता है, ऐसा मानेगा तो तुझे व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं होगी। ऐ.. राजमलजी!

श्रोता : कल्पना तो आवे न कहीं...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कल्पना आवे, उसमें जोर कितना है उल्टा! ऐसा कहते हैं। यह किसकी बात है? ऐसा कर न तो भाई! ऐसा कहे, ऐसा का ऐसा घर में कहीं बैठा रहा जाता है? यह जीवता जीव है, यह चिन्ता किये बिना रहे? इसलिए चिन्ता करे तो कुछ काम चले, ऐसे का ऐसा चलता होगा? लो! कुछ बोलना नहीं, किसी से कुछ कहना नहीं, उलहाना देना

नहीं और सुधर जाते होंगे ? ऐसा मूढ़ मानता है।

श्रोता : ठीक भी रखना पड़े न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ....ठीक भी किसका रखना था ? लोग ऐसा कहें, वे अपने घर में थोड़ी सी सत्ता रखना, नहीं तो गिने नहीं। स्त्री, पुत्र कोई नहीं गिनेगा। कुछ कड़काई रखना, कड़काई के कारण से मानेंगे। मूढ़ है। तुझे व्यवहार श्रद्धा की खबर नहीं, ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया या नहीं ? यह तो आचार्यों के कथन का अन्दर मर्म है। भाई ! तुझे कल्पना में इतना अधिक जोर आ जाता है ? निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्ग नहीं पायेगा। मोक्ष तो कहाँ से है ? ढीला पड़ जा, ढीला पड़ा जा, जोर न दे, इससे यहाँ होगा और वापस ऐसा कहे, कुछ भाई ! ठीक हो, खाने-पीने का ठीक हो, साधन कुछ ठीक हो, लड़का कुछ कमाता हो तो निश्चिन्त होकर धर्म हो। कहते हैं, मूढ़ है। यह क्या माना तूने ? लड़का कुछ कमाता हो, कुछ लड़कियाँ ठिकाने पड़ी हों, मकान, दुकान चलते हों और ये दुकान पर बैठता हो और जो कमाता हो, तद्नुसार चलता हो तो अपने को निश्चिन्तता से धर्म हो। किसने कहा तुझे ऐसा ? ऐई ! दुनिया सब पागल है। जयचन्दभाई !

भगवान आचार्य कहते हैं, ओहोहो ! '**न प्राप्तोपि न केवलं मोक्षं निश्चयव्यवहार-रत्नत्रयात्मकं मोक्षमार्ग च जीव**' यह इसमें से दूसरा निकाला, पाठ में तो इतना है। '**मुक्खु ण पावहि जीव तुहुँ घरु परियणु चिंतंतु।**' फिर उसमें से टीकाकार ने मार्ग निकाला। '**तो वरि चिंतहि तउ जि तउ पावहि मोक्खु महंत्तु।**' आहाहा ! समझ में आया ? लो ! पाठ में तो इतना है परन्तु उसमें से निकाला यह। शब्द तो थोड़े हों, मूल शब्द तो बहुत थोड़े होते हैं, उसमें भाव क्या है, वह टीका करके स्पष्ट करते हैं। लोग ऐसा नहीं कहते ? क्या मेरी टीका करते हो ? ऐसे, मेरी बात लम्बी क्या करते हो ? ऐसे। वह पाठ में है, उसकी टीका है, यह सब स्पष्टीकरण है। समझ में आया ?

यह साधु नाम धरावे, श्रावक नाम धरावे, फिर शिष्यों की चिन्ता करे, पुस्तक की चिन्ता करे, पाठशाला की (चिन्ता करे), मुफ्त में जायेगी तेरी चिन्ता, व्यर्थ में क्यों लगा है ? कहते हैं। कुछ चिन्ता करने से पाठशाला ठीक चले, पुस्तक अच्छी रहे, ऐसा होगा ? सच्ची श्रद्धा नहीं पायेगा। यह कहाँ उल्टे रवेड़े (रास्ते) चढ़ गया। रवेड़े समझे ? उल्टे रेवेड़े अर्थात् उल्टे रास्ते, उल्टे पन्थ में, उल्टे प्रकार से। कहो, समझ में आया ? भाई ! ध्यान रखना पड़े। ऐसे कहीं... बिगड़ जायेंगे और सब खा जायेंगे ऐसे के ऐसे। ...बात है। तेरी कल्पना से ध्यान रखकर सब

होते होंगे ठीक से ? तेरी श्रद्धा मिथ्यात्व होती है, तेरे व्यवहारश्रद्धा का ठिकाना नहीं रहता। निश्चय और व्यवहार एक भी समकित को पायेगा नहीं।

इन गृहादि के चिन्तवन से भव वन में भ्रमण करेगा। लो! मोक्षमार्ग तो नहीं मिलेगा और बन्धमार्ग-मिथ्यात्व में गया है। यह चिन्ता करूँगा तो ऐसा होगा और अमुक करूँगा तो ऐसा होगा। ऐसा रहे या नहीं ? धीरुभाई! इन्हें लड़का नहीं तो भी बहुत चिन्ता है। लड़कियों को और सबको बहुत आमदनी हो... किसको कैसा लड़का और किसको कैसी लड़कियाँ ? व्यर्थ का लेकर बैठा है। है कोई लड़की, लड़का नाम है इसमें ? रजिस्टर्ड है ? आत्मा को लड़का होता है ? आत्मा को लड़की होगी ? आत्मा लड़का-लड़की का बाप होगा ? तूने यह क्या लगा रखी है ?

श्रोता : आत्मा को न हो, मनुष्य को तो होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा मनुष्य कब था ? आत्मा तो आत्मा है। मनुष्य शरीर तो यह शरीर जड़ है, मिट्टी है। उसे होगा ? जड़ को होगा ?

श्रोता : क्या करना अब ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ....इसलिए कहते हैं न (कि) मोह अर्थात् उनकी एकत्वबुद्धि छोड़, ऐसा। उनकी मिथ्या मान्यता छोड़ दे कि ऐसा करूँ तो ऐसा होगा और ऐसा करूँ (तो ऐसा होगा) तेरी मान्यता में बड़े शल्य हैं, मिथ्यादर्शन शल्य पड़े हैं। ऐसा यहाँ कहते हैं। मान्यता तो छोड़। होना होगा, वह होगा उसके कारण से। मुझसे होगा ?

तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव परमात्मा ने ज्ञान में जाना कि जो जगत की चीज़ (है उसकी) उसके कारण से व्यवस्था होती है। व्यवस्था अर्थात् अवस्था की, पदार्थ की अवस्था विशेष होना, वह व्यवस्था। सामान्यरूप से रहकर पदार्थ की विशेष अवस्था होना, वह उसकी व्यवस्था। वह व्यवस्था तेरे कारण होती है, यह मान्यता महा भ्रमणा है। धर्मचन्दजी! अब क्या करना ? हमारा कुछ चलता नहीं और अच्छा बड़ा परिवार हो, लड़की हो, लड़का हो, बड़ा हो तो कुछ चिन्ता पड़े, लो! आहाहा! ऐ.. हल्का तो हो जा, कहते हैं यहाँ। छोड़ उनकी चिन्ता, होना होगा वह होगा। भवितव्य की बात आती है न ?

इसलिए उनका चिन्तवन तो मत कर लेकिन बारह प्रकार के तप का चिन्तवन कर,... ऐसा। संयम का... संयम मुनिपना, अहो! अलौकिक भगवान आत्मा में स्थिरता की भावना कर। उसमें स्थिर हो, वह तेरे पुरुषार्थ से प्राप्त होता है। वह प्राप्त न हो, ऐसा है नहीं। **इसी**

से मोक्ष पायेगा। वह मोक्ष तीर्थंकर परम देवाधिदेव महापुरुषों से आश्रित है... देखो! यह तो ऐसा मोक्ष तो... है न? **तीर्थंकर परम देवाधिदेव महापुरुषों से आश्रित है...** मोक्ष तो महा चीज़ है, तीर्थंकर जिसका आश्रय करते हैं। ओहोहो! चौदह ब्रह्माण्ड, चौदह लोक को एक समय में जाने, अवधिज्ञानी ऐसे इन्द्र भी जिन्हें पूजें—ऐसे भगवान भी संयम का आश्रय करते हैं। समझ में आया?

मोक्ष, मोक्ष। **तीर्थंकर परम देवाधिदेव...** तीन लोक के नाथ देवाधिदेव, जिनके चरण सौ इन्द्र आकर पूजते हैं, ऐसे भगवान भी मोक्ष का आश्रय करते हैं। **इसलिए सबसे उत्कृष्ट है।** इसलिए मोक्ष सबसे उत्कृष्ट है। **मोक्ष के समान अन्य पदार्थ नहीं है।** कोई पदार्थ नहीं है। मोक्ष के अतिरिक्त कोई उत्कृष्ट पदार्थ जगत में नहीं है। जिसने मोक्ष का परम आदर किया, उसकी दृष्टि द्रव्य पर जाकर स्वभाव में एकाग्र होने की भावना होती है। विकल्प आवे परन्तु उसकी भावना नहीं होती और विकल्प से यहाँ लाभ होगा और यहाँ होगा लाभ, यह दृष्टि नहीं हो सकती। अद्धर से आकर उड़ जाता है और अज्ञानी को वहीं का वहीं चिपट जाता है। उसमें और उसी में चिपट जाता है। ऐसा होगा और ऐसा होगा और इससे कोई अनुकूल होगा तो मुझे भी ठीक पड़ेगा। दोनों ओर गड़बड़ उठाते हैं। यह दृष्टि छोड़ और आत्मा के ज्ञानस्वरूप का चिन्तवन कर। यह बात विशेष आयेगी.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

(३४) श्री छहढाला, ढाल-२, गाथा १३, प्रवचन-१०
दिनांक - २७-०१-१९६६

'छहढाला' की दूसरी ढाल (चलती है)। बारह गाथा पूर्ण हुई। तेरहवीं गाथा। **गृहीत मिथ्याज्ञान का लक्षण।** ऐसा एक विचार इससे पहले आया कि यह आत्मा जो है, आत्मा, वह ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप। मिथ्याज्ञान है न इसमें? आत्मा है, वह ज्ञानस्वभाव है और ज्ञान की जो पाँच पर्याय हैं – मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल; तो केवलज्ञान की एक समय की पर्याय अपने अनन्त गुणों की पर्याय और अपनी भी व्यवस्थित पर्याय, केवलज्ञान की पर्याय भी समय-समय में जो व्यवस्थित है, व होना है उसमें वह... अनन्त काल वह होता है न? इसलिए **केवलज्ञान की पर्याय अपने गुण की पर्याय जो ज्ञान की पर्याय का व्यवस्थितपना और दूसरे द्रव्यों की जो समय-समय की पर्याय है, उसे भलीभाँति व्यवस्थितरूप से जानती है। यह मतिज्ञान भी उसी प्रकार व्यवस्थित जानता है। अल्प, क्रम उसका प्रश्न अभी नहीं है। श्रुतज्ञान भी उसी प्रकार जानाता है। ऐसा व्यवस्थित जानने का और सामने व्यवस्थित पर्याय है, उसका व्यवहार से ज्ञान करने का उसका स्वभाव है। श्रुतज्ञान भी अपने अनन्त गुणों की और अपनी भी पर्याय व्यवस्थित होती है, उसको जानने का स्वभाव है। पर की भी व्यवस्थित जो होती है, उस पर्याय को जानने का उसका स्वभाव है। अवधिज्ञान भी वह स्वयं अपनी जो व्यवस्थित पर्याय समय-समय में होती है, उसे जानने का स्वभाव और रूपी आदि पर्याय उसके योग्य है, उसे भी जानने का स्वभाव है। ऐसे ही मनःपर्ययज्ञान (भी) अपनी व्यवस्थित पर्याय (जानता है), अन्य की भी उसके योग्य जितनी जानने की योग्यता है, उसकी व्यवस्थित पर्याय को जानने का स्वभाव है।**

अब, यह सब केवलज्ञानादि पर्याय का स्वभाव स्वयं को और पर को जैसा है, वैसा जानना (है।) उसमें कैसे है और कैसे फेरफार करना – यह वस्तु का स्वभाव नहीं है। ऐसी पर्याय एक-एक गुण में अनन्त-अनन्त पर्यायें पड़ी हैं। यह मति, श्रुत, अवधि; मनःपर्यय और केवल की जो अनन्त पर्याय है, वह ज्ञानगुण में अनन्त-अनन्तरूप रही है। ऐसा ज्ञान का धारक आत्मा (है)। जिसे वस्तु का स्वरूप ही व्यवस्थित स्वयं अपने को जाने और पर को जाने –

ऐसा ही उसका स्वभाव हुआ। एक समय का नहीं, परन्तु पूरा त्रिकाली स्वभाव। भाई! वस्तु ही ऐसी है। यहाँ तो पर्याय से लेकर गुण में गया और गुण लेकर द्रव्य – ऐसी वस्तु है। यह बात है, यह वस्तु है। कुछ समझ में आया?

भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है – ऐसा जो कहा – उसका अर्थ ही यह है कि जहाँ ज्ञान का निश्चय किया अर्थात् प्रत्येक पर्याय अपनी मति, श्रुत, मन: पर्यय की होती है, उसे वह जानता है और दूसरे गुणों की पर्याय भी क्रमसर होती है, क्रमवर्ती होती है, उसे जानता है। उसके योग्य सामने जो द्रव्य है, उसे जानने योग्य, उसे भी उस प्रकार जानता है। एक पर्याय को, ऐसी तीन काल की पर्यायें या सर्वज्ञ सादि-अनन्त की केवलज्ञान की पर्याय, वह भी जानता है और सामने अवस्था जो अनन्त की होती है, वह जानता है। ऐसी अवस्था का पूरा पिण्ड, वह ज्ञानगुण। उस गुण में स्व-पर का व्यवस्थित जानना- ऐसी ही उसकी सामर्थ्य है। ऐसे स्वभाववन्त को आत्मा न माने और दूसरे प्रकार से माने तो वह आत्मा ही उसने नहीं माना। भाई! यह तो सबेरे उठकर फिर यह चला था। कुछ समझ में आया?

यह भगवान ही आत्मा ज्ञानस्वरूप है अर्थात् इसकी कोई भी पर्याय भी व्यवस्थितरूप से परिणमति है और व्यवस्थितरूप से दूसरे को जानती है – इसका नाम ज्ञान! कुछ समझ में आया? भाई! इसमें समझ में आता है? विचार करते हैं, कहते हैं। बहुत अच्छी बात है।

श्रोता : फिर से समझाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न, उठते ही एकदम यह बात दिमाग में आयी। वस्तु ही ऐसी है। उसमें विकल्प का अवकाश ही नहीं है। ऐसा कैसे? पर में या मुझमें ऐसा कैसे? यह ऐसा कैसे तो व्यवस्थित जानने का स्वभाव, उसमें ऐसा कैसे – यह विकल्प ही नहीं होता। समझ में आया? सूक्ष्म पड़े, परन्तु वस्तु आत्मा को ज्ञान कहा है न? भाई! वह आत्मा – ऐसा कहा है न? इस पर एकदम फिर विचार की धारा चली कि ज्ञान, वह आत्मा। अर्थात् कि ज्ञान तो जाने, वह आत्मा। अर्थात् उसकी जितनी पाँच पर्यायें हैं, उन प्रत्येक (को) जाने, जाने, जाने, वह आत्मा। ***ज्ञान में जानना है। किसी को बदलना या स्वयं का बदलना उसमें है नहीं। आहाहा! करे क्या? समझ में आया?***

यह तुम्हारे मकान का ठिकाना पड़ता नहीं, उस विचार में एकदम यह विचार आये.. परन्तु ***जिस समय में, जिस क्षेत्र में, जिस प्रकार से जो पर्याय होनी है, उसे फेरफार करे कौन? कुछ समझ में आया? यह ज्ञान का तो स्वभाव ही ऐसा है, अर्थात् उसकी पर्याय***

का स्वभाव ऐसा, उसके गुण का स्वभाव ऐसा और उस द्रव्य का स्वभाव ऐसा है। हें? आहाहा! ऐसा ही उसका स्वभाव है। जहाँ निर्विकल्परूप से ज्ञान का निश्चय अनुभव हुआ, जानने का दूसरा कुछ है ही नहीं इसे। समझ में आया? यह राग आता है, उसे जाने, करे नहीं – यह द्रव्य का ऐसा स्वभाव है, भाई! इसमें कुछ समझ में आया?

ज्ञान आत्मा, यह कहो तब तो ज्ञान आत्मा और ज्ञान की पर्याय, वह भी आत्मा – ऐसा हुआ न? भाई! हें? पर्याय, वह पर्यायवान की अर्थात् पर्याय (और) पर्यायवान एक है। गुण और गुणी एक है, अभेद है। वह जाननेवाला.. जाननेवाला.. जाननेवाला है। जो जानने की दशा का ज्ञान और जाने वह व्यवस्थित पर की पर्याय का ज्ञान.. बस! यह सब जानना ही उसके पिण्ड में पड़ा है। आत्मा के पिण्ड में अर्थात् उसका शरीर ही ऐसा है। शरीर अर्थात् आत्मा का वह शरीर आत्मपिण्ड ही ऐसा है, आत्मशरीर ही ऐसा है अर्थात् चैतन्य शरीर ही ऐसा है। वह स्व-पर की जैसी व्यवस्थित है, ऐसा उसे उस प्रकार से सहज जानना। वह जानना द्रव्य में, गुण में और पर्याय में – तीनों में व्यापक है। समझ में आया?

इस प्रकार यदि आत्मा को माने तो उसने आत्मा को माना कहा जाता है। दूसरे प्रकार से आत्मा माने तो उस आत्मा की वह स्थिति नहीं है; इससे विपरीत माने तो उसने आत्मा ही नहीं माना। आहाहा! भाई! समझ में आया? अन्दर गम्भीरता तो बहुत आती थी, परन्तु अब वह भाषा में आनी चाहिए? भूमिका अनुसार आती है न! ओहो! यह अकेला चैतन्य गोला, वह ज्ञान, द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्यापक है। वह व्यवस्थित अपने को, दूसरे गुणों को, दूसरे द्रव्यों को – इस प्रकार जानने के स्वभाववाला, वह पर्याय, गुण और द्रव्य – तीनों में व्यापक जानना। इस प्रकार उसे अनुभव में आवे, उसने आत्मा जाना और माना कहा जाता है। आहाहा! अरे! इसमें वाद-विवाद का स्थान कहाँ है? समझ में आया?

भगवान आत्मा, अर्थात् चैतन्यसूर्य अर्थात् स्व-पर को जानने के स्वभाव से-सत्व से भरपूर तत्त्व। उसकी पर्याय में वह स्वभाव। उसमें पहले-बाद का प्रश्न ही नहीं है कहीं पर्याय में..। आहाहा! यह पहले और यह बाद में... ज्ञान में जानने का नहीं रहा, यह तो विषमता हुई। है? समझ में आया? इससे ऐसा स्वरूप निश्चय में आया कि यह वस्तु तो ऐसी जानने के स्व-परप्रकाशक के स्वभाव से भरपूर (है) और व्यवस्थित अपने और दूसरे गुणों की और दूसरे द्रव्यों की पर्याय को जानना-इतना ही इसका स्वरूप है, बस! और यह 'जानना' – उसे आत्मा कहा जाता है। उसने जानने का किया, वही उसने किया – यह क्रिया। कुछ समझ में आया? भाई! फिर इससे यह हुआ और इससे ऐसा हुआ – यह वस्तु में नहीं रहता। है? आहाहा!

उसके गुण में उसका गुण ऐसा है, गुण, गुण-ज्ञानगुण। ज्ञानगुण, उसका गुण ऐसा, अर्थात् स्वभाव है, बस! जानना। ऐसा आत्मा मात्र स्व-पर को जानने का केवल अकेला चैतन्यसूर्य (है।) समझ में आया? उसकी पर्याय मति (ज्ञान की) होवे तो भी जानना, उसमें भी व्यवस्थित जानता है। कम-ज्यादा का प्रश्न नहीं है। श्रुत (ज्ञान) भी ऐसा ही जानता है, क्योंकि उसके गुण में स्व-पर को व्यवस्थित जानने की सामर्थ्य स्वभाव है। इसलिए उसकी पर्याय में भी स्व-पर को जानने की पर्याय को व्यवस्थित जानता है। समझ में आया? और उसमें से केवलज्ञान पर्याय तो फिर सादि-अनन्त रही। भाई!

मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यय - यह तो बहुत ही अल्प पर्याय है। अल्प अर्थात् बहुत थोड़े काल रहनेवाली है। है? और केवलज्ञान पर्याय तो इससे अनन्त गुनी रहनेवाली है, भाई! ध्यान रखना! केवलज्ञान पर्याय तो अनन्त.. अनन्त.. अनन्त गुनी है। जो पर्याय चार ज्ञान की हुई, इतने काल में जो काल गया, उससे अनन्त गुना काल केवलज्ञानपर्याय ऐसी की ऐसी रहनेवाली है। अब, उस कैवल्य की परिपूर्णता में अपना और पर का स्व-पर व्यवस्थित जानना, ऐसा ही उसका स्वभाव है। इसलिए पूरे गुण का ही ऐसा स्वभाव है। भाई! विवाद-तकरार, चर्चा, वाद-विवाद से पार पड़े, ऐसा नहीं है; वस्तु का स्वभाव समझे तो पार पड़े - ऐसा है। इसमें समझ में आता है?

यह भगवान आत्मा, ऐसा जिसका ज्ञान है, उसे सुशास्त्र का ज्ञान कहा जाता है। इससे विरुद्ध है, उसे सामने सच्चे शास्त्र हो तो भी उसे कुशास्त्र का ज्ञान है-ऐसा कहा जाता है। यह 'कुमति' आया न? (इसमें से) जरा अधिक विचार उठा। मैंने कहा - यह अद्‌भुत, भाई! कुमति से रचित शास्त्र... परन्तु सुमति से रचे गये शास्त्र हों परन्तु जिसकी मति में स्वयं को कुमतिपना है... समझ में आया? ...तो उसका शास्त्र अभ्यास होकर उसे कुसूत्ररूप परिणमित हुआ है। शास्त्र क्या करे? वह तो परवस्तु है। सर्वज्ञ भी क्या करें? सर्वज्ञ सामनेवाले के जानने की अपेक्षा से तो परवस्तु है। दिव्यध्वनि क्या करे? समझ में आया कुछ?

भगवान आत्मा ऐसा सादि-अनन्त केवलज्ञान पर्याय, अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त गुण। जिसके गुण के पट (क्षेत्र) में एक समय में वर्तमान सब पड़ा है ऐसा। ऐसे गुण को तो स्व-पर व्यवस्थित जानना - ऐसी जिसकी सामर्थ्य है। इसके अतिरिक्त विपरीत प्रकार से माने तो न तो उसने आत्मद्रव्य को माना, न उसने दूसरे द्रव्य और गुण की पर्याय जैसा है, वैसा माना। समझ में आया? आहाहा! लो! इतना आया? उस ज्ञान का ऐसा ही स्वभाव है - ऐसा यहाँ कहना है। उसका परिणमन का स्वभाव ज्ञान का ऐसा (है कि)

सबको जानना। वे भी सामने व्यवस्थित होते हैं, तब यहाँ ज्ञान एक समय में जानता है। आहाहा! छहों द्रव्यों का व्यवस्थितपना, उनके गुणों का व्यवस्थितपना, उनकी पर्याय का व्यवस्थितपना। पर्याय का व्यवस्थितपना तो उसके गुण की शक्ति में भी व्यवस्तिपने परिणमना, वही उसका स्वभाव है। आहाहा! इसमें कुछ समझ में आता है?

इसमें धर्म क्या आया? ऐसा लोगों को (लगता है।) हैं? भाई! आत्मा ज्ञान का पिण्ड, इस प्रकार सर्वज्ञ पर्याय की पूर्णता की अनन्त पर्याय की सामर्थ्यवाला ऐसा जो ज्ञानगुण, उस गुण का धारक आत्मा, वह ज्ञान और ज्ञान, वह आत्मा। बस! उसे तो इस प्रकार स्व-पर व्यवस्थित है, उसे जानना। अर्थात् इसमें व्यवहार से जाना हुआ प्रयोजनवान है - यह बात भी इसमें आ जाती है। है? भाई! १२वीं गाथा का जो सिद्धान्त है.. ओहोहो! 'रचना जिन उपदेश की, सर्वोत्कृष्ट तीन काल, इनमें सब मत रहते हैं, तरते जीव सम्हार' - शास्त्र की किसी अपेक्षा से बात लो, उस अपेक्षा से वह सब बात यथार्थ खड़ी होती है। समझ में आया?

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने १२वीं गाथा में यह वस्तु-व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान कहा, उसमें ही विवाद उठे। वह विवाद '**अपरमें द्विदा भावे।**' अर्थात् कि जो परम में नहीं, उसे व्यवहार करने को कहा - ऐसा है ही नहीं, भाई! आहाहा! जो पूर्णदशा, कैवल्य आदि दशा में स्थित नहीं है, उसे अपूर्णदशा में ज्ञान में वह राग बाकी (रहा है), उसे जानने की ज्ञान की दशा ही ऐसी रहती है। अपनी व्यवस्थित (पर्याय को जानने का) और राग भी व्यवस्थित (होता है), उसे जानना का इतना भाग रह जाता है। इस रूप से (अर्थात्) स्वद्रव्य के पर्याय के रागरूप से केवली को वह नहीं रहता। समझ में आया कुछ? इससे वहाँ भूतार्थ स्वभाव भगवान आत्मा, उसके आश्रय से हुआ ज्ञान, उस ज्ञान में जो अपूर्णता और रागादि है, उसे जानने का नाम व्यवहार कहा है। उसे व्यवहार का ज्ञान, व्यवहार जानना। इसके अतिरिक्त कोई दूसरी चीज़ ही उसमें खड़ी नहीं होती। समझ में आया?

एक समय में भूतार्थ भगवान आत्मा ऐसे गुणवाला तत्त्व एकरूप से (बिराजमान है), उसकी दृष्टि होने पर अन्दर उस दृष्टिवाला ज्ञान (होता है), उसे अपूर्णता और न्यूनता है, उस कारण उसे व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान कहा गया है। केवली को वह नहीं है। उन्हें एक साथ लोकालोक सब निमित्त है। बस! इतनी बात है, दूसरा कुछ है नहीं।

अब, यहाँ पर '**गृहीत मिथ्याज्ञान का लक्षण**' (कहते हैं)। इससे उल्टा। दोनों है इसमें। समझ में आया?

एकान्तवाद-दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त;
रागीकुमतनिकृत श्रुताभ्यास, सो है कुबोध बहु देन त्रास॥१३॥

(एकान्तवाद) अकान्तरूप कथन से दूषित-मिथ्या... अर्थात ? **वस्तु अनेक धर्तात्मक है...** नीचे इसका (स्पष्टीकरण) है। **उसमें से किसी भी एक ही धर्म को पूर्ण वस्तु कहने के कारण से दूषित (मिथ्या)...** आत्मा आदि प्रत्येक वस्तु अनित्य भी है, नित्य भी है! वस्तु स्वरूप से एक है, गुण-पर्यायों से अनेक है - इस प्रकार वस्तु को न मानकर उसका एक ही पक्ष मानना, तो वस्तु की सर्वांगता उसकी दृष्टि में नहीं रहती और सर्वांग माने बिना, असर्वांग को सर्वांग माने, उसे अनेकान्त न मानकर उसने एकान्त माना है।

वस्तु के सर्वांग जितने हैं, अंग, जितने नीचे-नीचे के पर्याय के प्रकार है, समझ में आया? गुण, पर्याय के, पूर्ण गुण-पर्याय एक समय के, वे सब नित्य-अनित्य हैं। इस प्रकार उसका सर्वांगपना न मानकर, उसका एक ही अंगपना माने, (अर्थात्) नित्य ही है, तो पर्याय रह जाती है। अनित्य है (-ऐसा एकान्त माने) तो गुण-द्रव्य रह जाता है। समझ में आया? वस्तु का सर्वांगपना मानने का नाम अनेकान्त है, उसका नाम सम्यग्ज्ञान है। वस्तु का एकांग मानना, एक पहलू ही मानना, पर्याय ही मानना और गुण ही मानना; गुण ही मानना और पर्याय नहीं मानना... समझ में आया? उसे एकान्तवाद - एक पक्षीय मिथ्याज्ञान कहते हैं। यह सूक्ष्म बात है।

एकान्त कथन से दूषित अथवा विषयादि पोषक अर्थात् क्या कहा? जो पाँच इन्द्रिय के विषय। परसन्मुखता का भाव, वह परसन्मुख जाता है। समझ में आया? ऐसे विषयों के पोषक... स्वविषय जो आत्मा है, उसका अनादर करके पर तरफ के अकेले विषय के भाव, उनका पोषण करनेवाले एकान्तिक कुशास्त्र कहलाते हैं। समझ में आया कुछ? **पाँच इन्द्रियों के विषय...** बाह्य के। उनके लक्ष्य से आत्मा को लाभ माननेवाले, (उसे) यह स्वविषय पूरा आत्मा उसमें रह जाता है। समझ में आया? (ऐसी पुष्टि) करनेवाले, कुमतिन रचित, कपिल इत्यादि द्वारा बनाये हुए अथवा कुमतियों द्वारा बनाये हुए। जैसा द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप है, वैसा जाने बिना अपनी कल्पना की तर्ककोटी से, तर्कों के समूह से रचित शास्त्र... समझ में आया? वे मिथ्या अप्रशस्त है। जिसमें सत्य सिद्धान्त का विरोध आता है। समझ में आया? उन समस्त शास्त्रों का अभ्यास करना... यह धर्मबुद्धि से अभ्यास करना, उनमें से ज्ञान मिलेगा, उसमें भी सम्यग्ज्ञान के वे शास्त्र हैं - ऐसा जानकर अभ्यास करना। इस प्रकार करता

है तो वह कुशास्त्र रुचते हैं–ऐसा होता है... समझ में आया? उन्हें शास्त्र जानकर अभ्यास करना, पढ़ना, दूसरों से पढ़वाना, दूसरों को पढ़ाना, दूसरों से सुनना.. अद्भुत बात, भाई!

वे कुशास्त्र, जिनमें एकान्तपना है, जिनमें अनेकान्त वस्तुसिद्ध नहीं होती, उन्हें सुनाना, ऐसे कुशास्त्रों को जगत को सुनाना, वह सब मिथ्याज्ञान का पोषण है। समझ में आया? वह 'कुबोध' अर्थात् मिथ्याज्ञान है। देखो! वह बहुत दुःख देनेवाला है। वह त्रासदायक है। '**कुबोध बहु देन त्रास।**' आहाहा! समझ में आया?

इसमें एक यह अर्थ किया है, भाई! जरा-सा दूसरा है। इसमें तो ऐसा अर्थ किया है, यह तीसरा पूरा होने के बाद, हों! इसमें कि मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान के रहते हुए... यह तो अपना नहीं परन्तु पहले के आधार का है, वह जरा इसमें डाला है। परन्तु एक है। जो ऐसे कुशास्त्र का ज्ञान और मिथ्यादर्शन, इनके विद्यमान रहते हुए मनुष्य, चारित्र के नाम पर जो कुछ भी धारण करता है.., चारित्र के नाम से मिथ्याश्रद्धा और मिथ्याज्ञान है, ऐसे उनके ऊपर, चारित्र के नाम पर व्रतादि (पालन करे), - व्रत, नियम, उपवासादि करता है, उसे गृहीत मिथ्याचारित्र कहा गया है। समझ में आया? ऐसा जो ज्ञान है, वह इस तेरह गाथा में चलता है, वह। इससे पहले मिथ्यादर्शन (का वर्णन) चला। ऐसे मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानसहितवाला जीव, कोई चारित्र धारण करे, अर्थात् व्रत, नियम, उपवासादि धारण करे, वे सब कुचारित्र है। कहो, यहाँ 'सोनगढ़वालों' ने कहा है - ऐसा नहीं। यहाँ तो पहले उसमें छपा है। अरे..! भगवान! क्या कहता है?

देखो! इसमें यह है। इसमें यह लिखा है। समझ में आया? तथा जिसे मिथ्याश्रद्धा-ज्ञानसहित..। मिथ्या अगृहीत हो या गृहीत हो, उसके सहित जिसने चारित्र धारण किया है, वह चारित्र कैसा? कि, व्रत और उपवासादि क्रिया। व्रत, नियम, उपवास, रात्रिभोजन त्याग, सामायिक इत्यादि - वह गृहीत मिथ्याचारित्र कहा जाता है, उसे तो गृहीत मिथ्याचारित्र कहा जाता है। अब (कहते हैं), फिर जो क्रिया केवल शरीर को दुःख पहुँचानेवाली है... उसकी क्रिया का क्या कहना? ऐसा। यह पंचाग्नि और (यह सब)। यह तो ऐसी मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान सहित के जैन के नाम धरानेवाले व्रत, तप, उपवास आदि करे तो भी कुचारित्र है, मिथ्याचारित्र है, गृहीतमिथ्याचारित्र (है), ऐसा।

क्रियाएँ शरीर को दुःख पहुँचानेवाली... आगे आयेगा.. मान, प्रतिष्ठा, यश, कामना और पैसे के लाभादि इच्छा से की जाती है; त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करनेवाली है, उनमें तो

आत्महित की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। इस कारण से आचार्यों ने ऐसी क्रियाओं को मिथ्याचारित्र कहा है। कुछ समझ में आया? और पंचाग्नि तपने में अगणित त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होती है। जटाजुत... जटा रखते हैं न? जूँ इत्यादि उत्पन्न होती हैं। शरीर को राख लगाते हैं, तिलक मुद्रा आदि करने से मान-प्रतिष्ठा आदि की भावना स्पष्ट दृष्टि(गोचर) होती है। अनेक प्रकार के आसन लगाने से शरीर को खेदमात्र ही होता है तो आत्मलाभ प्रतीत नहीं होता। (ये) सभी (कार्य) आत्मज्ञ पुरुषों ने मिथ्याचारित्र कहा है। जैन नाम धरानेवाले भी मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान सहित जो व्रत धारण करते हैं, वह भी कुचारित्र है और अन्यमती की ऐसी क्रियाएँ खेदखिन्न होकर करना, वह भी मिथ्याचारित्र है। स्व-पर का विवेक नहीं होता।

यह मार्ग तो अत्यन्त ज्ञानसम्पन्न विवेक है। इसमें दूसरे कोई क्रिया, राग की क्रिया-फ्रिया उसके स्वरूप में नहीं है। आहाहा! ऐसा ज्ञान और दर्शन (हुए बिना) आत्मा का भान नहीं होता; और जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान रखकर चारित्र के नाम से कोई व्रतादि धारण करता है तो वह सब मिथ्या गृहीत चारित्र है, गृहीत मिथ्याचारित्र है, भाई!

भावार्थ : (१) वस्तु अनेक धर्मात्मक है, उसमें से किसी भी एक ही धर्म को पूर्ण वस्तु कहने के कारण से दूषित (मिथ्या) तथा विषय-कषायादि की पुष्टि करनेवाले कुगुरुओं के रचे हुए... कुमतिवालों के रचे हुए शास्त्र। समझ में आया? सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ केवलज्ञानी, उनके द्वारा कथित और तदनुसार आचार्यों द्वारा रचे हुए (शास्त्रों) के अतिरिक्त कुमतियों द्वारा रचित.. आहाहा! **सर्व प्रकार के मिथ्या शास्त्रों को धर्मबुद्धि से...** है? ऐसा है न? ऐसे तो सब पढ़ें, चाहे जो पढ़े नहीं। यह शास्त्र है, इसमें से कुछ तत्त्व निकलेगा - ऐसी बुद्धि से **लिखना-लिखाना, पढ़ना-पढ़ाना, सुनना और सुनाना, उसे गृहीत मिथ्याज्ञान कहते हैं।** समझ में आया?

(२) जे शास्त्र जगत में सर्वथा नित्य... अर्थात् गुण ही माने और पर्याय न माने; एक ही माने, किन्तु अनेकपना न माने, अद्वैत माने, **और सर्व व्यापक ब्रह्ममात्र वस्तु है...** ऐसा माने। **अन्य कोई पदार्थ नहीं हैं - ऐसा वर्णन करता है, वह शास्त्र एकान्तवाद से दूषित होने के कारण कुशास्त्र है।** एक ही आत्मा है, दूसरा कुछ नहीं, सर्व व्यापक सभी आत्मा एक ही जाति है। एक जाति अर्थात् संख्यारूप से एक (है) - ऐसा माननेवाले, उनके द्वारा रचे गये शास्त्र, सब कुशास्त्र है। उनका अभ्यास भी कुशास्त्र है। समझ में आया? आहाहा!

(३) वस्तु को सर्वथा क्षणिक-अनित्य... बौद्ध मानते हैं न? यह सामने लिया,

उसके सामने। **अथवा (४) गुण-गुणी सर्वथा भित...** माने। गुणी भगवान (आत्मा) और ज्ञान अत्यन्त भिन्न। भिन्न रहा तो गुणी कहना किस प्रकार ? ऐसे सर्वथा गुणी भगवान और उसका ज्ञानगुण, वह संयोग से कितने ही मानते हैं, क्योंकि वह ज्ञान अधिक प्रगट होता है न ? अधिक प्रगट कहाँ से हुआ ? कहाँ था ? – ऐसा कहते हैं। अत: बाहर से आया... परन्तु अन्दर शक्तिरूप से था और एकाग्र होने पर अन्दर से आया, वह गुण-गुणी एक थे तो आया – ऐसा उन्हें ख्याल में नहीं आया। समझ में आया ? पर्याय में अधिक (ज्ञान) होता है। अधिक हुआ कहाँ से ? (तो कहें) बाहर से आया है। अर्थात् गुण-गुणी की अभेदता का स्वीकार नहीं है। भगवान गुणी आत्मा, उसकी शक्ति का सत्व पूर्ण गुण उसकी एकाग्रता से पर्याय में दशा आती है। ऐसा अभेद न मानकर एकान्त गुण-गुणी का भेद ही मानना, (वह मिथ्याज्ञान है।)

किसी गुण के संयोग से वस्तु है – ऐसा कथने करें... किसी गुण के संयोग से वस्तु, ऐसा। यह कहा न ? ज्ञान का संयोग, दर्शन का संयोग बाहर से (होता है)। **अथवा (५) जगत का कोई कर्ता-हर्ता...** माने। ऐसे शास्त्र सब कुशास्त्र हैं... **और नियंता है-ऐसा वर्णन करे...** समस्त वस्तुओं को नियन्त्रित रखनेवाला एक भगवान है। समझ में आया ? वस्तु ही व्यवस्थित / नियन्त्रित है, उसे कोई नियन्ता, कर्ता माने – ऐसे जो शास्त्र हों, वे सब कुशास्त्र हैं। उनका बहुत अभ्यास करना, पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब मिथ्याज्ञान है।

श्रोता : छापना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब उसमें अनुमोदन आवे न इस अपेक्षा से। उसे छापना (होवे तो) ? उसे छापने का आया, उसने किया न सब ! ऐसी पुस्तकें बहुत छपाई है। वह लौकिक बात है। वह एक व्यापार की (बात है)।

तथा.. देखो ! इसमें जरा बात की है न ? कुमति रचित श्रुत का अभ्यास। है न उसमें कपिलादि ? उसमें सब आते हैं। जिस शास्त्र में मात्र पर की दया से संसार का नाश होता है – ऐसा बताया हो, वह शास्त्र भी कुशास्त्र है। तब उसमें से तर्क करे कि उसमें दया को धर्म बताया है न ? यह दयाधर्म व्यवहारधर्म बताया है। समझ में आया ?

सर्वज्ञ के शास्त्र में पर की दया का शुभभाव... निश्चय अपना स्वभाव, अरागी की दशा-श्रद्धा प्रगटी है, तब उस शुभभाव को व्यवहार धर्म कहा जाता है। व्यवहार धर्म से संसार का नाश नहीं होता। समझ में आया ? परमार्थ धर्म से संसार का नाश होता है, क्योंकि संसार, वह विकार है; राग, उदयभाव है। यह स्वभाव चिदानन्द है, उसके आश्रय से ही संसार का अभाव होता है – ऐसा न बताकर, मात्र परद्रव्य की दया के भाव से संसार का अभाव होना

बतावे, वह कुशास्त्र है। आता है न? 'मेघकुमार' के अधिकार में आता है। श्वेताम्बर में 'ज्ञातासूत्र' है न? उसमें आता है। हाथी के जीव ने जीव की दया पालन की। हाथी था, हाथी। वर्णन सुना है न? एक 'मेघकुमार' का जीव था। वह पूर्वभव में हाथी था। भगवान के समय में राजकुमार (था)। वह हाथी के भव में वन में हाथी स्वयं रहता। अग्नि लगी, अग्नि। बड़ी आग लगी, इसलिए एक जगह सब जानवर एक जगह इकट्ठे होने लगे। चारों ओर अग्नि लगी। उसमें वे सब इकट्ठे होते-होते भीड़ हो गयी। एक खरगोश ऊपर आया। ऊपर धक्का-मुक्की होती थी, उसमें कहीं जगह नहीं मिले। उसमें इसका (हाथी का) जो पैर था, उस हाथी को खुजली हुई। बीचों बीच एक योजन का मंडप था। एक योजन का मण्डप समझते हो? मण्डप! ये सब वृक्ष-वृक्ष साफ करके यह मण्डप हाथियों ने बनाया था। उसमें सब इकट्ठे हुए। उसमें एक खरगोश आया। अब (उसे) कहीं जगह नहीं मिले। उधर से उधर धक्के खाये, चारों ओर से धक्का-मुक्की। इतने में हाथी ने खुजलाने के लिए पैर ऊँचा किया, वह जगह मिली तो (खरगोश) बैठ गया। उस हाथी ने पैर रखते हुए ऐसी जरा नजर की। न की होती तब तो सब (पूरा हो गया होता।) क्योंकि वे अधिक पशु थे न? इसलिए नीचे ऐसे देखने पर खरगोश दिखा। (हाथी ने) पैर ऐसा का ऐसा अद्धर रखा। और उसमें 'परानुकम्पे जीवाणु' ऐसा पाठ है। इस प्राणी-जीव की अनुकम्पना से संसार घटा दिया, परित किया, घटाया ऐसा है। भाई! सुना है न? सुना है। यह बात सत्य नहीं है। समझ में आया?

परजीव की दया के भाव से संसार का नाश होता है - (ऐसा कहे), वे शास्त्र सच्चे नहीं हैं - ऐसा कहते हैं। ऐसा कहने का इसमें आशय है। तब उसने दूसरा लिया। लो! उस शास्त्र में ऐसा कहा है... परन्तु भाई! दिगम्बर सत् शास्त्र हैं, उनमें जितनी परदया का भाव है, उससे उसे पुण्यबन्ध का कारण कहा है और परम्परा मोक्ष का कारण कहा है - उसका अर्थ कि उसे छोड़कर स्थिर होगा। वह राग स्वयं को बन्ध का ही कारण है। आहाहा! अबन्ध स्वभाव भगवान आत्मा, जिसमें भव और भव का भाव नहीं है। ऐसे आत्मस्वभाव के आश्रय से ही भव का अभाव होता हे, बाकी तीन काल में दूसरे के आश्रय से नहीं होता। समझ में आया?

भगवान आत्मा एक समय में ज्ञान और आनन्द का पूर प्रभु आत्मा है। उसके प्रवाह में तो भव के अभाव का ही प्रवाह होता है। उसमें भव है ही नहीं। भव का राग भी वस्तु में नहीं है। ऐसी वस्तु भगवान आत्मा का आश्रय करने पर ही भव का अभाव होता है। इसके अतिरिक्त यह राग, पुण्य और दया पालन की, इसलिए भव का नाश हो गया - यह शास्त्र के कथन सत्य नहीं है। समझ में आया?

दान। दान में यह अधिकार आता है। श्वेताम्बर में 'विपाक अधिकार' है, विपाक सूत्र। दस दु:ख विपाक, दस सुख विपाक। वे दश सुख विपाक ऐसे हैं कि मुनि तो सच्चे लिये हैं। लेनेवाले, समझे न? बाकी तो पात्र सहित लिये हैं, परन्तु मुनि सच्चे लिये हैं और देनेवाला है, वह मिथ्यादृष्टि है। महा धनाढ्य है। ऐसे सिंहासन पर बैठा है, उसमें मुनि पधारते हैं। नीचे उतर कर पैर छूता है, बहुत आदर करता है। आदर करके आहार-पानी देता है। इससे उसके संसार का नाश हुआ - ऐसा बताते हैं। यह बात सत्य नहीं है। कुछ समझ में आया? दशविपाक अधिकार है। सुख विपाक का पूरा विपाकसूत्र है। उसमें दशों ही बोल मिथ्यादृष्टि से मुनियों को आहार दिया (और अपना) संसार नष्ट किया - ऐसा पाठ है। वह तत्त्व की बात ही नहीं है। वे सत्य तत्त्व से विरुद्ध शास्त्र हैं। कुछ समझ में आया? भाई!

यह बात उसमें कही थी, फिर उसे वे ले गये, देखो! ऐसा उपदेश किया है। यह सबको कुशास्त्र कहते हैं। अपने में भी ऐसा आता है भाई! ऐसा नहीं, भाई! ऐसा नहीं आता, बापा! तुझे पता नहीं भाई! सर्व-सन्तों के कहे हुए, महामुनियों के कहे हुए - आता है न? 'पंचास्तिकाय' में पहली गाथा में ऐसा आता है। महाश्रमण कथित या फिर उनके अनुसार महासन्तों से कथित, दिगम्बर सन्त - कुन्दकुन्दाचार्य, पूज्यपादस्वामी, समन्तभद्राचार्य, नेमिचन्द्राचार्य, अमृतचन्द्राचार्य इत्यादि महासन्तों द्वारा कहे गये। उनमें जगह-जगह स्वद्रव्य के आश्रय बिना पर से मोक्ष का धर्म का लाभ होता है - ऐसा हो ही नहीं सकता। समझ में आया? और उस शास्त्र को जो कहना है, वह समझता नहीं तो उसे स्वयं को शास्त्र का अर्थ करनेवाले को कुशास्त्र हो पड़ा है। समझ में आया? आहाहा! विवाद तो विवाद..!

कहते हैं कि ऐसा जो पर को दान (दे), उसमें शुभभाव होता है। शुभभाव होता है, क्योंकि पराश्रित व्यवहार, स्वआश्रित निश्चय। अत: जितना पराश्रितभाव होता है - साक्षात् तीर्थंकर हो, उन्हें आहार देने का भाव भी शुभ है, परन्तु वह जीव समकिती और ऐसा ही होता है, इस कारण मुक्ति का पात्र होता है। समझ में आया? मुनि या तीर्थंकर छद्मस्थ हो और कोई दूसरा उन्हें आहार देने का भाव करे, इतने भावमात्र से भव का अभाव (होवे तो) यह राग से भव का अभाव (हुआ) - ऐसा हो ही नहीं सकता। समझ में आया? इस राग के कारण से, दान से भव का अभाव माने तो वह शास्त्र ही सत्य नहीं है। सत्य शास्त्र तो उसे कहते हैं कि जो वस्तु स्वभाव, एक समय के विकल्प बिना की चीज़, ऐसी चीज़ की दृष्टि-ज्ञान और उसका आश्रय करने से ही भव का अभाव होता है - यह कथन अनादि-अनन्त सत्य सर्वज्ञ

के घर का है। यह कथन-शास्त्र है, इससे विरुद्ध कथन सम्यक् शास्त्रों में होता ही नहीं। सम्यक् शास्त्र में विरुद्ध होता ही नहीं। समझ में आया?

मिथ्याशास्त्र में तो ऐसी खुल्ली बातें होती है कि इस प्रकार देखो, ऐसा दिया और परित संसार किया। समझ में आया? परन्तु किसे यह विचार मन्थन करना है? सत्य क्या है? जहाँ पड़े वहाँ पड़े और उसमें (रह गये), हो गया। समझ में आया? ऐसा दान (दे), पर को अभयदान दे तो भी क्या? शुभभाव है। अब, यह कहते हैं कि देखो! 'पद्मनन्दि पंचविंशति' में अभयदान में भव का अभाव कहा है। ऐसे लेख आते हैं, लो! परन्तु वह तो दूसरी बात है। समझ में आया? स्व-आश्रित निश्चय अर्थात् सत्-पराश्रित व्यवहार अर्थात् उपचार। यह सिद्धान्त समझे बिना, दूसरे प्रकार से कथन किया हो, और उसे माने तो वह सब कुशास्त्र का ज्ञान है। समझ में आया?

महाव्रतादि का शुभभाव... लो! महाव्रत है, वह भी शुभभाव-पुण्य है। अणुव्रत और महाव्रत, वह सब आस्रव है। तत्त्वार्थसूत्र-मोक्षशास्त्र में उमास्वामी ने कहा है। तत्त्वार्थसार में अमृतचन्द्राचार्य ने (भी) ऐसा ही कहा है कि अब, हम पुण्य की बात करेंगे जो निमित्तरूप से, सहायरूप से व्रत होते हैं। पाप की नहीं, परन्तु यह पुण्यभाव-पुण्यास्रव है। अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह-पाँच भाव महाव्रत हैं... समझ में आया? वह शुभभाव है।

जो शास्त्र का स्वाध्याय पर तरफ के लक्ष्यवाला भी शुभभाव है, उससे निर्जरा और संवर कभी सत्शास्त्र में कहा ही नहीं गया होता है। समझ में आया? उसका तो आधार देते हैं। धवल में कहा है। अरे..! भगवान! बापू! ऐसा नहीं, भाई! जयधवल का तो दृष्टान्त देते हैं। शुभ-उपयोग और शुद्ध उपयोग दो से निर्जरा है। इसके अतिरिक्त कोई आधार नहीं है। उसका अर्थ यह है, शुद्ध उपयोग से पुण्य-पाप दोनों की निर्जरा होती है, शुभ से जरा अशुभ की निर्जरा होती है - ऐसा गिनकर निमित्त कहा है। वस्तु शुद्धता के आश्रय बिना पुण्य-पाप दोनों की निर्जरा नहीं होती और उसका नाम ही वास्तविक निर्जरा है।

निर्जरा की व्याख्या - शक्ति की शुद्धता की वृद्धि। शुद्धता की वृद्धि क्या शुभभाव के आश्रय से होगी? समझ में आया? इसलिए सम्यक्शास्त्रों में धवल आदि, जयधवल आदि ने तो यथार्थरूप से जो कहा है, वह कहा है। उसका अर्थ करनेवाले को भूल होती है। समझ में आया? और यह तो जिनके शास्त्रों में स्पष्ट बात लिखी हो, पाँच महाव्रत निर्जरा के स्थान हैं। ठाणांग में ऐसा कथन है। समझ में आया? पाँच महाव्रत, स्वयं अहिंसा आदि निर्जरा के स्थान है - यह बात ही झूठ है। पराश्रय से जितना विकल्प उत्पन्न हो, वह निर्जरा और संवर

बिलकुल होता ही नहीं। वहाँ द्रव्यसंग्रह में कहा हो कि व्यवहार से अशुभ की निवृत्ति। यह तो व्यवहार का कथन है। अशुभ से निवृत्ति हुई है, उसे व्यवहार संवर कहा है, परन्तु दृष्टि सम्यक् है, शुभाशुभ दोनों ही विकल्प, वह आस्रव है। उनमें से जितना दृष्टिपूर्वक अशुभ से निवृत्त हुआ, उसे व्यवहार संवर कहा है। दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता। समझ में आया कुछ?

ऐसा जिनके शास्त्रों में स्पष्ट है कि यह महाव्रतादि पुण्यास्रव उनसे **तथा मुनि को आहार देने के शुभभाव से...** पहले अभयदान आया था और यह पात्रदान। (इससे) संसार कम या न्यून होता है (-ऐसा जिस शास्त्र में कहा हो, वह कुशास्त्र है)। समझ में आया? आत्मा.. यहाँ तो क्या कहते हैं? कि कुमति आदि द्वारा रचित श्रुत का अभ्यास अथवा कपिलादि रचित श्रुत का अभ्यास, उसे मिथ्याज्ञान कहा जाता है। इसलिए जो शास्त्र आत्मा के—चैतन्य के शुद्धभाव के अन्तर अवलम्बन के अतिरिक्त, जितने पुण्य के विकल्प उठते हैं, उनके द्वारा संसार का नाश होना बतलाते हैं, वे सब शास्त्र कुमति के द्वारा रचित कुशास्त्र हैं। समझ में आया?

यह छहढाला चलती है। कपिलादि रचित श्रुत का अभ्यास... तेरहवाँ है, तेरहवाँ। उसमें दो अर्थ है - कुमति आदि रचित श्रुत को अभ्यास। किसी जगह कपिलादि लिखा है, किसी जगह कुमति ने लिखा है। कुमति से लिखे हुए अर्थात् जिसमें सम्यग्ज्ञान चैतन्यमूर्ति भगवान, उसके आश्रय से दृष्टि, उसके आश्रय से ज्ञान और उसके आश्रय से चारित्र (होता है।) इसके अतिरिक्त पराश्रित ज्ञान, पराश्रय से राग, व्रतादि और पराश्रय की श्रद्धा इनसे जन्म-मरण का अन्त आवे - ऐसी बात कही होवे तो वह सुशास्त्र नहीं है। समझ में आया कुछ? आहाहा! बहुत बात हुई।

उपदेश देने के शुभभाव से परमार्थ धर्म होता है - इत्यादि अन्य धर्मियों के ग्रन्थों में जो विपरीत कथन है... वह कौन कहता है? वर्तमान में वह ऐसा पन्थ है। उपदेश करेंगे तो अपने को धर्म होगा। उपदेश करना, वह धर्म। उपदेश-वाणी तो जड़ है। समझ में आया? वह तेरापन्थ में ऐसा है। स्थानवासी का एक तेरापन्थ भाग है न? तुलसी! उन लोगों का ऐसा अभिप्राय है कि उपदेश से निर्जरा होती है और धर्म होता है। इसी तरह, दूसरा कोई जीव उसे मारता हो तो बचाना-ऐसा वे नहीं कहते, परन्तु उसे उपदेश देना। भाई! किसी जीव को मारना ठीक नहीं है - इत्यादि। इस उपदेश से उपदेश देनेवालों का धर्म होता है। झूठ बात (है)। उपदेश, वह वाणी की क्रिया है, उससे आत्मा को धर्म बिलकुल नहीं होता। उपदेश देने के काल में जो विकल्प उठता है, वह भी पुण्यबन्ध है, उससे भी स्व को-आत्मा को धर्म नहीं

होता। आहाहा! समझ में आया? परन्तु जो कोई ऐसा मानता है या शास्त्र में, शास्त्र के बहाने मनवाता है कि उपदेश से दूसरे जीवों को बहुत लाभ होता है, आत्मा को धर्म का लाभ होता है – यह बिलकुल झूठ बात है। समझ में आया?

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : किसे हो? वह तो उसकी स्वयं की पर्याय के कारण होता है। यह भगवान का मार्ग अलग प्रकार का है। यह तो सर्वज्ञ परमात्मा का पेट है। सूक्ष्म बात है। समझ में आया?

वाणी निकलती है, वह तो स्वतन्त्र जड़ है। आत्मा उसका कर्ता है? और वाणी निकली, इसलिए सामनेवाले को ज्ञान हुआ – ऐसा है? वह तो आत्मा ज्ञानमूर्ति (है)। उसे उस समय के ज्ञानपर्याय होती है, तब वाणी को निमित्त कहा जाता है। वाणी से ज्ञान होता हो, तब तो सबको समान होना चाहिए। समझ में आया? सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर तीर्थंकरदेव की दिव्यध्वनि सुननेवाले बहुत होते हैं – सबको समान ज्ञान होता है? क्यों? वाणी तो एक प्रकार की निकलती है। गणधर को चौदह पूर्व का द्वादश अंग का ज्ञान होता है। दूसरे को किंचित् हो जाये लो! समझ में आया? यह क्या कहलाता है?

यह प्रद्युम्न, रुक्मणी का पुत्र, वह जब खो गया, नारद भगवान से पूछने गये थे। सीमन्धर भगवान त्रिलोकनाथ महाविदेहक्षेत्र में अभी विराजमान हैं, अभी तीर्थंकर परमेवर विराजमान हैं। कौन? सीमन्धर प्रभु अभी विराजते हैं ये। चौबीस तीर्थंकर तो मोक्ष पधारे, उन्हें देह नहीं है, वे तो सिद्ध है, परन्तु महाविदेहक्षेत्र में अभी सीमन्धर भगवान आदि बीस तीर्थंकर शरीरपने विद्यमान है। वहाँ इन्द्र वाणी सुनते जाते हैं। यह सामायिक में आज्ञा नहीं लेते? किसे पता है, कहाँ लेते होंगे? भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं। वह वाणी निकलती है, उसे इन्द्र सुनने जाते हैं। समझ में आया? तो भी सभी सुननेवालों को एक सरीखा ज्ञान नहीं होता। क्यों? कि वाणी से होता होवे तो सबको समान होना चाहिए। उसकी स्वयं की जितनी योग्यता, जितनी लायकात है, उतना ज्ञान उसे होता है, तब उतने प्रमाण में वाणी को निमित्त कहा जाता है। हैं? आहाहा!

वीतराग परमेश्वर की ध्वनि निकलती है। ॐ ध्वनि! बारह प्रकार की सभा है। नाग, बाघ, करोड़ देव सभा में विराजते हैं। भगवान महावीर प्रभु थे, तब भी सभा में करोड़ों देव-देवियाँ आते थे, सुनते थे। उन सबको समान (ज्ञान) नहीं होता था। तब उस वाणी के कारण

से ज्ञान नहीं, उसकी अपनी योग्यता के कारण से (ज्ञान होता है)। वाणी तो एक धारा से निकलती है, एक साथ पूर्ण! जिसे बारह अंग का ज्ञान हुआ, उसे वह बारह अंग के ज्ञान में निमित्त कहलायी। वह क्या कहलाता है, यह कहा वह ? प्रद्युम्न; नारद पूछने गये तो नारद को ऐसा लगा कि भगवान मुझे ऐसा कहते हैं। भगवान उसे ऐसा कहते हैं कि रुक्मणी का पुत्र उसके घर सोलह वर्ष में आयेगा... भगवान की वाणी में कहा। (वह) अलग नहीं आता, भगवान की वाणी तो एक साथ ॐ ध्वनि इच्छा के बिना खिरती है; वे तो वीतराग हैं। केवली हैं, उन्हें राग नहीं होता। नारद को ऐसा लगा कि रुक्मणी का पुत्र सोलह वर्ष में आयेगा, ऐसा भगवान कहते हैं। उसे उस प्रकार का उघाड़ में (वाणी) उतनी निमित्त हुई। समझ में आया ?

वाणी, निमित्त कब कहलाती है ? कि जिसे जितनी योग्यता प्रकट हुई, उतने ज्ञान को वह निमित्त कहलाती है। वह तो पूरा प्रकट; गणधर को बारह अंग का ज्ञान प्रकट हुआ तो बारह अंग में निमित्त कहलायी। उसे इतना कहा तो भगवान की वाणी उतने में निमित्त कहलायी। इसमें वस्तु स्वतन्त्र सिद्ध होती है या उसके कारण होता है – यह सिद्ध होता है ? समझ में आया ? इसलिए कोई उपदेश की वाणी से आत्मा को लाभ होता है – ऐसा माने अथवा शास्त्र में इस बहाने मनवावे, वह कुशास्त्र है। समझ में आया ? स्वयं को तो जितना आत्मा श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति में, दृष्टि में लिया है, उसकी जितनी एकाग्रता वर्तती है, वह उसे लाभ का कारण है। विकल्प उत्पन्न हुआ, वह भी आत्मा के धर्म और एकाग्रता का कारण नहीं है। आहाहा! समझ में आया ?

यह (संवत्) १९८२ के साल में नहीं कहा था ? 'तिरे वह तारे' – ऐसा सूत्र रखा था। तब वह आया (और) कहा, ऐसा नहीं; यह लिखाओ कि 'तारे, वह तिरे!' मैंने कहा – किसे ढूँढ़ने जाना ? १९८२ के साल में वढ़वाण में (एक मुमुक्षु) है; उसने व्याख्यान पर लिखा था। १९८२ के साल, चालीस वर्ष हुए। वढ़वाण में स्थानकवासी के 'सुन्दर वोरा' के उपाश्रय में व्याख्यान चलता था। 'तारे, वह तिरे' – (ऐसा) वह कहने लगा। 'तिरे, वह तारे' – लिखा था। एक वकील था, वढ़वाण में हलवाई था। वह वकील आया – महाराज! ऐसा नहीं; 'तारे, वह तिरे।' (हमने) कहा – कितनों को ढूँढ़ने जाना ? दूसरा नहीं तिरे तो आत्मा का स्वयं का तरना चला जाता है ? वाणी नहीं हो... समझ में आया ? वकील था, एक वकील था। कुछ तर्क करना चाहिए न ? तर्क किया। भाई! यहाँ ऐसा तर्क नहीं चलता, कहा।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो बेचारा साधारण रीति से बात करता था। ऐसे तो हमारे प्रति

प्रेम था न ? सबको प्रेम था न ! किसी को अश्रद्धा नहीं, परन्तु ऐसा कि ऐसा मानो कोई वकील है न (तो) तर्क करना, ऐसा। दूसरा एक भी प्राणी नहीं तरे, आत्मार्थी अपने ज्ञान-ध्यान में रहकर केवल (ज्ञान) प्राप्त करके मोक्ष चला जाये; कहने का विकल्प भी न हो और वाणी भी न हो - इससे कहीं लाभ रुक जाये - ऐसा नहीं है।

यह दूसरे की अपेक्षा से बात की है, हों ! तेरापन्थी ऐसा मानते हैं। उपदेश देना धर्म है - ऐसा वे मानते हैं। निर्जरा है - ऐसा मानते हैं। इस अपेक्षा से लिखा है। तब (कहे), हमारे शास्त्रों में से... ऐसा नहीं भाई ! ऐसा कहना, उसके लिए कहा है। व्याख्यान में बहुत बार आया हो न ! उसमें से फिर लिखा गया है। **जो विपरीत कथन हैं, वे एकान्त और अप्रशस्त होने से कुशास्त्र हैं।** वे सच्चे शास्त्र नहीं कहलाते। **क्योंकि उनमें प्रयोजनभूत सात तत्त्वों की यथार्थता नहीं है। जहाँ एक तत्त्व की भूल हो, वहाँ सातों तत्त्वों की भूल होती ही है - ऐसा समझाना चाहिए।** एक बार यह बात बहुत अच्छी की। एक तत्त्व की संवर-निर्जरा की भूल होवे, वहाँ आस्रव कितना होता है ? अधिक संवर होवे तो आस्रव थोड़ा होता है - इसका भी जिसे पता नहीं हो, थोड़े संवर से केवल (ज्ञान) पाते हैं (ऐसा माने तो) केवल (ज्ञान) का भी उसे भान नहीं है। उसे सातों तत्त्वों का ख्याल नहीं होता। एक तत्त्व की भूल से सातों ही तत्त्वों का ख्याल नहीं - ऐसी जरा सूक्ष्म बात है, भाई ! समझ में आया कुछ ? ऐसे तत्त्वों के कहनेवाले कुशास्त्रों का अभ्यास करना, कराना और करते हुए का अनुमोदन करना; पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना, यह सब कुशास्त्र, कुज्ञान कहलाता है। कुशास्त्र कैसे हैं ? **सो हैं कुबोध बहु देन त्रास।** बहु देन त्रास। बहुत त्रास देने का इस मिथ्याज्ञान का फल है। इसलिए धर्मार्थी जीव को कुशास्त्रों का ज्ञान छोड़कर सुशास्त्रों का अभ्यास करना। यह बात यहाँ कहना चाहते हैं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

(३५)

श्री समयसार कलश टीका, कलश २५७, प्रवचन २७५
दिनांक २०-१२-१९६५

स्याद्वाद अधिकार, कलश टीका का ११ वाँ कलश

अर्थालम्बनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
र्ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति।
नास्तितत्त्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुंजीभवन्।।११-२५७।।

भावार्थ अर्थात् इसमें क्या कहना है, वह थोड़ा उपोद्घात मैं कहूँगा। भावार्थ (कहते हैं) परन्तु हो जाने के बाद भावार्थ होता है, किन्तु यहाँ तो पहले से भावार्थ करते हैं, क्योंकि इसमें जरा सूक्ष्म बात कहनी है न, इसलिए इसका उपोद्घात करते हैं **भावार्थ इस प्रकार है कि कोई मिथ्यादृष्टि...** एक पक्ष से देखनेवाला **एकान्तवादी ऐसा है जो वस्तु को द्रव्यमात्र मानता है, पर्यायरूप नहीं मानता है,...** वस्तु को वस्तुरूप से मानता है, परन्तु पर्याय जो पर के काल में होती है, अर्थात् वह पर्याय पर से होती है, ऐसा मानता है। समझ में आया?

इसलिए ज्ञेय की अनेक अवस्थाओं को जानता है ज्ञान। देखो! यह ज्ञान वस्तु, ज्ञेय शरीर आदि अवस्था को, अनेक अवस्थाओं को जानता है ज्ञान। **उनको जानता हुआ उन आकृतिरूप परिणमता है ज्ञान।** उन्हें जानते हुए उनकी आकृति प्रमाण परिणमता है ज्ञान, **ये समस्त हैं ज्ञान की पर्याय,...** वह तो सब ज्ञान की पर्याय है। जैसे देह की उत्पत्ति के काल में ज्ञान की उत्पत्ति भी अपने में है, परन्तु देह की उत्पत्ति के काल में हुई; इसलिए देह की उत्पत्ति से मेरी पर्याय हुई - ऐसा मानता है। **उन पर्यायों को ज्ञान का अस्तित्व मानता है...** वह मात्र ज्ञान में परद्रव्य का अवलम्बन देखता है, उतनी पर्याय को ही आत्मा का अस्तित्व मानता है। समझ में आया?

मिथ्यादृष्टि जीव। इसमें ऐसा दृष्टान्त दिया है कि देह की उत्पत्ति से आत्मा की उत्पत्ति - ऐसा मानता है। उसमें ऐसा था (कि) देह के नाश से मेरा नाश होता है, ऐसा। पर्याय पर को अवलम्बती है न? इस देह की उत्पत्ति से जीव की उत्पत्ति (मानता है)। अस्ति-नास्ति दोनों

बात आ गयी। समझ में आया ? ज्ञान की उत्पत्ति की पर्याय, देह से उत्पन्न हुई पर्याय, इसलिए यहाँ उत्पन्न हुआ है – ऐसा नहीं है। समझ में आया ? देह की अवस्था उत्पन्न होती है, इसलिए अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं ही देह में उत्पन्न हुआ, देह के कारण हुआ। मेरी अवस्था उस क्षण में देह की अवस्था को जाननेवाली है, उससे मैं उत्पन्न हुआ, ऐसा न मानकर, देह की उत्पत्ति से मेरा उत्पन्न होना (हुआ), ऐसा मानता है। समझ में आया ? **उन पर्यायों को ज्ञान का अस्तित्व मानता है मिथ्यादृष्टि जीव।** अथवा वह एक समय की जो ज्ञानपर्याय में अनेक अवस्थायें देह की ज्ञात हो, उतनी ही पर्याय को स्वयं मानता है। समझ में आया ? **पर्यायों को ज्ञान का अस्तित्व मानता है...** उस पर्याय को ही पूरा ज्ञान का अस्तित्व मानता है।

उसके प्रति समाधान इस प्रकार है कि ज्ञेय की आकृतिरूप परिणमती हुई जितनी ज्ञान की पर्याय हैं, उनसे ज्ञान का अस्तित्व नहीं है... उतना ज्ञान का अस्तित्व नहीं है। ज्ञान की अवस्था में, पर्याय में जो ज्ञेयों की अवस्था उत्पन्न होती है, उस प्रकार से अपने ज्ञान की अवस्था उत्पन्न होती है, उतना कहीं आत्मा नहीं है। समझ में आया ? **जितनी ज्ञान की पर्याय हैं, उनसे ज्ञान का अस्तित्व नहीं है ऐसा कहते हैं।**

'पशुः नश्यति' एकान्तवादी वस्तुस्वरूप को साधने से भ्रष्ट है। मैं ज्ञानस्वरूप त्रिकाल हूँ – ऐसा वह नहीं मानता। द्रव्य की पर्याय से उत्पन्न हुआ, उतना ही आत्मा, उतना आत्मा। **कैसा है एकान्तवादी ?** देखो ! **समस्त द्रव्यरूप ज्ञेय के अवसर ज्ञान की सत्ता ऐसा निश्चयरूप है अभिप्राय जिसका...** उस ज्ञेय के अवसर में जो पर्याय उत्पन्न हुई, उतना ही मैं हूँ। जानने योग्य के काल में ज्ञान की जो पर्याय हुई **ऐसा निश्चयरूप है अभिप्राय जिसका...** पर के कारण ही मेरे ज्ञान की पर्याय हुई। समझ में आया ? यह पर नास्तित्व का अधिकार है। अज्ञानी पर से अस्तित्व मानता है – ऐसा पहले लेना है न ?

यहाँ तो योग है परकाल से नास्ति का, परन्तु अज्ञानी पर की अवस्थारूपी काल से ही अपना अस्तित्व मानता है। समझ में आया ? यह देहादि की अवस्था ज्ञान में ज्ञात हो तो इस देह की अवस्था के काल से मैं हूँ, इसलिए उनके जानने की पर्याय, उससे मैं हूँ, (ऐसा मानता है।) मेरे स्वकाल की मेरी ज्ञान की पर्याय मुझसे हुई है, उसे बाह्य लक्ष्य है, इसलिए वह ऐसा वह नहीं मानता। समझ में आया ? कल उसमें विनाश का था। देह जैसे ढीला (शिथिल) पड़ता जाये, वैसे मानों मेरी अवस्था स्वयं नाश होती है। उसमें देह की उत्पत्ति जैसे हो, वैसे मेरे ज्ञान की पर्याय उसके कारण उत्पन्न हुई, इस प्रकार अज्ञानी अपनी पर्याय की स्वतन्त्रता को नहीं मानता। समझ में आया ?

'ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा बहिः भ्राम्यन्' 'पशुः' एकान्तवादी वस्तुस्वरूप को साधने से भ्रष्ट है। अर्थात् कि मैं मेरी ज्ञानपर्याय से (जानता हूँ), यह मेरा आत्मगुण है, उस गुण के परिणमन से मेरी ज्ञानपर्याय हुई है – ऐसा नहीं मानता। ज्ञानगुण त्रिकाल है, उसकी यह वर्तमान पर्याय स्वकाल है। उस स्वकाल से मैं हूँ – ऐसा न मानकर, परकाल से मैं हूँ – ऐसा अज्ञानी मानता है। परपदार्थ की अवस्था के कारण ही मेरी अवस्था है। समझ में आया? क्या (कहा)?

इस शब्द के अवलम्बन से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, शब्द है, शब्द की पर्याय स्वकाल है तो ज्ञान की पर्याय होती हे, समझ में आया? नहीं तो ना करे। यह आत्मा वस्तु है। यहाँ ज्ञानप्रधान से बात लेनी है। ज्ञानस्वभाव त्रिकाल, उसकी वर्तमान अवस्था में परज्ञेय की अवस्था का जो उत्पन्न होना, उसके अवलम्बन में ज्ञान की पर्याय भी वैसी ही उत्पन्न होती है। परकाल का जैसा स्वभाव है, वैसा ज्ञानाकार यहाँ ज्ञेयाकार जाने। उस उत्पत्ति के कारण से मेरा उत्पन्न हुआ, ऐसा माननेवाला; मेरा गुण त्रिकाल है; इसलिए गुण-अवस्था उत्पन्न हुई – ऐसा नहीं मानता। उसका लक्ष्य परद्रव्य पर है; ज्ञानी का लक्ष्य स्वद्रव्य पर है। स्वद्रव्य के लक्ष्य से ज्ञान की वर्तमान अवस्था उस प्रकार की उत्पन्न होती है। अज्ञानी को द्रव्य पर लक्ष्य नहीं है; इसलिए पर के लक्ष्य से अवस्था उत्पन्न हो, ऐसा ही ज्ञान उत्पन्न हुआ। शरीर उत्पन्न हुआ तो मैं उत्पन्न हुआ, शरीर उत्पन्न हुआ तो मैं नया आत्मा हुआ। समझ में आया? परन्तु तेरा ज्ञान तो त्रिकाल है और ज्ञान की अवस्था शरीर के कारण उत्पन्न हुई है – ऐसा है नहीं। समझ में आया?

'पशुः नश्यति' एकान्तवादी वस्तुस्वरूप को साधने से भ्रष्ट है। क्यों?-कि **ज्ञेय आलम्बन समस्त द्रव्यरूप ज्ञेय के अवसर...** (अर्थात्) सामने (चीज़ की अवस्था) **ज्ञान की सत्ता ऐसा निश्चयरूप है अभिप्राय जिसका...** उसकी अवस्था टिकती है तो मैं टिक रहा हूँ। समझ में आया इसमें? देह-मन-वाणी-शरीर यह सब अवस्था जो सामने द्रव्य की अवस्था ऐसे टिक रही है, उसके कारण मैं टिक रहा हूँ। उसके अवलम्बन में वह निमित्त है तो यह उत्पन्न का टिकना (होता है) तो उसके कारण मैं टिक रहा हूँ, वह यदि हट जाये तो मैं भी नाश हो जाऊँ। परन्तु मैं एक ज्ञायक त्रिकाल हूँ, उसके कारण से मेरी अवस्था हुई है, ऐसा अज्ञानी अन्तर में स्वद्रव्य के लक्ष्य में नहीं आता। समझ में आया? इसलिए कहते हैं, देखो!

'ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा बहिः भ्राम्यन्' समस्त द्रव्यरूप ज्ञेय के अवसर ज्ञान की सत्ता... उस जानने की अवस्था के काल में इसकी सत्ता। उस परद्रव्य की अवस्था के काल में इसकी सत्ता, ऐसा मानता हुआ.. समझ में आया? **स्वरूप से बाहर उत्पन्न हुआ है भ्रम जिसको..** यह ज्ञानपर्याय, श्रद्धापर्याय इत्यादि सब इस पर के अवलम्बन से, पर के उत्पन्न

काल में यह मेरा (ज्ञान) उत्पन्न होता है, (ऐसा मानता है) इसलिए उसका लक्ष्य पर के ऊपर चिपकता है, बाह्य (में) भ्रमता है। उस अस्तित्व से मेरा अस्तित्व है। बाहर के पर का स्वकाल उसका जो है, उसके अवसर के काल में ही मेरा स्वकाल है। वह अवसर काल जाये तो मेरा स्वकाल उत्पन्न नहीं होता। समझ में आया इसमें ?

ज्ञेय के अवसर ज्ञान की सत्ता ऐसा निश्चयरूप है अभिप्राय जिसका, ऐसे मन से स्वरूप से बाहर उत्पन्न हुआ है भ्रम जिसको ऐसा है। अपना स्वरूप अखण्ड ज्ञानस्वरूप है, उसके अन्तर्लक्ष्य से यह पर्याय (होती है, ऐसा) अन्तर्लक्ष्य तो है नहीं (तो) बाहर लक्ष्य से पर्याय उत्पन्न होने पर, उस पर्याय का अवलम्बन पर देखता है; इसलिए बाहर भ्रमता है। यह होगा तो मैं रहूँगा, यह होगा तो मैं रहूँगा, यह होगा तो मैं रहूँगा। इसलिए उसकी बहिर्बुद्धि बाहर में एकाकार हो गयी है। समझ में आया ? मैं त्रिकाल हूँ तो रहूँगा, मैं त्रिकाल ज्ञायक हूँ तो अवस्था में रहेगा, ऐसा नहीं रहा। समझ में आया ? अच्छा समय होता है न ? अच्छा। 'समय बदलता है, वहाँ सब बदल जाता है' नहीं कहते लोग ? ऐसा एक बार पढ़ा था। पालियाद में (संवत्) १९७५ के चातुर्मास में। दरवाजे पर लिखा था। १९७५ की बात है, ४७ वर्ष हुए। समय बदलता है। मैंने कहा, यह क्या लिखते हैं यह ? ऐसा आता है न, कुछ गायन भी आता है। होगा कुछ, परन्तु एक व्यक्ति ने लिखा था। दरवाजे में घुसने पर यहाँ सामने लिखा था। 'समय बदलता है, तब सब बदल जाता है' वह मूढ़ है ऐसा (यहाँ) कहते हैं।

श्रोता : बदलता तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या बदलता है ? अपनी अवस्था अपने कारण से बदले, उसमें पर के कारण क्या है ? मलूकचन्दभाई ! समय बदलता है, तब सब बदल जाता है। यह सेठ हो गया, पैसावाला हो गया, सब हुआ, ऐसा कहते हैं, लो !

श्रोता : दिखता तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या दिखता है ? धूल भी नहीं दिखता, वह तो उसमें वह है। उसकी अवस्था के कारण इसकी अवस्था कहाँ उत्पन्न हुई है ? और समय बदलता है, तब ऐसा कहे, भाई ! ऐसी मूर्खता। पैसा जाये, स्त्री जाये, पुत्र जाये। उनकी उपस्थिति में बुद्धि ठीक रहे। वे जाये तो मूढ़ हो जाये, मूढ़। कहते हैं कि तेरी अवस्था वह उनके कारण थी या तेरे कारण थी। समझ में आया ?

इसे बेचारे को है तो बुद्धिवाला व्यक्ति परन्तु अब भ्रमणा में पड़ गया... भाई है। उसे

बेचारे को ठीक था, अभी स्त्री मर गयी, पुत्र मर गया। अरे रे! हाय.. हाय..! अब पैसा है, दुकान चलती है, सब चलता है परन्तु कौन जाने अच्छी भ्रमणा आ गयी लगती है न कि उसमें से इतना गया और वह सब अवस्था बदली तो मैं बदल गया। मुझे पाँच पूछते, ऐसा कहते थे। गाँव में पूछे ऐसा व्यक्ति, चतुर व्यक्ति मस्तिष्कवाला। जरा-जरा ऐसे जहाँ बात हो वहाँ रोवे। परन्तु क्या है यह? अरे! मेरा सब बदल गया। क्या बदल गया इसमें? कि यह सब ऐसी जाहोजलाली थी, लड़के-स्त्रियाँ पकाती, लड़के माने नहीं और लड़कियाँ माने नहीं और था वह सब चला गया। हाय.. हाय..! क्या गया परन्तु तेरा? यहाँ आत्मा... जैचन्दभाई! ऐसा ही है, ऐसा है। देखा? अन्दर खटक लगी। यही कहते हैं कि मूढ़ जैसा मानता है, वैसा यह।

बाहर की पर्याय के स्वकाल के उसके काल में वह बदला, उसमें तेरी पर्याय में उसके कारण क्या फेरफार हुआ? समझ में आया? और वह रहे तो तेरी पर्याय रहे, वह न रहे तो पर्याय न रहे। उसकी उत्पत्ति की अनुकूलता वह, उसके स्वकाल की अनुकूलता, वह मेरे पर्याय की अनुकूलता। मूढ़ है, ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया? अच्छा था, तब पाँच में पूछते थे। बोले। यही कहा, देखो न!

ज्ञेय के अवसर ज्ञान की सत्ता ऐसा निश्चयरूप है अभिप्राय जिसका... यह मन से, स्वरूप से बाहर भ्रम रहा है। इसे भ्रमणा बाहर में (हुई)। यह अनुकूल रखूँ, यह अनुकूल रखूँ, अनुकूल रखूँ, यह अनुकूल रहे तो मेरी पर्याय अनुकूल रहे। फूलचन्दभाई! सब सामग्री-बामग्री की अवस्था ठीक हो तो मेरी बुद्धि भी ठीक रहे। ज्ञेय के अवसर... यहाँ उत्पत्ति की बात की है, हों! उसमें नास्ति की बात थी कि शरीर और सब सामग्री जाये तो मैं जाता हूँ। यह सब अनुकूल रहे तो मैं रहता हूँ, ऐसा। यह अस्ति से (बात ली है)। समझ में आया?

कल में ऐसा था कि यह सब अनुकूलता जाये तो मैं जाता हूँ, आज में ऐसा है कि सब अनुकूलता टिके, ऐसे टिके तो मैं टिकता हूँ, इसलिए वह टिके तो मैं टिकता हूँ, ऐसा। कल में ऐसा था कि वह सब जाये तो मैं जाऊँ। समझ में आया? कैसे होगा इसमें? चिमनभाई! सब ठीक से हो तो बुद्धि ठीक रहे या नहीं? लो! धूल में पर के कारण क्या है परन्तु? ज्ञान का वर्तमान लक्ष्य काल पर की-समय की अवस्था पर लक्ष्य गया है, इसलिए उसके अस्तित्व से यह टिकना (होता है, ऐसा माना है) इसलिए इसे बराबर टिका रखूँ तो मैं टिका रहूँ; परन्तु मैं मेरे त्रिकाल ज्ञायक से टिक रहा हूँ, मेरी अवस्था का टिकने का कारण तो द्रव्य है, वह कहीं टिकने का कारण नहीं है, ऐसा अज्ञानी नहीं मानता।

'शरीर से सुखी तो सुखी सर्व बातें' क्यों, जैचन्दभाई! यहाँ यही बात कहते हैं कि मूढ़

है। परन्तू तू कहाँ गया खोकर ? ऐसा यहाँ तो कहते हैं। बाहर भ्रमता है ? देखो न ! क्या कहा ? **'बहिः भ्राम्यन्'** बाह्य की अवस्था की अनुकूलता से तेरा टिकना है ? क्या हो गया है तुझे भ्रम यह ? तेरा तत्त्व निराला ज्ञायक चैतन्य है, उसके टिकते तत्त्व से अवस्था खड़ी होती है, उसके कारण खड़ी नहीं हुई कि जिससे तू नया उत्पन्न हुआ। समझ में आया ? लक्ष्य पर के ऊपर है न, पर के काल में ही मेरी अवस्था की उत्पत्ति है, ऐसा माननेवाला **भ्रम जिसको ऐसा है। और कैसा है।**

'अर्थालम्बनकाले ज्ञानस्य सत्त्वं कलयन् एव' जीवादि समस्त ज्ञेय वस्तु को जानते समय ही... लो ! दूसरी चीज़ के जानने के काल में ही मेरी अस्ति है। **ज्ञानमात्र वस्तु की सत्ता है, ऐसा अनुभव करता है। ऐसा ही है।** अज्ञानी ऐसा कहता है। क्या कहा, समझ में आया ? बड़ा अन्तर है, ऐसा पूर्व-पश्चिम का। जो ज्ञेयमात्र वस्तु के आलम्बन काल में उसके जानने के काल में; आलम्बन की व्याख्या की जानने के समय, उस वस्तु के जानने के काल में ही मेरी सत्ता है। उसे जानने के काल में उसके कारण मेरी सत्ता है। मेरे कारण में ज्ञायक त्रिकाल भिन्न हूँ, मेरी सत्ता है, ऐसा अज्ञानी को प्रतीति में, श्रद्धा में नहीं आता। वह मिथ्याश्रद्धा से दुःखी होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

जीवादि समस्त ज्ञेय वस्तु को जानते समय ही ज्ञानमात्र वस्तु की सत्ता है, ऐसा अनुभव करता है। ऐसा ही है। नहीं कहते ? एक व्यक्ति को पैसा बहुत था। यह लकड़ी रखी थी न हाथ में कि पैसा-वैसा हुआ हो, फिर लकड़ी छोड़ देना, छूट गयी और जहाँ वापस पैसा गया, वहाँ हाथ में फिर से लकड़ी लेनी पड़ी। समझ में आया ? यह सब नजरों से देखे हुए दृष्टान्त, हों ! यह क्या हुआ ? अरे ! कस चला गया, कस। यह सब अनुकूलता थी न, तब तक उसके जीवन का आधार था, जीवन का आधार था। इस जीवन का आधार वे सब बाह्य साधन होंगे ? माने थे। थे कब धूल में ? ये पैसा और सब साधन हों न, ऐसे हूँफ में डोले, हूँफ में..। उसके अवलम्बन के काल में हूँफ में डोले। जहाँ वह फेरफार होता है तो यह.. यह.. (हो जाता है)।

श्रोता : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो उसमें आ गया। यह तो कहते हैं कि उसके कारण से मैं हूँफ आ गयी ऐसा। उसके कारण मेरी सत्ता है, मेरा अस्तित्व ही पर की अवस्था के कारण है। स्त्री, पुत्र, परिवार सेवा करनेवाले, चाकरी करनेवाले अनुकूल हों तो भाई ! मैं टिकता हूँ, नहीं तो मैं

कभी का मर जाता। यह सब अनुकूल हैं, लड़के, स्त्रियाँ... यह मुश्किल से टिका रहा, लो! नहीं तो मर जाता। सही बात थी? नेमिदासभाई! क्या होगा यह? मानता है, बापू! तेरा तत्त्व अनादि सनातन सत्य है। उसके अवलम्बन से आयी हुई पर्याय को तू पर के कारण आयी हुई पर्याय (मानता है, उसमें) तू पूरे द्रव्य को भूल गया। समझ में आया?

जिसमें से पर्याय का प्रवाह आता है, ऐसी चीज़ को भूल गया, भाई! यह प्रवाह मानो उसके अस्तित्व के कारण आता है। शब्द की पर्याय हुई और ज्ञानपर्याय, उसकी पर्याय और इसकी पर्याय, मान, सम्मान, कीर्ति, इज्जत की अवस्था से मैं टिक रहा हूँ, यह सब मान जाये तो भाई! मरण हो। मान चला जाये तो मरण हो जाये। मुँह दिखा नहीं सके, लो! यह एक व्यक्ति (कहे), क्या दिखाऊँ? थोड़ा नुकसान हुआ (तो कहे), बाहर क्या दिखाऊँ? मुँह क्या दिखाऊँ? घर में ही घर में छह महीने पड़ा रहा। यह सब जीवन बापू! अभिमान का था, वह गया, अब क्या करें? परन्तु कौन गया? कहाँ तू नहीं था? किस काल में नहीं था? उस काल में भी तेरी पर्याय से तू था, अभी भी तू तेरी पर्याय से है; पर के कारण तेरा अस्तित्व नहीं है। (बात) जँचती नहीं है।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, अभी बात करना नहीं। ऐसी धर्म की बातें अभी नहीं होती। कब होती है तब फिर? मरने के समय होती है? अभी बातें नहीं होती, धर्म की बात अभी नहीं होती।

कहते हैं, **ज्ञानमात्र वस्तु की सत्ता है, ऐसा अनुभव**... अज्ञानी पर के लक्ष्य से अपनी अवस्था उत्पन्न हुई, उसकी उत्पत्ति से-पर का स्वकाल है, उसकी उत्पत्ति से मेरा उत्पन्न हुआ- ऐसा अज्ञानी मिथ्यात्व का अनुभव करता है। मिथ्यात्वभाव को, असत्‌भाव को, दुःखभाव को अनुभव करता है।

उसके प्रति स्याद्वादी वस्तु की सिद्धि करता है-... अब सुलटा आया। **'पुनः स्याद्वादवेदी तिष्ठति'** समझ में आया? उसमें आया था या नहीं? **'ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा बहिः भ्राम्यन्'** और **'अर्थालम्बनकाले ज्ञानस्य सत्त्वं कलयन् एव'**... **'कलयन्'** अनुभव करे। उसकी पर्याय से मैं जीता हूँ, मेरा जीवन ही पर की पर्याय से है। तब ज्ञानी **'तिष्ठति'** वह मर गया। पर के कारण मैं टिकता हूँ, ऐसा माननेवाले ने आत्मा को मार डाला। अब ज्ञानी जीता है। **एकान्तवादी जैसा मानता है वैसा नहीं है, जैसा स्याद्वादी मानता है वैसा है।**

स्याद्वादवेदी अर्थात् अनेकान्तवादी... 'तिष्ठति' समझ में आया? **वस्तुस्वरूप साधने के लिए समर्थ है।** अर्थात् परवस्तु के काल में मेरी पर्याय उत्पन्न हुई परन्तु वह पर के कारण से नहीं, पर के कारण से नहीं। परवस्तु के समय के काल में मेरी पर्याय उत्पन्न हुई, इसलिए उसकी निमित्त की मित्रता छूटती नहीं थी। ज्ञानी को स्वभाव की मित्रता है, इसलिए पर के अवसर में जो पर्याय उत्पन्न हुई, (वह) पर के कारण से नहीं, मेरे ज्ञायक के कारण से उत्पन्न हुई है, ऐसा करके वस्तु के स्वरूप को साध सकता है। समझ में आया?

वस्तुस्वरूप साधने के लिए समर्थ है। कैसा है स्याद्वादी? 'अस्य परकालत: नास्तित्वं कलयन्' ज्ञानमात्र जीव वस्तु का ज्ञेयावस्था के जानपने से... 'परकालत:' ज्ञेय अवस्था जो सामने जानने की अवस्था है, वह ज्ञेय अवस्था, उसका यहाँ जानपना (हुआ), उसका **नास्तिपना है...** उस ज्ञेय अवस्था का मुझमें नास्तित्व है और ज्ञेयों को जानने जितनी एक समय की पर्याय जितना भी मेरे द्रव्य में नास्तित्व है। आहा! यह तो जरा आगे बात ली। इतने से में नहीं। समझ में आया? **ज्ञानमात्र जीव वस्तु का ज्ञेयावस्था के जानपने से नास्तिपना है...** ज्ञेयावस्था के जानपने जितना ही मैं नहीं हूँ, उससे नास्ति है। अकेला ज्ञायक का पिण्ड चैतन्य हूँ। आहा! समझ में आया?

यहाँ यह अस्तित्व का सिद्धान्त है। परकाल से नास्ति, परकाल से नास्ति और स्वकाल से अस्ति, परन्तु परकाल से नास्ति, ऐसा कहा। पर के जितने ज्ञेय जानने में आते हैं, उतनी पर्याय से मैं नहीं। उससे तो मैं नहीं परन्तु उतनी पर्यायमात्र भी मैं नहीं। उस ज्ञेय की सभी अवस्था से भी मैं नास्ति हूँ और उसे जानने की पर्याय के उतने अंश से भी मेरा नास्तिपना है, इतने में मैं नहीं आ गया। आहाहा! समझ में आया?

ज्ञायकभाव का ध्रुवपना लक्ष्य में होने से धर्मी जीव को, सत्य के शरणवन्त को ज्ञायकभाव का शरण लक्ष्य में होने से एक समय की पर्याय और ज्ञेय की अवस्था की मुझमें नास्ति है, उतना मैं नहीं। समझ में आया? ओहोहो! जो जीव, शरीर और लक्ष्मी के कारण हूँ, (ऐसा मानता है), वह मान्यता मिथ्यात्व है। राग-द्वेष के कारण मैं हूँ, यह भी मिथ्या मान्यता है परन्तु राग-द्वेष और पर के जानने की पर्याय जितना मैं, (ऐसा मानता है), वह भी मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया?

पर के ज्ञेयों के अस्तित्व के कारण मेरा अस्तित्व है, ऐसा माननेवाला मूढ़ है, उसे सत्य की खबर नहीं है। राग-द्वेष के अस्तित्व के कारण मेरी पर्याय का अस्तित्व है, वह भी मूढ़ है,

समझता नहीं; परन्तु उस राग-द्वेष के आकार ज्ञान परिणमित हुआ, उतना मैं हूँ, वह भी मूढ़ है। ज्ञानी, उतना मैं हूँ – ऐसा नहीं मानता। आहाहा! गजब बात, भाई! मगनभाई! अब इसमें कितना स्त्री, पुत्र, पैसे का अन्दर अभिमान आता होगा?

श्रोता : कब आवे?

पूज्य गुरुदेवश्री : थे कब? आहाहा! **ज्ञानमात्र जीव वस्तु का ज्ञेयावस्था के जानपने से...** जानपने से, अवस्था के जानपने से **नास्तिपना है...** ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? मैं तो मेरे ज्ञायकभाव के जानपने की अवस्था से निभा हुआ, टिका हुआ हूँ। द्रव्य वस्तु है, उसके लक्ष्य से, ज्ञान से-उसके लक्ष्य से ध्रुव से परिणमती पर्याय से मैं निभ रहा हूँ। आहाहा! समझ में आया? बहुत सूक्ष्म है। रमणीकभाई! आहाहा!

मैं एक चैतन्यज्योत ध्रुव सत् महापदार्थ हूँ। ऐसा, उसके अस्तित्व के कारण मेरा अस्तित्व है। एक समय की ज्ञेय अवस्था के जानपने जितना भी मैं नहीं हूँ। आहाहा! समझ में आया? ये सब जाननेयोग्य पदार्थ हैं। उनके ऐसे लक्ष्य से जो खड़ा है, उस मूढ़ (जीव की) वहाँ दृष्टि पड़ी है। वह अपनी त्रिकाल की अस्ति के जीवत्व का नकार करता है। समझ में आया?

यहाँ तो स्वसत्ता में परसत्ता का अंश भी नहीं है। भगवान आत्मा के द्रव्य और पर्याय के अंश में परसत्ता का अंश भी नहीं है, परन्तु परसत्ता का अंश मुझमें है। अथवा उसके कारण मेरी यह पर्याय है, वह मूढ़ जीव है। उसे पर्याय के अस्तित्व की उत्पत्ति के सामर्थ्य की खबर नहीं है। यहाँ तो पर के जानपनेरूप पर्याय, इतना मैं हूँ, (ऐसा मानता है, वह भी) बाह्य बुद्धि है। परसत्ता अवलम्बन का ज्ञान वह आत्मा का ज्ञान नहीं है। समझ में आया? आहाहा! वह परमार्थ ज्ञान नहीं है। जानपना **ज्ञेयावस्था के जानपने से...** आहाहा! समझ में आया?

ज्ञानस्वभाव के लक्ष्य से हुई अवस्था का नाम ध्रुवपना और द्रव्य को मानकर उसने पर्याय को अनुभवा। समझ में आया? परन्तु जिस ज्ञान की पर्याय में मात्र पर की ओर का ज्ञान है, उस जानपने से मैं नास्ति हूँ। आहाहा! चिमनभाई! ज्ञान की पर्याय में शास्त्र का ज्ञान (हो), यह देव-गुरु-शास्त्र का ज्ञान (हो), वे सब परज्ञेय है न? वे सब परज्ञेय हैं। पूरा स्वज्ञेय तो रह गया और उसके अवलम्बन से होनेवाली ज्ञान की पर्याय, वह तो रह गयी। अस्तित्व के स्वीकार से ज्ञान की पर्याय (हुई, वह) उसका आत्मज्ञान हुआ। समझ में आया?

यहाँ तो ज्ञेयावस्था के जानपने से मेरी नास्ति है। ऐसा ज्ञानी अपने आत्मा को द्रव्य के लक्ष्य से हुआ ज्ञान, उसमें मैं हूँ। पर के लक्ष्य से हुआ ज्ञान, वह मुझमें नहीं है। ओहो! परवस्तु

तो मुझमें नहीं। समझ में आया ? यह दया, दान के विकल्प, राग, वह मुझमें नहीं परन्तु उनके सम्बन्धी होनेवाला परावलम्बी ज्ञान का जानपना, उससे भी मैं यहाँ नहीं हूँ। आहाहा! मगनभाई ! गजब बात, भाई !

अज्ञानी को उसकी ज्ञानपर्याय में ज्ञान का ज्ञान नहीं है। मात्र पर के ज्ञान की अवस्था में अपनापन मानकर बाहर भ्रम रहा है। बाहर भ्रमकर वहाँ ही उसका अवलम्बन वहाँ ही टिका है। समझ में आया ? मेरा ज्ञान, ज्ञानस्वरूप में से द्रवित होगा, ऐसा नहीं जानता। मेरे ज्ञान की पर्याय यह सब शास्त्र और पुस्तक और पृष्ठ में से द्रवित होगी। समझ में आया ? द्रव्य हो, वहाँ से द्रवे। यह वहाँ तू कहाँ द्रव्य था ? इसलिए उसमें से झरेगा, उसे ऐसे लक्ष्य ही बाहर में (रहता है) । समझ में आया ? गजब भाई ! टीका कैसी की है, देखो न ! ओहो ! समझ में आया ? भगवान आत्मा वस्तुस्वरूप से ज्ञान की मूर्ति है, उसके अवलम्बन से हुई अवस्था, उसरूप से अभेद आत्मा है, उसे ज्ञानी अपना अस्तित्व स्वीकार करता है।

ज्ञान में क्षयोपशम से पर के ज्ञान की बहुत दशा हुई, उससे मैं बड़ा हुआ, मैं अधिक हुआ, ऐसा माननेवाला पर के लक्ष्य से हुई ज्ञान अवस्था को ही अपनी मानता है। आहाहा! (अज्ञानी वस्तु को) नहीं मानता। दिखता नहीं कि यह ज्ञानमूर्ति वस्तु भिन्न है, इसकी पर्याय वह मेरी, वह नहीं। स्वालम्बी हुआ ज्ञान वह मैं। समझ में आया ? उस क्षयोपशम के ज्ञान में पर की ओर के लक्ष्य के ज्ञान में भी जो अभिमान वर्तता है वह, मुझमें वह ज्ञान नहीं है, ऐसा नहीं मानता। इतना मैं हूँ, ऐसा मानता है। ऐई ! मगनभाई देखो ! क्या कहा ?

ज्ञानमात्र जीव वस्तु का ज्ञेयावस्था के जानपने से... ज्ञानमात्र जीव वस्तु का ज्ञेयावस्था के जानपने से नास्तिपना है, ऐसी प्रतीति करता है स्याद्वादी। अज्ञानी यह प्रतीति नहीं कर सकता। समझ में आया ? आहाहा ! ज्ञान का पर्वत प्रभु, उसके लक्ष्य से जो ज्ञान द्रवित हुआ, वह आत्मा। वह आत्मज्ञान, वह अपना अस्तित्व-ऐसा ज्ञानी स्वीकार करता है। पर के अवलम्बन से (हुआ) ज्ञान, वह परमार्थ ज्ञान नहीं है, वह मोक्षमार्ग नहीं है, वह मुक्ति के कारण का उपाय भी नहीं है। आहाहा ! समझ में आया ?

भगवान ज्ञानमात्र वस्तु है। वस्तु स्वयं ज्ञानमात्र, अकेला ज्ञान ध्रुववस्तु। उसका ज्ञेयावस्था के जानपने से मुझमें नास्ति है, ऐसा ज्ञानी मानता है। आहाहा ! समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि धर्मी की भूमिका में धर्मी ऐसा मानता है कि मेरी दशा में और मैं हूँ वहाँ उस परवस्तु की तो नास्ति है, पुण्य-पाप की नास्ति है, परन्तु उस सम्बन्धी का परावलम्बी जितना ज्ञान है, वह भी मेरे स्वरूप में नास्ति है। आहाहा ! समझ में आया ?

यहाँ तो अभी शुभयोग के कारण मैं हूँ, उसके कारण मुझे सम्यग्दर्शन होगा। शुभयोग से क्षायिक समकित होता है, (ऐसा लोग मानते हैं)। भगवान! तू बाहर बहुत भ्रमा है, हों! कहते हैं। अन्दर पूँजी में माल पड़ा है, उसके सन्मुख तेरी नजर नहीं गयी। राग की मन्दता / शुभयोग करे, उससे क्षायिक समकित होता है। अर्थात्? पूर्णानन्द प्रभु का उसे शुभयोग के कारण विश्वास आ जाये। समझ में आया? अभी कितने ही ऐसे चलाते हैं। भगवान! तुझमें कहाँ अपूर्णता है? कहाँ दीनतापन है? तू तो पूरा है न, भाई! कि जिससे तेरे परावलम्बी ज्ञान से तेरा अस्तित्व स्वीकार तो पूरा भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उसके अवलम्बन से जो (ज्ञान) हो, वह तेरा अस्तित्व है, उसे तू चूक जाता है, कहते हैं। समझ में आया?

ऐसी प्रतीति... कलयन्, कलयन् अर्थात् अनुभव करता है, ऐसा। उसका अर्थ किया – **प्रतीति करता है। स्याद्वादी। कलयन्** का अर्थ अनुभव करना होता है। समझ में आया? यहाँ प्रतीति का विषय लिया, इसलिए (ऐसा कहा) प्रतीति करता है धर्मी। मैं एक ज्ञायकमूर्ति त्रिकाल चिदानन्द हूँ और उसकी उसके अवलम्बन से हुई ज्ञान–स्वज्ञान की दशा में यह नास्ति है, ऐसा ज्ञानी अपने आत्मा की प्रतीति करता है। समझ में आया? ओहो! परनिमित्त तो मोक्ष में सहायता (करे) नहीं... यहाँ तो कहते हैं, सजीव.. क्या कहा? सचेत क्रिया, सचेत शरीर, सचेत शरीर से धर्म होता है। अरे! भगवान! कहाँ तू गया? भाई! आहाहा! सचेत शरीर, जीववाला शरीर होवे न, तो उससे धर्म हो, यहाँ तक पहला प्रश्न उठा है। आहा! गजब काल! राजमलजी कहते हैं, अरे! यह तो भारी गजब किया है! पहला प्रश्न यह उत्पन्न किया, पण्डित होकर (जयपुर खानियाचर्चा में)। भगवान! तूने क्या किया? भाई! बेचारे लोगों को कुछ खबर नहीं होती। आहाहा! समझ में आया?

उस सजीव शरीर की पर्याय को यह ज्ञान जाने और यह ज्ञान आत्मा का नहीं। पर्याय तो कहाँ उसकी होगी? आहाहा! समझ में आया? यह सजीव, वह जड़–मिट्टी धूल है, उसकी प्रत्येक समय की अवस्था होती है, इस आत्मा की पर्याय में उसका एक भी अंश नहीं है कि जिससे उसके कारण उसमें आत्मा की पर्याय धर्म की प्रगटे, वह तो नहीं परन्तु यह शरीर ऐसा है, ऐसा जिस ज्ञान में–पर्याय में ज्ञात हुआ, वह पर्याय भी आत्मा की नहीं और वह पर्याय मुक्ति का कारण नहीं। आहाहा! मगनभाई! ओहोहो! ग्यारह अंग का ज्ञान। ज्ञान की पर्याय परलक्ष्य से उत्पन्न हुई, उसकी मेरे स्वरूप में नास्ति है। वह मेरे स्वरूप में नहीं है। मेरे स्वरूप का होवे वह तो मुक्ति का कारण होगा। समझ में आया? भारी सूक्ष्म, भाई!

'अस्य परकालतः नास्तित्वं कलयन्' यह भी परकाल कहा, भाई! क्या परकाल?

आहाहा! स्वकाल तो ज्ञायकमूर्ति भगवान आत्मा के आश्रय से हुआ ज्ञान, वह स्वकाल है। मगनभाई! यह तो पुरानी बात जरा याद की थी कल, नहीं? बात याद तो आवे या नहीं? यह वस्तु कहाँ बापू! यह वस्तु कहीं सर्वज्ञ के अतिरिक्त नहीं हो सकती। जिसे एक समय में तीन काल, पर्याय को जानते हुए ज्ञात हुए। एक समय की पर्याय को जानते हुए त्रिकाल ज्ञात हो गये। अपनी पर्याय, हों! पर का नहीं। ऐसा आत्मा का एक समय की पर्याय का सामर्थ्य है। समझ में आया? उस पर्याय के सामर्थ्य में अकेले पर के जानने की पर्याय के अवलम्बन करे, उसे भी यहाँ ज्ञान नहीं कहते। समझ में आया? ओहोहो! कितनो को निकाल डालना?

कहते हैं, भगवान! तू तो चैतन्यमूर्ति प्रभु है न! यह ज्ञान का महासूर्य, ज्ञान का सूर्य! इस ज्ञान के सूर्य के लक्ष्य से, आश्रय से जो ज्ञान की दशा हुई, उतना तू। समझ में आया? सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं, अरे! आत्मा! भगवान! तेरा तत्त्व तो पूर्ण है न, प्रभु! ऐसे ज्ञान पूर्ण भगवान के अवलम्बन से हुई ज्ञान की अवस्था, वह तेरा अस्तित्व है। ऐसे अस्तित्व को प्रतीति में लिये बिना, यह विकल्प था; इसलिए मुझे ठीक हुआ; यह शरीर की अवस्था थी तो मुझे धर्म में ठीक पड़ता है, यह तो मिथ्यात्व है-असत्य है, ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। परन्तु यह शास्त्र का ज्ञान और वीतरागदेव की श्रद्धा का विकल्प का जो ज्ञान... समझ में आया? यह पंच महाव्रत के परिणाम और उन सम्बन्धी का ज्ञान... परिणाम तो नहीं परन्तु उस सम्बन्धी का ज्ञान, अकेला पराकार परिणमित ज्ञान, वह मैं नहीं, वह मैं नहीं। मैं हूँ वहाँ पर का अवलम्बन नहीं होता। आहा! कहो, धर्मचन्दजी! अब यह क्या करना? यह ऐसा सूक्ष्म तत्त्व। अब इसमें यात्रा और पूजा कहीं आयी नहीं। यात्रा और पूजा की क्रिया तथा उसमें होनेवाला शुभभाव, उसे अवलम्बन कर अकेले ज्ञान का परिणमन ज्ञान परज्ञेयाकार हुआ, उतना मैं-ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। नवनीतभाई! मक्खन है, बापू! अलग प्रकार है। आहाहा!

कहते हैं, स्वयं भगवान जितना है, वैसा न माने तो मिथ्यात्व, ऐसा नहीं? जीव को अजीव मानना; अजीव को जीव मानना, ऐसा मिथ्यात्व में नहीं बोलते? जीव को अजीव मानना। जीव भगवान आत्मा पूर्णानन्द प्रभु, उसमें हुआ, उसके अवलम्बन से हुआ ज्ञान, वह जीव है और यह परालम्बी हुआ ज्ञान, वह जीव का स्वरूप ही नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? चैतन्य महासत्ता प्रभु! सर्वज्ञ परमात्मा ने तो तेरी महासत्ता चैतन्य की देखी है। उन्होंने देखी, वैसा तू देखे, तब तुझे सच्चा ज्ञान होगा। समझ में आया?

यहाँ तो स्याद्वादी ऐसा जानता है। **कैसा है स्याद्वादी। 'अस्य परकालत: नास्तित्वं कलयन्'** यह परकाल, जो पर के अवलम्बन से हुई अवस्था, उससे मैं नास्ति हूँ, उससे मैं नास्ति हूँ। अज्ञानी ऐसा मानता है कि उतना ही मैं और उससे मैं हूँ। आहाहा! बापू! मार्ग तो प्रभु का वीतरागमार्ग तो ऐसा है। स्वयं आत्मा वीतरागस्वरूप है। उसका ज्ञान निर्दोष वीतरागी ज्ञान है। आत्मा का वीतरागी ज्ञान है। उस वीतरागी ज्ञान की पर्याय वीतराग ज्ञान के अवलम्बन से होती है, उसका नाम धर्म है। उस वीतरागी ज्ञान की पर्याय में जितना पर का अवलम्बन रहे और वीतरागी ज्ञान न करे और राग तथा पुण्य के भाव का ज्ञान करे, वह भी वीतरागी पर्याय नहीं, महाप्रभु का वह अंश नहीं। आहाहा! समझ में आया?

परकाल की अवस्था, फिर अकेली ज्ञान की अवस्था नहीं ली। वस्तु ऐसी जो पहले से लेते हैं, हों! पहले तो दो ली, यहाँ तो अकेली ली। कल तो बाह्य वस्तु की दो ली न? कल बाह्य वस्तु के दो बोल आये थे न? समस्त ज्ञेय और ज्ञेयाकार से परिणमित ज्ञानपर्याय। यहाँ और सुलटा कर दिया, पर का निकाल दिया। ऐसे शरीर, वाणी, मन (ज्ञात हो), उस समय जो ऐसे पर की सत्ता के लक्ष्य से-अवलम्बन से ज्ञान की पर्याय हो, उसका नास्तित्व भगवान आत्मा में है, तो ज्ञेय की अवस्था का तो नास्तित्व होगा ही। आहाहा!

ऐसी प्रतीति करता है स्याद्वादी... सम्यग्दृष्टि ऐसी प्रतीति करता है। वह प्रतीति करे, उसका नाम सम्यग्दर्शन और धर्म कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? **और कैसा है। 'आत्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन्'...** देखो! **ज्ञानमात्र जीववस्तु में... आत्म** शब्द से ज्ञानमात्र जीव वस्तु, ज्ञानमात्र प्रभु, चैतन्यमात्र, स्वभावमात्र भगवान। **'निखात' अनादि से एक वस्तुरूप... अनादि से एक वस्तुरूप...** स्वयं। कैसा है? **अविनश्वर...** नाशरहित चीज़ है। **उपाय बिना द्रव्य के स्वभावरूप...** कोई उपाय बिना द्रव्य का स्वभाव ही ऐसा है। कोई उपाय करके निमित्त से इतना है, ऐसा नहीं है। **ऐसी जो जानपनारूप शक्ति...** मेरी त्रिकाल ज्ञानरूप शक्ति का **तद्रूप... 'एकपुञ्जीभवन्' मैं जीववस्तु...** हूँ **'एकपुञ्जीभवन्'** एकरूप ज्ञान का पुंज प्रभु हूँ वह मेरा स्व त्रिकाल है। समझ में आया?

पहले चार बोल लिये थे न? स्वद्रव्य अर्थात् निर्विकल्प पदार्थमात्र वस्तु। वह अस्ति। परद्रव्य अर्थात् सविकल्प भेद पाड़ना, वह परद्रव्य। उसकी नास्ति। परद्रव्य की नास्ति लेनी है न? आहाहा! समझ में आया? स्वक्षेत्र अर्थात् एक अखण्ड, असंख्य प्रदेश का एक प्रदेश, ऐसा। एक प्रदेश। अखण्ड प्रदेश, वह स्वक्षेत्र। उस स्वक्षेत्र में भेद पाड़ना कि यह प्रदेश, यह प्रदेश, वह परक्षेत्र है। उस परक्षेत्र की इस स्वक्षेत्र में नास्ति है। भगवान आत्मा त्रिकाली

एकरूप, वह त्रिकाली एक वस्तु एक, त्रिकाल वह स्वकाल। त्रिकाल में एक समय की अवस्था का भेद पाड़ना, वह परकाल। समझ में आया ? उस परकाल की नास्ति है। गजब बात, भाई! भगवान एक वस्तु, त्रिकाल एकरूप वस्तु वह त्रिकाल। त्रिकाल एक समय, त्रिकाल एक वस्तु, वह स्वकाल और समय का अवस्थान्तर भेद लक्ष्य में लेना, वह परकाल। परकाल की नास्ति है। ओहोहो! भगवान अनन्त गुण का पिण्ड एकरूप, वह स्वभाव। अनन्त गुण का एकरूप, वह स्वभाव। यह गुण है, ऐसा भेद लक्ष्य में लेना, वह परभाव। समझ में आया ? भगवान अनन्त गुण का पुंज एकरूप, वह स्वभाव। यह ज्ञान है, ऐसा भेद पाड़ना, वह परभाव। व्यवहार का विकल्प – गुणी है, वह गुणवाला है, ऐसा विचार करना, वह परभाव है। उस परभाव में स्वभाव की नास्ति है। आहाहा! समझ में आया ? यह बात यहाँ ली है।

भगवान आत्मा एक समय का प्रभु पूर्ण। **'एकपुञ्जीभवन्'** कहा न ? **ऐसी जो जानपनारूप शक्ति तद्रूप... 'एकपुञ्जीभवन्' मैं जीववस्तु हूँ,...** एकरूप हूँ। **अविनश्वर ज्ञानस्वरूप हूँ...** अविनाशी ध्रुव ऐसा का ऐसा मैं एकरूप हूँ। जाने भले पर्याय से, परन्तु जानता है एकरूप पुंज मेरा त्रिकाल एक वस्तु हूँ। **ऐसा अनुभव करता हुआ।** यह अनुभव करता हुआ – यह पर्याय है। समझ में आया ? वह ज्ञानवस्तु मैं हूँ, अविनश्वर ज्ञान हूँ, ऐसा पर्याय में उसका अनुभव होना, वह उसका स्वकाल कहा जाता है, अभेद गिनकर। समझ में आया ? परकाल से वह नास्ति है। आहाहा! ऐसी अस्ति-नास्ति। यह आस्तिक है और वह नास्तिक है, दूसरी भाषा से ऐसा कहा। समझ में आया ? शरीर, वाणी, कर्म से मैं मानना, वह नास्तिक है।

कोई कल कहता था, वह कोई मर गया न ? मैं नास्तिक मिट गया नहीं था, ऐसा कोई कल कहता था। आहार करके घूमते हैं, (तब) बहुत आते हैं। बातें करते हैं। मैं नास्तिक मिट नहीं गया, मैं नास्तिक हूँ, मैं किसी को नहीं मानता। नास्तिक किसी को नहीं मानता, यह कौन मानता है ? किसके अस्तित्व में यह माना कि मैं किसी को नहीं मानता ? बड़ा कवि था, ९२ वर्ष की उम्र का। कोई कल कहता था। बहुत पैसा-बैसा बहुत इकट्ठा किया था। मेरे पीछे कुछ करना नहीं, पादरी-पादरी लाना नहीं, मैं कुछ नहीं मानता। तुम जानो कि सब अभी तक किया, इसलिए मैं नास्तिक मिट गया हूँ, ऐसा नहीं है। मैं तो पूरा नास्तिक हूँ। ठीक! गजब बात, भाई! समझ में आया ? पूरा नास्तिक हूँ, ऐसा निर्णय किस भूमि में किया ? किसने किया यह ? जहाँ नास्ति का निर्णय करता है, वहाँ ही अस्ति सूचित होती है। उसका अर्थ ही मैं पूरा अस्तित्व, पूरा अस्तित्ववाला हूँ। बिल्कुल पूरा अस्तित्ववाला हूँ। पूरा नास्ति हूँ अर्थात् मेरे स्वरूप में पूरा

अस्तित्व है। इसका नास्ति हूँ, ऐसा। दृष्टि फेर है। आहाहा! कोरा अस्तित्व को माननेवाला पूरा नास्तित्व हूँ, ऐसा गुलांट खा जाता है। समझ में आया? आहा!

ऐसा अनुभव करता हुआ। ऐसा स्याद्वादी। इसका नाम स्याद्वादी अर्थात् सम्यग्दृष्टि। इसका नाम सम्यग्दृष्टि, इसका नाम धर्मी, इसका नाम सम्यग्ज्ञानी, इसका नाम मोक्ष के मार्ग में स्थित पंथी। आहाहा!

श्रोता : न होनेपने का (नास्ति का) जोर कहाँ से आता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह मिथ्यात्व में से आता है न! बुद्धि असत्य है न, उसमें से। मैं नहीं। वहाँ है कि मैं हूँ। मैं नहीं, मैं मुझे नहीं मानता अर्थात् क्या परन्तु? मैं मुझे मानता नहीं, इसका अर्थ क्या? मैं मुझे मानता नहीं। अर्थात् 'मैं' (कहा) वहाँ तो अस्ति आ गयी। समझ में आया? मानता नहीं, यह भी एक दशा आ गयी, यह भी अस्ति हो गयी परन्तु बाहर की भ्रमणा है न, इसलिए अन्दर अस्तित्व इसे जँचता नहीं? ज्ञानी पर से अस्तित्व न मानकर अपने पूर्ण अस्तित्व को श्रद्धा में ले और अनुभव करे, उसे धर्म होता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

(३६)

श्री परमात्मप्रकाश, गाथा ६४-६५, प्रवचन ४२
दिनांक २७-०७-१९७६

भावार्थ : आकुलतारहित पारमार्थिक वीतराग सुख से पराङ्मुख... आत्मा का सुख तो ऐसा है कि आकुलता-रहित, रागरहित अर्थात् परमार्थ से वीतराग सुख। वीतराग सुखस्वरूप भगवान आत्मा से पराङ्मुख-उल्टा संसार का सुख-दु:ख। विषय-वासना, भोग आदि के दु:ख में कल्पना, यह सब पारमार्थिक आत्मा के सुख से उल्टी दशा है। परमार्थ से आत्मा आनन्दस्वरूप है। उसकी जो पर्याय में परमानन्द प्रगट होना, उससे उल्टा इन्द्रिय के विषय सुख या दु:ख ये सब यद्यपि **अशुद्ध निश्चयनयकर जीव सम्बन्धी है...** है तो उसकी पर्याय में अशुद्ध निश्चय से। संसार के विषय-कषाय के भाव हैं तो जीव की पर्याय में, अशुद्ध निश्चय से। स्वभाव की अपेक्षा से; निकल जाते हैं, इसलिए पुद्गल। परन्तु होते हैं इसकी पर्याय में; इसलिए अशुद्ध निश्चय से जीव के हैं, ऐसा कहा जाता है। **जीव सम्बन्धी...** आया न? **अशुद्ध निश्चयनयकर जीव सम्बन्धी है...** उसकी पर्याय में हुआ न? विषय-कषाय का राग, दु:ख की कल्पना या सुख की कल्पना, वह इसकी (जीव की) पर्याय में है न?

तो भी शुद्ध निश्चयनयकर जीव ने उपजाये नहीं हैं। वस्तु स्वरूप जो है त्रिकाली, उसने तो इन सुख-दु:ख को उत्पन्न नहीं किया है। आहाहा! अशुद्ध निश्चयनय से जीव सम्बन्धी उपार्जन किये कहे जाते हैं। भगवान आत्मा त्रिकाली वस्तु ने तो उन्हें उत्पन्न किये नहीं। द्रव्यस्वभाव है, उससे उत्पन्न हुए नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! द्रव्यस्वभाव तो आननद और ज्ञायक है - चैतन्य-चिन्तामणिरत्न प्रभु से संसार के सुख-दु:ख की कल्पना हुई नहीं। समझ में आया?

इसलिए जीव के नहीं हैं। अशुद्ध से जीव सम्बन्धी, शुद्ध से जीव सम्बन्धी नहीं। आहाहा! अस्ति-नास्ति। मलिननय की दृष्टि से देखें तो विषय-कषाय के भाव, सुख-दु:ख, वे जीव पर्याय के सम्बन्ध में हैं और पर्यायदृष्टि से जीव सम्बन्धी हैं; वस्तुदृष्टि से देखें तो उसमें है नहीं। **जीव के नहीं हैं, कर्म-संयोग कर उत्पन्न हुए हैं और आत्मा तो वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थिर हुआ वस्तु को वस्तु के स्वरूप देखता है।** उसे आत्मा कहते हैं। आहाहा!

भगवान आत्मा वीतराग निर्विकल्प शान्ति समाधि पर्याय। पर्याय में **वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थिर हुआ (आत्मा) वस्तु को वस्तु के स्वरूप देखता है।** आहाहा! यह सुख-दुःख की कल्पना भी, वीतरागस्वरूप में रहते हुए, वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थिर होने पर उन रागादि को जानता है। संसार के सुख-दुःख की कल्पना। समझ में आया?

श्रोता : जाननेवाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : जानता है, यह उसका स्वभाव है। राग थोड़ा करना, यह उसका स्वभाव नहीं है।

जानता है, रागादिरूप नहीं होता। स्वभाव-सन्मुख की वीतरागी शान्ति में स्थिर होकर यदि आत्मा को देखे तो राग को करता नहीं, रागरूप होता नहीं, रागरूप होता नहीं। आहाहा! **उपयोगरूप है...** भगवान तो जानने के उपयोगरूप है। वस्तु, जो वस्तु भगवान आत्मा, वह तो उपयोगरूप है। वह इस रागरूप नहीं होता। वस्तु है, वह रागरूप नहीं होती। आहाहा! **ज्ञाता-दृष्टा है...** प्रभु तो ज्ञाता-जानने और देखनेवाला है। राग हो, उसे भी जानने-देखनेवाला है। समझ में आया?

परम आनन्दरूप है... आहाहा! भगवान आत्मा तो परम अतीन्द्रिय सुखस्वरूप, आनन्दरूप है। वह राग के भाव को कैसे करे और कैसे भोगे? वह तो जाने, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? यह तो परमात्मप्रकाश है न? यह (आत्मा) स्वयं परमात्मस्वरूप ही है। यह परमात्मस्वरूप आनन्द को-अपने आनन्द को करे, परन्तु सुख-दुःख की कल्पना के विषय के सुख को कैसे करे? आहाहा! जिसकी दृष्टि... भगवान आनन्दस्वरूप है, उसमें जिसकी दृष्टि पड़ी है, वह तो आनन्द की दशा को करे। संसार के सुख-दुःख की कल्पना को जाने। आहा! ऐसी बात है।

यहाँ पारमार्थिक सुख से उल्टा... भगवान आत्मा का जो आनन्द, सुख, परमात्मा का आनन्द, सुख-उससे **उल्टा जो इन्द्रियजनित संसार का सुख-दुःख...** आहाहा! संसार की प्रतिकूल-अनुकूलता में राग-द्वेष को अनुकूल-प्रतिकूल होना, **आदि विकल्प समूह है, वह त्यागनेयोग्य है।** आहाहा! इस संसार के विषय-सुख में रागादि हो, वे छोड़नेयोग्य हैं, वे आदरनेयोग्य नहीं है। परमानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की आनन्दपर्याय प्रगट हो, वह आदरनेयोग्य है। रागादिभाव आदरनेयोग्य नहीं। **ऐसा भगवान ने कहा है, यह तात्पर्य है...** तात्पर्य है न? टीका में तो इतना है **हेयमिति तात्पर्यार्थ,** ऐसा। वह हेय है और परमार्थ सुख, आत्मा के आनन्द का सुख उपादेय है। आहाहा!

कितना धीर... कितनी बाहर से इसे दृष्टि को समेटना पड़े। इसमें अनन्त पुरुषार्थ है। स्वभाव-सन्मुख में अनन्त पुरुषार्थ है। ऐसे अनन्त पुरुषार्थ के आनन्द के समक्ष, कहते हैं कि ये विषय के सुख की कल्पनायें, विकल्प सब छोड़नेयोग्य है। जहर के प्याले हैं। आहाहा! शरीर की सुन्दरता, कोमलता, इन्द्रियों की पुष्टि, उसमें होनेवाला जो सुख का विकल्प, आहाहा! वह छोड़नेयोग्य है। पाँच इन्द्रियाँ, सुन्दर कोमलता, अनुकूलता, भोजन की अनुकूलता में शरीर की पुष्टि आदि से उत्पन्न होती इन्द्रियजनित कल्पना, वह जहर है, दु:ख है। भगवान परमानन्द के आश्रय से जो सुख और आनन्द हो, उसके समक्ष ये जहर है, छोड़नेयोग्य है। **ऐसा भगवान ने कहा है, यह तात्पर्य है...** इन्द्रिय के सुखों का आकर्षण हो, पर की ओर के ढलान का झुकाव (हो), वे सब विकल्प जहर और दु:ख हैं। भगवान आनन्दस्वरूप की सन्मुखता का झुकाव हो, वह आनन्दस्वरूप है। आहाहा! समझ में आया?

छह खण्ड के राजा चक्रवर्ती, छियानवें हजार स्त्रियाँ, एक स्त्रीरत्न की तो हजार देव सेवा करे, ऐसी शरीर और सामग्री सब उत्कृष्ट, परन्तु उनकी ओर का प्रेम, (वह) जहर है। भगवान आनन्दस्वरूप प्रभु का आदर छोड़कर, ऐसे (संयोग के) आदर में जाना, वह जहर का प्याला पीता है। इसलिए इस अमृतस्वरूप भगवान के सन्मुख देखकर, और आनन्द को प्रगट करके इस विकार को हेय करनेयोग्य है। आहाहा!

श्रोता : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार प्रकार के पुरुषार्थ हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मोक्ष का पुरुषार्थ है। स्वभाव-सन्मुख का मोक्ष का पुरुषार्थ। भोग की ओर का, वह काम का पुरुषार्थ; पैसा कमाने की ओर का, वह अर्थ का पुरुषार्थ है। यह सब (अर्थ-काम) जहरीला पुरुषार्थ है।

श्रोता : इन सबका पुरुषार्थ तो करता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुरुषार्थ करता है, जहर का। जहर पीता है। आहाहा! स्पर्धा करता है। दूसरा ऐसा करे तो उससे मैं अधिक करूँ, राग। पुरुषार्थ करके राग से पैसा प्राप्त करना, विषय की सामग्री (भोगना)... आहाहा! स्त्री आदि को प्रसन्न करूँ, उससे प्रसन्न होऊँ। आहाहा! अमृत का नाथ प्रभु वहाँ राग में मर जाता है। अमृत का सागर भगवान, उस राग में मर जाता है। आहाहा! परमात्मप्रकाश है न? स्वयं परमात्मस्वरूप का प्रकाश करना, आनन्द की दशा प्रगट करना, वह सुखरूप है। आहाहा! यह ६४ (गाथा पूरी) हुई। अब ६५(गाथा)।

निश्चयनयकर बन्ध और मोक्ष कर्मजनित ही हैं, कर्म के योग से बन्ध और कर्म के वियोग से मोक्ष है, ऐसा कहते हैं। एकदम द्रव्यस्वभाव, उसमें बन्धन है, वह पर्यायनय से

है और मुक्ति है, वह पर्यायनय से है। इसलिए कर्म से बन्धन और कर्म के छूटने से मुक्ति – ऐसा कहा। आहाहा! चढ़ती जायेगी गाथा, हों! ६८, ६८ तक ले जायेंगे।

बंधु वि मोक्खु वि सयलु जिय जीवहँ कम्मु जणेइ।
अप्पा किंपि वि कुणइ णवि णिच्छउ एउँ भणेइ॥६५॥

आहाहा! निश्चय ऐसा कहता है। **हे जीव! बन्ध को और मोक्ष को...** भावबन्ध और द्रव्यबन्ध, भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष, **सबको जीवों के कर्म ही...** आहाहा! **करता है आत्मा कुछ भी नहीं करता।** द्रव्यस्वभाव, वह क्या करे? – ऐसा कहते हैं। आहाहा! ***पर्यायनय से बन्ध है और पर्यायनय से मुक्ति है। आहाहा! वस्तु में बन्ध-मोक्ष कहाँ है?*** आहाहा! **मोक्ष को सबको जीवों के कर्म ही करता है...** पर्यायबुद्धि से होता है, वह कर्म से होता है – ऐसा कहा और पर्याय में निर्मलता होती है, वह भी कर्म के अभावरूप से हुई, इसलिए पर्याय में मुक्ति भी कर्म ने की, ऐसा कहा।

भगवान आत्मा एक आनन्द का दल है, चिद्रूप है, चिद्रूप–ज्ञान जिसका स्वरूप है, अकेला ज्ञानकन्द है। वह पर्याय में क्या करे? ऐसा कहते हैं। पर्याय में राग को और पर्याय में राग के अभाव को वह पर्यायनय से करे, कर्म करे – ऐसा कहते हैं। आहाहा!

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उस निमित्तवादी की यहाँ बात नहीं है। निमित्तवादी को दोनों अच्छा, बात सच्ची। भाई! किस अपेक्षा से बात है? ***बापू! द्रव्यस्वभाव है, वह पर्याय को करता नहीं; राग की पर्याय को करता नहीं और मोक्ष की पर्याय को द्रव्य करता नहीं - ऐसा सिद्ध करना है। आहाहा! बन्ध-मोक्ष तो पर्याय में है; जीव में-द्रव्य में कहाँ है?*** आहाहा! बन्ध और मोक्ष दोनों व्यवहारनय का विषय है। त्रिकाल है, वह निश्चयनय का विषय है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! परमात्मा की लीला है, स्वयं की, हों! आहाहा! अज्ञानभाव से पर्याय में कर्म उत्पन्न करे और ज्ञानभाव से पर्याय में मुक्ति हो, यह सब पर्याय में होता है; इसलिए कर्म अशुद्धता करता है और कर्म छूटे तो मुक्ति होती है – ऐसा अशुद्ध निश्चयनय का कथन है। आहाहा!

कुछ भी नहीं करता... भगवान आत्मा कुछ नहीं करता। वस्तु है, वह क्या करे? आहाहा! उसकी–परमात्मा की दृष्टि कराना है। परमात्मस्वरूप भगवान है। अरे! भाई! यह बात बैठे, वह तो अलौकिक बातें हैं। बैठती है पर्याय में, परन्तु वह पर्याय 'द्रव्य यह मैं' – (ऐसा मानती है)। परिपूर्ण भगवान, बन्ध को करे नहीं, मोक्ष को करे नहीं – ऐसी वस्तु ध्रुव

धातु। आहाहा! ऐसी दृष्टि कराने के लिये, बन्ध और मोक्ष को कर्म करता है, पर्याय से होते हैं, इसलिए कर्म से होते हैं, ऐसा। भगवान द्रव्य से नहीं होता अर्थात् द्रव्य से नहीं होता। आहाहा! अरे! **निश्चयनय ऐसा कहता है, अर्थात् निश्चयनय से भगवान ने ऐसा कहा है।**

भावार्थ - अनादि काल की सम्बन्धवाली... भाषा देखो! **अनादि काल की सम्बन्ध -वाली अयथार्थस्वरूप अनुपचरिता सद्भूत व्यवहारनय से...** अयथार्थस्वरूप, अभूतार्थस्वरूप। आहाहा! अनुपचरित अर्थात् कि कर्म और राग निकट है न, ऐसे! अनुपचरित परन्तु असद्भूत (अर्थात्) आत्मा में वह है नहीं। ऐसा **व्यवहारनय से ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मबन्ध और अशुद्ध निश्चयनय से रागादि भावकर्म के बन्ध को...** दोनों लिये। अयथार्थस्वरूप, अभूतार्थस्वरूप व्यवहार, अनुपचरित निकट के सम्बन्ध से असद्भूतव्यवहारनय से ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म बन्धन करे। आहाहा! **अशुद्ध निश्चयनय से रागादि भावकर्म के बन्ध को...** करे। आहाहा! वह जड़कर्म है न, इसलिए निमित्त से असद्भूतव्यवहार कहा और यह भाव है, वे इसकी पर्याय में अशुद्ध निश्चय से है। समझ में आया? द्रव्यकर्म का करना तो अयथार्थ असद्भूतव्यवहारनय से कहा जाता है। पर के साथ क्या? वे बँधते हैं तो उनके कारण से, छूटते हैं तो उनके कारण से, परन्तु निमित्त का निकट का सम्बन्ध देखकर उस नय से ऐसा कहा कि ज्ञानावरणीय कर्म को व्यवहारनय से करता है।

अशुद्ध निश्चयनय से रागादि भावकर्म के बन्ध को (करे)... आहाहा! भावकर्म का बन्ध अशुद्ध निश्चय से है। ये नय तो सरल हैं। पर की अपेक्षावाला नय, वह असद्भूत है और स्व के अशुद्धनय-अपेक्षा से उसे अशुद्धनिश्चय अपना है, अपने से होता है। आहाहा! **दोनों नयों से द्रव्यकर्म-भावकर्म की मुक्ति को...** आहाहा! द्रव्यकर्म भी अयथार्थ अनुपचरित असद्भूतव्यवहार से छोड़ता है और राग को अशुद्ध निश्चय से छोड़ता है। आहाहा! समझ में आया? राग को अशुद्ध निश्चय से छोड़ता है और अशुद्ध व्यवहारनय से कर्म को छोड़ता है। आहा! इसे बहुत गम्भीर होना पड़ेगा।

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : छोड़े। पर्याय में छूटते है न! द्रव्य में से कहाँ? मोक्ष की पर्याय यथार्थरूप से तो सद्भूतव्यवहारनय का विषय है। उसका अशुद्ध निश्चय छूटता है, ऐसा कहते हैं। अशुद्ध निश्चय कहो या व्यवहार कहो। आहाहा!

अशुद्ध निश्चयनय से रागादि भावकर्म के बन्ध को तथा दोनों नयों से... असद्भूत-

व्यवहारनय से जीव द्रव्यकर्म को छोड़ता है, ऐसा। अशुद्ध निश्चयनय से भावकर्म को छोड़ता है। यद्यपि जीव इस प्रकार पर्याय में करता है। ***आहाहा! पर्याय और द्रव्य दोनों एक नहीं हैं, ऐसा कहते हैं।*** अशुद्ध निश्चयनय से राग को छोड़ता है, वह पर्याय में; द्रव्य में कुछ है नहीं। द्रव्यकर्म को बाँधना-छोड़ना; भावकर्म को बाँधना-छोड़ना वस्तुस्वरूप (त्रिकाली द्रव्य) में नहीं है। आहाहा! ऐसे नय हैं। इन्द्रजाली नय। भगवान! आपके नय इन्द्रजाल हैं। आहाहा! इन्द्रजाल से पर्याय में खड़ा होता है। आहा! फिर समेटता है, वह भी अशुद्धनय से, ऐसा कहते हैं। शुद्धस्वरूप त्रिकाल में यह कहाँ है? आहाहा!

अरे! इसे समय निकालना पड़ेगा, भाई! इस संसार के पाप के लिये पूरा दिन और रात धन्धे में पाप के पोटले बाँधता है। चौबीस घण्टे दुकान में। इसे आत्मा का हित करना हो तो इसे निवृत्ति लेनी पड़ेगी। इसे समझने के लिये बाह्य से निवृत्ति हो तो इसे सुनने का मिले, तो इसे विचार करने का मिले, सत्य क्या है, उसका निर्णय करने को मिले। आहाहा! ऐसी बात है, बापू! अरे! चौरासी के भव... आहाहा! उस समुद्र में से जहाँ देखते न, वहाँ दादर में अठारह दिन रहे और समुद्र के किनारे। समुद्र वहाँ निकट है। आहाहा! कहीं पानी का छोर नहीं मिलता। उन आमोदवाले के मकान में उतरे थे। आमोदवाले रमणीकभाई दिगम्बर हैं। आमोद, आमोद। अपने गुजरात के। पाँच-छह करोड़ रुपये हैं, नरम व्यक्ति हैं। यहाँ निवेदन करने आये थे। महाराज! दादर में हमारे घर उतारना। वह सत्तर लाख का तो उनका एक मकान है। पाँच-छह करोड़ रुपये हैं, नरम व्यक्ति हैं। पूरे दिन बेचारा ध्यान रखकर, उसकी प्रवृत्ति कम करके साथ में रहते थे, दोनों भाई! ऐसे समुद्र निकट, हों, यहाँ तुरन्त... आहाहा!

यह पानी का दल, नीचे कितना पानी, ऐसे कितना पानी एक-एक बूँद में असंख्य जीव, भाई! वे जीव उसी-उसी में मरे और उत्पन्न हों। वे होते हैं न...? पानी के.. मरे, क्षण-क्षण में असंख्य मरे और वापस वहीं के वहीं वे उपजे और कोई अन्यत्र उपजे। आहाहा! पानी के किनारे ऐसे भटके न? पानी टकरावे, उसमें मर जाये पानी के जीव और क्षण-क्षण में कितने मरे तथा वे फिर वहाँ उपजे, और वहाँ उपजे या अन्यत्र उपजे। आहाहा! यह भवसमुद्र-समुद्र और ऊपर देखे तो सैकड़ों सफेद बगुले, मछलियाँ पकड़ने को घूमते हों। बीस-बीस मील! किनारे से बीस मील तक बगुले मछलियाँ लेने जाते हैं, पकड़ने। तैरते-तैरते जाते हैं। आहाहा! बीस मील अर्थात् दस कोस और दस कोस वापस आवें। वहाँ समुद्र में तो कुछ बैठने को मिलता नहीं। आहाहा! कितनी मेहनत करें बेचारे? बगुला, बगुला समझते हो? सफेद। ऐसे दिखते हैं। कहा, भाई! ये बगुले कहाँ तक जाते हैं? भाई कहे, रमणीकभाई कहे कि बीस मील

तक जाते हैं। वे तो वहाँ हमेशा रहनेवाले हैं, बँगला है, सत्तर लाख रुपये का तो एक बँगला है, उसमें ऊपर उतरे थे। सेठ आये थे न? नहीं थे वहाँ दादर?

श्रोता : तबीयत ठीक नहीं थी इसलिए....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं थी, हाँ ठीक। नहीं तो आये बिना रहे नहीं।

श्रोता : आपका उतरना जिस जगह में हो जाये, वह धन्य हो जाता है!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो है, यह तो एक संसार ऐसा देखते-देखते... आहाहा! यह संसार सिन्धु-समुद्र में पानी के जीव रूप से होना। आहाहा! और वह ऐसे गहरा कितना, ऐसा कितना और सब पानी जीव के दल भरे हैं, एकेन्द्रिय जीव। आहाहा! वे कब मनुष्य हों? उन्हें कब ऐसी सत्य बात सुनने में मिले? अरे दुर्लभ वस्तु है, भाई! आहाहा! समझ में आया?

उसमें अब और यहाँ आत्मा.. आहाहा! अशुद्ध निश्चय से बन्ध और अशुद्ध निश्चय से मुक्ति। गजब है न? शुद्धनिश्चय में मुक्ति कैसी? कहते हैं। मुक्ति तो पर्याय ही हुई। अशुद्ध से छूटना। ऐई! यह शुद्ध त्रिकाली भगवान पूर्णानन्द का नाथ, उस शुद्धनिश्चय में तो भावबन्ध भी नहीं है और बन्ध से छूटना उसमें नहीं है। पर्याय में भावबन्ध और पर्याय में छूटना है। आहाहा! समझ में आया? जिस-जिस क्षेत्र में हो, उस-उस क्षेत्र के आकार मानो आत्मा उस क्षेत्र का हो गया हो, ऐसा माने। वह क्षेत्र तो पर है। शरीर का क्षेत्र पर है परन्तु वहाँ उपजे; इसलिए मानो उस क्षेत्र आकारवर्ती हो गया। आहाहा! यह सब अशुद्धनिश्चय से है, ऐसा कहते हैं और छूटना भी अशुद्धनिश्चय से है। आहाहा! है?

श्रोता : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : छूटना कहाँ है? पर्याय में बन्ध और पर्याय में मोक्ष। आहाहा! द्रव्य से भिन्न; इसलिए द्रव्य में नहीं बन्ध और द्रव्य में नहीं मोक्ष। आहाहा!

श्रोता : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका अभाव होता है, वह शुद्धनय कहाँ आया वहाँ? उसका आश्रय द्रव्य का करना, वहाँ शुद्धनय है। पर्याय के आश्रय से जितनी बात है, वह सब व्यवहारनय की है। अशुद्धनिश्चय कहो या व्यवहार कहो। आहाहा! केवलज्ञान की पर्याय भी सद्भूतव्यवहारनय का विषय है; निश्चय का नहीं। आहाहा! केवलज्ञान की प्राप्ति सद्भूत-व्यवहार है। यह निश्चयनय में अपने (समयसार, गाथा) ११ में आया नहीं? व्यवहार सब अभूतार्थ होने से अभूत अर्थ को प्रगट करता है। आहाहा! अर्थात् क्या? ११वीं गाथा, पहली

शुरुआत की टीका। व्यवहार सब अभूतार्थ होने से अभूत अर्थ को प्रगट करता है; इसलिए वह हेय है। शुद्धनय एक ही भूतार्थ होने से शुद्ध अर्थ को वह प्रगट करता है, त्रिकाली को प्रगट करता है। इसलिए सब व्यवहार अभूतार्थ है। केवलज्ञान भी सद्भूतव्यवहार का विषय है, उसे यहाँ अभूतार्थ कहा है।

श्रोता : आश्रय करनेयोग्य है!

पूज्य गुरुदेवश्री : .....आश्रय नहीं और जाननेयोग्य है। समझ में आया? यह तो भाई! अन्तर में, अरे! कभी इसने अन्दर देखने की मेहनत नहीं की, जहाँ प्रभु विराजता है, स्वयं प्रभु परमात्मा। आहाहा! उसे देखने की इसने कभी दरकार नहीं की। आहाहा! वह दरकार नहीं की, यह भी अशुद्धनय से है और दरकार करे, वह भी (अशुद्धनय से है)। आहाहा!

आनन्द का नाथ जहाँ झूल रहा है। आहा! अकेला आनन्दरस, ज्ञायकरस, चैतन्यरस, ध्रुवधातु, चैतन्यरूप ध्रुवधातु, ध्रुवपना जिसने चैतन्य का धार रखा है। एकरूप त्रिकाल, आहाहा! उसकी इसने नजर नहीं की, इसलिए यह सब बात करते हैं। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तो नजर करना, वह भी कहते हैं कि अशुद्धनिश्चय है। आहाहा! वह वस्तु स्वयं वह है, परन्तु उसके ऊपर पर्याय है न? आहाहा! वह व्यवहारनय है। निश्चयमोक्षमार्ग द्रव्य के लक्ष्य से हो, वह व्यवहार है। आहाहा! त्रिकालपना जो चीज़ है, वह मोक्षमार्गपर्याय में भी नहीं आती, राग के भाव में नहीं आती। राग में तो नहीं आवे परन्तु उसकी मोक्षमार्ग की निर्मल पर्याय में भी नहीं आवे, क्योंकि वह व्यवहार है। आहाहा! यह तो जाननेयोग्य चीज़ है, बापू! इसने चैतन्य हीरा परखा नहीं। इसलिए यह सब बात करते हैं। पर्याय से बन्ध और पर्याय से मुक्ति। रह गया भगवान भिन्न। समझ में आया? जिसकी कीमत करनेयोग्य है, वह रह गयी।

दोनों नयों से... असद्भूतव्यवहारनय से द्रव्यकर्म से छूटता है। अशुद्धनिश्चयनय से भावकर्म से छूटता है। आहाहा! है न? ऐसा करता है। **तो भी...** आहाहा! **शुद्धपारिणामिक परमभाव के ग्रहण करनेवाले...** आहाहा! शुद्धपारिणामिक त्रिकाली सहजस्वरूप है। पारिणामिक अर्थात् सहजस्वरूप। त्रिकाली स्वरूप है, जिसमें पर्याय का होना भी नहीं, पर्याय का जाना नहीं। आहाहा! पर्याय प्रवेश करती नहीं, पर्याय ऊपर-ऊपर तैरती है। आहाहा! ऐसा **शुद्धपारिणामिक परमभाव...** देखा? क्षायिकभाव आदि अपरमभाव हैं, अपरमभाव। आहाहा! यह भगवान परमभाव अस्ति शाश्वत है न? परमस्वभावभाव का अस्तित्व शाश्वत है। क्षायिकभाव का अस्तित्व भी सादि-अनन्त है। आहाहा! वह पर्याय है, नाशवान है, क्षायिकभाव

की पर्याय भी नाशवान है क्योंकि एक समय में हो और दूसरे समय में नाश को प्राप्त होती है। भगवान अन्दर अविनाशी एकरूप है। आहाहा!

ऐसे **शुद्धपारिणामिक परमभाव के ग्रहण करनेवाले...** अर्थात् जाननेवाले। **शुद्धनिश्चयनय से नहीं करता है...** शुद्धनिश्चयनय से राग को करता नहीं, बन्ध को करता नहीं, मोक्ष को करता नहीं। आहाहा! वस्तु, पर्याय को क्या करे? आहाहा! पर्याय, पर्याय को करे। देखो! यह सर्वज्ञ का पन्थ है। जिनवरदेव भगवान ऐसा कहते हैं। आहाहा! 'परमार्थ वचनिका' में नहीं कहा? कहा था न? बताया था। परमार्थ वचनिका, बनारसीदास (कृत)। द्रव्य है, वह निश्चय है और निश्चयमोक्षमार्ग साधना है, वह व्यवहार है। पर्याय है न? द्रव्य और पर्याय में द्रव्य निश्चय है और पर्याय व्यवहार है। चाहे तो मोक्ष की पर्याय हो और चाहे तो केवली की हो, परन्तु वह व्यवहार है। आहाहा!

शुद्धपारिणामिक परमभाव... ऐसे शुद्ध क्यों लिया? – कि पर्याय को भी पारिणामिक कहा जाता है। उदयभाव, उपशमभाव को पारिणामिक कहा जाता है परन्तु वह अशुद्ध पारिणामिक है। शुद्ध त्रिकाल है। यह द्रव्यसंग्रह में आता है, उसमें पारिणामिक के तीन भेद आते हैं न? अशुद्धता। जीव (जीवत्व)—भव्य-अभव्य है। ये तीन पड़े, वह भेद हो गया। द्रव्यसंग्रह में आता है, उसमें आता है। एक समय की मोक्ष की पर्याय, वह भी नाशवान है। दूसरे समय तो व्यय हो जाता है। आहाहा! इससे वह पर्याय भी... यह श्रुतज्ञानी के लिये बात है, हों! जिसे हो गया, उसे कुछ नहीं। जिसे नय से जानना (होता है), उसके लिये यह है। नय है, वह श्रुतज्ञानियों के लिये (भेद है)। मोक्ष हो गया, उसे व्यवहार नहीं है। यह तो जो साधक है, श्रुतज्ञान के भेद नय से जानता है, उसे मोक्ष व्यवहार है। आहाहा! समझ में आया? आहा! उन्हें नय कहाँ है। यह तो आता नहीं? वहाँ शुद्धनय पूर्ण हो गया है। आता है न? समयसार में आस्रव अधिकार, आस्रव अधिकार। केवलज्ञान में शुद्धनय पूर्ण हो गया अर्थात् कि आश्रय लेने का था, वह ले लिया, पूरा हो गया। आस्रव में आता है। समयसार तो अध्यात्म का... आहाहा! बड़ा गंज है!! अध्यात्म का निधान है।

बन्ध और मोक्ष से रहित है... लो! परमशुद्धपारिणामिकभाव तो बन्ध और मोक्ष से रहित है। आहाहा! **ऐसा भगवान ने कहा है...** लो! उसमें है न? वहाँ आया है न? '**कोऽसौ। निश्चय इति**' ऐसा। यह फिर भगवान का कहा हुआ है। इसका स्पष्टीकरण किया। शुद्ध उपादेय '**इति**' भावार्थ है, ऐसा। आहाहा!

वही शुद्धात्मा आराधने योग्य है। लो! आराधना की पर्याय है, वह अशुद्धनय की है।

आराधना है त्रिकाल को, वह शुद्ध है। आहाहा! परमात्मा परमदेव की आराधना करनी है। आहाहा! वह आराधना करनेयोग्य है, लो! ६५वीं बहुत सरस गाथा है! अब ६८ में निश्चय का आयेगा। ३२० (गाथा में) आया है न? ३२० गाथा (समयसार) जयसेनाचार्य की टीका। उसमें यह ६८वीं गाथा रखी है।

आगे दोहा सूत्रों की स्थल संख्या से बाहर उक्तं च स्वरूप प्रक्षेपक को कहते हैं... यह प्रक्षेप की गाथाएँ हैं। ६५, ६५ की दूसरी।

सो णत्थि त्ति पएसो चउरासी-जोणि-लक्ख-मज्झम्मि।
जिण वयणं ण लहंतो जत्थ ण डुलुडुल्लिओ जीवो॥६५ *१॥

आहाहा! **ऐसा कोई भी प्रदेश (स्थान) खाली नहीं है...** चौदह ब्रह्माण्ड में कोई क्षेत्र खाली नहीं कि जिसमें अनन्त बार जन्मा और मरा न हो। असंख्य योजन का चौदह ब्रह्माण्ड, तिरछा असंख्य योजन... कोई एक प्रदेश भी खाली नहीं है। आहाहा! **कि जिस जगह चौरासी लाख योनियों में होकर जिनवचन को नहीं प्राप्त करता हुआ...** आहाहा! जिनवचन का अर्थ? भगवान ने कहा हुआ भाव। आहाहा! उसे **नहीं प्राप्त करता...** आहाहा! ऐसा जो त्रिकाली भाव, वह जिनवचन का अर्थ।

यह आया है न कलश-टीका में? नहीं? **'उभयनयविरोधध्वंसिनी स्यात्पदांके'** (कलश-४) वहाँ अर्थ किया है कि भगवान ने शुद्ध आत्मा उपादेय कहा है, वह जिनवचन है। समझ में आया? कलश-टीका। वहाँ विवाद है न? पाठ ऐसा है। **'उभयनयविरोधध्वंसिनी स्यात्पदांके जिनवचसरि रमन्ते'** अर्थात् व्यवहार और निश्चय में रमे। ऐसा अर्थ करते हैं उसमें। व्यवहारनय दो है न? दो नय है न? कितने ही पण्डित ऐसा अर्थ करते हैं। इसलिए कहते हैं कि **'जिनवचसरि रमन्ते'** अर्थात्? दिव्यध्वनि द्वारा कही है उपादेयरूप शुद्ध जीववस्तु, वह। जिनवचन में रमना अर्थात् जिनवचन में कही हुई शुद्ध उपादेय वस्तु वह जिनवचन कहते हैं। आहाहा! है या नहीं? शिखरचन्दजी! इसमें सौ प्रतिशत... ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा!

क्या कहा? **'जिनवचसरि रमन्ते'** है न शब्द? अर्थात् कि भाई! जिनवचन में रमना है? वचन तो जड़ है। पाठ तो यह है। तब कहते हैं कि जिनवचन में अर्थात् दिव्यध्वनि द्वारा कही है उपादेय शुद्ध जीववस्तु, उसमें **रमन्ते** सावधानरूप से रुचि, श्रद्धा-प्रतीति करे। शुद्ध जीववस्तु का प्रत्यक्षरूप से अनुभव करे, उसका नाम रुचि, श्रद्धा, प्रतीति है। वचन पुद्‌गल है, उसकी रुचि करने से स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए वचन द्वारा कही जाती है जो कोई उपादेयवस्तु, उसका अनुभव करने से फल प्राप्ति है। आहा! कैसा है जिनवचन? दो पक्षपात

और परस्पर बैर-भाव है - द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक - उनका हल करनेवाला है। आहा! इसमें से यह निकालते हैं। देखो! दो नय हैं, भगवान ने कहा है, दोनों में रमना, परन्तु दोनों में किस प्रकार रमे ? ऐसे रमे तो राग में रमे नहीं और राग में रमे तो इसमें रमे नहीं। इसलिए रमने की वस्तु एक ही कही। त्रिकाली वस्तु है, वह उपादेय है, जिनवचन में ऐसा कहा है। टीकाकार ने कैसे अर्थ किये! आहाहा! उसमें पण्डित वहाँ गड़बड़ करते हैं।

जिनवचन में रमना ऐसा कहा तो वचन में रमना है ? वचन तो वाणी है जड़ है। उसमें कहा हुआ जो भाव, दिव्यध्वनि द्वारा कहा हुआ आत्मा, उस दिव्यध्वनि द्वारा भगवान ने कहा है। पूर्णानन्द का नाथ पूर्ण है, उसका आदर कर। आहाहा! उसे तू उपादेयरूप से जान, भाई! राग को नहीं, निमित्त को नहीं, पर्याय को नहीं, उपादेयरूप से... आहाहा! भगवन्तों का दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा कहना है। आहाहा! अरे! इसे न समझे और बाहर में यह किया करे, पूजा, दया, दान और भक्ति... वह तो सब भटकने का रास्ता है। समझ में आया ? दया, दान, पूजा, व्रत, भक्ति... वीतराग के वचन में तो प्रभु ने यह कहा है। आहाहा! '**भूदत्थमस्सिदो खलु..**' यह भगवान ने कहा है। ११वीं गाथा। भूतार्थ के आश्रय से दृष्टि / समकित होता है। भूतार्थ का आश्रय कर। त्रिकाल भगवान है, उसे उपादेय कर। आहाहा!

यह जीव नहीं भटका। जिनवचन को नहीं प्राप्त करके। अर्थात् यहाँ तो जिनवचन आया है न ? इसलिए उस जिनवचन में कही हुई उपादेय वस्तु को नहीं प्राप्त करके। **इस जगत में ऐसा कोई स्थान नहीं रहा, जहाँ पर यह जीव निश्चय-व्यवहाररत्नत्रय को कहनेवाले जिनवचन को नहीं पाता हुआ...** है न ? पाठ में भी है, हों! '**भेदाभेदरत्नत्रयप्रतिपादकं**' ऐसा है न ? कहा है। मूल तो निश्चय हो, वहाँ व्यवहार होता है, ऐसा बताकर भेदाभेद रत्नत्रय का प्रतिपादक वचन कहा। समझ में आया ? जहाँ निश्चय है, प्रत्याख्यान का आश्रय लेकर पड़ा है, उसे अभी राग बाकी है, उसे व्यवहार होता है - ऐसा सिद्ध करने के लिये भेदाभेद रत्नत्रय का वचन अण, पाकर - ऐसा कहा है। समझ में आया ? उसमें भी वह निश्चय है, उसे व्यवहार होता है, ऐसा सिद्ध करने के लिये वीतराग की वाणी में भेदाभेद रत्नत्रय को कहा है, ऐसा कहा है। समझ में आया ?

श्रोता : आराधनेयोग्य एक है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका अर्थ यह कि आराधनेयोग्य एक है परन्तु साथ में है, उसे आराधनेयोग्य का आरोप दिया गया है। आहाहा! जैसे दो मोक्षमार्ग कहे न ? वह कथन है। इसी

प्रकार दो आराधन है, वह कथन है, आराधनेयोग्य तो एक त्रिकाली वस्तु है परन्तु साथ में निरूपण / कथन आवे, साथ में उस-उस भूमिका के योग्य की मन्द कषाय का राग होता है, उसे व्यवहारनय का आरोप करके आराधने का कहा है। आहाहा! आरोप से कहा है, यथार्थ से नहीं। आहाहा!

निश्चय-व्यवहाररत्नत्रय को कहनेवाले जिनवचन को नहीं पाता हुआ अनादि काल से चौरासी लाख योनियों में होकर न घूमा हो... आहाहा! अरे रे! एकेन्द्रिय के चौरासी लाख योनि। एक-एक योनि में अनन्त बार जन्मा और मरा न हो, ऐसा कोई स्थान नहीं है। काल की आदि नहीं, ऐसे अनादि काल में इसने चौरासी (लाख) योनियों में एक-एक में अनन्त बार उपजकर... आहाहा! खाली रखी नहीं। **अर्थात् जिनवचन की प्रतीति न करने से सब जगह और सब योनियों में...** आहाहा! **भ्रमण किया, जन्म-मरण किये।** भाई! आहाहा! वीतरागी भाव का आराधन नहीं किया। वीतरागभाव ऐसा भगवान आत्मा का आराधन नहीं किया; इसलिए व्यवहार भी इसे नहीं होता। जिसने यह आराधन किया, उसे व्यवहार होता है, इतना बताने के लिये दोनों का आराधन कहा है। आहाहा! वे कहते हैं दो में पूरा होता है। समन्तभद्र का कहा। बाह्य और अभ्यन्तर से... बापू! वह क्या अपेक्षा है? भाई! निश्चय का जहाँ अभ्यन्तर परिणाम है, उस काल में उसकी पूर्ण दशा हुई नहीं, इसलिए उस काल में उसे राग होता है, उसे व्यवहार कहकर मोक्षमार्ग कहा, आराधन करना कहा। समझ में आया? यह तो उपचार से है; निश्चय से है, वह यथार्थ से है। समझ में आया? यह किस नय का कथन है, ऐसा न जाने तो कठिन पड़े।

यहाँ यह तात्पर्य है कि जिनवचन को न पाने से यह जीव जगत में भ्रमा, इसलिए जिनवचन ही आराधनेयोग्य है। ६५ है न? देखो! टीका में तो ऐसा है। '**जीवस्तदेवोपादेयात्मसुखप्रतिपादकत्वा**' देखा? '**जीवस्तदेवोपादेयात्मसुखप्रतिपादकत्वादुपादेय**' आत्मसुख की प्राप्ति, वह उपादेय है। वापस डाला दोनों वह, भाई! परन्तु टीका का अन्तिम योगफल यह है, ६५ में... ६५ का दूसरा। '**जीवस्तदेवोपादेयात्मसुखप्रतिपादकत्वादुपादेय**' ऐसा है न? ऐसा लिखा है। सुख का कहनेवाला, ऐसा। आनन्द का कहनेवाला वचन वीतराग का है। अतीन्द्रिय आनन्द का कहनेवाला है, उसका आराधन नहीं किया।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

३७

श्री परमात्मप्रकाश, गाथा ९२, प्रवचन ६९
दिनांक २२-०८-१९७६

परमात्मप्रकाश, ९२ गाथा। **आगे आत्मा का चेतनभाव वर्णन करते हैं -**

पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु धम्माधम्म वि काउ।
एक्कु वि अप्पा होइ णवि मेल्लिवि चेयण-भाउ॥९२॥

पुण्यरूप शुभकर्म और पापरूप अशुभकर्म, वह आत्मा नहीं, वह आत्मा में है नहीं। आहाहा! प्रथम तो यह बात है। रात्रि में कहा था कि आत्मा की पर्याय में जो विकार होता है, वह भी स्वतन्त्र षट्कारक परिणमन से होता है। ऐसी स्वतन्त्रता जिसे न जँचे, उसे त्रिकाली चैतन्यभाव स्वतन्त्र है, यह किसी प्रकार उसे दृष्टि में नहीं आ सकता। समझ में आया? ***एक समय में अनन्त गुण की जो एक समय में पर्याय है, विकृत या अविकृत; वह विकृत अवस्था एक समय में अपने षट्कारक - कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण - इन षट्कारक के परिणमन से अपनी विकृत पर्याय अपने से, पर की अपेक्षा बिना होती है। विकार की पर्याय को तो पर की अपेक्षा नहीं , परन्तु निर्मलपर्याय जो होती है - सम्यग्दर्शन, ज्ञानादि निर्मलपर्याय है, वह भी वास्तव में अपने षट्कारक के परिणमन से होती है। व्यवहार की अपेक्षा से नहीं और द्रव्य-गुण की अपेक्षा से नहीं होती। आहाहा! ऐसा सत् है। समझ में आया?***

जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान की निर्मलपर्याय... यह कहने में आता है कि भूतार्थ के आश्रय से होती है, परन्तु उस पर्याय की स्वतन्त्रता; जब विकार की पर्याय अपने षट्कारक के परिणमन से, अपनी अपेक्षा से और पर की अपेक्षा से रहित होती है, ऐसे विकार के सत् का स्वरूप ऐसा है। आहाहा! तो निर्विकारी पर्याय की सत्ता का स्वीकार स्वयं से, पर की अपेक्षा बिना (होता है)। वहाँ व्यवहार है तो निश्चय हुआ है - ऐसी अपेक्षा उसमें नहीं है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? वह निर्मलपर्याय स्वयं से, कर्ता-कर्म... नवरंगभाई! रात्रि को थे? रात्रि में बहुत बात हुई थी। यह तो हमारे सुजानमलजी कहते हैं, दिन में थोड़ा कहना। आहाहा!

एक-एक गुण की एक-एक पर्याय स्वतन्त्र षट्कारक से परिणमित होती है।

आहाहा! उस पर्याय को पर की अपेक्षा तो नहीं; द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं, परन्तु एक पर्याय के साथ में अनन्त पर्यायें जो उत्पन्न होती हैं, उस दूसरी पर्याय की अपेक्षा नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा वस्तु की सत्ता का स्वभाव है। एक-एक पर्याय स्वयं से, अनन्त पर्यायें एक समय में उत्पन्न होती है, निर्मल और विकारी, वह एक-एक समय की पर्याय षट्कारक-कर्ता पर्याय, कर्म पर्याय, करण पर्याय, पर्याय होकर पर्याय रखे - वह पर्याय सम्प्रदान, पर्याय से पर्याय और पर्याय के आधार से पर्याय होती है। आहाहा! ***यहाँ तो कहना है कि उस पर्याय की इतनी स्वतन्त्रता, क्षणिक पर्याय की इतनी स्वतन्त्रता जिसे न जँचे, उसे त्रिकाली ध्रुव उपादान कभी दृष्टि में नहीं आता है।*** नवरंगभाई! समझ में आया? आहाहा!

सम्यग्दर्शन की पर्याय... जब विकारी पर्याय भी षट्कारक के परिणमन से, पर की अपेक्षा बिना होती है तो सम्यग्दर्शन की पर्याय में वह सत् है न? आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द के साथ सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रगट हुई, उस पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द आया, उसकी सम्यग्दर्शन की पर्याय को अपेक्षा नहीं। समझ में आया? बहुत बात.. समुद्र.. आत्मा एक सत् का समुद्र है, सत् का समुद्र है। आहाहा!

श्रोता : कुछ करने का आया नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : करने का आया न! वीतरागता हुई न! पर्याय, पर्याय से होती है तो उसकी दृष्टि छोड़कर, मैं द्रव्य वस्तु हूँ, यह आया। यह बात तो कहते हैं। यदि पर्याय पर से होवे तो पर्याय को छोड़कर द्रव्य की दृष्टि नहीं होती, किन्तु मेरी पर्याय, मुझसे स्वतन्त्र होती है तो मैं उसे छोड़कर द्रव्यदृष्टि करता हूँ। त्रिकाली चैतन्यभाव मैं हूँ। पर्याय है तो उसमें परन्तु वह स्वतन्त्ररूप से है। आहाहा! समझ में आया?

अरे..! एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं। '*द्रव्याश्रया गुणाः*' कहते हैं न? द्रव्य के आश्रय से गुण हैं; गुण के आश्रय से गुण नहीं। आहाहा! एक ज्ञानगुण जो है, वह भी दूसरे अस्तित्वगुण के कारण नहीं है। आहाहा! तो पर्याय में भी ज्ञान की जो एक समय की पर्याय है, उस समय में अस्तित्व गुण की पर्याय है, उसके कारण से ज्ञान की पर्याय नहीं है। आहाहा! समझ में आया? भगवान! मार्ग तो ऐसा है, भाई! लोगों को द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान नहीं और पर्यायरहित भगवान आत्मा कैसा है, उसकी उन्हें दृष्टि होती नहीं। आहाहा! पर्याय तो है और प्रत्येक गुण भी है, परन्तु एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं है परन्तु एक गुण दूसरे गुण के रूप रूप से है। यह क्या कहा?

ज्ञानगुण जो है, साथ में अस्तित्वगुण है तो अस्तित्वगुण के कारण से ज्ञानगुण नहीं है परन्तु ज्ञानगुण में अस्तित्वपना स्वयं से है। ज्ञानगुण में अस्तित्व है, हों! अस्तित्वगुण के कारण से नहीं। अस्तित्वगुण तो ज्ञानगुण के अस्तित्व में अस्तित्वगुण तो निमित्त है, परन्तु इस ज्ञानगुण में अपने उपादान से अस्तित्व है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी एक पर्याय के अस्तित्व में, ज्ञान की पर्याय का अस्तित्व, अस्तित्वगुण की पर्याय भी साथ में है परन्तु अस्तित्वगुण की पर्याय तो ज्ञानगुण की पर्याय में निमित्त है। उपादान तो ज्ञान की पर्याय में अस्तित्व स्वयं के कारण से अस्तित्व है। दूसरे गुण का दूसरे गुण में रूप कहने में आता है। दूसरे गुण में दूसरा गुण नहीं है। समझ में आया? अब ऐसी बात। कहो, सेठ! कभी सुना नहीं और पैसे ही पैसे में (फँस गया)। स्वतन्त्र है न, भगवान! आहाहा! कैसी स्वतन्त्रता? समझ में आया?

एक पर्याय के साथ दूसरी पर्याय हुई है, उससे भी वह पर्याय नहीं। फिर वह पर्याय पर से होती है, (यह बात ही कहाँ रही)? इसी प्रकार भगवान आत्मा में जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय जो षट्कारक से स्वयं से होती है, उसमें व्यवहार की अपेक्षा नहीं है। यहाँ यह सिद्ध करना है। आहा! यह बात गजब, भाई! अपने त्रिकाली चैतन्यभाव की प्रतीति-सम्यग्दर्शन की पर्याय में व्यवहार की अपेक्षा नहीं है। उस पर्याय में दूसरी पर्याय की अपेक्षा नहीं है, उस पर्याय में द्रव्य-गुण की अपेक्षा निश्चय से नहीं है। आहाहा! समझ में आया? कहो, कान्तिभाई! आहाहा! ये प्लेन में नौकर थे। सेठ तो पहिचानता है। पन्द्रह सौ का वेतन था। छोड़ दिया। मासिक पन्द्रह सौ का वेतन। प्लेन में, प्लेन नहीं उड़ते? दो वर्ष से छोड़ दिया। अठारह हजार बारह महीने में मिलते थे। छोड़ दिया, नौकरी छोड़ दी। अब उसमें धूल में क्या है?

अरे! एक समय की पर्याय बिना पर्याय को नहीं चलता। पर के बिना चलता है, अपनी पर्याय में अपनी पर्याय बिना नहीं चलता। आहाहा! यह तो बात चलती है। समझ में आया? ज्ञानगुण जो अपने में है, वह अपने से है। अस्तित्वगुण है तो ज्ञानगुण का अस्तित्व है, ऐसा नहीं है। ऐसे दर्शनगुण है, उसमें अस्तित्व है, वह अपने अस्तित्व से दर्शनगुण है। अस्तित्वगुण के कारण से दर्शन का अस्तित्व है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अमरचन्दभाई! आहाहा! कहाँ कभी सुना नहीं। भगवान आत्मा कौन है अन्दर? जिसके पर्याय, गुण और द्रव्य स्वतन्त्र... स्वतन्त्र हैं। आहाहा! स्वयंसिद्ध हैं।

कहते हैं कि एक गुण में दूसरे गुण का रूप है, वैसे अनन्त गुण का रूप एक गुण में है। एक ज्ञानगुण है, उसमें अपना अस्तित्व का रूप है, अस्तित्वगुण के कारण से नहीं। वैसे

वस्तुत्वगुण के कारण से ज्ञान में वस्तुत्व नहीं परन्तु ज्ञानगुण में वस्तुत्व का रूप है। समझ में आया? ऐसे ज्ञानगुण में जो साथ में कर्तागुण है, उससे कर्तापना नहीं। ज्ञान स्वयं से कर्ता है, ऐसा ज्ञान में कर्ता का रूप है। आहा! ऐसे कर्म नाम का गुण है, उससे ज्ञान में कर्मगुण का रूप नहीं। ज्ञान में कर्मरूप-कार्यरूप, रूप स्वयं से है। आहाहा! समझ में आया? लो, यह और रविवार है तो भावनगरवाले आये हैं न?

ऐसे एक पर्याय में अनन्त पर्याय का रूप है परन्तु एक पर्याय में दूसरी पर्याय नहीं है। आहाहा! समुद्र, समुद्र है न! सत् का सागर है!! द्रव्य का सागर, गुण का सागर, पर्याय का सागर। आहाहा! जिसे ऐसी एक समय की पर्याय में, अपनी पर्याय के षट्कारक से परिणमन है और षट्कारक में भी जो कर्ता-कर्म आदि जो छह गुण हैं, उन गुण की एक समय की पर्याय में दूसरे गुण की पर्याय के कारण कर्ता नहीं। हिम्मतभाई! क्या कहा यह?

जैसे षट्कारक आत्मा में गुण है तो एक गुण दूसरे गुण के कारण से नहीं है, वैसे पर्याय में षट्कारकरूप परिणमन हुआ तो कर्ता की पर्याय से कर्म की पर्याय है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! अन्दर छह गुण हैं न? तो यहाँ भी छह पर्याय हैं। यह बात स्वतन्त्र है। आहाहा! गजब बात है। सर्वज्ञ परमात्मा के अतिरिक्त यह बात कहीं किसी ने देखी नहीं और किसी ने जानी नहीं। बातें व्यर्थ की कल्पना की हैं। आहाहा! त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर भी पर को जानना, कहते हैं कि वह तो असद्भूतव्यवहारनय से है। लोकालोक को जानते हैं, ऐसा कहना, वह असद्भूतव्यवहारनय से है क्योंकि तन्मय होकर नहीं जानते। लोकालोक को तन्मय होकर नहीं जानते। उस रूप होकर जानते हैं? वह तो अपनेरूप रहकर जानते हैं। आहाहा! समझ में आया? उनका स्व-प्रकाशन और पर-प्रकाशन अपनी पर्याय में अपने कारण से परप्रकाशकपना है, पर के कारण से नहीं। लोकालोक है तो यहाँ परप्रकाशकपना प्रगट हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा! गजब बात है, प्रभु! तेरी बलिहारी है भाई! आहाहा! तेरी समृद्धि, तेरी सम्पत्ति.. आहाहा! समझ में आया?

एक पर्याय में कर्ता की पर्याय हुई, पर्याय में, उस समय उसके कर्मगुण की पर्याय भी है या नहीं? षट्कारक गुण की पर्याय है या नहीं? आहाहा! तो एक गुण की पर्याय में दूसरे गुण की पर्याय भी साथ में नहीं। उसके कारण से नहीं। स्वयं का रूप है, कर्ता, कर्तारूप है; कर्म, कर्मरूप है; करण, करणरूप है; अपादान, अपादान; सम्प्रदाय, सम्प्रदाय; अधिकरण, अधिकरण (रूप से है)। आहाहा! गजब बात है! निर्विकल्पता वीतरागता उत्पन्न होने का यह उपाय है। समय-समय की पर्याय स्वयं से है, पर की पर्याय से नहीं। पर से तो नहीं परन्तु

अपनी दूसरी पर्याय से नहीं और अपना एक गुण दूसरे गुण से नहीं, तथापि एक-एक गुण में अनन्त गुण का रूप है। ऐसे एक-एक पर्याय दूसरी पर्याय से नहीं है परन्तु एक पर्याय में अनन्त पर्याय का रूप है। आहाहा!

चिद्विलास में बहुत स्पष्टीकरण किया है। दीपचन्दजी साधर्मी। चिद्विलास में बहुत (स्पष्टीकरण किया है)। भले गृहस्थ थे। समझे? दीपचन्दजी है न? चिद्विलास, ज्ञान का विलास। यह चेतना आयी न? ज्ञान का विलास। उसमें ऐसा लिखा है कि एक-एक पर्याय स्वतन्त्र है, अपनी दूसरी पर्याय से भी नहीं। एक-एक गुण स्वतन्त्र है, दूसरे गुण से नहीं, परन्तु दूसरे अनन्त गुण का रूप एक गुण में है। अनन्त गुण का रूप एक गुण में है। ऐसे एक पर्याय में दूसरे अनन्त पर्यायों का रूप है। आहाहा! उसमें तो ऐसा लिखा है कि जैसे-जैसे स्पष्टीकरण करते हैं, वैसे-वैसे शिष्य का आनन्द उपजता है, ऐसा लिखा है। भाई! चिद्विलास में। आहाहा! उसका स्वभाव ही ऐसा है। ओहोहो! उसकी दृष्टि हुई हो और फिर स्वतन्त्रता का स्पष्टीकरण हो, तब उसे आनन्द उछलता है। आहाहा! उसमें आनन्द आवे, ऐसा आनन्द कहीं नहीं आता। आहा! ऐसी बात है। समझ में आया? आहाहा!

एक गुण में अनन्त गुण का रूप! और उस गुण के आश्रय से गुण नहीं, क्योंकि द्रव्याश्रया गुणा आया न? तत्त्वार्थसूत्र में। द्रव्य के आश्रय से गुण है, कुछ गुण के आश्रय से गुण नहीं है, तथापि गुण के आश्रय से गुण नहीं हैं, तथापि अनन्त गुण का रूप एक गुण में है। आहाहा! पर्याय भी पर्याय के आश्रय से निश्चय से है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी ***अनन्त पर्याय एक-एक समय में षट्कारक की परिणति से स्वतन्त्र है। ऐसा जिसे रुचा हो, उसे द्रव्य उपादान स्वतन्त्र ध्रुव है, उसकी दृष्टि होती है। क्षणिकपर्याय के उपादान की स्वतन्त्रता जिसे न रुचे, उसे ध्रुव, जो पर्याय में आता नहीं, ऐसी चीज़ की दृष्टि उसे स्वतन्त्र नहीं होती।*** क्या कहा, सेठ! समझ में आया? आहाहा!

एक समय की अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें एक समय में है। वह एक-एक पर्याय अपने षट्गुण कारण से परिणमती है, दूसरे के कारण से नहीं। उसमें तो निमित्त उड़ जाता है। यह बाधा लोगों को आती है, परन्तु निमित्त तो उसे कहते हैं कि निमित्त से उसमें होता नहीं, तो निमित्त कहते हैं। आहाहा! और निमित्त जो चीज़ है, उसमें भी अनन्त गुण और अनन्त पर्यायें हैं। वह पर्याय भी अपने स्वतन्त्र षट्कारक से परिणमती है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ तो यह लेना है न? **आत्मा का चेतन भाव...** परन्तु यह किसे जँचे? जिसे पर्याय

की स्वतन्त्रता जँची हो। क्षणिक उपादान में प्रत्येक पर्याय स्वयं से हुई है, पर से नहीं, अरे! पर से तो नहीं परन्तु द्रव्य-गुण से नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसी पर्याय की स्वतन्त्रता वस्तु का स्वरूप है। ओहोहो! वे कहते हैं कि ईश्वर कर्ता है, यहाँ कहते हैं कि एक पर्याय की कर्ता दूसरी पर्याय नहीं है। एक पर्याय का द्रव्य कर्ता नहीं है।

श्रोता : गुण भी पर्याय का कर्ता नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं; गुण भी कर्ता नहीं। पर्याय स्वतन्त्र अपनी कर्ता है। आहाहा! आहाहा! ऐसे प्रत्येक पर्याय और प्रत्येक गुण अपने-अपने अनन्त गुणरूप और एक पर्याय अनन्त पर्यायरूप है। आहाहा! ऐसा होने पर भी पर की अपेक्षा नहीं है और अपनी पर्याय दूसरी पर्याय की अपेक्षा से वह पर्याय नहीं है। ऐसा अपना गुण दूसरे गुण से है, ऐसा नहीं है। तथापि एक गुण में अनन्त गुण का रूप है। प्रमेयत्व नाम का गुण है तो ज्ञान में प्रमेयत्व नाम की शक्ति है। समझ में आया? आहाहा!

श्रोता : अस्तित्वगुण में ज्ञान का रूप किस प्रकार?

पूज्य गुरुदेवश्री : अस्तित्वगुण नहीं। अस्तित्व में जानने की अपेक्षावाला अस्तित्व है इतना। उसमें जाननेवाला है, इतना अस्तित्व उसमें है। उसमें ज्ञान कहाँ है? अस्तित्व में अनन्त गुण का रूप है, परन्तु अस्तित्वरूप से, ज्ञानरूप से वहाँ कहाँ है? तब तो पर गुण यहाँ आ गये। ज्ञान का अस्तित्व है, वह दूसरे अस्तित्व में उसका रूप है। आहाहा! यह तो बात आ गयी, भाई! रात्रि को थोड़ी निकाली थी न? हमारे सुजानमलजी कहें, दिन में थोड़ी कहना। ऐसा मार्ग, प्रभु! आहाहा! तेरी धारा.. तेरी धारा.. आहाहा!

क्रमबद्ध तो है परन्तु वह पर्याय क्रमबद्ध होती है, वह भी स्वयं से होती है, पूर्व की पर्याय है तो यह पर्याय हुई, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! ऐसा वस्तु का स्वभाव है। यह बन्ध अधिकार में आया है। द्रव्य में अहेतुक सत् है, गुण में अहेतुक सत् है। उसका कोई हेतु नहीं है। पर्याय अहेतुक है, ऐसा आया है। बन्ध अधिकार में (आया है)। आहाहा! ***निर्मल पर्याय अहेतुक सत् है। (जो) है, उसे पर की अपेक्षा क्या? आहाहा!*** इसके अतिरिक्त तो बहुत लम्बी बात की। अध्यात्म पंच संग्रह में दीपचन्दजी ने की है। उसके थट और नट और थट... आते हैं न? भाई! एक गुण में दूसरे का नट है और थट है और कला है और... बहुत विस्तार आया है। भाई ने-दीपचन्दजी ने विस्तार बहुत किया है। ओहोहो! एक-एक पर्याय में दूसरी पर्याय का अस्तित्व / रूप, हों! वह गुण उसमें नहीं है। आहाहा!

श्रोता : एक पर्याय में दूसरी पर्याय किस प्रकार आवे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पर्याय आवे नहीं परन्तु उस पर्याय का रूप उसमें आवे। अस्तित्वगुण की पर्याय में ज्ञानगुण की पर्याय का रूप आया या नहीं ? अस्तित्व की पर्याय वहाँ नहीं आयी परन्तु ज्ञानगुण की पर्याय है, वैसा रूप उसमें है या नहीं ? आहाहा! सूक्ष्म बात है भगवान! यह तो सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा हुआ पदार्थ। द्रव्य-गुण और पर्याय ऐसे अनन्त (पदार्थ हैं)।

रात्रि में तो यहाँ तक कहा था न ? कि एक परमाणु जो है, उसमें दो गुण की स्निग्धता है। कोई चार गुण स्निग्धतावाले परमाणु के साथ (संयोग) होवे तो चार गुण होते हैं। वह चार गुण उसके कारण नहीं हुए। उन चार स्निग्धता की पर्याय षट्कारक परिणति से होती है। आहाहा! बड़ी गड़बड़ यह निमित्त और उपादान की। समझ में आया ?

देखो! यह वस्तु है। इसमें परमाणु जो है, वह सूक्ष्म है। यहाँ सूक्ष्म नहीं रहा, स्थूल हो गया। वह स्थूल षट्कारक की परिणति से स्वयं से हुआ है। स्थूल का कर्ता, स्थूल का कर्म, स्वयं से हुआ है, संयोग से नहीं।

श्रोता : संयोग में आये बिना नहीं होता न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह आये बिना नहीं होता (ऐसा) नहीं। उसका अर्थ ही यह (कि वह) होता है, तब उसकी योग्यता उसमें ही होती है, परन्तु इससे उसके कारण हुआ है (ऐसा नहीं है)। आहाहा! गजब बात है भाई!

प्रत्येक परमाणु में अनन्त गुण हैं। जितने गुण एक चैतन्य आत्मा में हैं, उतने ही गुण परमाणु में-अचेतन में हैं। आहाहा! जितने गुण एक सर्व व्यापक आकाश में हैं, उतनी संख्या से एक परमाणु में उतनें में हैं। आहाहा! उतनी संख्या। जितनी एक आत्मा में है, उतने आकाश में हैं, उतने एक परमाणु में हैं। कहाँ सर्व व्यापक! वह तो क्षेत्र से व्यापक हुआ, भाव तो जो अनन्त गुण है, उतना है। इतने गुण एक परमाणु में है। प्रदेश भले एक हो परन्तु अनन्त गुण शक्ति उतने में है। ओहोहो! और अनन्त गुण की एक परमाणु में एक समय में जो पर्यायें होती हैं तो उस परमाणु में भी षट्कारक गुण है। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण। आहाहा! गजब बात है। धर्मलालजी! ऐसी बात है, भगवान! लोगों को बेचारों को ऐसा लगता है। बाहर की उस प्रवृत्ति में रच-पच गये न! आहा!

रात्रि में एक आया था अवश्य परन्तु भूल गये। सपने में एक आया था, किसी के साथ

में मोक्षमार्ग की चर्चा होती थी, परन्तु किस प्रकार से, वह भूल गये। अन्दर मोक्षमार्ग की चर्चा हुई थी। वह कहे, ऐसे नहीं, निश्चय से ऐसा होता है, वह कहे ऐसा होता है। आहाहा!

एक परमाणु अनन्त गुण सम्पन्न है। अस्तित्वगुण, वर्णगुण, गन्धगुण, रसगुण, स्पर्शगुण, एक-एक गुण दूसरे गुण से नहीं परन्तु दूसरे गुण का रूप उसमें है। वर्णगुण का अस्तित्व है तो अस्तित्वगुण के कारण उसका अस्तित्व है, ऐसा नहीं है। आहाहा! शक्तियों का संग्रहालय भगवान! एक-एक परमाणु अनन्त शक्ति का संग्रहालय है। एक-एक परमाणु स्वभाव का सागर है। आहाहा! अरे! लोगों को कहाँ (खबर है) तत्त्व क्या है?

श्रोता : बड़ी बखारी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बखारी वह कितनी बखारी! आहाहा! गजब है, बापू! साधारण को तो उसके विश्वास में यह बात आना, निःसन्देहरूप से आना, यह बहुत अलौकिक बातें हैं। समझ में आया? आत्मा की यथार्थ प्रतीति बिना उसकी यथार्थ प्रतीति नहीं होती। आहाहा!

इसी प्रकार आकाश में भी अनन्त गुण हैं और एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता परन्तु एक गुण में दूसरे गुण का रूप है। आहाहा! समझ में आया? रात्रि में बहुत बात की थी, यह थोड़ी-थोड़ी आयी। यह तो फिर वह की वह बात कहीं निकलती है? आहाहा! वह तो सबेरे कहा नहीं था? रात्रि को विचार आया था। कहा, एक गुण में अनन्त गुण का रूप है। चिद्विलास में (आता है), भाई को कहा था। अभी भाई ले आये थे, तुमने नहीं निकाला। मैंने रात्रि को कहा था, चिद्विलास निकालना। एक गुण में अनन्त गुण का रूप है। यह भाई धनसुख है, इनको कहा था। फिर चिमनभाई ने दियाा। मैंने सबेरे कहा था परन्तु यहाँ नहीं देखा। उसमें है। ७५ में है।

एक गुण में सब गुण का रूप सम्भवे। बड़े अक्षर से है। चिद्विलास, दीपचन्दजी गृहस्थाश्रम में (लिखते हैं)। तो क्या है? गृहस्थाश्रम में आत्मा तो है या नहीं? एक गुण में सब गुण का रूप सम्भवे है। आहाहा! वस्तु विषे अनन्त गुण हैं, सो एक-एक गुण में सब गुण का रूप सम्भवे है। जो सत्तागुण है तो सब गुण सत्ता है, सब गुण का अस्तित्व है। ऐसे अनन्त गुण लेना। बहुत स्पष्ट किया है, बारीकी से कहा है। दीपचन्दजी साधर्मी। चिद्विलास, आत्मावलोकन, अनुभवप्रकाश, अध्यात्म पंच संग्रह, इनमें बहुत सूक्ष्म है। उसमें तो वहाँ तक कहा, लोग मेरी बात सुनते नहीं। मैं क्या कहता हूँ, वह सुनते नहीं, इसलिए मैं लिख जाता हूँ। ऐ... सेठ! गृहस्थाश्रम में थे। मैं लिख जाता हूँ। मेरी सत्य बात सुनते नहीं। (वे कहते हैं) नहीं,

ऐसा नहीं, ऐसा नहीं, ऐसा करके निकाल डालते हैं। निकाल डालो। मैं लिख जाता हूँ, ऐसा लिखा है। अरे! तत्त्वदृष्टिवन्त कोई दिखता नहीं, ऐसा उसमें लिखा है। यथार्थ तत्त्वदृष्टिवन्त कोई दिखता नहीं, मैं कहता हूँ तो सुनते नहीं। यह पंच संग्रह में है। अध्यात्म पंच संग्रह है न? सब देखा है न! यहाँ तो कितनी बार सब (पढ़ा गया है)। आहाहा! एक गुण में अनन्त गुण का रूप, लाओ! किसी जगह कहा है। आहाहा! इतना कहा, लो! सुजानमलजी! आधा घण्टा चला।

यहाँ आया न? **आत्मा का चेतनभाव का वर्णन...** यहाँ क्या लिया? जिसे पर्याय की स्वतन्त्रता रुचती हो, वह पर्याय की दृष्टि छोड़कर चेतनभाव की दृष्टि कर सकता है। समझ में आया? पुण्य नहीं, पाप नहीं परन्तु पुण्य-पाप की पर्याय उसमें स्वतन्त्र है, पर्याय में है। आहाहा! देखो!

पुण्यरूप शुभकर्म, पापरूप अशुभकर्म अतीत-अनागत-वर्तमान काल... आत्मा में नहीं है। आहाहा! भूतकाल, वर्तमान और भविष्य वस्तु में कहाँ है? वस्तु तो त्रिकाल है। चेतनभाव जो है, वह तो त्रिकाल है। ध्रुव उपादान। परन्तु जिसे क्षणिक उपादान की स्वतन्त्रता न जँचे, उसे ध्रुव उपादान की शक्ति नहीं बैठती (जँचती)। आहाहा! अभी यह बड़ा विवाद है। आहाहा! अरे रे! भगवान! कठिनता से मार्ग आया, प्रभु! समझ में आया? और वह भी फिर वहाँ तक ले जाते हैं कि अरे! प्रभु! व्यभिचारी पन्थ है। अरे! नाथ! क्या कहना है तुझे भाई! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि प्रभु! चेतनभाव में भूत, वर्तमान, भविष्य का काल भी नहीं है। काल क्या? वह तो वस्तु है, वह है। समझ में आया? आहाहा! समयसार नाटक में आता है। दामोदरभाई बोलते थे। ऐई! तेरे पिता। खबर है? खबर भी नहीं होगी। दामोदरभाई लाखाणी थे न? दामोदरभाई और मूलजीभाई दो। मूलजीभाई तो अपने... दामोदरभाई को वाँचन बहुत। वे कहते थे, घड़ी मेरी काल मेरा, पहर मेरा, दिन मेरा... यह बोलते थे। यह समयसार नाटक में आता है। समयसार नाटक में... यह घड़ी मेरी, यह काल मेरा, यह पहर मेरा—ऐसा करके ममता में काल में चिपट गया है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि त्रिकाल भगवान में काल है ही नहीं। भूतकाल-वर्तमान-भविष्य, वस्तु है। वस्तु में कहाँ काल है? आहाहा! चेतनभाव त्रिकाल भाव... आहाहा! कलश-टीका में तो ऐसा लिया है, २५२ कलश। २५२ कलश है न? ***जो त्रिकाल वस्तु है, वह स्वकाल है और एक उसकी एक समय की पर्याय है, वह परकाल है। आहाहा! ऐई! समझ में***

आया? एक समय का जो द्रव्य है, वह स्वद्रव्य है और द्रव्य का विकल्प से भेद पाड़ना कि यह द्रव्य और यह द्रव्य, ऐसा भेद पाड़ना, वह परद्रव्य है। अन्य परद्रव्य तो भिन्न रह गये। आहाहा! असंख्य प्रदेशी एकरूप है, वह स्वक्षेत्र है और असंख्य प्रदेश में भेद पाड़ना कि यह असंख्य प्रदेश और यह प्रदेश, वह परक्षेत्र है। भेद कल्पना परद्रव्य और भेद कल्पना परक्षेत्र। भगवान आत्मा स्वकाल अर्थात्... यह काल नहीं, हों! भूत, भविष्य नहीं। त्रिकाली वस्तु है, वह स्वकाल है। पर्याय जो है, द्रव्य की, हों! उस एक समय की पर्याय को परकाल कहा। त्रिकाली की अपेक्षा से पर्याय को परकाल कहा। आहाहा! समझ में आया? और भाव। त्रिकाली भाव, एकरूप चैतन्यभाव आदि अनन्त गुण के भाव, अनन्त गुणरूप भाव, वह स्वभाव; उसमें यह ज्ञान है और दर्शन है, ऐसा भेद पाड़ना, वह परभाव। गजब बात है, भाई! परद्रव्य तो परभाव, राग तो परभाव परन्तु अनन्त गुण के एकरूप में गुण की भेद कल्पना होना, वह परभाव है। कलश-टीका २५२ कलश में है। समझ में आया? यह है न कलश-टीका?

स्वद्रव्य अर्थात् निर्विकल्प मात्र वस्तु... एकरूप त्रिकाली द्रव्य, वह स्वद्रव्य। है? **स्वक्षेत्र अर्थात् आधारमात्र वस्तु का प्रदेश...** वस्तु का प्रदेश; वस्तु के प्रदेश नहीं। एकरूप सब। असंख्य प्रदेश को पंचास्तिकाय में एक प्रदेश कहा है। एकरूप की अपेक्षा से एक प्रदेश कहा है। आहाहा! वह स्वक्षेत्र। है? **स्वकाल अर्थात् वस्तुमात्र की मूल अवस्था...** त्रिकाली। **स्वभाव अर्थात् वस्तु की मूल की सहज शक्ति; परद्रव्य अर्थात् सविकल्प भेद कल्पना...** आहाहा! परद्रव्य तो परद्रव्य में रहे, राग भी परद्रव्य में रहा परन्तु द्रव्य में भेद पाड़ना-अभेद में भेद पाड़ना, वह परद्रव्य है। ऐसा मार्ग है। कितनों ने बेचारों ने सुना नहीं होगा, उन्हें यह बात ऐसी लगे... भाई! मार्ग तो यह है, हों!

कर्म से विकार होता है, ऐसे होता है और वैसे होता है! आहाहा! बड़ी गड़बड़। समझ में आया? बनारस में ईश्वरकर्ता माननेवाले पण्डितों के पास पढ़े, उन्हें जैनदर्शन की क्या खबर? वे ईश्वरकर्ता माने। सृष्टि उपादान अपने से है, निमित्त ईश्वर है। वह जहाँ हो, वहाँ निमित्त घुसा डाला। पण्डितों, जैन के पण्डित सीखे उसे। समझ में आया? वह तो बेचारा कहता है, देवकीनन्दन कहते हैं। देवकीनन्दन पण्डित नहीं? यहाँ रहे, चर्चा हुई। ओहो! आगम चक्खु सहाओ, महाराज! मैंने तो ऐसा मैंने यहाँ देखा। हमारे सब पण्डितों का निमित्ताधीन पढ़ाई है। सब पण्डितों की निमित्ताधीन (दृष्टि है), ऐसा वे कहते थे। देवकीनन्दन! तब सेठ यहाँ नहीं होंगे। समझ में आया? बहुत निस्पृह व्यक्ति थे। पंचाध्यायी की टीका बनायी है न?

पंचाध्यायी की टीका में भूल थी तो मैंने कहा, भाई! यह भूल है, तो उन्होंने कहा सुधारो महाराज! हमने तो हमारी दृष्टि से लिखा है। उन्होंने लिखा था छठवें गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक का राग है और सातवें में अबुद्धिपूर्वक का राग है, ऐसा लिखा था। मैंने कहा, ऐसा नहीं है। छठवें गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक दोनों है। सातवें में अबुद्धिपूर्वक है, ऐसा है। फिर सुधार दिया। कहा, देखो! गोम्मटसार में है, व्यक्त-अव्यक्त। जो प्रगट ख्याल में आता है, वह बुद्धिपूर्वक का राग है और उसी समय ख्याल में नहीं आता, वह अबुद्धिपूर्वक-अव्यक्त है। व्यक्ताव्यक्त शब्द गोम्मटसार में है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि स्वद्रव्य में भेद डालना, वह परद्रव्य है। **परक्षेत्र अर्थात् जो वस्तु का आधारभूत प्रदेश निर्विकल्प वस्तुमात्ररूप से कहा था, वही प्रदेश सविकल्प भेदकल्पना से परप्रदेश...** है। आहाहा! असंख्यप्रदेशी भगवान एकरूप, वह स्वक्षेत्र। उस प्रदेश में भेद पाड़ना कि यह प्रदेश और यह प्रदेश ऐसा भेद, वह परक्षेत्र। यह गृहस्थ काम करते हैं, देखो! यह राजमल। कलश-टीका है न? उसमें से समयसार नाटक बनाया है। उसमें से (बनाया है) बनारसीदास। 'राजमल जैनधर्मी' ऐसा लिखा है। यहाँ तो जैनधर्मी का कहना था। **परकाल अर्थात् द्रव्य की मूल की निर्विकल्प अवस्था...** वह स्वकाल। **अवस्थान्तर भेदरूप कल्पना, सो परकाल...** आहाहा! कालद्रव्य परद्रव्य है, उसकी बात नहीं है। अपनी त्रिकाली वस्तु, वह स्वकाल और उसकी एक समय की पर्याय को परकाल कहा। भेद हुआ न? इसलिए परकाल कहा। दृष्टि का विषय बताने में (ऐसा कहते हैं)। पर्याय, भेद वह कोई दृष्टि का विषय नहीं है। दृष्टि का विषय तो त्रिकाल परमानन्दमूर्ति प्रभु निर्विकल्प सच्चिदानन्द आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय-ध्येय है। आहाहा! समझ में आया? कहो, छोटाभाई! ऐसी बातें हैं यह। तुम नहीं कहते थे पहले? यह निमित्त का लकड़ा (विपरीतता) पण्डितों में (घुस गया है)। पहले कहते थे। बहिन यहाँ क्षय में थे तब। यह लोग ऐसा कहते, तब हमें शंका पड़ती थी। छोटाभाई कहते थे। आहाहा!

अरे! वस्तु है न? आहाहा! सत् को पर का आश्रय कैसा? चाहे तो पर्याय सत् हो, उसे पर का आश्रय कैसा? आहाहा! जहाँ कहीं ऐसे कथन आये हों तो वह भेद से व्यवहारनय से कथन किये होते हैं। समझ में आया? परन्तु वस्तुस्थिति तो जो है, वह स्वयं से है।

यहाँ तो सिद्ध यह करना है कि वस्तु जो त्रिकाल है, वह स्वकाल और एक समय की पर्याय वह परकाल। वह परकाल लक्ष्य देने योग्य नहीं है, ऐसा कहना है। त्रिकाल का लक्ष्य

करना। लक्ष्य करनेवाली पर्याय परकाल है परन्तु उसका विषय स्वकाल है। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वरदेव का ऐसा मार्ग है। भगवान ने ऐसा तत्त्व कहा है। लोगों को द्रव्य-गुण-पर्याय की खबर नहीं और धर्म होगा... धर्म होगा। अरे! भाई! प्रतिमा ले लो, यह ले लो.. धूल में प्रतिमा नहीं। प्रतिमा कहाँ आयी? अभी सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं। आहा! व्यवहार श्रद्धा का ठिकाना नहीं। राग से रहित त्रिकाल परमात्मा की अनुभूति हो तो वह सम्यग्दर्शन है, ऐसी श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं। समझ में आया? आहाहा!

अरे! जिन्दगी चली जा रही है, आँख बन्द करके चला जायेगा कहीं। बेचारे दो जाने ३५-३५ वर्ष के युवक थे, ऐसे जा रहे थे। किसमें जा रहे थे? रिक्शा में। उसमें सामने ट्रक आया, ऊपर चढ़ गया, मर गये। ३५-३५ वर्ष के जवान मनुष्य। आहाहा! कब देह छूटेगा, भगवान! इसका कुछ नियम देखा है? आहाहा! पहले करनेयोग्य चीज़ तो यह है। समझ में आया?

भगवान पूर्णानन्दस्वरूप, प्रत्येक गुण स्वतन्त्र, प्रत्येक पर्याय स्वतन्त्र-ऐसा जिसे रुचता है, उसे त्रिकाली द्रव्य का आश्रय लेने योग्य है, वह उसे रुच जाता है। आहाहा! यहाँ कहा है, नहीं? परभाव। **परभाव अर्थात् द्रव्य की सहज शक्ति के पर्यायरूप अनेक अंश द्वारा भेदकल्पना...** आहाहा! अनन्त गुणरूप भगवान एकरूप है, उसमें यह अस्तित्वगुण और यह ज्ञानगुण, ऐसे भेद डालना, वह परभाव है। इस परभाव की व्याख्या कितनी की है! परवस्तु, वह परभाव; रागादिभाव, वह परभाव और भाव में भेद डालना, वह परभाव। यह बात यहाँ अपने चलती है। देखो! यहाँ।

अतीत-अनागत-वर्तमान काल, आकाश, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, शरीर, इनमें से एक भी आत्मा नहीं है... यह वस्तुरूप से है। पुण्यरूप से पुण्य है, पापरूप से पाप है। भगवान आत्मा चैतन्यभाव में वह वस्तु नहीं है। ऐसी पर्याय की स्वतन्त्रता जिसे रुचती है, उसे नहीं देखनेवाले को देखने जैसी दृष्टि हो जाती है। समझ में आया? ऐसा मार्ग है। **चेतन भाव को छोड़कर अर्थात् एक चेतन भाव ही अपना है।** आहाहा! यहाँ दृष्टि के विषय की अपेक्षा ली है। पर्याय, पर्यायरूप से तो है, यह तो पहले सिद्ध किया परन्तु पर्याय का आश्रय करने से तो विकल्प उत्पन्न होता है। समझ में आया?

त्रिकाली भगवान चेतन भाव, ज्ञानभाव, ज्ञानरसभाव, ज्ञानशक्तिभाव.. आहाहा! चेतनाभाव वह द्रव्य है, वही चेतनाभाव का क्षेत्र है, वह काल चेतनाभाव, वह काल है, त्रिकाल

चेतनाभाव, वह उसका भाव है। आहाहा! द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भिन्न-भिन्न नहीं हैं। उसी चीज़ को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव कहा जाता है। त्रिकाल चेतनाभाव वह द्रव्य, वही क्षेत्र, असंख्य प्रदेशी एकरूप क्षेत्र, त्रिकाल वही स्वकाल और भाव - त्रिकाल एकरूप भाव, वह भाव। आहाहा! ऐसा चेतनाभाव अपना है।

भावार्थ - व्यवहारनयकर यद्यपि पुण्य, पापादि आत्मा से अभिन्न है... पर्याय में है न? पर्याय में पुण्य, पाप है न? **तो भी शुद्धनिश्चयनयकर भिन्न है...** भगवान चेतनास्वभाव, जागृतस्वभाव ऐसे स्वभाव से वे भिन्न हैं। **और त्यागनेयोग्य है...** देखो! पुण्य-पाप के भाव, शरीर आदि त्यागनेयोग्य है। आहाहा! वे कहते हैं कि पुण्य के भाव, व्यवहार के भाव आदर करनेयोग्य हैं, उनसे निश्चय होगा। अरे! भगवान! बहुत अन्तर है, हों! भाई! तुझे अभी मिठास लगेगी और दुनिया को भी उस प्रकार के झुकाववालों को मिठास लगेगी। योगफल झूठा आयेगा। आहाहा! तू प्रसन्न हो जाये और दुनिया को प्रसन्न करे। सेवा करो, देश सेवा करो, अमुक करो, अमुक करो... आहाहा! भगवान ने जगत के सुख और हित के लिये उपदेश दिया। सुख कौन? यह बाहर की सामग्री।

श्रोता : शास्त्र में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या आता है? यह कौन सा सुख? यह तो आत्मा का सुख।

श्रोता : लोक का हित...

पूज्य गुरुदेवश्री : लोक का हित अर्थात् आत्मा का हित, वह लोक का हित है। ऋषभदेव भगवान ने पहले किया न? गृहस्थाश्रम में असि, मसि, कृषि। यह किया था न? परन्तु वह तो उस समय विकल्प था, इसलिए आया। वह कोई मार्ग है और वह धर्म है, ऐसा करके वह कहा था? तीर्थंकरों ने भी असि, मसि, कृषि का (उपदेश किया है), ऐसा कहे। और जगत के हित के लिये किया था न? अरे! प्रभु! वह तो विकल्प आया और वह क्षेत्र उस समय था तो करुणा का विकल्प आया। पश्चात् छोड़ दिया। जब मुनि हुए तब वह विकल्प छोड़ दिया। हित और सुख का कारण होता तो वह विकल्प छोड़ते क्यों? अरे! यह असि, मसि, कृषि आता है न? षट्कर्म बतलाये। तलवार की बात मसि; लिखने की बात, कृषि-खेती की। आहाहा! यह तो उस समय विकल्प आया, उस समय ऐसी स्थिति थी, आया परन्तु जानते थे कि विकल्प है वह हेय है, दु:खरूप है। समझ में आया?

श्रोता : दृष्टिरूप से नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टिरूप से नहीं, वह करनेयोग्य रूप से नहीं। करनेयोग्य होगा? राग करनेयोग्य नहीं, वहाँ और पर को सिखाना और कृषि करनेयोग्य है? आहाहा! समझ में आया? भगवान ने भी ऐसा किया था। इसलिए अपने भी ऐसा करो। अरे! भगवान! वह तो तीन ज्ञान के धनी, क्षायिक समकिती थे। खबर थी कि मुझे इस भव में केवलज्ञान है, परन्तु उस समय का प्रसंग ऐसा कि विकल्प स्वयं के कारण उत्पन्न हुआ, वह स्वयं की कमजोरी के कारण उत्पन्न हुआ है – विकल्प, हों! वाणी तो वाणी के कारण से निकली। कृषि में खेती करे, उसमें पाप है। लेखन करे–मसि, असि–तलवार आदि। पाप बताते हैं। वह धर्म का कारण है? समझ में आया? आहाहा!

उन परभावों को मिथ्यात्व रागादिरूप परिणमित हुआ... क्या कहते हैं? परकाल, धर्मास्ति और पुण्य–पाप, इन सबको **मिथ्यात्व रागादिरूप परिणमित हुआ बहिरात्मा अपने जानता है...** आहाहा! मिथ्यादृष्टि पुण्य को अपना मानता है, शुभभाव को अपना मानता है। आहाहा! समझ में आया? यहाँ शुभकर्म कहा है न, इसलिए वह शुभकर्म जड़ लेना, परन्तु उसका कारण पुण्य है, वह भी शामिल लेना। पुण्य–पाप अधिकार में यह लिया है। लिया है कर्म, पश्चात् अमृतचन्द्राचार्य ने स्पष्टीकरण किया कि शुभकर्म, शुभ का कारण पुण्यभाव है, यह सब हेय है। समझ में आया? आहाहा! अरे भगवान! जहाँ अकेली पर्याय का भी आदर नहीं, वहाँ फिर पुण्य का आदर और पर का आदर (तो कहाँ से होगा)? आहाहा! समझ में आया?

और उन्हीं को... पुण्य और पाप को मिथ्यादृष्टि अपने जानता है। यहाँ पुण्य–पाप अधिकार में कर्म पाठ लिया है। व्रत, नियम, तपस्या आदि शुभकर्म हैं। उसे अज्ञानी अपना मानता है। आहाहा! समझ में आया? ***मार्ग गजब, भाई! सुनने को मिलता नहीं, वह बेचारा कहाँ जाये? अरे रे! स्थिति पूरी होगी, जिन्दगी चली जायेगी। कहाँ उपजेगा? आहाहा! और पाँच–पचास लाख का आसामी सेठिया हो, आहाहा! धर्म न हो, पुण्य हो नहीं, (तो) मरकर ढोर में जायेगा। आहाहा! सम्यग्दर्शन आदि धर्म न हो, परन्तु सुनना, पढ़ना आदि पुण्य भी न हो। उसका समय न लिया हो। समझ में आया?*** पठन–पाठन, स्तुति, भक्ति आदि पुण्य है। उसका समय न लिया हो। एकाध बार जाकर करे, भागे जाओ! धर्म तो कहाँ? वह मरकर कहाँ जायेगा? पाव घण्टे आवे और हाथ में पुस्तक लेकर एक लाईन पढ़ ले, हो गया। षट् –आवश्यक कहे हैं न? षट्–आवश्यक श्रावक के। थोड़ा वाँचन कर ले, एक लाईन पढ़ ले। यहाँ बहुत आते हैं। पुस्तकें यहाँ रखी हो तो लेकर पाव घण्टे पढ़ ले। पाँच मिनिट पढ़े

तो हो गया, जाओ! अरे भगवान! आहाहा! वीतरागमार्ग जो सत्य है, वह सुनने को मिला नहीं, वह कब अन्तर में प्रयोग करके स्वसन्मुख होगा? आहा!

पुण्य-पापादि समस्त संकल्प-विकल्परहित... कहते हैं कि इस पुण्य-पाप को कौन अपने मानता है? बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि अपने मानता है। सम्यग्दृष्टि **निज शुद्धात्मद्रव्य में...** निज शुद्धात्मद्रव्य, हों! पर शुद्धात्मा भी नहीं। पर भगवान शुद्ध आत्मा हैं, परन्तु वे नहीं। वे पर है। पर में वन्दन आदि करेगा तो वह विकल्प है। आहाहा! एक-एक शब्द में कितनी महिमा है! **निज शुद्धात्मद्रव्य में सम्यक्‌श्रद्धान...** उसकी श्रद्धा, प्रतीति, आनन्द के अनुभव में। आहाहा! उसका नाम सम्यग्दर्शन है। स्व-संवेदनज्ञान-अपना आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप है, उसका ज्ञान। स्व को ज्ञेय बनाकर ज्ञान हुआ, उसका नाम सम्यग्ज्ञान और चारित्र—स्वरूप में रमणता। आनन्द का नाथ प्रभु में रमणता, चरना, चरना। जैसे पशु घास चरता है न? वैसे आत्मा आनन्द का भोजन करता है, चरता है, उसका नाम चारित्र है। लोगों को बेचारों को कठिन लगता है। अरे भाई! परन्तु सत्य की बात है, बापू! ऐसा मनुष्य देह मिला, इसके... सम्प्रदाय में जन्म हुआ, उसमें जिनेन्द्र की वाणी मिले तो इसका काम कर लेना चाहिए। ऐसा अवसर फिर से मिलेगा नहीं। समझ में आया? आहाहा!

अभेद रत्नत्रयस्वरूप परम समाधि में तिष्ठता... आहाहा! पुण्य-पाप का त्याग भी कब कहलाता है? ऐसा कहते हैं, कि अन्तर अभेद रत्नत्रय में स्थिरता करते हुए, **सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धात्मा से जुदे जानता है।** आहाहा! अन्तर अतीन्द्रिय निर्विकल्प आनन्द में रहकर पुण्य-पाप को भिन्न जानता है। समझ में आया? उसका यथार्थ भिन्न जानना, वह यथार्थ है और बहिरात्मा पुण्य-पाप को अपना मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

३८ श्री नियमसार, श्लोक-२७७, गाथा-१६२, प्रवचन १८१
दिनांक १८-०९-१९६६

नियमसार, शुद्धोपयोग अधिकार चलता है। नियमसार अर्थात् मोक्ष का मार्ग। मोक्ष का मार्ग अर्थात् आत्मा, राग और कर्म, शरीरादि से अत्यन्त निराला तत्त्व है, अभी, हों! अभी। चैतन्यतत्त्व आत्मा अनादि से आत्मारूप है। आत्मा वास्तव में पुण्य और पाप के विकाररूप हुआ नहीं, तथा कर्मरूप तो हुआ नहीं। शरीर, कर्म परद्रव्यरूप तो कभी हुआ ही नहीं। आत्मा, परद्रव्यरूप होवे तीन काल में कभी? अर्थात् शरीर, कर्म परवस्तुरूप तो हुआ नहीं। वह तो ज्ञान की राशि है, अनन्त गुण की राशि, अनन्त गुण का पिण्ड। द्रव्य की व्याख्या नहीं करते? उस जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में आता है या नहीं? द्रव्य किसे कहते हैं? लड़कों को आता होगा। लो! यह बोला – गुणों के पुंज को। पुंज अर्थात् समूह, गुणों का समूह, गुणों का पिण्ड, गुण की राशि। समझ में आया? भगवानदास! यह क्या कहते हैं?

यह आत्मा अर्थात् क्या? यह लड़का तो ऐसा बोला कि गुणों का समूह है, ऐसा बोला। आत्मा अर्थात् कि अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि गुणों का पुंज। पुंज अर्थात् समूह; पुंज अर्थात् राशि; पुंज अर्थात् अनन्त गुणों का दल। आहाहा! अनन्त गुणों की गठरी। समझ में आया? भगवान आत्मा एक समय में यह आत्मा अनन्त गुणों का पुंज है। इस विकाररूप वास्तव में यह तत्त्व हुआ ही नहीं और कर्मरूप भी नहीं हुआ, तो परद्रव्यरूप तो होगा किसका? ऐसा आत्मा, राग और विकल्परहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप से-स्व से है, पर से नहीं। इस प्रकार अन्तर में सम्यग्दर्शन प्रगट करके शुद्ध चैतन्य ही हूँ, रागादि मुझमें नहीं है – ऐसे स्वभाव की दृष्टि, अनुभव करना, इसका नाम मोक्ष का मार्ग है। सम्यग्दर्शन में तीनों अंश आ जाते हैं। दर्शन आ जाता है, ज्ञान आ जाता है और चारित्र भी आ जाता है। कहो, समझ में आया? ऐसे आत्मा के अन्तर में ज्ञान के मार्ग में-पंथ में स्थित हो, उसकी जब पूर्णता हो जाती है, तब उसे केवलज्ञान-केवलदर्शन एक समय में पूर्ण हो, उसे परमात्मा कहते हैं। उसे मोक्षमार्ग का फल कहते हैं। यह उसकी व्याख्या चलती है। ऐसा मोक्षमार्ग का फल प्रगट हो, उसे यहाँ शुद्धोपयोग रूप से कहा गया है। प्रवचनसार का आधार दिया है।

कैसा है भगवान आत्मा ?—कि **जिसने कर्मों को छेद डाला है...** भगवान आत्मा अनन्त गुण का पुंज ! अनन्त गुण.. यह रुई की गाँठ यदि हो तो इसे ख्याल में आवे। धोकड़ुं समझते हो ? रुई की गाँठ। गाँठ होती है न ? पच्चीस-पच्चीस मण की गाँठ नहीं होती ? वह रुई की बोरी। वह इतनी बड़ी गाँठ होती है तो इसे ख्याल में आती है, परन्तु यह अनन्त गुण की गाँठ है। ठोस गाँठ ! उसमें तो जरा ऐसी पट्टियाँ बाँधे तो वापस छोटा हो जाये, ऐसे हो जाये। सेठी ! नकोर अर्थात् क्या, नहीं समझते इतने वर्ष हुए तो भी ? नकोर (ठोस) अर्थात् उसमें रागादि का भी प्रवेश नहीं। पुंज। रुई की बड़ी गाँठ होती है, फिर उसे दबाते हैं या नहीं ? इतना दबाते हैं कि ऊपर पट्टे बाँधकर पानी में रखे तो अन्दर पानी नहीं घुसता। ठोस, इतना ठोस करे कि उसमें पानी भी नहीं गिरे, समझे ? पानी नहीं घुस जाये। भले रुई हो परन्तु इतना मजबूत करे कि पानी भी घुस नहीं। ऐसा भगवान आत्मा ज्ञान, दर्शन, आनन्द ऐसे अनन्त गुण की गाँठ पूर्ण है, नकोर (ठोस / घन) है। ठोस का अर्थ उसमें राग का प्रवेश नहीं है। समझ में आया ?

ऐसा आत्मा अनादि काल से राग और परवस्तु मेरी है, ऐसा मानकर परिभ्रमण करते हुए इसने राग और कर्म मैं नहीं हूँ, मैं तो चिदानन्द अनन्त आनन्द का कन्द हूँ, ऐसा अन्तर में अनुभव करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके, स्वरूप के आश्रय से उसके फलरूप से जब केवलज्ञान प्रगट हुआ, वह अखण्ड दशा उसकी कैसी होती है, उसका यहाँ वर्णन करते हैं।

जिसने कर्मों को छेद डाला है... यह व्यवहार से है। भावकर्म को छेदा है। वह अशुद्धता निश्चय से है। **ऐसा यह आत्मा...** ऐसा यह आत्मा भूत अर्थात् गत काल, वर्तमान अर्थात् विद्यमान चालू काल और भावी अर्थात् भविष्य का अनन्त काल, ऐसे **समस्त विश्व को (अर्थात् तीनों काल की पर्यायों सहित समस्त पदार्थों को)...** भगवान आत्मा अपने स्वभाव की सम्हाल करके, शुद्धता के आदर की सम्हाल करके पूर्ण दशा जब प्रगट की, राग का छेद, अज्ञान का छेद, कर्म का छेद निमित्त से (किया) तब **(तीनों काल की पर्यायों सहित समस्त पदार्थों को) युगपत् जानता होने पर भी..** एक समय में तीन काल, तीन लोक जानता है। आहाहा !

यह सब विवाद करते हैं बहुत। एक काल में तीन, एक समय में तीन काल, एक समय में। जहाँ जो पर्याय जिस काल में जहाँ होगी, उस काल में निमित्त कौन, यह सब एक समय में व्यवस्थित निश्चय हो गया है। समझ में आया ? ऐसे तीन काल की पर्यायोंसहित पदार्थ को

एक समय में जानता होने पर भी **मोह के अभाव के कारण...** राग नहीं। स्वरूप की पूर्णता प्रगट हो गयी है। **पररूप से परिणमित नहीं होता,...** रागरूप से-विकाररूप से नहीं होता। यहाँ भी जानने-देखने के भाव से परिणमे तो कुछ रागरूप नहीं होता। ये जानने-देखने में अतिशय का अतिरेक करे (कि) यह मेरा। उसमें मेरा है नहीं उसका। कहो, पोपटभाई! पच्चीस लड़के खड़े हों, पच्चीस लड़के एकसाथ (खड़े हों), उसमें इसके दो लड़के इसके शरीर का... खड़ा हो। ऐसे देखता है तो पच्चीस रूप से लो! जानता है।

श्रोता : वे पच्चीस अपने हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहते हैं कि पच्चीस, वे जाननेयोग्य हुए। उसमें जानने उपरान्त यह विपरीतता की, ऐ... यह दो मेरे। समझ में आया? यह दो मेरे। वह मूढ़ मिथ्यादृष्टिरूप से (अपना मानता है)। पच्चीस जाननेयोग्य पदार्थ हैं। उसमें यह दो मेरे और तेईस मेरे नहीं, यह आया कहाँ से? अमरचन्दभाई! परन्तु आया कहाँ से? यह इसने माना है अन्दर से। अज्ञान में कल्पना की है। है नहीं इसका तीन काल में, तीन लोक में। ऐसे पचास घर हों, ऐसे एक गली में। शेरी समझे? गली। पचास घर हों तो ऐसे देखता है, अब उसमें यह मकान मेरा, आया कहाँ से उसमें?

श्रोता : पैसे खर्च किये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे कहाँ इसके बाप के थे? इसके थे? सेठ! यह कहते हैं कि भाई! तू तेरा कहाँ और तेरा कहाँ नहीं, इसकी तुझे (खबर नहीं)। तेरा स्वभाव तो जानने-देखने का है। एक ही बात। जानने-देखने का स्वभाव यहाँ पूर्ण होता है, परन्तु पहले भी जानने-देखने का ही तेरा स्वभाव है। उसमें यह पचास घर की गली, लाईन में ऐसे चला आवे, वहाँ यह मेरा। यह चीज़ आयी कहाँ से? कहते हैं। वहाँ 'मेरा' लिखा है। वह तो जैसे पचास को ज्ञेयरूप से ज्ञान जानता है, (ऐसे) यह जानता है। ऐसे 'यह' ऐसा ज्ञान के उपरान्त, जानने के उपरान्त अतिरेक किया, यह इसका भ्रम है। समझ में आया?

श्रोता : पटिया लगाया हो तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : पटिया लगाया हो तो क्या? वह जड़ का है। कहो, शोभालालभाई! पटिया लगाया हो तो? पटिया जड़ है। यह तो सब जाने, शामिल जाने। यही यहाँ कहते हैं कि तेरा स्वभाव पूर्ण प्रगटे, तब एक समय में तीन काल-तीन लोक जाने, ऐसा ही अभी स्वभाव है। समझ में आया?

यह सब शरीर हैं, ऐसे यह शरीर भी है। ये सब शरीर हैं, ऐसे जानता है। इसका स्वभाव तो जानने का है। उसमें यह शरीर मेरा, ऐसा आया कहाँ से ? कहते हैं। ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया ?

भगवान के ज्ञान में तीन काल-तीन लोक एक समय में ज्ञात हुए, उसमें कोई पर्याय मेरी, ऐसा आता है अन्दर ? अपनी एक समय की पर्याय पूर्ण प्रगट हुई, वह अपनी है, अपनी है, अपनी है। उसमें यह चीज़ मेरी – ऐसा आता है ? इसी प्रकार यह भगवान चैतन्यसूर्य है वह चीज़ों को जानता है वे तो ज्ञेय हैं, प्रमेय हैं और प्रमेय का स्वभाव प्रमाण में ज्ञात होता है, ऐसा उसका स्वभाव है। प्रमाण का स्वभाव, प्रमेय को जाने ऐसा उसका स्वभाव है। दो के उपरान्त अतिरेक किया। प्रभुदासभाई ! यह तेरा भ्रम है, कहते हैं। छोड़ पहले। इसके बिना तुझे सुख नहीं होगा। आहाहा ! इसके बिना केवलज्ञान नहीं होगा, परमात्मा... परमात्मा तू करेगा.. हे भगवान ! ऐसे—परन्तु भगवान तुझे होना है या नहीं ?

वास्तव में तो यह न्याय से तो... समझ में आया ? रागादि व्यवहार है, 'संयोगालक्षणं' वह संयोगीलक्षण, संयोगीभाव है। संयोगी आता है न ? नियमसार में ही आता है, नहीं ? 'सव्वे संयोगलक्षणा' यह आता है न कहीं ? यह व्यवहार भाषा में आता है न ? यह शब्द कहाँ आता है ? यह देखो न १०२ गाथा निकली।

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥१०२॥

देखो ! विशिष्टता यहाँ है। १०२ गाथा। '**एगो मे सासदो अप्पा**' मैं एक शाश्वत् आत्मा – यह वस्तु हुई। '**णाणदंसणलक्खणो**' मेरा तो जानना-देखना एक लक्षण है। १०२ गाथा, नियमसार १९७ पृष्ठ। '**सेसा मे वाहिरा**' देखो ! यह एक शब्द महा पड़ा है। मैं यह ज्ञानदर्शन (स्वरूप हूँ)। सर्वज्ञ परमात्मा को भी जैसा ज्ञान-दर्शन अखण्डरूप से जानना-देखना है, उसमें परचीज़ ज्ञात हो, वह तो अपना ज्ञान है कोई पर (चीज़) इसकी है नहीं। ऐसे आत्मा जानने-देखनेवाला '**सेसा मे वाहिरा भावा**' देखो ! यह दया, दान, व्रत के विकल्प उठते हैं परन्तु वे बाहिर भाव, व्यवहार भाव हैं। आहाहा ! समझ में आया ? १०२ है न ? **जो शुभाशुभ कर्म के संयोग से उत्पन्न होनेवाले शेष बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह,...** देखो ! दोनों शब्द हैं अन्दर। **सब निज स्वरूप से बाह्य हैं।** क्या कहा ? समझ में आया इसमें ?

आत्मा चैतन्यसूर्य जागती ज्योत जानने-देखनेवाला, यह इसका लक्षण और स्वरूप है।

इसके अतिरिक्त संयोगी चीज़ें और संयोग के लक्ष्य से उत्पन्न हुए दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति आदि के भाव सब बाहिरभाव हैं, बाहिरभाव हैं, बाहिर हैं। वे भाव है, उन्हें मेरे (अपने) मानना इसका नाम बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! समझ में आया? इसके लिये यहाँ केवलज्ञान का फल... जिसे ऐसा मोक्षमार्ग प्रगटे कि रागादि मैं नहीं, बाह्यभाव बाह्य में रहे, इससे तो निश्चय हो गया कि सम्यग्दृष्टि हुई, आत्मा ज्ञान-दर्शन लक्षणवाला है, ऐसा दर्शन -ज्ञान और स्थिरता हुई, उस समय ही व्यवहार, वह परलक्षणवाला है, बाह्यभाव है, मेरे द्रव्य -गुण-पर्याय में वह नहीं है—ऐसी दृष्टि का होना, उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र कहते हैं। समझ में आया?

'सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा' उसमें (आत्मा में) ज्ञान-दर्शन-लक्षण कहा था, ये संयोगी लक्षण हैं। पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत और भक्ति, यात्रा राग वे संयोगी लक्षणवाले बाह्य तत्त्व हैं, मेरी चीज़ में वे नहीं हैं। आहाहा! समझ में आया? जैसे दूसरों को कोई राग हो और जैसे यह जानता है, वैसे वास्तव में तो यहाँ राग हो, उसे जाने। उसमें यह राग मेरा, ऐसा कहाँ आया? ऐसा कहते हैं। समझ में आया? शशीभाई! गजब बात, भाई!

कहते हैं कि प्रभु! तू तो चैतन्य है न! देखो न! सर्वज्ञ की पर्याय भी तीन काल-तीन लोक को एक अखण्ड एक ज्ञान-दर्शन से जान रही है, तो भगवान! तू भी ज्ञान-दर्शन सम्पन्न लक्षणवाला है। पोपटभाई! भाषा से बोलना अलग और मानना अलग, हों! वापस। अन्दर में से भ्रम टलना चाहिए।

यहाँ तो बहुत ही संक्षिप्त में लक्षण बाँध दिया है। भगवान शाश्वत् ज्ञान-दर्शन-लक्षणस्वरूप है और बाकी के, शरीर कर्म तो संयोगी चीज़ है और संयोगी चीज़ के कर्म के लक्ष्य से तुझमें, तेरे कारण से उत्पन्न हुए विकारी पुण्य-पाप के दया, दान, व्रत, भक्ति व्यवहाररत्नत्रय का राग, वह भी वास्तव में तो स्वरूप के भाव से बाह्यभाव हैं। उस बाह्यभाव को भी तेरा जानने का स्वभाव है। उसमें जानने के उपरान्त अतिरेक कर डाले कि 'यह राग मेरा,' यह भ्रम है। आहाहा! समझ में आया? जरा सूक्ष्म तो है। सेठ! यह तुम्हारे बँगले-बँगले तो कहीं रह गये। संगमरमर पाषाण के बड़े बँगले, क्या कहलाते हैं? संगमरमर। मरमर चूरा हो गया। आहाहा!

भगवान! तू तो जाननेवाला-देखनेवाला का पिण्ड है न प्रभु! अनन्त गुण में मुख्य गुण ज्ञान-दर्शन के पिण्डवाला (है न)! यहाँ तो यह वर्णन करना है न! स्व-पर प्रकाशक सिद्ध

करना है न ? समझ में आया ? अज्ञानी कितने ही ऐसा कहते हैं, भाई ! ज्ञान है, वह पर को जानता है, दर्शन स्व को देखता है। एकान्त ऐसा माननेवाले के लिये यह बात करते हैं कि ऐसा नहीं है। भगवान..! इसके बाद के श्लोक में कहेंगे। यहाँ तो यह कहा कि संयोगभाव, बाहिरभाव, व्यवहारभाव, परभाव, निमित्तभाव इन सबको चैतन्य का स्वभाव तो जानना-देखना है। आहाहा ! यह सब पर है, उसे जानना-देखना तेरा स्वभाव है, परन्तु उसे 'मेरा' मानना ऐसा वस्तु में नहीं और राग में ऐसा नहीं कि इसका हो, ऐसा राग में नहीं - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? केसरीचन्दजी !

चैतन्य के स्वभाव में यह जानना-देखना उसका स्वभाव है। राग को, विकल्प को, व्यवहार को, शरीर की होनेवाली अवस्था को, वाणी की होनेवाली दशा को, संयोग में दिखते ज्ञेयों को जानने का स्वभाव है। वह जानने के उपरान्त अतिरेक कर डालता है। आहाहा ! यह राग मेरा। राग को जानने का स्वभाव मेरा है। राग मेरा, ऐसा तेरे स्वभाव में नहीं और राग के ज्ञेय में स्वभाव नहीं। वह तो प्रमेय होने की योग्यतावाली चीज़ है। उसे मेरेपने होना, ऐसा ज्ञेय में भी है नहीं। समझ में आया ? गजब बात, भाई !

कहते हैं, ऐसा जो भगवान.. अब यहाँ तो सर्वज्ञ ऊपर से नीचे आया मस्तिष्क में। यह भगवान भी एक समय में तीन काल-तीन लोक को जानते हैं। पदार्थ, पर्यायसहित पदार्थ एक समय में जानते हैं, मोह नहीं। ऐसा यहाँ भी, यहाँ भी... यह मोह का स्वभाव कहा न ? **मोह के अभाव के कारण पररूप से परिणमित नहीं होता,...** ऐसा जिसे अन्तर ज्ञान, दर्शन, आनन्दमूर्ति आत्मा है, ऐसा जहाँ सम्यक्‌भान हुआ (तो) उस काल में जो-जो पदार्थ पर्यायसहित, पर्यायसहित ज्ञान में आवें, ज्ञात हो, तथापि वे मेरे हैं, ऐसा मिथ्यादृष्टिपना नहीं है, इसलिए मिथ्यात्वरूप से परिणमित नहीं होता। समझ में आया ? कहो, ...भाई ! यह रुपये सब कितने ! करोड़ों रुपये हों, लाखों रुपये हों, हैरान कितना हो गया ! देखो न, अब इसके लड़के करोड़ वहाँ हैरान... आहाहा ! यहाँ इसे कुछ सम्बन्ध नहीं होता। आहाहा ! मार डाला न ! कुछ सम्बन्ध नहीं। धूल भी। माँ-बाप किसके कहना ? लड़का क्या इन्होंने जन्माया है ? इसने आत्मा को जन्माया है ? आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं, यहाँ यह जरा यहाँ से (विचार आया) कि भगवान एक समय में केवलज्ञानी प्रभु, जिन्हें देव कहते हैं और जिनकी दिव्यशक्ति का विकास पूर्ण हो गया है, एक समय में जानते होने पर भी, इतनी बात। **मोह के अभाव के कारण...** जहाँ राग ही नहीं,

इसलिए पर के अभाव के कारण। **पररूप से परिणमित नहीं होता,...** ऐसा धर्मी जीव-सम्यग्दृष्टि जीव अपने ज्ञान में पर को, रागादि को जानता होने पर भी वे रागादि पृथक् हैं और मैं पृथक् हूँ - ऐसे भान से राग मेरा है, ऐसे मिथ्यात्वरूप से सम्यग्दृष्टि परिणमित नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

इसलिए अब, जिसके समस्त ज्ञेयाकारों को अत्यन्त विकसित ज्ञप्ति के विस्तार द्वारा स्वयं पी गया है,... क्या कहते हैं? भगवान का ज्ञान समस्त ज्ञेयाकार अर्थात् जितने ज्ञेय जाननेयोग्य हैं, उनकी विशेषता के द्रव्य, गुण, भाव, उनकी विकसित ज्ञप्ति-अपने ज्ञान की पर्याय की विकसित ज्ञप्ति दशा हो गयी है। विस्तार-ज्ञान का इतना विस्तार अन्दर प्रगट हुआ है, उसके द्वारा सब जाननेयोग्य चीज़ों को ज्ञप्ति पी गयी है। पी गयी है अर्थात् इससे अनन्त गुणा होता तो भी पी जाता, जाने ऐसी उसकी ताकत है। समझ में आया?

इसी प्रकार यहाँ अभी भी ज्ञान की जानने-देखने की पर्याय की इतनी शक्ति और ताकत है कि रागादि, शरीरादि सब पृथक्रूप से जानने पर भी, उन सबका उनका ज्ञान है, उस ज्ञान में वे ज्ञेयपदार्थ आ गये हैं। अर्थात् ज्ञेय का ज्ञान आ गया है, पी गया है आत्मा। आहाहा! समझ में आया? है तो ऐसा। ज्ञान पर के ज्ञानरूप से ज्ञान पी गया बैठा है। ऐसा न मानकर... समझ में आया? अरे! मैंने पर की दयायें पालन कीं, पर की हिंसा की, मैंने शरीर रखा, मैंने सम्हाल की, विकल्प उठा वह मेरा। ऐसा मूढ़ (जीव) ज्ञानरूप से अपनी स्थिति को न रखकर, अधिकरूप से अन्दर विकल्प करके पर को अपना माने, वह मिथ्यादृष्टिरूप से परिणमता है। आहाहा! समझ में आया?

ऐसे तीन लोक के पदार्थ पी गया है ज्ञान, कहते हैं। किस प्रकार? अब देखो! भाई! यह आता है। **पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ...** एक समय के ज्ञान में प्रत्येक पदार्थ पर्याय—पर्याय भिन्न, गुण भिन्न, द्रव्य भिन्न एक समय की पर्याय के अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद भी एक-एक भिन्न, ऐसे ज्ञान आत्मा में ज्ञान की शक्ति का विकास हुआ (तो) पृथक्-पृथक् जानता है। कोई कहता है कि सामान्य जाने और विशेष न जाने, यह यहाँ इसका स्पष्टीकरण है, भाई! आहाहा! पृथक्-पृथक् विशेषरूप से उसे जानता है। तीन काल, तीन लोक की जहाँ-जहाँ जो पर्याय होनेवाली है, हुई है, होगी, ज्ञान की दशा का स्वभाव है, पृथक्-पृथक् इस समय इसकी पर्याय, इस समय इसकी पर्याय विकारी-अविकारी जो है, वह भगवान के ज्ञान में ज्ञात होती है। यह ज्ञान कहा।

अपृथक् प्रकाशित करता हुआ, यह दर्शन कहा। सामान्यरूप से एक समय में भिन्न

किये बिना प्रकाशित करता है, उसे दर्शन कहते हैं। समझ में आया ? अथवा सामान्यरूप से जाने और विशेषरूप से भी जाने, ऐसा वह ज्ञानमूर्ति भगवान चैतन्यसूर्य **मुक्त ही रहता है।** मुक्त ही रहता है। वहाँ पर्याय से पूर्णता हो गयी, (इसलिए) मुक्त रहता है। यहाँ भी भगवान आत्मा... चक्रवर्ती को राजपाट होता है, यह ऐसा कहते हैं अवश्य, हों ! ऐसा नहीं कहते कि वाणी आयी। परन्तु वाणी ऐसी आवे (कि) वह काम ऐसे कैसे ठीक से किया नहीं ? और यह कैसे हुआ ? समझ में आया ?

श्रोता : बोला गया न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बोलना कौन बोले ? वह तो भाषा बोलती है। समझ में आया ? तब कहे, ऐसा विकल्प कैसे आया ? ऐई ! समकिती छह खण्ड के राज में पड़ा हो। राग से पर है, मेरा स्वरूप भिन्न है। तथापि (ऐसा कहे), जाओ, प्रजा को बराबर रखना। यह बराबर व्यवस्थित रखना, प्रजा वह न हो जाये। महाराज ! तुम कहते हो न, आत्मा को जानने-देखनेवाला माना है न ? और यह कहाँ लगाया ? भाई ! सुन तो सही उस विकल्प के काल में ऐसा विकल्प आता है। उसे वह जानने-देखनेवाला रहता है, उसे एकमेक करता नहीं। आहाहा !

भरत चक्रवर्ती की बात नहीं आती ? सुनी नहीं ? वे भरत चक्रवर्ती जब राज साधने गये थे। वे म्लेच्छ के जब तीन खण्ड साधने गये, वहाँ सामने... वहाँ उसके देव थे, कि यह और कौन आया ? लोग, करोड़ों लोगों की सेना लेकर। इसलिए उसके देव को याद किया... यह कौन और हमारा राज लेने आता है ? कोई लुटेरा आया। देव आया है, रोको इसे। देव ने मेघ बरसाया। सात दिन और सात रात मूसलधारा... यह क्या ? छियानवें करोड़ सैनिक उसमें बैठ जाये, इतना और सबेरे गेहूँ पकावे और नौ बजे तैयार। सबेरे गेहूँ उसमें रोपे। क्या ? चर्मरत्न में। सबेरे गेहूँ बोवे और नौ बजे तैयार और दस बजे खाये, गर्म-गर्म रोटी।

श्रोता : कुछ हीरा-बीरा की भस्म डालते होंगे न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं के लिये तो हीरा का चूरा अन्दर डाले। स्वयं की जो रोटी हो, उसमें हीरा के, करोड़ों रुपये के हीरा के चूरण करके रोटी में गेहूँ के साथ मिलावे। ऐ.. सेठी ! ठीक से न डाला हो तो (ऐसा कहे) क्यों नहीं डाला इसमें ? क्या डाला है इसमें ? भाई ! परन्तु यह ज्ञाता-दृष्टा है न ! यह क्या ? सुन न ! उस काल में उस प्रकार का विकल्प आया है, उसे जानता है और शरीर की क्रिया होती है, उसे जानता है। ज्ञान से पृथक् का कार्य है, वह जानने का काम करे, दूसरा काम नहीं करता। समझ में आया ?

यह वर्षा ऐसे कैसे? सात दिन और सात रात। स्वयं सिंहासन में बैठा है। बड़ा राजा। वहाँ उसे कुछ प्रतिकूलता नहीं है। यह क्या? मूसलधारा वर्षा प्राकृतिक नहीं है। सेनापति जयकुमार क्या है? यह क्या है यह सब? कृत्रिम वर्षा है, प्राकृतिक नहीं, प्राकृतिक होवे तो मूसलधारा नहीं होवे। कुछ न कुछ भी अन्दर रह जाये थोड़े समय। जाँच करो। होवे उसे रोके - किसलिए खोज करे? ऐई! सेठ! जाओ। ऐसा कहे। वह जयकुमार गया। एक हजार देव उसकी सेवा करते हैं, हों! उनका (भरत चक्रवर्ती का) सेनापति है। खोज की तो पता पड़ा कि यह तो देव करता है। वर्षा देव करता है। देव को कहा, भाग। भगा दिया। मेघेश्वर की उपमा दी। मेघेश्वर... मेघेश्वर। अरे! परन्तु तुम तो ज्ञाता-दृष्टा और फिर यह कहाँ लप में पड़े? ऐ मलूपचन्दभाई! बापू! उस राग के काल में राग होता है, शरीर की क्रिया के काल में शरीर ऐसा होता है। वह ज्ञान का काल ऐसा है कि उसे जाने, ऐसा उसका काल है। ऐसी कठिन बातें! समझ में आया?

बापू! यह चारित्रदोष भले हो, परन्तु यहाँ तो कहना है ज्ञान का स्व-परप्रकाशक का काल ही ऐसा है, उसमें वही राग ज्ञात होता है, उसका जैसा क्रोध वही ज्ञात होता है, ऐसा उसका स्वरूप है। उस ज्ञान का ऐसा स्वरूप है। यहाँ स्व-पर प्रकाशक सिद्ध करते हैं न? भगवान आत्मा स्व को जानते हुए, वही आत्मा विकल्प उठने का क्रोध का, उसे जानने का ही ज्ञान स्व-पर प्रकाशक प्रगट होता है। समझ में आया? मार्ग बापू! वीतराग का ऐसा सरल और सीधा और कड़क है कि लोगों को ख्याल में आना मुश्किल है। समझ में आया?

कहते हैं, भगवान का ज्ञान तीन लोक के पदार्थों को भिन्न-भिन्न और सामान्य प्रकाशित करता हुआ ज्ञानमूर्ति मुक्त ही रहता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि प्रत्येक राग को और देह की क्रिया को भिन्न-भिन्न जानता हुआ, सामान्यरूप से अभिन्नरूप से देखता हुआ वह ज्ञानस्वरूप ही रहता है, वह रागरूप और पररूप नहीं होता। समझ में आया?

और (इस १६१वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं)-

ज्ञानं तावत् सहजपरमात्मानमेकं विदित्वा
लोकालोकौ प्रकटयति वा तद्गतं ज्ञेयजालम्।
दृष्टिः साक्षात् स्वपरविषया क्षायिकी नित्यशुद्धा
ताभ्यां देवः स्वपरविषयं बोधति ज्ञेयराशिम्।।२७७।।

वाह! देखो, इसमें तीन समाहित करते हैं। ज्ञान, दर्शन और आत्मा - इन तीन को-स्व-परप्रकाशक को इसमें समाहित कर देते हैं। किस प्रकार? कि भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ऐसा प्रगटा है। **ज्ञान एक सहजपरमात्मा को...** जानता है। वह ज्ञान सहजात्म भगवान अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है, केवलज्ञानी का ज्ञान, पूर्ण ज्ञान प्रगट हुई पूर्ण ज्ञप्ति शक्ति, वह अपने आत्मा को-सहज परमात्मस्वरूप को जानती है—एक। **लोकालोक को अर्थात् लोकालोकसम्बन्धी (समस्त) ज्ञेयसमूह को प्रगट करता है (-जानता है)।**—यह दो (बात)। वह ज्ञान स्व-परप्रकाशक हो गया। क्या कहा? समझ में आया इसमें?

ज्ञान इस स्व को जानता है और पर को जानता है। ज्ञान स्व-पर को जानता है, अभी भी स्व-पर को ही जानता है। परन्तु वह पूर्णदशा (हुई है)। यहाँ (निचली दशा में) अभी चारित्रदोष का राग है, उसे वह नहीं। पूर्ण स्वरूप में, केवलज्ञान में सहज प्रभु को जानता है; इसलिए कोई ऐसा कहता हो कि ज्ञान पर को जानता है, वह खोटा है, एकान्त है तेरा, ऐसा कहते हैं। ऐसा यहाँ लिया, सहज परमात्मा को जानता है, ऐसा लिया। ऐसा कहता हो कि ज्ञान पर को जानता है, स्व को नहीं जानता। यह गुणभेद की बात की और अभेद को तू जानता नहीं। ज्ञान सहज परमात्मा को जानता है। कहो, समझ में आया इसमें? कहाँ गये? चिमनभाई! समझ में आया? कोई दिक्कत नहीं, यहाँ तो समझने के लिये बात है। कान्तिभाई!

जानने का ज्ञान चैतन्यसूर्य, वह ज्ञान परमात्मा को जानता है और वह ज्ञान लोकालोक को जानता है, ऐसी दो बातें ले ली। समझ में आया? पहला सत् परमात्मा है - ऐसा लिया, भाई! ....पहला लिया, परन्तु वह कहे, अकेले पर को जानता है... पर को जानता है... पर को जानता है... स्व को नहीं जानता। सुन न अब! समझ में आया इसमें? ज्ञान एक सहज परमात्मा त्रिलोकनाथ अपना स्वरूप, हों! सहज चिदानन्द भगवान, सहज अनन्त गुण की ज्योत, उसे ज्ञान स्वयं अपने को जानता है, लोकालोक को भी, ज्ञेय समूह को जानता है। क्या शब्द यहाँ पड़ा है? **'ज्ञेयजालम्'** जाल है न? इस जाल को समूह कहा। ज्ञेय का जाल अर्थात् अनन्त ज्ञेय हैं, उन्हें जाल कहकर समूह कहा। भगवान का ज्ञान एक समय में स्व-परप्रकाशकरूप से सबको पूरा जानता है। समझ में आया? शशीभाई! फिर अब दृष्टि की बात करते हैं। यह ज्ञान की बात की।

भगवान आत्मा चैतन्य सूर्य की प्रगट दशा जहाँ हुई, स्वरूप के भान द्वारा प्रगट दशा केवलज्ञान हुआ, वह ज्ञान सहज परमात्मा को स्वयं को (जानता है)। सहज परमात्मा अर्थात्

स्वयं। उसे जानता है और लोकालोक के जाल को भी, जितने तीन काल-तीन लोक के पदार्थ (है, उन) सबको जानता है। एक समय में दोनों को जानता है। अब दर्शन।

नित्य-शुद्ध ऐसा क्षायिक दर्शन... कहो, समझ में आया? **साक्षात् स्व-परविषयक है...** आहा! यहाँ तो उसकी ही बात है न? यहाँ केवल की बात है न! नित्य शुद्ध ऐसा क्षायिक दर्शन। त्रिकाल की बात यहाँ नहीं है। यह पर्याय में दर्शन प्रगट हुआ है भगवान केवलज्ञान के साथ केवलदर्शन (प्रगट हुआ है, वह) अन्दर में शक्तिरूप से तो त्रिकाल था। उसका अन्तर में एकाकार होकर, अनुभव करके जो दर्शन प्रगट हुआ, वह नित्य शुद्ध है। अब वह पर्याय शाश्वत् शुद्ध रहती है। दर्शन पर्याय जो है - केवलदर्शन, वह नित्य शुद्ध है। नित्य अर्थात् शाश्वत रहती है ऐसा। त्रिकाल क्षायिक की अभी बात नहीं है।

नित्य शुद्ध ऐसा क्षायिक दर्शन (भी)... भी क्यों कहा? ज्ञान स्व को जानता है और पर को जानता है, दर्शन भी साक्षात् स्व-पर विषयक है, स्व-पर विषयक है। वह दर्शन भी स्व को-पर को जानने का काम कर रहा है। यह दर्शन स्व को देखे और पर को न देखे, उसके सामने तर्क है। कहो, समझ में आया? अन्दर में खण्ड-खण्ड करते हैं, इसलिए यह अखण्ड की बात कर रहे हैं। भाई! तेरा आत्मा प्रभु अभेद द्रव्य गुण का एक काल और पर्याय का भी दो का प्रगट का एक काल और उसमें भी सब जानने-देखने का स्व-पर का एक समय में दोनों गुण को है। समझ में आया? **(अर्थात् वह भी स्व-पर को साक्षात् प्रकाशित करता है)।** लो! ठीक। दर्शन स्वभाव, प्रगट हुई दशा। स्वभाव तो त्रिकाल है, स्व-पर को जानने का अन्दर स्वभाव है, दशा प्रगट हो गयी। दो (बातें हुईं)। अब तीसरा, आत्मा।

उन दोनों (ज्ञान तथा दर्शन) द्वारा... देखो! आया। आहाहा! भगवान आत्मा चैतन्य के तेज द्वारा, ज्ञान के तेज द्वारा स्व को पूर्ण क्या है, उसे जानता है, पर को जानता है। दर्शन नित्य शुद्ध, वह भी स्व को देखता है, पर को देखता है। यह दो गुण की बात की। अब आत्मा। एक रूप बताना है न तीन में? अभेद में भेद नहीं। अब **आत्मदेव...** वह दर्शन-ज्ञान द्वारा जो ज्ञान स्व-पर को जाने, जो दर्शन स्व-पर को देखे, उस गुण के द्वारा **स्व-परसम्बन्धी ज्ञेयराशि को जानता है...** कहो! समझ में आया? राशि कहाँ आया? इसी और इसी में? यह अन्तिम आया, पहले में ज्ञेय जाल था, इसमें ज्ञेयराशि आया। ज्ञान में ज्ञेय जाल था। समझ में आया? ज्ञान में जाल (शब्द) था, समूह। इसमें आया राशि। क्या कहते हैं?

ज्ञान और दर्शन द्वारा आत्मदेव... आत्मदेव ऐसा लिया। समझ में आया? **स्व-**

परसम्बन्धी ज्ञेयराशि को... अपना पूर्ण स्वरूप और पर पूरे ज्ञेय की राशि का पिण्ड लोकालोक को, उसे **जानता है (अर्थात् आत्मदेव स्व-पर समस्त प्रकाश्य पदार्थों को प्रकाशित करता है)।** कहो, समझ में आया ? जैसे ज्ञान स्व-पर को जानता है, दर्शन भी स्व-पर को देखता है, वैसे आत्मा भी दोनों द्वारा स्व-पर को जानता और देखता है। अब १६२ (गाथा)

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं।
ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा॥१६२॥

एक चर्चा कितनी की ! केवलज्ञान और केवलदर्शन को स्व-पर प्रकाशक को सिद्ध करने को भगवान भी स्व-परप्रकाशक में इतनी गाथाएँ रखी हैं। मुनि फुरसत में नहीं थे वहाँ। समझ में आया ? वस्तु की अभेदता, अखण्डता इसकी दृष्टि में आवे, इसलिए यह अखण्ड का वर्णन करते हैं।

पर ही प्रकाशे ज्ञान तो हो ज्ञान से दृग् भिन्न रे।
'परद्रव्यगत नहिं दर्श!' वर्णित पूर्व तब मंतव्य रे॥१६२॥

टीका - यह, पूर्ण सूत्र में (१६१वीं गाथा में) कहे हुए पूर्वपक्ष के सिद्धान्त सम्बन्धी कथन है। इसका अर्थ / टीका।

यदि ज्ञान केवल परप्रकाशक हो तो... देखो ! यहाँ तो गुण की क्रीड़ा की बात है। राग-फाग तो कहीं रह गया, देहादि तो (कहीं दूर रह गये)। आहाहा ! **यदि ज्ञान केवल परप्रकाशक हो तो इस परप्रकाशनप्रधान (परप्रकाशक) ज्ञान से दर्शन भिन्न ही सिद्ध होगा;...** समझ में आया ? यदि ज्ञान केवल पर को ही जाने तो इस परप्रकाशक ज्ञान से दर्शन भिन्न सिद्ध होगा अर्थात् ज्ञान पर को जाने और दर्शन स्व को जाने तो सब भिन्न हो गया। ज्ञान से दर्शन भिन्न चीज़ पड़ गयी, दो भिन्न हो गये। ज्ञान पर को जाने और दर्शन स्व को देखे, दो चीज़ भिन्न हो गयी। कान्तिभाई !

श्रोता : दो तर्क है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दो तर्क है तो यह तर्क अभेद का है और वह तर्क भेद का है।

श्रोता : दो में से एक मानना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों मानना। अनेकान्त और अभेदरूप से यह मानना और जानना रूप से, व्यवहाररूप से ज्ञान पर को जानता है, जाननेरूप से ऐसा मानना। समझ में आया ? गुणभेदरूप से ऐसे और अभेदरूप से यह। मुख्यता यह है।

श्रोता : आश्रय करने के लिये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आश्रय करना यह है, अभेद। समझ में आया ?

सह्याचल और विन्ध्याचल की भाँति... जैसे सह्याचल और विन्ध्याचल भिन्न हैं न, दो पर्वत ? वैसे ज्ञान जो आत्मा का, वह पर को जाने और दर्शन स्व को देखे तो, जैसे दो पर्वत भिन्न हैं, वैसे दो गुण भिन्न हो गये। हिम्मतभाई ! सूक्ष्म बातें हैं जरा, हों ! परन्तु अब यह आयी है तो सुननी तो पड़ेगी या नहीं इसे ? सह्याचल और विन्ध्याचल - एक कहीं और एक कहीं। ऐसे **गंगा और श्रीपर्वत की भाँति...** समझे न ? कहाँ गंगा और कहाँ श्रीपर्वत भिन्न। ऐसे ज्ञान... होगा कोई यह कैलाशपर्वत.. यह गंगा भिन्न और श्रीपर्वत भिन्न, ऐसे स्थान में कहीं उसकी बात है, लो न। जैसे गंगा और श्रीपर्वत भिन्न है, वैसे सह्याचल पर्वत और... यहाँ पानी के दो दृष्टान्त दिये, एक पानी के साथ वह पर्वत का, उन दो पर्वत के दिये।

परप्रकाशक ज्ञान को और आत्मप्रकाशक दर्शन को सम्बन्ध किस प्रकार होगा ? यदि ज्ञान पर को जाने और दर्शन स्व को देखे तो दो का मेल कैसे रहेगा ? दो पर्वत जैसे भिन्न, वैसे ये दो भिन्न-भिन्न गुण हो गये। आत्मा अखण्ड गुणमय है, वे गुण अखण्ड रहे नहीं। सूक्ष्म है, शोभालालभाई ! यह दोपहर का विषय जरा... परन्तु आचार्यों ने रखा है, वह जगत में इस प्रकार के विचार वर्तते हैं, उसे कहना किस प्रकार ? समझावे किस प्रकार ?

श्वेताम्बर आम्नाय ऐसा मानती है कि एक समय में केवलज्ञानी को ज्ञान होता है और दूसरे समय में दर्शन होता है, ऐसा मानते हैं। उसके सामने भी यह तर्क है। दूसरी एक आम्नाय एक अन्यमति तर्क में ऐसा आता है कि एक समय में ज्ञान और दर्शन उपयोग दो नहीं हैं परन्तु दोनों होकर एक ही उपयोग है, ऐसा मानते हैं। उनके सामने भी यह तर्क है और एकान्त भेद माने—ज्ञान पर को जानता है और दर्शन स्व को देखता है, उनके सामने यह तर्क है। समझ में आया ?

श्रोता : पण्डितों के लिये बात है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे ! आत्मा के लिये बात है, पण्डितों का क्या काम है यहाँ ? इस आत्मा में गुणभेद अभेद जाने और उसकी पर्याय भी अभेद जाने और उसकी पर्याय का एक समय में भी स्व-परप्रकाशक और आत्मा का स्व-परप्रकाशक जाने। ऐसा निर्णय करे, तब द्रव्य पर दृष्टि होकर सम्यग्दर्शन होता है। समझ में आया ?

जो आत्मनिष्ठ (-आत्मा में स्थित है, वह तो दर्शन ही है।) तू तो कहता है कि दर्शन

अर्थात् आत्मा को देखे, तो आत्मा में दर्शन रहा। **उस ज्ञान को तो, निराधारपने के कारण...** ज्ञान पर को जाने, इसलिए यहाँ आधार तो मिला नहीं। समझ में आया? समझ में आया या नहीं? ऐई! चिमनभाई! सुरेन्द्रभाई गये। तुम दो ही रहे न अब? ठीक। बहुत चलती थी यह, सामान्य में पर्याय घुस गयी और एक यह ज्ञान ऐसा होता है, ज्ञान पर को ही जानता है, ज्ञान पर को ही जानता है, दर्शन स्व को ही देखता है। सामने तर्क करते हैं कि जड़ हो, मूर्ख हो, दर्शनशुद्धि के अभाव में गुणभेद (करता है)?

श्रोता : आचार्यों ने भी किया है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आचार्यों ने कहा, वह व्यवहारनय से बराबर है, उससे कौन इनकार करता है? यह अभेद से निश्चय करे, फिर भेद का व्यवहार होता है, ऐसा सिद्ध करते हैं। अभेद का निश्चय किये बिना अकेले गुणभेद को माने, वह एकान्त मिथ्यादृष्टि है – ऐसा कहते हैं। यह अपने धवल में है, धवल में है। ज्ञान पर को जानता है और दर्शन स्व को देखता है, धवल में है, जयधवल, धवल में है। गुणभेद की बात है न? गुणभेद से वहाँ बात की है, परन्तु तू एकान्त ऐसा मान ले, (तो) ऐसा नहीं है। यह तो कल आया था न अपने? स्याद्वाद विद्या...

श्रोता : थोड़ा सूक्ष्म है!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सूक्ष्म है अवश्य, वह सूक्ष्म नहीं। लिखा हो तो क्या है? समझ में आया? अभेद का सूक्ष्म है। परम सूक्ष्म है। यह तो द्रव्यसंग्रह में भी आता है न?... कहो समझ में आया इसमें? आहाहा!

कहते हैं, यहाँ तो भगवान... यहाँ देखो! इसकी दृष्टि वहाँ ले जाते हैं। आत्मा है न, यह वस्तु? इसमें एक दर्शन-देखने के गुणवाला स्वभाव और एक जानने के गुणवाला स्वभाव, दो गुण हैं। अब इन दो गुणों का एक ही कार्य, एक गुण का माने कि ज्ञान है, वह पर को जाने (और) दर्शन स्व को देखे। (उसमें) तत्त्व का बड़ा विरोध आता है, ऐसा कहते हैं क्योंकि ज्ञान को आधार रहा नहीं। क्योंकि पर को जानता है, जहाँ-जहाँ जायेगा, वहाँ सब सचेत हो जायेंगे। यह ज्ञान बिना का आत्मा भी खाली रह गया। समझ में आया? थोड़ा सूक्ष्म विषय है। आचार्य महाराज ने अधिक गाथा रखी है, देखो! १५८ से १८७ (कुल) २९ गाथा, २९ गाथा में पूरा अध्याय लिया है। इसमें ही विशेष है, अन्यत्र कहीं स्पष्टीकरण नहीं है।

कहते हैं, दर्शन आत्मनिश्चयन—यह दर्शन अर्थात् देखना, यह देखना इसे देखे तो यहाँ

रहा और **उस ज्ञान को तो, निराधारपने के कारण (अर्थात् आत्मारूपी आधार न रहने से), शून्यता की आपत्ति ही आयेगी;...** ज्ञान बाहर में भटका, यहाँ तो रहा नहीं। समझ में आया? आहाहा! **अथवा तो जहाँ-जहाँ ज्ञान पहुँचेगा (अर्थात् जिस-जिस द्रव्य को ज्ञान पहुँचेगा) वे-वे सर्व द्रव्य चेतना को प्राप्त होंगे,...** यहाँ तो चैतन्य रहा नहीं, वहाँ जाये। यहाँ लकड़ी को जाना, उसे जाना और उसे जाना; इसलिए ज्ञान वहाँ घुस गया, ज्ञान का आधार यह था, ज्ञान का आधार यह आत्मा था, वह तो रहा नहीं। समझ में आया? जरा सूक्ष्म है, हों! ज्ञान (का) जानने का स्वभाव है, (वह) यदि अकेले पर को कहे तो उस पर को जानने का आधार इसे मिला, इसलिए वे भी चेतन हो गये। इस ज्ञान का आधार यहाँ रहा नहीं। शशीभाई! युक्ति, आगम और अनुभव से बात सिद्ध होनी चाहिए। ऐसी की ऐसी मान लें, ऐसा नहीं चलता। यह कहते हैं। क्या हुआ?

श्रोता : जहाँ-जहाँ ज्ञान जाये वहाँ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ चेतन हो गया।

इसलिए तीन लोक में कोई अचेतन पदार्थ सिद्ध नहीं होगा, यह महान दोष प्राप्त होगा। भगवान आत्मा चैतन्य ज्ञानसूर्य, उस ज्ञान को अपना आधार नहीं मिला, ज्ञान तो पर को जाने, उसमें रह गया तो पर सब अचेतन, चेतन हो गये तो अचेतन तो कोई रहा नहीं। **इसीलिए (उपरोक्त दोष के भय से), हे शिष्य! ज्ञान केवल परप्रकाशक नहीं है, ऐसा यदि तू कहे, तो दर्शन भी केवल आत्मगत (स्वप्रकाशक) नहीं है, ऐसा भी (उसमें साथ ही) कहा जा चुका है।** भाई! भगवान आत्मा ज्ञान स्व-परप्रकाशक भी है तो उसके साथ दर्शन भी परप्रकाशक है, यह बात आ जाती है। यह भले भेद हो परन्तु वस्तु से अभेद है। नामभेद से भेद है। ज्ञान, दर्शन आत्मा, वह तो नामभेद से भेद है; वस्तु से भेद नहीं। शक्कर और शक्कर का मीठापन नामभेद है; वस्तुभेद नहीं। प्रदेशभेद है? कि शक्कर के प्रदेश भिन्न और मिठास का भाग भिन्न? यह तो नामभेद से भेद है, वस्तुभेद से भेद नहीं। यह यहाँ सिद्ध करना है। समझ में आया? आहाहा!

यदि ज्ञान केवल परप्रकाशक नहीं, 'केवल' परप्रकाशक नहीं तो दर्शन भी केवल स्व में रहा हुआ है, ऐसा भी नहीं, स्व को (ही) देखता है, ऐसा भी नहीं। **कहा जा चुका है। इसलिए वास्तव में सिद्धान्त के हार्दरूप...** भाषा देखो! सिद्धान्त के हृदयरूप, सिद्धान्त के हृदयरूप। **ऐसा यही समाधान है कि ज्ञान और दर्शन को कथंचित् स्व-परप्रकाशकपना है**

ही। ज्ञान स्व-पर को जानता है, दर्शन भी स्व-पर को देखता है, ऐसा भगवान के सिद्धान्त का हृदय है। कहो, समझ में आया ? उसमें राग-फाग की यहाँ बात नहीं है। उसका जानने-देखने का भगवान आत्मा का स्वभाव है, तो ज्ञान में भी स्व-पर प्रकाशकपना आया और दर्शन में भी स्व-परप्रकाशकपना आया। समझ में आया ?

ज्ञान को अकेला परप्रकाशक (माने) तो ज्ञान बाहर भटकता रह गया, अन्दर में स्थिर होने का रहा नहीं। हो गया और दर्शन को स्व में ही कहो तो बाहर का तो देखने का रहा नहीं। उसके सामर्थ्य में अकेला देखने का आरोपित किया (तो) बाहर अनन्त-अनन्त पदार्थ हैं, उन्हें देखने का रहा नहीं। वह दर्शन ही रहा नहीं, वह दर्शन रहा नहीं। दर्शन में पूर्ण सब स्व और पर देखना चाहिए, वह दर्शन रहा नहीं - ऐसा कहते हैं। आहाहा ! तर्क जरा सूक्ष्म है, भाई ! अरे ! आत्मा सबको पहुँच जाये, ऐसा है परन्तु इसे जँचता नहीं। हम रंक हैं और भिखारी हैं - ऐसा लोगों को लगता है। अरे ! परन्तु तू तीन लोक का नाथ है, सुन न ! रंक होकर मानता है भ्रमणा में.. समझ में आया ? पागल हो गया, पागल।

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु ! यह बात छोड़ दे, छोड़, यह तेरी चीज़ नहीं है। शरीर, वाणी, मन, राग आदि। भगवान आत्मा वस्तु अस्तित्व है, अस्तिरूप पदार्थ अनादि-अनन्त है, उसमें ज्ञान-दर्शन से भरपूर भगवान आत्मा है। स्वभाववान है तो स्वभाव कोई होगा या नहीं ? मुख्यरूप से यह दो स्वभाव। अनन्त स्वभाव भले साथ में हों। ऐसे दो स्वभाव का एक ही कार्य तू मान, साथ में रहे हुए, आत्मा में रहे हुए, एक समय में रहे हुए और एक समय में प्रगट हुए - ऐसे पर्याय को एक ही कार्य मान कि ज्ञान का यह और दर्शन का यह, तो खण्ड हो जाता है, ऐसा रहता नहीं। समझ में आया ? और दर्शन को स्वस्थ माने तो दर्शन का सामर्थ्य जो है तीन काल पर को अपना जाने; उस दर्शन का भी खण्ड हो जाता है; दर्शनरूप से अखण्डता नहीं रहती ऐसा कहते हैं। आहाहा ! समझ में आया ?

श्रोता : रामायण संक्षिप्त होवे तो ठीक।

पूज्य गुरुदेवश्री : संक्षिप्त ही है यह रामायण। लम्बे को रामायण कहते हैं न ! आहाहा ! देखो ! क्या कहा ? फिर से अपने।

आत्मा वस्तु है न ? वस्तु। अस्ति.. अस्ति.. अस्ति.. सत्.. सत्.. सत्.. जो कि शाश्वत सत्, आदि अन्तरहित सत्। उसका दर्शन और ज्ञानस्वभाव। अनन्त गुण है परन्तु अपने अभी ज्ञान और दर्शन खास वस्तु है, उसे सिद्ध करते हैं। ज्ञान और दर्शन एक समय में है। एक

समय में, इसलिए पूरा स्वभाव, पूरा स्वभाव है। वह जब अन्तर्दृष्टि करके उसका अन्तर में स्वभाव ज्ञान-दर्शन का भी स्व-पर प्रकाशक है, उसका स्वभाव कायम। एकरूप आत्मा के गुण भी एक रूप, एक समय में, एक क्षेत्र में अभेद है। इसलिए उसके गुणों का स्वभाव भी एक-एक गुणों का स्व-पर प्रकाशक गुण का शाश्वत, असली स्वभाव ही उसका है। अब जब आत्मा स्वयं अपनी अन्तर्दृष्टि करके ऐसे स्वभाववान को पकड़कर, स्वभाव की शक्ति की व्यक्तता पर्याय में प्रगट की, तब केवलज्ञान और केवलदर्शन जो शक्तिरूप से था, उसमें से यह पर्याय प्रगट हुई। उस समय की पर्याय केवलज्ञान और केवलदर्शन को, यदि तू ऐसा कहे कि यह ज्ञान पर को जानता है, स्व को नहीं जानता तो द्रव्य से ज्ञान भिन्न पड़ जाता है। ज्ञान अन्यत्र भटकता है, ऐसा कहते हैं, भिन्न पड़ जाता है इसलिए। और दर्शन को ऐसा कहे कि अपने को देखता है और पर को नहीं तो दर्शन की खण्डता हो जाती है, खण्डता हो जाती है। आत्मा स्व-पर को देखे और दर्शन स्व को देखे तो आत्मा का दर्शनगुण खण्ड हो जाता है। दर्शनगुण दर्शनरूप से नहीं रहता। समझ में आया? आहाहा! ऐसा कहना चाहते हैं, ऐसी वस्तु है।

भाई! एक समय का तेरा तत्त्व, भले त्रिकाल रहनेवाला हो, परन्तु तत्त्व तो एक समय का पूरा है या नहीं? उसमें ज्ञान और दर्शन उसका खास मूलस्वभाव है। अब मूलस्वभाव एक समय में भी जानने-देखने के, स्व-पर को जानने-देखने के सामर्थ्यवाला तत्त्व है। उसका है, उसे न जाने? और जिसका है, उसकी ताकत में पर को न देखे? यह कहाँ से लाया? ऐसा कहते हैं। जो ज्ञान आत्मा का है, वह ज्ञान पर को जाने और आत्मा को न जाने, लाया कहाँ से यह? और जो आत्मा दर्शनमय है, उसे अकेला आत्मस्थ ही रखे और उस दर्शन की ताकत अनन्त ज्ञेयों को देखने की है, उसे न माने तो दर्शन खण्ड हो जाता है। दर्शनगुण भी ऐसा नहीं है और प्रगट हुई पर्याय भी ऐसी नहीं हो सकती, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? सूक्ष्म तो है, परन्तु अब इसे निर्णय तो करना पड़ेगा या नहीं? कान्तिभाई! बड़े झगड़े चले वहाँ तो। वे पक्षवाले कहते हैं कि नहीं, पहले का सच्चा है, उसका सूक्ष्म विषय है और बहुत ऐसा है। वे और दूसरे कहें, नहीं भाई! शास्त्र तो ऐसा कहता है, अमुक तो ऐसा कहता है। ऐई! चर्चा मुफ्त की, 'शास्त्रे वादभ्यं गुणे..' घर की चीज़ दूसरी और चर्चा में उतर गये। वाद में उतर गये। दूसरे तो फिर पड़ी रही मूल चीज़।

भगवान आत्मा, भाई! तू सत्तास्वरूप है न? और सत्ता का कोई स्वभाव है या नहीं? उसका स्वभाव है या नहीं? तो जानना-देखना उसका स्वरूप है। जानना-देखना स्वरूप है तो

वह ज्ञान अपने में रहा हुआ है या नहीं ? और अपने में रहा हुआ है तो वह ज्ञान पर को जाने और अपने को न जाने, ऐसा कैसे बने ? और दर्शन अपने में रहा है, परन्तु दर्शन का सामान्य त्रिकाल को देखने का स्वभाव है, उसमें एक ही इसे देखने का कहे, एक ही आत्मा रह जाता है, तो खण्ड-खण्ड हो जाता है। अनन्त-अनन्त लोकालोक के ज्ञेय दर्शन देखे, ऐसी ताकत को तू खण्ड कर डालता है; तो इस प्रकार वस्तु है नहीं। समझ में आया ?

इसलिए **सिद्धान्त के हार्दरूप...** देखो न ! **ऐसा यही समाधान है कि ज्ञान और दर्शन को...** किसी प्रकार से ज्ञान स्व-पर जाने और दर्शन स्व-पर देखे, ऐसा ही उनका स्वरूप है। इस प्रकार से निर्णय न करे तो उसे अभेद की दृष्टि होगी नहीं। गुण अभेद, द्रव्य अभेद और पर्याय अभेद पूर्ण है, ऐसी दृष्टि किये बिना इसे सम्यग्दर्शन नहीं होगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)